हिन्दी जैन-भक्ति काव्य और कवि

डॉ० प्रेमसागर जैन

*

प्राक्कथन
आचार्य काका कालेलकर

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

प्राक्कथन

हमारे देशमे वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन, लिंगायत, सिख आदि धर्मके अनेक पन्थ प्रसिद्ध हैं। मेरे मन ये केवल धर्म पन्थ नही है, ये तो अध्यात्मप्रवण संस्कृतिकी अलग-अलग धाराएँ भी हैं। इनके दार्शनिक विचार और विचारभेदका अध्ययन करके हमे सन्तोष नहीं मानना चाहिए। मानवी जीवनको विशुद्ध, समृद्ध और कृतार्थ करनेके इन विविध और जीवनव्यापी प्रयत्नोंका अध्ययन हमे संस्कृतिकी दृष्टिसे भी करना चाहिए। तब जाकर इन महान् पन्थोकी मानव-सेवाका हमे यथार्थ खयाल आयेगा।

ऐसे अध्ययनके लिए केवल दार्शनिक ग्रन्थोका परिचय और इन पन्थोके संस्थापकोकी और उनके प्रचारकोकी जीवनियाँ तो महत्त्वकी हैं ही। इन पन्थोका और इनकी शाखा-प्रशाखाओका इतिहास भी हमे देखना होगा। और इससे भी अधिक महत्त्वकी बात इन पन्थोके कवियोने अपनी कविताके द्वारा जीवनकी जो उपासना की है और हृदयकी जो समृद्धि हासिल की है और करवायी है उसका भी गहरा और हार्दिक अध्ययन होना चाहिए।

इन पन्थोके बारेमे और एक महत्त्वकी बात है। इनके साधुओने, प्रचारकोने और कवियोने अपने-अपने पन्थका जीवन जीते जो नये-नये क्षेत्र ढूँढ़े और उनके द्वारा जीवनका जो विपुल साक्षात्कार किया, उसका महत्त्व मूल प्रेरणासे कम नहीं है। जिस तरह भाष्यकार और टीकाकार मूल ग्रन्थके रहस्यका उद्घाटन करते अपने नये-नये मौलिक विचार और अनुभव भी उसमे जोड देते हैं, उसी तरह हरेक पन्थका विवेचक, प्रचारक और कवि अपने-अपने पन्थकी जीवन दृष्टिमें अपनी ओरसे मौलिक वृद्धि भी करता है।

यह हुआ हरेक व्यक्ति की जीवन-साधना-द्वारा होनेवाली सास्कृतिक सेवा और समृद्धि।

इसके अलावा जब ऐसे पन्थोंका प्रचार भिन्न-भिन्न कोटिके और भिन्न-भिन्न योग्यताके नये-नये समाजमे होता है, तब मूल धार्मिक प्रेरणाको मानो नये-नये अवतार धारण करने पड़ते है। वैष्णवोने अथवा शाक्तोने जब आदिवासियोंमें धर्मप्रचार चलाया, तब उन लोगोके जीवन-स्तरका विचार करके और उनकी जीवन-दृष्टिके साथ समझौता करके इन पन्थोकी समन्वय-दृष्टिको उन्हे स्वीकार करना पड़ा। हीनयान बौद्ध सम्प्रदायके अभिमानी लोग भले ही कहे कि हमारा

बुद्धधर्म ही शुद्ध है, और देश-विदेशमें फूला फला महायान पन्थ तरह-तरहकी मिलावटके कारण अशुद्ध है; मै तो कहूँगा कि महायान सम्प्रदाय असली बौद्धधर्मका ही मानवताके अनुकूल विशाल समृद्ध स्वरूप है। गंगा नदीके उद्गमका माहात्म्य स्वीकारते हुए हम कभी नहीं कहेंगे कि गंगोत्रीके बादकी, हरद्वारके बादकी, या प्रयागके बादकी गंगा गंगा ही नहीं। गंगाका सच्चा माहात्म्य यही है कि गंगोत्रीसे लेकर गंगासागर तक उसके सुदीर्घ प्रवाहमें जितने भी जीवनप्रवाह आ मिले, उन सबको उसने अपनाया और उन्हें अपने नामरूप तक सब प्रदान किया। हम थोड़े ही कहते है कि हमारा बचपनका जीवन ही हमारा शुद्ध जीवन था और बादका जीवन अशुद्ध जीवन है। वैदिक धर्म बढते-बढते उसका सनातन धर्म हुआ। आगे जाकर वही हिन्दू धर्म हुआ। अब वह धीरे-धीरे भारतीय धर्म होने जा रहा है और जबतक वह विश्वधर्म नहीं हुआ है, उसमे अलम् बुद्धि आनेवाली नहीं है। इस भारतीय धर्ममे-से अनेक पन्थ निकले। शाखाके रूपमे उनका जीवन-प्रवाह अलग बहने लगा और उनमे-से अनेक फिरसे मूल स्रोतमें आ मिले।

यही बात सब धर्मोंकी है। और अब तो कमसे कम भारतमे, सब धर्म एकत्र आये हैं और आदान-प्रदान-द्वारा इनका समन्वय होनेवाला ही है।

भारतमें बसे हुए सब धर्मोंके और पन्थोंके बीच आदान-प्रदान चलता ही आया है। इसीलिए तो हमारा सांस्कृतिक जीवन इतना सहिष्णु और समृद्ध हुआ है।

मेरे मन इन सब पन्थोंमें सबसे अधिक शक्ति है भक्तिकी। भक्तिकी दीक्षा सब पन्थोको लेनी पड़ी है। ऐसा एक भी धर्म या पन्थ नही है जो भक्तिसे मुक्त रहा है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' कहनेवाले अद्वैतवादी ज्ञानमार्गी संन्यासी शंकराचार्यको भी कहना पड़ा, 'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।' फिर तो उन्हे भक्तिकी अपनी व्याख्या भी करनी पड़ी, 'स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते।'

ज्ञानमार्गी जैनियोंको भी भक्तिकी दिशामें अपना जीवन पन्थ बहाना ही पड़ा। सचमुच भक्ति ही जीवन है। नदीका सागरके तरफ़ बहना, जीवका शिवकी ओर अखण्ड चलनेवाला आकर्षण, 'सीमा'का परिपुष्ट होकर 'भूमा'मे समा जाना, यही तो भक्ति है। जो बहता नहीं और बढ़ता नहीं वह जी नहीं सकता। और भक्ति तो अखण्ड बढ़नेवाली रसमय प्रवृत्ति है। बहनेवाली नदियाँ जिस समुद्रमें जाकर मिलती हैं, उस समुद्रको न बढ़ना है, न घटना है, तो भी उसमे ज्वारभाटाकी

लीला चलती है। और किसी भी नदीके प्रवाहकी अपेक्षा स्वयं समुद्रके अन्तः-प्रवाह अधिक वेगवान् और समर्थ होते हैं।

साहित्यकी ओर देखते कहना पड़ता है कि जीवनका चैतन्य साहित्यमें भी सबसे अधिक सामर्थ्यसे व्यक्त होता है उसकी कवितामें। क्योंकि सच देखा जाये तो 'हृदयकी सिद्धि' ही काव्य है।

इतना स्पष्ट होनेके बाद अलग कहनेकी जरूरत ही नहीं है कि भक्ति-काव्यमें ही उस-उस पन्थकी जीवनसिद्धिका उत्तम परिचय पाया जाता है। उसमें भी हृदयधर्मकी निष्ठा जिसे पूर्णरूपसे मिली है, उस नारी जातिके भक्ति-काव्यका तो पूछना ही क्या। जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्य बातोंसे स्त्रियोंका परिचय भले ही कम हो, साहित्यकी चातुरी भी भले उनमे कम हो, ज्ञानचर्चामें उनकी तनिक भी दिलचस्पी न हो, किन्तु हृदयोंके भावोंके साथ एकनिष्ठ रहना, उन भावोंके चरणोंमें अपने जीवनका पूर्णतया अर्पण करना उनके लिए स्वाभाविक है। आराध्य देवकी उपासना करते अपनेको भूल जाना और सर्वार्पणमे ही सन्तोष मानना, यह है स्त्रीप्रकृति।

जैन जीवनदृष्टिने जिनेन्द्र आदि चाहे सो नाम पसन्द किया हो, अपनी जीवन-निष्ठा आत्मतत्त्वको ही अर्पण की है। और सब साधक जानते हैं कि उपासनाका रूप कुछ भी हो, आत्मार्पण तो आत्मदेवको ही हो सकता है। भगवान्के नाम अनन्त हैं लेकिन सच्चा नाम तो अन्तरतम यानी आत्माराम ही है। इस आत्मदेव-की भक्ति सर्वभावेन करते जिसको जो रास्ता मिला, उसने अपनाया है।

श्री प्रेमसागरजीने जैन भक्ति-काव्यके सागरमें अनेक बाजूसे डुबकियाँ लगायी हैं और जो मोती उन्हे मिले, हमारे सामने रखे हैं। अपनी पहली किताब जैन भक्ति-काव्यकी पृष्ठभूमिमें पाठकके लिए और रसिकोंके लिए उन्होंने पूर्व तैयारी की है। अब इस ग्रन्थमे उन्होंने भावकी दृष्टिसे और कलाकी दृष्टिसे अनेकानेक जैन कवियोंका और कवयित्रियोंका परिचय करवाया है।

मैं तो मानता हूँ कि काव्य और भक्ति, ये दोनों क्षेत्र ही ऐसे सार्वभौम हैं अथवा सागरोपम है कि इनमें पन्थभेदोंका लोप ही हो जाता है। गोपियोंकी मधुरा भक्ति राम उपासनामें भी पहुँच गयी और वीतरागीकी भक्तिमें भी उसने अपनी प्रधानता साबित की है। धर्मके पन्थोंमें और जीवनकी संस्कृतियोंमें चाहे जितने भेद हों, जीवन तो एक अखण्ड, सम्पूर्ण और भूमा होता है। सब दर्शनोंको नम्र होकर जीवनसे ही दीक्षा लेनी पड़ती हैं और जीवनकी उपासना करनी पड़ती है। जिस तरह सागरमें सब तीर्थ समाये जाते हैं, उसी तरह सब देवता जीवन देवताकी

ही भिन्न-भिन्न विभूतियाँ साबित होती है। कविताने और भक्तिने अपनी निष्ठा जीवनदेवताको ही अर्पण की है। इसीमें उनकी कृतार्थता है।

श्री प्रेमसागरजीने गहरे संशोधनके बाद पूरी विद्वत्ताके साथ यह ग्रन्थ लिखा है। उसके लिए वे सबके धन्यवादके अधिकारी हैं। हम आशा करते हैं कि अब वे इस सारे महाप्रयासके फलस्वरूप जैन भक्ति-काव्यका स्वादिष्ट और पौष्टिक मक्खन निकालकर आजकी भाषामें भेंटके स्वरूप देंगे।

— काका कालेलकर

सन्निधि राजघाट
२३ जनवरी, १९६४

भूमिका

यह मेरे शोध-प्रबन्धका दूसरा खण्ड है। पहला खण्ड 'जैन भक्ति-काव्यकी पृष्ठभूमि'के नामसे प्रकाशित हुआ है। उसमे पाँच अध्याय है . जैन भक्तिका स्वरूप, जैन भक्तिके अंग, जैन भक्तिके भेद, आराध्य देवियाँ और उपास्यदेव। इनके आधार-पर जैन भक्तिको प्राचीनतम मान्यता स्थापित की गयी है। वही परम्पराके रूपमें मध्यकालीन हिन्दीके जैन भक्त कवियोको प्राप्त हुई। जैन ही नही, अन्य भक्ति-काव्य भी उसके प्रभावसे अछूता न बच सका। सन्त-काव्यपर उसकी स्पष्ट छाप है।

वैसे तो कबीरदासको भूख सर्वग्रासी मानी जाती है, किन्तु नाथसम्प्रदायसे उनका विशेष सम्बन्ध था। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीके अनुसार, उस समय प्रचलित बारह सम्प्रदाय, नाथसम्प्रदायमे अन्तर्मुक्त हुए थे। उसमे 'पारस' और 'नेमि' सम्प्रदाय भी थे। नेमि सम्प्रदाय जैनोके बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथके नामपर प्रचलित था। वह समूचे दक्षिण भारतमे फैला था। उसके ध्वंसावशेष अबतक मिलते हैं। 'पारस सम्प्रदाय' तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथसे सम्बद्ध था। उसका समूचे उत्तरी भारतमे प्रसार था। इस प्रकार कबीर जाने या अनजाने एक ऐसी लहरका स्पर्श पा सके थे, जो अनेकान्तात्मक थी। उनकी 'निर्गुण' मे 'गुण' और 'गुण' मे 'निर्गुण'वाली बात ऐसी ही थी। निर्गुणका अर्थ है गुणातीत और गुण-का अर्थ है प्रकृतिका विकार–सत्त्व, रज और तम। संसार इस विकारसे संयुक्त है और ब्रह्म उससे रहित। किन्तु कबीरदासने विकार-संयुक्त संसारके घट-घटमे निर्गुण ब्रह्मका वास दिखाकर सिद्ध किया है कि 'गुण' 'निर्गुण' का और 'निर्गुण' 'गुण' का विरोधी नही है। उन्होने 'निरगुनमे गुन और गुनमे निरगुन' को ही सत्य माना, अवशिष्ट सबको धोखा कहा।

कबीरसे बहुत पहले, विक्रमकी सातवी शतीमे, इसी निर्गुणको 'निष्कल' संज्ञासे अभिहित किया गया था। फिर सभी अपभ्रंश काव्योके रचयिता कवि उसे 'निष्कल' ही कहते रहे। मुनि रामसिंहने उसे एक स्थानपर 'निर्गुण' भी कहा है। उसका अर्थ किया है · निर्लक्षण और नि.संग। वह निष्कलसे मिलता-जुलता है। जिस प्रकार कबीरका निर्गुण ब्रह्म भीतरसे बाहर और बाहरसे भीतर तक फैला है। वह अभावरूप भी है और भावरूप भी, निराकार भी है और साकार भी। द्वैत भी है और अद्वैत भी। ठीक इसी प्रकारकी बात अपभ्रंशके जैन कवि

निष्कल ब्रह्मके विषयमे लिख चुके थे। योगीन्द्रने शरीरके सान्निध्यकी अपेक्षा ब्रह्मको साकार कहा, उसे ही 'पंचविधशरीररहितः' लिखकर निराकार भी माना। उनका ब्रह्म देहमे बसते हुए भी देहसे अस्पर्श्य है, जसु अब्भंतरि जगु वसइ, जग अब्भंतरि जो जि।' मुनि रामसिहने भी दोहापाहुडमे लिखा है, 'तिहु-यणि दीसइ देउ जिण, जिणवरि तिहुवणु एउ।' जब वे ब्रह्मको संसारमें बसा बताते हैं, तो द्वैतकी बात कहते हैं और जब संसारको ब्रह्ममें बसाते हैं; तो अद्वैत-की चर्चा करते है। वे द्वैतको मानते है और अद्वैतको भी। उनका यह 'द्वैताद्वैत' कबीरकी मस्तीमे स्पष्ट झलकता है। कबीर न द्वैतके घेरेमे बँधनेवाले थे और न अद्वैतके।

यह अनेकान्तात्मक प्रवृत्ति मध्यकालीन जैन हिन्दी-काव्यमे अधिकसे अधिक देखी जाती है। वहाँ एक ही ब्रह्मके भावाभाव, विरोधाविरोध, गुप्तागुप्त, भिन्ना-भिन्न, एकानेक, व्याप्ताव्याप्त, मूर्त्तामूर्त्त आदि अनेक रूप दृष्टिगोचर होते है। उनका विवेचन दार्शनिक न होकर अनुभूतिपरक है। उनमे चिन्मयता है और हृदयको विभोर बना देनेवाली शक्ति भी। ब्रह्मके साकार और निराकार रूपको लेकर, एक बार गुरु-शिष्यमे रोचक वार्तालाप हुआ। शिष्यने पूछा, 'निराकार जो ब्रह्म कहावै, सो साकार नाम क्यों पावै। 'ज्ञेयाकार ज्ञान जब ताईं, पूरन ब्रह्म नाहिं तब ताईं'।' प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। जो ब्रह्म निराकार है, वह साकार कैसे कहला सकता है। और ज्ञान जबतक 'ज्ञेयाकार है, पूर्ण ब्रह्म नही हो पाता। आचार्यने उत्तर देते हुए कहा, 'जैसे चन्द्रकिरण प्रकट होकर भूमिको श्वेत बना देती है, किन्तु कभी भूमि-सी नहीं होती, ज्योति-सी ही रहती है। ठीक वैसे ही ज्ञानशक्ति हेयोपादेय दोनो प्रकारके पदार्थोंको प्रकाशित करती है और 'ज्ञेयाकार-सी दिखाई देती है। किन्तु कभी-भी ज्ञेयको ग्रहण नही करती। ज्ञेयाकार-सी दिखाई देती है, अतः ज्ञेयपदार्थकी दृष्टिसे वह साकार कहलाती है, शुद्धरूपसे निराकार है ही।' आत्मस्वरूपके निरूपणकी यह पद्धति 'अध्यात्म बारह खड़ी'में निखर उठी है,

> "निराकृतो च साकृतो विशेष भाव देव जो।
> रमापती जिनाधिपो शिवाधिपो अभेव जो॥
> साकारो नाकार तू नाकारो साकार।
> दोय रूप राजे प्रभू एक रूप अविकार॥
> द्वै उपयोग जु तू धरै साकारो निरधार।
> सहो निराधारो तुही पुरिषाकार विथार।"

मध्यकालीन जैन कवियोंने ब्रह्मके 'एकानेक'वाले रूपके गीत गाये। सबसे अधिक बनारसीदासने लिखा है कि नदीका प्रवाह तो एक ही है; किन्तु नीरकी ढरनि अनेक भाँतिकी होती है। वैसे ही आत्माका स्वरूप एक ही है, किन्तु पुद्गलके सम्भोगसे वह विभिन्न रूप धारण करता है। एक ही अग्नि तृण, काठ, बाँस, आरने और अन्य ईंधन डालनेसे नाना आकृति धारण करती है, वैसे ही यह जीव नव तत्त्वमें बहुभेषी दिखाई देता है। उन्होंने लिखा,

"देखु सखी यह ब्रह्म विराजित, याकी दसा सब याही को सोहै।
एक में अनेक अनेकमें एक, दुंदु लिये दुविधा मह दो हैं।
आपु संभार लखै अपनौ पद, आपु विसारि कै आपुहि मो है।
व्यापक रूप यहै घट अन्तर, ग्यान में कौन अज्ञान में को है।"

महात्मा आनन्दघनने कुण्डल और कनकका प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हुए लिखा कि कुण्डल आदि पर्यायोमे अनेकरूपता होते हुए भी स्वर्णकी दृष्टिसे एकता है। इसी प्रकार जल और तरंग, माटी और उसके बरतन, रविकिरण और उससे भासित अनेक वस्तु ब्रह्मके 'एकानेक' स्वभावको प्रकट करती हैं।

सन्तकाव्यकी अनेक प्रवृत्तियाँ जो अपभ्रंश और इससे भी पूर्ववर्ती प्राकृत ग्रन्थोंमें दिखाई देती हैं, उन सबके सांगोपांग विवेचनका यहाँ अवसर नही है। इतना स्पष्ट हो चुका कि 'निर्गुण-काव्य'के मूल स्रोतोंमे एक जैनधारा भी थी।— मध्यकालीन हिन्दी जैन-काव्यको वह विरासतके रूपमे मिला था। इस युगके अनेक जैन कवि ऐसे हुए जो ख्यातिप्राप्त थे और सामर्थ्यवान् भी। मैंने उनका यथास्थान उल्लेख किया है। उनकी निर्गुण सन्तोंसे तुलना अन्तिम अध्यायमें की गयी है। जहाँतक हिन्दीको सगुण काव्यधाराका सम्बन्ध है वह मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियोके तीर्थंकरभक्तिके रूपमें प्राप्त हुई। इस भक्तिका विशद विवेचन 'जैन भक्ति-काव्यकी पृष्ठिभूमि'के दूसरे अध्यायमे हो चुका है। तीर्थंकरका जन्म होता है, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, राज्य-संचालन आदि कार्य परम्परानुमोदितरूपमे ही चलते हैं। वह स्वयं तप और ध्यानके द्वारा धर्मका प्रवर्तन करता है। उसकी आत्मा विशुद्धतम हो जाती है। आयुकर्मके क्षीण होनेपर उनका सम्बन्ध अन्तिम शरीरसे भी छूट जाता है। वह सिद्ध हो जाता है, जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण। यही है निर्वाण और निःसंग। तीर्थंकरको सगुण और सिद्धको निर्गुण ब्रह्म कहा जा सकता है। एक ही जीव तीर्थंकर और सिद्ध दोनों हो हो सकता है। अतः उनका नितान्त विभाजन सम्भव नहीं है।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंशमे शतशः जैन स्तुति-स्तोत्रोकी रचना हुई। विक्रमकी प्रथम शताब्दीसे यह प्रवाह सतत चलता रहा। इन स्तोत्रोकी कोई उपमा नही। उनमे यदि एक ओर भक्ति-रसके निर्झर है, तो दूसरी ओर काव्य-सौष्ठवकी मन्दाकिनी। भक्त हृदयोकी वे पुकारें जैसे आज भी जीवित हो। मुक्तक काव्योंका यह रूप मध्यकालीन हिन्दीके जैन कवियोंने पदोके रूपमे प्रतिष्ठित किया। हिन्दीका जैन पद-काव्य एक पृथक् खोजका विषय है। अनेक कवियोंने पदोकी रचना की। नयी-नयी राग-रागिनियोके परिवेशमे रचे गये उन पदोंकी अनूठी छटा है। उनमे भी 'भूधररास'-जैसा प्रसाद गुण कही उपलब्ध नही होता। सूरदासके साथ उनके पद-काव्यकी तुलना मैने की है। अच्छा हो यदि कोई अनुसन्धित्सु इसे अपनी शोधका विषय बनाये।

हिन्दीके जैन प्रबन्ध काव्योके भक्तिपरक पहलूका मैने विवेचन किया है। उनमे राम और कृष्ण कथाएँ भी निबद्ध है। इसमे रामकाव्यके पीछे उसकी अपनी एक शानदार परम्परा थी। विमलसूरि (विक्रमकी पहली शती)का 'पउमचरिय' (प्राकृत) एक सशक्त रचना मानी जाती है। विमलसूरिकी सबसे बडी देन है रामायणके पात्रोका मानवीकरण। वाल्मीकिने तो उन्हे दिव्यरूप देकर इस सृष्टिसे दूर, बहुत दूर कर दिया था। राक्षस और वानर भय और आश्चर्यके प्रतीक बना दिये गये थे। विमलसूरिने उन्हे दूसरा रूप दिया, जिसपर इस दुनियाके लोग विश्वास कर सकें। दूसरी कृति है रविषेण (६७८ ई०)का पद्मचरित्र। यह अत्यधिक लोकप्रिय बना। आज भी जैनोके घर-घरमे पढा जाता है। रविषेणने स्पष्ट ही विमलसूरिका ऋण स्वीकार किया है। तीसरी रचना 'पउमचरिउ' है। इसके रचयिता थे महाकवि स्वयम्भू। वे ईसाकी आठवी शताब्दीमे हुए है। यह कृति भावोन्मेष और काव्य-सौष्ठवकी दृष्टिसे उत्तम है। स्थान-स्थानपर प्राकृत दृश्य बिखरे हुए है। सीताका शील-सना सौन्दर्य अप्रतिम है। वैसा रूप सिवा तुलसीदासके अन्यत्र उपलब्ध नही होता। चौथी कृति संघदासगणीका 'वसुदेवहिण्डी' (६०९ ई०) है। इसमे सीताको मन्दोदरीकी पुत्री माना गया है। आगे चलकर गुणभद्रने अपने उत्तरपुराण (९वी शती ईसवी)मे इस मान्यताको पुष्ट किया। गुणभद्र एक सामर्थ्यवान् कवि थे। छठी रचना है पुष्पदन्तका महापुराण। उन्होने गुणभद्रका अनुकरण किया, किन्तु उनका काव्य-सौष्ठव गुणभद्रसे आगे है। वे एक माने हुए कवि थे।

मध्यकालीन हिन्दीमे, रविषेणके पद्मपुराणके अनुवाद बहुत रचे गये। वे केवल अनुवाद थे। उनमे न मौलिकता है और न काव्य-सौन्दर्य। केवल राम-

चन्द्रका 'सीताचरित्र' एक ऐसी कृति है, जो भाव और भाषा दोनो ही दृष्टियोंसे उत्कृष्ट कही जा सकती है। उसपर स्वयम्भूका प्रभाव है। इसकी रचना १७वीं शतीमें हुई थी। पं० भगवतीदासने 'बृहत्सीतासतु' (वि० सं० १६८७) की रचना की। पं० भगवतीदास जन्मजात कवि थे। उनके काव्यमे स्वाभाविकता है। सीताके हृदयके स्पन्दनोंका सही चित्र 'बृहत्सीतासतु'में उकेरा गया है। ब्रह्म जयसागरका 'सीताहरण' (वि० सं० १७३२) एक महत्त्वपूर्ण रचना है। वह एक खण्ड-काव्य है। उसके पढ़नेसे मन विमुग्ध हो उठता है। ये तीनों काव्य सीताको केन्द्र मानकर चले। इनमे नारी हृदयकी विविध प्रवृत्तियोंका अंकन है। इनके अतिरिक्त भट्टारक महीचन्द्रका 'लव-कुश छप्पय' (१७वी शताब्दी) भी राम-काव्यसे सम्बन्धित है। इसमे केवल छप्पन छप्पय है। यह एक खण्ड-काव्य है। ब्रह्म रायमल्लका [1]'हनुमच्चरित्र' एक सुन्दर कृति है। इसकी रचना वि० सं० १६१६में हुई थी। जैन काव्योंमे वानर एक जाति मानी गयी है। वे मनुष्य थे, बन्दर नहीं। उनके पूँछ नही थी। हनुमान्को रामके सहायक और भक्तके रूपमें अंकित किया गया है।

जैन-परम्परामे २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमिके साथ वासुदेव कृष्णका चरित्र जुड़ा हुआ है। कृष्ण नेमीश्वरसे उम्रमे बड़े थे। उनके चचेरे भाई थे। वे ही राज्यके स्वामी थे। नेमीश्वरने विवाह-द्वारपर दीक्षा ले ली थी। शादी नहीं की। त्रिलोकसुन्दरी राजीमतीने भी फिर विवाह नहीं किया। नेमिनाथ और राजीमतीको लेकर अनेक रचनाएँ मध्ययुगमे हुईं। गीतिकाव्य अधिक रचे गये। विनोदीलाल (१७५०) की रचनाएँ विशिष्ट हैं। उनकी कृतियोमें प्रसाद गुण तो है ही, चित्रांकन भी है। एक-एक चित्र हृदयको छूता है। भवानीदास (१७९१) के गीतोंमे भावुकता है। उनमें ऐसी सुगन्ध है, जो कभी मिटती नहीं। नेमि-राजुलको लेकर अनेक 'फागु' और [2]'वेलि' काव्य भी बहुत रचे गये। प्रबन्ध-काव्य भी रचे गये, किन्तु उनकी संख्या अल्प ही है। कवि भाऊका 'नेमीश्वररास' अभी उपलब्ध हुआ है। इसमे १५५ पद्य है। उनमे विवाहके लिए सजी राजुल और फिर विरह-विदग्धा राजुलके सजीव चित्र हैं। अन्य काव्योंका विवेचन इस ग्रन्थके पहले अध्यायमें हुआ है।

१. ब्रह्मज्ञानसागरका लिखा हुआ हनुमच्चरित्ररास (१६३०) भी एक प्रसिद्ध कृति है। इसकी हस्तलिखित प्रति उदयपुरके श्री सम्भवनाथके मन्दिरमें मौजूद है।
२. 'सीताशीलपताका गुणवेलि' आचार्य जयकीर्तिकी रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रतिपर इसका रचनाकाल वि० सं० १६७४ दिया हुआ है।

अपभ्रंशमें स्वयम्भूके 'रिट्ठणेमिचरिउ' की विशेष ख्याति है। उसके अन्तः और बाह्य दोनो पक्ष समान रूपसे सुन्दर हैं जैसे गुलाबोंकी सुगन्ध और सुषमा ही हो। स्वयम्भूकी काव्यक्षमताको महापण्डित राहुल साकृत्यायनने परखा और मापा था। पुष्पदन्तके महापुराणमे भी कृष्ण और नेमीश्वरकी कथा निबद्ध है। आगेके अनेक कवि उनसे प्रभावित-से मालूम पड़ते है। अपभ्रंशके महाकवि धवलका हरिवंशपुराण (११वी शताब्दी) मे भी इस विषयका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे १२२ सन्धियाँ व १८ सहस्र पद्य है। हेमचन्द्रके 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित'मे कृष्णचरितका वर्णन है। हेमचन्द्राचार्यके इस ग्रन्थकी विशेष प्रतिष्ठा हुई। किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि उनके सभी काव्य-ग्रन्थोमे हृदयकी धडकने विद्वत्ताके सायेमें सिमटी पडी है। वे एक प्रखर वैयाकरण और दार्शनिक थे। उनकी यह प्रवृत्ति काव्य-ग्रन्थोंमें भी घुले-मिले बिना रह न सकी। अत राम और कृष्णकथाके वे स्थल जो मार्मिक थे, वहाँ उपलब्ध नही होते।

संस्कृत ग्रन्थोंमे आचार्य जिनसेनका 'हरिवंशपुराण' और गुणभद्रका 'उत्तर-पुराण' प्रथम कृतियाँ है, जिनमें कृष्ण-कथा आद्योपान्त उपलब्ध होती है। महाकवि धनंजयका संस्कृत 'द्विसन्धान महाकाव्य' साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसे 'राघव पाण्डवीय महाकाव्य' भी कहते है। इसके प्रत्येक पद्यके दो अर्थ निकलते है एक अर्थ रामकथाके पक्षमे और दूसरा कृष्ण-कथाके। ध्वन्यालोक-के कर्ता आनन्दवर्धनने धनंजयकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है,

"द्विसंधाने निपुणतां स तां चक्रे धनंजय.।
यथाजातफलं तस्य सतां चक्रे धनंजयः ॥

एक पुरानी कृति है : 'चउपन्नमहापुरिसचरित्त'। यह प्राकृत भाषामे लिखा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता शीलाचार्य बहुत बडे विद्वान् और कवि थे। उनका काल ईसवी सन् ८०८ माना जाता है। इसमे कृष्णचरित निबद्ध है। प्राकृतमे रचे गये आगम ग्रन्थ और अंगोमे भी कृष्ण-कथा मिलती है। 'उत्तरा-ध्ययन', 'कल्पसूत्र', 'दसवैकालिक' और 'प्रश्नव्याकरण' मे कृष्ण और नेमीश्वर-सम्बन्धी कथाएँ बिखरी पडी है।

प्रद्युम्नचरित्रोंमे भी कृष्णका उल्लेख है। प्रद्युम्न कृष्णके पुत्र थे। और कामदेव माने जाते थे। उन्हे लेकर हिन्दीमें अनेक काव्योकी रचना हुई। उनमे सधारूका 'प्रद्युम्नचरित्र' (१४११) प्रसिद्ध है। यह एक सरस कृति है, प्रबन्ध-काव्यके सभी गुण मौजूद है। इसके अतिरिक्त कमलकेशरकी 'प्रद्युम्नचौपई' (सं० १६२६), ब्रह्मरायमल्लका 'प्रद्युम्नरासो' (१६२८), ब्रह्मज्ञानसागरका

'प्रद्युम्नरास' (१७वीं शताब्दी) तथा देवेन्द्रकीर्तिका 'प्रद्युम्नप्रबन्ध' भी प्रसिद्ध रचनाएँ है ।

आचार्य जिनसेन और गुणभद्रके संस्कृत पुराणोंमें यथास्थान यह कथा निबद्ध है । किन्तु उसका पृथक् एक काव्यके रूपमे निर्माण ११वी शताब्दीके महासेनाचार्यने 'प्रद्युम्नचरित्र'के नामसे किया था । सिंह अथवा सिद्धकी 'पज्जूराणकहा' अपभ्रंशकी एक प्रसिद्ध कृति है। इसका कथानक रोचक है और अवान्तर कथाओसे उसका 'सम्बन्ध निर्वाह' विधिवत् हुआ है। सर्वत्र कविकी भावुकता परिलक्षित होती है । महासेनके 'प्रद्युम्नचरित्र'से यह उत्तम है । इन दोनो रचनाओका हिन्दीके प्रद्युम्नचरित्रोपर प्रभाव है ।

हिन्दी पद्य और गद्यमे लिखे कतिपय 'हरिवंशपुराण' भी उपलब्ध होते है । उनमे न मौलिकता है और न काव्यसौष्ठव । वे संस्कृत और अपभ्रंश कृतियोके अनुवाद-भर है । ब्रह्मजिनदासका 'हरिबंशपुराण' १६वी शताब्दी, शालिवाहनका 'हरिवशपुराण' १७वीं शताब्दी, खुशालचन्द कालाका 'हरिवंशपुराण' १८वीं शताब्दी और पं० दौलतरामका 'हरिवंशपुराण' १८वी शतीकी रचनाएँ हैं। इनमें पं० दौलतरामका 'हरिवशपुराण' हिन्दी गद्यमे होनेके कारण अधिक प्रचलित है।

मध्यकालीन हिन्दी काव्यका जैन भक्तिपरक पहलू विविध प्रवृत्तियोको लेकर चला । उनका विवेचन इस ग्रन्थके पहले अध्यायमे किया गया है। जैन कवियोकी एक ऐसी प्रवृत्ति भी थी जो अधिकाश उन्हीमे पायी जाती है, वह है 'वेलिकाव्य'का निर्माण । 'वेलि' 'वल्ली'को कहते है । वल्ली वृक्षागवाची है । पहले यह प्रचलन था कि वाङ्मयको उद्यान और उसके अन्तर्गत ग्रन्थोको वृक्ष या उसके अगोके नामोंसे पुकारा जाता था । 'तैत्तिरीय उपनिषद्'के सातवें प्रपाठकको 'शिक्षावल्ली' कहा गया है । विकासोन्मुख क्रममे 'वल्ली' नामसे पृथक् रचनाएँ रची जाने लगी । ये राजस्थानी और हिन्दीमे 'वेलि' नामसे प्रसिद्ध हुई । अभीतक एक प्रसिद्ध 'वेलि' 'कृष्ण-रुक्मणी री वेलि' के नामसे प्रकाशित हो चुकी है। उसके आधारपर विद्वानोंने यह धारणा बनायी कि वेलि-काव्य शृंगार-परक होता है । किन्तु अधिकाश, 'वेलियो'के पढ़नेसे ऐसा विदित होता है कि उनमे शृंगारसे कही अधिक भक्ति और वीर रसोका परिपाक हुआ है । चारणोंके द्वारा गायी गयी वेलियोंमे वीरोका यशगान ही रहता है। आज भी वे त्योहारोके अवसरपर गायी जाती हैं । जैन वेलियोमे विशेषता है कि वे छोटे-छोटे कथानकोंको लेकर चली हैं । उनमे कथा है और भक्ति भी । उनमें खण्ड-काव्यका आनन्द है, तो भक्तिको भाव-विभोरता भी । इन्हीं वेलियोंके माध्यमसे जैन कवियोंने अपने

गुरुओका जीवन-वृत्त उपस्थित किया है। ऐसी ही एक वेलि 'जयति पदवेलि' आदि साधुकीर्तिगीत' ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रहमे छप चुकी है। प्रसिद्ध हीरविजय-सूरिको लेकर कवि सकलचन्द्रने 'हीरविजयसूरि देशनावेलि' का निर्माण राजस्थानीमे किया था। कथानकोको लेकर चलनेवाली वेलियोमे 'चन्दनबाला-वेलि', 'स्थूलभद्र-कोशारस वेलि' और 'नेमीसुरकी वेलि' अधिक प्रसिद्ध है। हिन्दीके कवि ठकुरसी (१५७८) वेलियोकी रचनामे निपुण थे। उनकी 'पंचेन्द्रिय वेलि' समूचे वेलि-साहित्यमे उत्तम मानी जाती है। उसका उद्देश्य उपदेशात्मक है; किन्तु ऐसे सरस ढंगसे लिखी गयी है कि उसमे संवाद-जन्य नाटकीय रस उत्पन्न हो उठा है। वह रसकी पिचकारी-सी प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त उन्होने 'नेमीसुरकी वेलि' और 'गुणवेलि' भी रची। हर्षकीर्ति (१६८३) ने भी 'पंचवेलि', 'पचगति-वेलि' और 'चतुर्गतिवेलि' की रचना की। वे हिन्दीके एक सामर्थ्यवान् कवि थे। कवि छीहल (१६वी शती) राजस्थानी कवि थे। उन्होने राजस्थानी और हिन्दी दोनोमे लिखा। वे जन्मजात कवि थे। उन्हे ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा मिली थी। उनकी वेलि भी एक प्रसिद्ध कृति है। जैन कवियोका वेलियोमे 'भव-सम्बोधन' तो था ही, भक्तिका स्वर भी प्रबल था, बल्कि उसीमे वे डूबी थी। विविध ढालोमे लिखी जानेके कारण उनका बाह्य कलेवर भी भव्य है। उपदेशको भावना-के साँचेमे जैसा जैन कवियोने ढाला, अन्य नही ढाल सके।

इस ग्रन्थका दूसरा अध्याय मध्यकालीन जैन भक्त-कवियो और उनके जीवन-वृत्त और साहित्यसे सम्बन्धित है। पण्डित रामचन्द्र शुक्लने हिन्दीका भक्ति-काल वि० सं० १४०० से १७०० तक माना है। किन्तु यह मान्यता कठोर नही थी। उनके अनुसार एक ही युगमे विशेष प्रवृत्तिके साथ-साथ अन्य रुचियाँ भी चलती ही रहती है। इसके अतिरिक्त यह भी सच है कि पं० शुक्ल जैन रचनाओसे बिलकुल परिचित नही हो पाये थे। अभी विविध भण्डारोंमे हिन्दीकी जैन कृतियोकी खोज करते समय विदित हुआ कि हिन्दीकी जैन भक्तिपरक प्रवृत्तियाँ वि० सं० ९९०से १९०० तक चलती रही। आचार्य देवसेनके 'श्रावकाचार'में देशभाषाके दर्शन होते है। **"जो जिणसासण भासियउ, सो तरि पावइ पारु।"** इस कथनको सिद्ध करता है। यह 'श्रावकाचार'का दोहा है। इसमे प्रयुक्त शब्द, रूप, विभक्ति और धातुरूप प्राय. सभी देशभाषाके है। डॉ० काशीप्रसाद ओसवालने लिखा है कि यह 'श्रावकाचार'के भी पहलेसे ही प्रचलित हो चुकी थी। धर्मशास्त्री नारदने **"संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः।"** पद्यके द्वारा देशभाषाका पहले ही उल्लेख किया

था। आचार्य हेमचन्द्रने अपभ्रंश और देशभाषामे स्पष्ट अन्तर स्वीकार किया है। देशभाषाको ही प्राचीन हिन्दी कहते है। यही आगे चलकर विकसित हिन्दीके रूपमे परिणत हुई। अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दीकी साथ-साथ रचनाएँ होती रही। दोनोंमे भेद कर पाना मुश्किल है। स्वयम्भूका 'पउमचरिउ' और पुष्पदन्तका 'महापुराण' हिन्दीकी कृतियाँ नहीं है। इनमे बिखरे हुए कुछ स्थल देशभाषाके है, किन्तु वे अल्प ही है। पुष्पदन्तसे ४० वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्द-का 'कथाकोष' देशभाषाका काव्य-ग्रन्थ है। जिनदत्तसूरि (वि० सं० १२७४) का 'उपदेशरसायनरास' दुरूह अपभ्रंशका निदर्शन है, जब कि इसीके आस-पास बने जिनपद्मसूरिके 'थूलिभद्दफागु'मे देशभाषाके दर्शन होते है। अतः सिद्ध है कि वि० सं० की दसवी शताब्दीके प्रारम्भसे ही हिन्दी पनपने लगी थी। उनकी अनेक भक्तिपरक रचनाएँ प्राप्त हुई है। ये उस युगमे लिखी गयी जिसे पं० शुक्लने वीरगाथाकाल नाम दिया है (वि० सं० १०५०–१३७५)। इस युगमे बौद्ध सिद्धोंने भी पर्याप्त लिखा। इसी आधारपर महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने इस कालको 'सिद्धकाल' कहा और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उसे 'आदिकाल' कहते है, क्योंकि इस नाममे 'वीर' 'भक्ति' और 'सिद्ध' सभी कुछ खप जाता है। किन्तु एक प्रश्न फिर भी बना रहा कि इस कालकी मुख्य प्रवृत्ति क्या थी ? वह कुछ भी हो, इतना सिद्ध है कि हिन्दीमें जैनभक्तिकी रचनाओंका प्रारम्भ हो गया था, किन्तु था वह प्रारम्भ ही। उसका विकास १४वी शताब्दीमे देखा जाने लगा। १५वी शती तो जैनभक्तिके पूर्ण यौवनका काल था। मेरी दृष्टिमे वह १९वी शती तक निरन्तर अबाधित गतिसे चलता रहा। प्रस्तुत ग्रन्थमे इन्ही ४०० वर्षोंके जैन भक्त कवियों और उनके काव्यका विवेचन है।

हिन्दीके जैन भक्ति-काव्यमे भट्टारकों, सूरियों और सन्तोंका विशेष योगदान है। पण्डितों और साधारण गृहस्थोंने भी लिखा। उनका काव्य भक्ति-रसका ही प्रतीक है। कुछने अपना परिचय दिया और कुछने नही। खोज की, ढूँढा, कुछ मिला और कुछ नही। जो कुछ प्राप्त हुआ, उस आधारपर जितना प्रामाणिक अंश दे सका, दिया। यदि उसमे कुछ कमी रह गयी है या वह नितान्त प्रामाणिक नही बन सका है, तो आगे अनुसन्धित्सु उसे पूरा करेगे, इसी आश्वासनके साथ यह ग्रन्थ पाठकोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ। इतना अवश्य कहना होगा कि जैन-काव्यमे एक ही नामके अनेक कवि होते रहे, आज उनपर लिखते समय एक जालमे उलझ जाना होता है। ज्ञानभूषण नामके चार भट्टारक हुए। उनमे 'आदीश्वरफागु'के रचयिताकी खोज एक मुश्किल काम था। इसी भाँति चार रूपचन्द्र और चार

भगवतीदासोका सही-सही लेखा-जोखा मिला पाना आसान नही है। आनन्दघनों-की भी कमी नही थी। उनमे जैनमरमी आनन्दघन पहचानमे आ गये हैं, ऐसा विश्वास-सा होता है। उपाध्याय जयसागरपर लिखते समय, पहले पैराग्राफमे तीन जयसागरोका उल्लेख किया, किन्तु लिखा केवल उपाध्यायजीपर ही, अव-शिष्ट दोको बचाकर निकल गया, या भाग गया। भागना पड़ा, क्योकि उस समय दूसरे-तीसरे जयसागरके साथ मेरा प्रामाणिक सम्बन्ध स्थापित नही हो सका था। दूसरे जयसागर काष्ठासघके नन्दीतटगच्छमे हुए थे। उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार थी – सोमकीर्ति, विजयसेन, यश.कीर्ति, उदयसेन, त्रिभुवन-कीर्ति, और रत्नभूषण। रत्नभूषण ही जयसागरके गुरु थे। उनका समय वि० सं० १६७४ माना जाता है। उन्होंने सस्कृतमे 'पार्श्वपंचकल्याणक' और हिन्दीमे 'ज्येष्ठ जिनवरपूजा', 'विमलपुराण', 'रत्नभूषण स्तुति' तथा 'तीर्थनयमाला'की रचना की। इसी 'विमलपुराण'से सिद्ध है कि आचार्य सोमकीर्तिने गुजरातके सुल्तान फीरोजशाहके समक्ष आकाशगमनका चमत्कार दिखाया था। तीसरे जयसागरको ब्रह्म जयसागर कहते हैं। वे अठारहवी शताब्दीके प्रथम पादमे हुए है। उनका सम्बन्ध मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणकी सूरतशाखासे था। उनके गुरु मेरुचन्दका समय वि० सं० १७२२-१७३२ सिद्ध है। ब्रह्म जयसागर हिन्दीके सामर्थ्यवान् कवि थे। उन्होने 'सीताहरण', 'अनिरुद्धहरण' और 'सगर-चरित्र'की रचना की। तीनो ही प्रबन्धकाव्य है। उनका कथानक आकर्षक है, सम्बन्धनिर्वाह पूर्ण हुआ है। इसी प्रकार एक ही नामके दो-दो तो कई कवि हुए। यथास्थान उनका विश्लेषण है।

इस ग्रन्थमे उन रचनाओंको छोडनेका प्रयास किया गया है, जिनपर गठित विवादके मध्यसे मै किसी ठीक परिणामपर नही पहुँच पाया हूँ। ऐसा ही एक काव्य 'अध्यात्म सवैया' है। यह दि० जैन मन्दिर ठोलियान, जयपुरके गुटका नं० १२७मे संकलित है। इसमे १०१ पद्य है। डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल इस कृतिको पाण्डे रूपचन्दकी रचना मानते है। उनका आधार है अन्तमे लिखा हुआ, 'इति श्री अध्यात्म रूपचन्दकृत कवित्त समाप्त।' किन्तु रूपचन्द नामके चार कवि हुए, जिनमे दोका सम्बन्ध 'अध्यात्म'से था ही। वे दोनो समकालीन थे। एक थे पाण्डे रूपचन्द। उनकी शिक्षा-दीक्षा बनारसमे हुई थी। उच्च-कोटिके विद्वान् थे। कवि बनारसीदासके अध्यात्म-सम्बन्धी भ्रमका निवारण उन्होने किया था। वे हिन्दीके ख्यातिप्राप्त कवि थे। किन्तु उनकी रचनाओं और 'अध्यात्म सवैया'की शैलीमे नितान्त पार्थक्य है। इसके अतिरिक्त पाण्डे

रूपचन्दने कही भी अपना नाम केवल 'चन्द'के रूपमे नही दिया है। प्रत्येक स्थानपर 'रूपचन्द' ही लिखा है। 'अध्यात्म सवैया'मे कविका नाम 'चन्द' दिया है। अतः पाण्डे रूपचन्दकी कृति तो नहीं हो सकती। अन्तमे लिखे 'रूपचन्द लिखित कवित्त समाप्त' किसी लिपिकर्त्ताका कार्य भी हो सकता है। उसने 'चन्द'के आधारपर रूपचन्दका अनुमान लगा लिया होगा। दूसरे थे पं० रूपचन्द। वे बनारसीदासके अभिन्न मित्र थे। उनके साथ अध्यात्म चर्चामे तल्लीन रहते थे। उनकी रचनाएँ उपलब्ध हुई है। इन्होने भी कहीं 'चन्द'का प्रयोग नही किया है। 'अध्यात्म सवैया'के एक पद्यमे आभासित होता है कि उसके रचयिता लालचन्द थे। उस पद्य की अन्तिम पंक्ति है : "आलस्यो अतीत महालालचन्द लेखियै।" लालचन्दके कुछ पद दिगम्बर जैन मन्दिर, बडौतके पदसंग्रहमे संकलित है। वे विक्रमकी अठारहवी शताब्दीके कवि थे। किन्तु साथ ही तेरहवें और चौदहवे सवैयोकी अन्तिम पंक्तियोमे 'तेज कहे' लिखा हुआ है। इनसे सिद्ध है कि किन्ही तेज नामके कविने इसका निर्माण किया था। मध्यकालीन हिन्दी काव्यमे 'तेज' नामके कोई कवि नही हुए। हो सकता है कि यह कविका उपनाम हो। किन्तु यह केवल अनुमान ही है। यदि 'तेज' उपनाम था तो दो के अतिरिक्त अन्य पद्योमे उसका प्रयोग क्यो नही हुआ। त्रिभुवनचन्द नामके कवि हुए है, जिन्होने प्राय अपने नामके अन्तमें 'चन्द' का प्रयोग किया है। किन्तु इसी आधारपर इसे त्रिभुवनचन्दकी कृति मान लेना युक्ति-संगत नही है। यह भी स्पष्ट है कि त्रिभुवनचन्द अध्यात्मवादी नही थे। इस भाँति 'अध्यात्म सवैया'के रचयिताको लेकर एक उलझन है। मेरा मत है कि जबतक इस कृति-की तीन-चार प्रतियाँ विभिन्न भण्डारोमे उपलब्ध नही हो जाती, विचारक किसी सही निर्णयपर नही पहुँच सकते।

मध्यकालीन जैनभक्त कवि 'निर्गुनिए संतो' की भाँति कोरे नहीं थे। उन्होने विधिवत् शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी। इसी कारण प्रारम्भसे अन्त तक उनमे एक ऐसी शालीनताके दर्शन होते है, जिसके परिप्रेक्ष्यमे उनकी मस्ती भी सुशोभन प्रतीत होती है। उनमे वह अक्खड़ता और कडवाहट नही है, जो कबीर-मे थी। पोथी पढ़नेवाला पण्डित भले ही न हो पाता हो, किन्तु उसमे ग्राम्यदोष-का नितान्त परिहार हो जाता है, यह सच है।

जैन कवियोंकी शिक्षाके भिन्न-भिन्न साधन थे। श्वेताम्बर आचार्य, होनहार बालकोको बचपनमे ही दीक्षा देकर अपने साधुसंघमे शामिल कर लेते थे। वहाँपर ही उनकी प्रारम्भसे लेकर उच्चकोटि तकको शिक्षा होती थी।

मेरुनन्दन उपाध्याय, सोमसुन्दरसूरि तथा यशोविजय आदि हिन्दीके सामर्थ्यवान् कवियोको आठ वर्षकी उम्रमे ही दीक्षित कर लिया गया था। वे एक ओर प्रकाण्ड पण्डित बने और दूसरी ओर कवि। जिन संघोमे उनका लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा हुई, उनका वातावरण ऐसा ही था। वहाँ दार्शनिकता और अनुभूति, शुष्कता और उदारता, प्रखरता और कोमलता साथ साथ पला करती थी। भट्टारक-सम्प्रदाय भी शिक्षाके जीवन्त केन्द्र थे। उनके शिष्य दर्शन, सिद्धान्त और साहित्यके अतिरिक्त मन्त्र, वैद्यक और ज्योतिषमे भी पारंगत विद्वान् होते थे। उनमे अनेक ख्यातिप्राप्त बने। उनका कविता-प्रेम भी प्रसिद्ध है। भट्टारक सकलकीर्तिने संस्कृत-प्राकृतकी अगाध विद्वत्ता प्राप्त की थी। उन्होने केवल संस्कृतमे सत्रह ग्रन्थ लिखे। वे हिन्दी-के भी सामर्थ्यवान् कवि थे। उनकी अनेक मुक्तक कृतियोका उल्लेख इस ग्रन्थमे हुआ है। भट्टारक रतनकीर्ति, ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र भी ऐसे ही विद्वान् कवि थे। उन्हे पाण्डित्यका भावोन्मेष करना आता था। उनकी विद्वत्तारूपी नौका भावरूपी लहरोके मध्यसे सदैव बहती रही। ब्रह्म जिनदासने अनेक प्रबन्ध काव्यो-का निर्माण किया। वे भट्टारक सकलकीर्तिके छोटे भाई थे। उन्होंने अपनी रच-नाओमे सकलकीर्तिको गुरु संज्ञासे भी अभिहित किया है। कुमुदचन्द्रकी उत्तम कवियोमे गणना थी। उन्होने महाकाव्य लिखे और मुक्तक छन्द भी। वे भट्टारक रतनकीर्तिके शिष्य थे। भट्टारको और उनके शिष्योंकी मध्यकालीन हिन्दी काव्यको महत्त्वपूर्ण देन है। उसे विस्मृत नही किया जा सकता। भट्टारक वैभव-सम्पन्न होते थे।। अत वे अपने शिष्योंके विद्यार्जनके लिए बडे-बडे ग्रन्थागारोकी स्थापना करते थे। उनके यहाँ हस्तलिखित ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियाँ होती ही रहती थी। केवल जैनधर्मके ही नही, सभी धर्मों और विषयोके ग्रन्थ उनके भण्डारमे सकलित होते थे। गौरवपूर्ण शिक्षाके लिए बृहद् पुस्तकालयोका होना अनिवार्य है। इस तथ्यको आजके शिक्षाविशारद भी स्वीकार करते है। वे कवि, जो न साधु थे और न भट्टारक, 'शास्त्रप्रवचन' या 'सैली' के द्वारा व्युत्पन्न बने थे। शास्त्र-प्रवचनकी परम्परा आज भी है। प्रत्येक मन्दिरके साथ एक सरस्वतीभवन सलग्न होता है और मध्याह्न या रात्रिमे शास्त्र-प्रवचन हुआ करता है। अनेक श्रोता, जिहे अक्षरज्ञान भी नही है, सुन-सुनकर ही जैन दर्शनके सूक्ष्म ज्ञाता बन जाते है। प्रवचनमे किसी-न-किसी पुराणका पाठन भी आवश्यक होता है। इन पुराणोंके कथानकोसे अनेक कवि-हृदय आन्दोलित हुए और वे प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्योंके निर्माणमे समर्थ हो सके। सधारू (वि० सं० १४११) ऐसे ही एक कवि थे। उन्होने 'प्रद्युम्नचरित' मे लिखा है कि एक एरछ नगरमे

शास्त्र-प्रवचनके समय मैंने यह चरित सुना और 'प्रद्युम्नचरित'की रचना कर सका।

'सैली' गोष्ठीको कहते थे। आगरेमे ऐसी ही एक गोष्ठी थी, जिसमे निरन्तर आध्यात्मिक चर्चा हुआ करती थी। बनारसीदास उसके सदस्य थे। वहाँ बैठनेके कारण ही वे पण्डित बने और कवि भी। बनारसीदास तुलसीदासके समकालीन थे। दोनोंके मिलनकी बात इस ग्रन्थमे कही गयी है। आगे चलकर यह सैली 'वाणारसिया सम्प्रदाय' के नामसे प्रसिद्ध हुई। उससे प्रेरणा पाकर ही कुअँरपाल, जगजीवन, हेमराज, भूधरदास आदि उत्तम कवि बन सके। इसी समय दिल्लीमें पण्डित सुखानन्दकी सैली मान्य थी। हिन्दीके प्रमुख कवि द्यानतराय उसीसे प्रभावित होकर इतने महत्त्वपूर्ण भक्ति-काव्यकी रचना कर सके। उनकी पूजाएँ और आरतियाँ आज भी जैन मन्दिरोमे पढी जाती है। हिन्दीके जैन कवियोंको उर्दू-फारसीका भी अच्छा ज्ञान था। कवि बनारसीदासने जौनपुरके नवाबके बेटे किलिचको संस्कृत उर्दू-फ़ारसीके माध्यमसे पढायी थी। भगवतीदास भैयाकी अनेक रचनाओमें उर्दू-फारसीके शब्द है। कवि विनोदीलालकी 'नेमतीको रेखता' भी उर्दूकी ही कृति है। उस समय स्थान-स्थानपर मकतब बिछे हुए थे। जैन कवियोकी प्रारम्भिक शिक्षा उन्हीमे हुई। हिन्दी भाषाका जो रूप गान्धीजी चाहते थे, इन जैन कवियोकी रचनाओमे उपलब्ध होता है। साधु-सम्प्रदायोमे पले कवियोकी भाषा सस्कृत-निष्ठ थी।

जैन कवि दरबारी नही थे, किन्तु उन्होने मुगलबादशाहोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है, यहाँतक कि औरंगजेबका भी गौरवके साथ उल्लेख किया है। रामचन्द्र और जगतराम हिन्दीके प्रसिद्ध कवि थे। उसकी मुक्तक कृतियाँ उत्तम काव्यकी निदर्शन हैं। उन्होने औरंगजेबकी न्यायप्रियता, ईमानदारी, चरित्र-निष्ठता आदिको बात लिखी है। शायद इतिहासकारोको औरंगजेबके सही आकलनमे इन उल्लेखोसे कुछ सहायता मिल सके। कवि सुन्दरदास शाहजहाँके दरबारमे नही रहते थे, किन्तु अपने सद्गुणोकी प्रसिद्धिके कारण उनके कृपापात्र थे। कवि रंगबिजईको तो शाहजहाँने निमन्त्रण देकर बुलाया था। उन्होने शाहजहाँकी उदारताकी प्रशंसा की है। आगरेके हीरानन्द मुकाम सलीमके गहरे मित्र थे। प्राय: सलीम उनके घर जाता था। बादशाह होनेके बाद भी उसने हीरानन्दको सम्मानकी दृष्टिसे देखा। हीरानन्द एक अध्यात्मवादी कवि थे। कवि नन्दलालने भी जहाँगीरके उच्च व्यक्तित्वका वर्णन किया है। ब्रह्मगुलाल एक मँजे हुए कवि थे। वे आगराके समीप ही रहते थे। उनका जहाँगीरसे सम्बन्ध नहीं था, फिर भी उन्होंने प्रशंसा की है।

बनारसीदासने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँका शासनकाल देखा था। उनका 'नाटक समयसार' शाहजहाँके राज्यमे निर्विघ्न समाप्त हुआ था। उस समय धार्मिक उत्पीडन नही था। मुसलमान बादशाह और नवाबोंकी सहायतासे अनेक जैनयात्रा संघ निकल सके और जैन मूर्तियो तथा मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा हो सकी। सेठ धन्नाराय और हीरानन्दकी देख-रेखमे सैकडो जैनमन्दिर बने, ऐसा शिलालेखोसे स्पष्ट है। अकबरकी धार्मिक उदारता तो जगत्प्रसिद्ध थी। उन्होंने जैन साधुओंका सम्मान ही नही किया, अपितु उनके उपदेशोंपर अमल भी किया। जैन पर्वों और अष्टमी-चतुर्दशीको पशु-वध सदा-सदाके लिए बन्द कर दिया गया। कई विदेशी विद्वानोने अकबरको जैन कहा है। उनकी मृत्युका समाचार जब कवि बनारसीदासने सुना, तो तचाँडा आ गया, अपनेको सँभाल न सके और नीचे गिर पड़े। उन्होंने 'अर्धकथानक'मे लिखा है,

"अकस्मात बनारसी, सुनि अकबर को काल।
सीढ़ी पर बैठ्यो हुतौ, भयौ भरम चित चाल॥
आइ तवाला गिरि परयौ, सक्यो न आपा राखि।
फूटि भाल लोहू चल्यौ, कह्यो, 'देव' मुख भाखि॥
लगी चोट पाखान की, भयौ गृहांगन लाल।
'हाइ' 'हाइ' सब करि उठे, मात तात बेहाल॥"

हिन्दीके अन्य जैन महाकवि ब्रह्मरायमल्ल, पाण्डे जिनदास, परिमल्ल और गणि महानन्द आदिने भी अकबरका गौरवपूर्ण स्मरण किया है। न वे अकबरके दरबारमे रहते थे और न उनका कोई निजी स्वार्थ ही सिद्ध होना था। वे सच्चे कवि थे। उनके कविहृदयने सम्राट् अकबरके विशाल हृदयको पहचाना था। दिलोकी यह आपसी पहचान ही उनके काव्योमे उभर-उभर उठी है।

वि० सं० १८००-१९०० मे भी अनेक भक्तिपरक रचनाओंका निर्माण हुआ। उनके रचयिता शक्तिशाली कवि थे। किन्तु रीतिकालका उनपर प्रभाव था। उनकी भाषामे भी अलंकारोंकी भरमार थी। लाला हरियशका जन्म वि० सं० १८६० मे, लाहौरके समीप कुसुमपुर (कसूर) मे हुआ था। उनकी जाति ओसवाल और गोत्र गान्धी था। बचपन विपत्तियोमे बीता। फिर भी व्युत्पन्न होनेके कारण संस्कृत और प्राकृतके अच्छे ज्ञाता बन सके। उनकी भाषापर संस्कृत प्राकृतका प्रभाव है। उन्होंने 'साधुगुणमाला', 'देवाधिदेव रचना' और 'देवरचना' का निर्माण किया था। तीनो बहुत पहले प्रकाशित हुई थी। 'साधुगुणमाला' का एक पद्य देखिए, जो अलंकारमे बोझिल है,

जिन केतक के दल के महिके, अलि के चित्त के भटिके बहिके।
मधु के रत के, बन के, सरके, पिक केम चुके बिनके लवके।
घन के घट के स्वर के सुनके, किम केकि चुके नृतके लटके।
खग के रम के किम के तुटि के, कवि केम चुके स्तव के कथके॥

इसी युगमे एक कवि पारसदास हुए। जयपुरके रहनेवाले थे। वहाँके बड़े मन्दिरकी तेरापन्थी सैलीसे उन्हे प्रेरणा मिली और वे एक अच्छे कवि बन सके। उनका 'पारस विलास' एक प्रसिद्ध कृति है। उसमे 'अष्टोत्तरशतक', 'ब्रह्मछत्तीसी', 'सरस्वती अष्टक', 'उपदेश पच्चीसी', 'बाराखड़ी', 'चेतनसीष' आदि भक्तिपरक कृतियाँ है। कविकी हृदयगत तल्लीनता इनसे स्पष्ट हो जाती है। पाठक भाव-विभोर हुए बिना नही रहता। 'पारस विलास'की हस्तलिखित प्रति दि० जैन मन्दिर बडौतमे मौजूद है। कवि देवीदास भी हिन्दीके भक्त कवि थे। उनका जन्म ओरछा स्टेटके दुगोड़ा ग्राममे हुआ था। इनकी जाति गोलालारे और वंश खरौआ था। इनकी प्रसिद्ध कृति है 'परमानन्द विलास'। उसमे भक्ति और अध्यात्मका समन्वय है। यह काव्य प० परमानन्द शास्त्रीको उपलब्ध हुआ था। रचना सरस है। इसी शताब्दीमे कवि टेकचन्द हुए। उनका जन्म मेवाड़के शाहपुरामे हुआ था। उनके पिता रामकृष्ण जयपुर छोडकर शाहपुरामे रहने लगे थे। टेकचन्द कुछ समय तक इन्दौरमे रहे और वहाँकी धार्मिक मण्डलीमे उन्हे ग्रन्थनिर्माणकी प्रेरणा मिली। उन्होने 'पुण्यास्रवकथाकोश', 'बुद्धिप्रकाश', 'श्रेणिकचरित्र', 'पंचपरमेष्ठि' आदि पूजाओ और पद-सग्रहोका निर्माण किया। ये सब कवि भक्त होते हुए भी तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियोसे प्रभावित थे। भले ही इन्होने नायिकाओका नखसे शिख तक वर्णन न किया हो, किन्तु उनकी भाषा नीचेसे ऊपर तक अलंकारोसे सुशोभित थी। वे भाषाकी स्वाभाविकतासे हटते जा रहे थे।

इस ग्रन्थके तीसरे अध्यायमे जैन भक्त कवियोके भावपक्षपर लिखा गया है। पाँच भावोको आधार बनाया है। वे इस प्रकार है सख्य, वात्सल्य, प्रेम, विनय और शान्त। इनमे उत्तरोत्तर क्रमसे विशुद्धता आती गयी है। सर्वोत्कृष्ट है शान्त भाव। उसे अन्तमे रखा है। इन सबके परिप्रेक्ष्यमे जितने अन्य सूक्ष्म भाव हो सकते हैं, उनके विश्लेषणका प्रयास किया है।

चौथा अध्याय कला-पक्षसे सम्बन्धित है। उसे भाषा, छन्द, अलंकार और प्रकृतिचित्रण-जैसे चार उपशीर्षकोमे बाँट दिया है। जैन कवियोंकी भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण थी। उन्होंने अनेक नये छन्द, नयी राग-रागिनियोमें प्रयुक्त किये।

इस दिशामें उनकी मौलिकता अनुकरणीय थी। अलंकारोंके प्रयोगमें वे मर्यादाशील बने रहे। भक्ति-काव्यका कोई अंश अलंकारोंके कारण अपनी स्वाभाविकता न खो सका। अनेक जैन कवि प्रकृतिके प्रांगणमें पले और वह ही उनका साधना-क्षेत्र बना। अतः वे 'प्रकृति-चित्रण' भी स्वाभाविक ढंगसे कर सके।

पाँचवाँ अध्याय तुलनात्मक है। उसमें निर्गुनिए सन्तों औ वैष्णव कवियोंकी जैन कवियोंसे तुलना की गयी है। मैंने निरन्तर निष्पक्ष रहनेका प्रयत्न किया है।

इस 'प्रबन्ध'का निर्देशन मान्य डॉ० छैलबिहारीलाल गुप्त राकेश, एम० ए०, डी० फिल०, डी० लिट्० ने किया था। मैं उनका हृदयसे आभारी हूँ। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल इस शोध ग्रन्थके परीक्षक थे। उन्होंने एक मतसे इसे पी-एच० डी० के योग्य स्वीकार किया। मेरे लिए उनका आशीर्वाद ही था। शायद उनके प्रति मेरा यही आभार प्रदर्शन होगा कि मैं शोध-मार्गपर निरन्तर चलता रहूँ।

भारतीय-ज्ञानपीठके अधिकारियोंका भी आभारी हूँ कि उन्होंने इस ग्रन्थको सहर्ष प्रकाशित कर दिया।

दि० जैन कॉलेज,
बड़ौत (मेरठ)
२२ जनवरी, १९६४

—(डॉ०) प्रेमसागर जैन

अनुक्रम

विभाग : एक

विभाग : दो

विभाग : एक

: १ :

जैन भक्ति : प्रवृत्तियाँ

'निष्कल' और 'सकल'

आचार्य योगीन्दुने 'परमात्मप्रकाश' मे भगवान् 'सिद्ध' को 'निष्कल' कहा है। व्याख्यामे ब्रह्मदेवने लिखा है, ''पञ्चविधशरीररहितः निष्कलः।''[1] सिद्ध शरीररहित होकर 'सिद्धि' मे विराजते हैं। ज्ञानकी दृष्टिसे सिद्ध और शुद्ध आत्मामें अन्तर नही है, किन्तु 'सिद्ध' मोक्षमे और शुद्ध आत्मा देहमे रहती है। आचार्य कुन्दकुन्दने दोनोको ही पूज्य कहा है। शरीररहित होनेसे वे निराकार होते हैं। शुद्ध आत्मा देहमे रहती अवश्य है, किन्तु स्वयं देहधारी नहीं है।

अर्हन्त 'सकल' ब्रह्म कहलाते है। अर्हन्त वह है, जिन्होने चार घातिया कर्मोंका नाश करके परमात्मपद पा लिया है, किन्तु अघातिया कर्मोंके क्षय होने तक उन्हे इस संसारमे रुकना है। ससारमे रुकनेका अर्थ है शरीरका बना रहना। अर्हन्तका परम औदारिक शरीर[2] होता है। वे सशरीरी कहलाते है। 'निष्कल' और 'सकल' मे अशरीरी और 'सशरीरी' के अतिरिक्त और कोई भेद नही है। दोनोकी ही आत्मा परमात्मतत्त्वकी दृष्टिसे समान है। ब्रह्मत्वकी दृष्टिसे 'निर्गुण' और 'सगुण' मे भी समानता है, किन्तु 'निष्कल' और 'सकल' जितने एक-दूसरेके निकट है, 'निर्गुण' और 'सगुण' नही। निष्कल और सकल दोनो ही स्वप्रयाससे कर्मोंका क्षय कर निष्कल और सकल बन पाते हैं। प्रत्येक 'निष्कल' पहले 'सकल' बनता है। बिना शरीर धारण किये और बिना केवलज्ञान उपलब्ध किये कोई भी जीव 'निष्कल' नहीं बन सकता। केवलज्ञानने निष्कल और सकलको एक-दूसरेके समीपतम पहुँचा दिया है।

'निर्गुण' और 'सगुण' में बृहदन्तर होनेके कारण ही हिन्दीके भक्ति-काव्यमे दो पृथक् प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वालने उन्हें 'निर्गुण

---

१. योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, ब्रह्मदेवकी टीका सहित, १।२५, पृ० ३२।

२. 'परम औदारिक शरीर' का अर्थ है अन्तिम स्थूल शरीर, अर्थात् अर्हन्त इस स्थूल शरीरके उपरान्त फिर कोई शरीर धारण नही करेंगे।

भक्तिधारा' और 'सगुण भक्तिधारा' के रूपमें विभाजित कर दिया है। कबीर आदि पहलीके और सूर आदि दूसरी धाराके कवि कहे जाते हैं। हिन्दीका जैन भक्ति-काव्य 'निष्कल' और 'सकल' के रूपमे नही बाँटा जा सकता। उसमे दोनोंका समन्वय हुआ है। हिन्दीके जैन भक्त कवियोने यदि एक ओर सिद्ध अथवा निष्कलके गीत गाये तो दूसरी ओर अर्हन्त अथवा सकलके चरणोमे भी श्रद्धा-पुष्प चढ़ाये। उन्होंने किसी एकका समर्थन करनेके लिए दूसरेका खण्डन नही किया। भट्टारक शुभचन्द्रने 'तत्त्वसारदूहा'में, "देह विभिण्णो णाणमय रे मूरति रहित अमुत्त। ध्याउं अप्पा आपणो ध्यानानल पवित्त॥ "कहा, तो "देव एक जिनदेव रे आगम जिन सिद्धान्त। तत्त्व जीवादिक सद्दहण होइ सम्मत्त अभ्रान्त॥" भी कहा। मुनि चरित्रसेनने अपनी 'सम्माधि' नामकी कृतिमे, "खणि-खणि झाइयइ णमो अरिहन्ताणं, जिव मंगे पावहु णिव्वाणं।" के द्वारा अर्हन्तके ध्यानकी बात कही, तो "जइ अप्पा अप्पहि गुण लग्गा, ते संसार महादुह भग्गा॥" से आत्माके गुणोमे तल्लीन होना भी स्वीकार किया। आनन्दतिलकने 'महानन्दिदेउ' नामकी रचनामे "अप्पा संजमु सील गुण अप्पा दंसण णाणु। वउ तउ संजम देउ गुरु आणंदा ते पावहिं णिव्वाणु॥" लिखा तो दूसरी ओर सद्गुरु, जो शरीरधारी है, की भी महिमा का, "गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तयसारु। सो दरिसावइ अप्प परु आणंदा, भवजल पावइ पारु॥" के द्वारा बखान किया[1]। हिन्दीके भक्ति-काव्यका ऐसा कोई जैन कवि नही, जिसमे ये दोनो प्रवृत्तियाँ एक साथ न पायी जाती हो।

दिव्य अनुराग

जैन आचार्योंने 'राग' को बन्धका कारण कहा है, किन्तु वीतरागीमे किया गया 'राग' परम्परया मोक्षको ही देता है। वही 'राग' बन्धका हेतु है जो 'पर' मे किया गया हो। वीतरागी परमात्मा 'पर' नही 'स्व' आत्मा ही है। आत्म-प्रेमका अर्थ है आत्म-सिद्धि, जिसे मोक्ष कहते हैं। आचार्य पूज्यपादने 'राग' को भक्ति कहा, किन्तु उस रागको जो अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत और प्रवचनमे शुद्ध भावसे किया जाये।[2] वीतरागीके प्रति रागका यह भाव जैन भक्तिके रूपमें निरन्तर प्रतिष्ठित बना रहा। भक्त कवियोने तो उसीको अपना आधार माना।

---

१. तत्त्वसार दूहा, मन्दिर ठोलियान, जयपुर, सम्माधि और महानन्दिदेउ, मन्दिर बधीचन्दजी जयपुरकी हस्तलिखित प्रतियोंके आधारपर ये उद्धरण दिये गये हैं।
२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ६।२४ का भाष्य।

हिन्दीके जैन भक्ति-काव्यमें यह रागात्मक भाव जिन अनेक मार्गोंसे प्रस्फुटित हुआ, उनमें 'दाम्पत्यरति' प्रमुख है। 'दाम्पत्यरति' का अर्थ है पति-पत्नीका प्रेम-भाव। पति-पत्नीमें जैसा गहरा प्रेम सम्भव है, अन्यत्र नहीं। इसी कारण 'दाम्पत्य-रति' को रागात्मक भक्तिमें शीर्ष स्थान दिया गया है। हिन्दीके जैन कवियोंने चेतनको पति और सुमतिको पत्नी बनाया। पतिके विरहमें पत्नी बेचैन रहती है, वह सदैव पति-मिलनकी आकांक्षा करती है। पति-पत्नीके प्रेममें जो मर्यादा और शालीनता होती है, जैन कवियोंने उसका पूर्ण निर्वाह 'दाम्पत्यरति' वाले रूपकोंमें किया है। कवि बनारसीदासकी 'अध्यात्मपद पक्ति', भगवतीदास 'भैया' की 'शतअष्टोत्तरी,' मुनि विनयचन्द्रकी 'चूनडी', द्यानतराय, भूधरदास, जगराम और देवाब्रह्मके पदोंमे दाम्पत्यरतिके अनेक दृष्टान्त है और उनमें मर्यादाका पूर्ण पालन किया गया है। हिन्दीके कतिपय भक्ति-काव्योमे दाम्पत्यरति छिछले प्रेमकी द्योतक-भर बनके रह गयी है। उसमें भक्ति कम और स्थूल सम्भोगका भाव अधिक है। भक्तिकी ओटमे वासनाको उद्दीप्त करना किसी भी दशामे ठीक नहीं कहा जा सकता। पत्नीके द्वारा सेज सजायी जाना और उसपर सम्भोगके लिए पतिका आह्वान किया जाना, भक्ति तो नही ही है और चाहे कुछ हो। दाम्पत्य-रतिके रूपकको 'रूपक' ही रहना चाहिए था, किन्तु जब उसमे रूपकत्व तो रहा नही, 'रति' ही प्रमुख हो गयी, तो फिर अशालीनताका उभरना भी स्वाभाविक ही था। जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे।

'आध्यात्मिक विवाह' भी रूपक काव्य है। इनमे किसी साधुका विवाह दीक्षाकुमारी या संयमश्रीके साथ सम्पन्न होता है, अथवा आत्मारूपी नायकका गुणरूपी नायिकाके साथ। मेरुनन्दन उपाध्यायका 'जिनोदयसूरि विवाहलउ', उपाध्याय जयसागरका 'नेमिनाथ विवाहलो', कुमुदचन्द्रका 'ऋषभ विवाहला' और अजयराजपाटणीका 'शिवरमणीका विवाह' इस दिशाकी महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ है। 'आध्यात्मिक विवाह' जैनोकी मौलिक कृतियाँ है। निर्गुनिए संतोंने उनका निर्माण नही किया था। 'आध्यात्मिक फागुओं' की रचना भी जैन कवियोंने अधिक की। जैन चेतन अपनी सुमति आदि अनेक पत्नियोंके साथ होली खेलता रहा है। कभी-कभी पुरुष और नारीके जत्थोंके मध्य भी होलियाँ खेली गयी है। वैसे तो होलियाँ सहस्रों जैन पदोंमे बिखरी हैं, किन्तु जैसी सरसता द्यानतराय, जगराम और रूपचन्दके काव्यमे है, दूसरी जगह नही। चेतनकी पत्नियोंको 'आध्यात्मिक चूनड़ी' पहननेका चाव था। कबीरकी बहुरिया ने भी 'चूनड़ी' पहनी है, किन्तु साधुकीर्त्तिकी 'चूनड़ी' मे संगीतात्मक लालित्य अधिक है।

नेमिनाथ और राजीमतीसे सम्बन्धित मुक्तक और खण्ड काव्योंमें जिस प्रेमकी

अनुभूति सन्निहित है, वह भी स्थूल नहीं दिव्य ही था। वैरागी पतिके प्रति यदि पत्नीका सच्चा प्रेम है, तो वह भी वैराग्यसे युक्त ही होगा। राजीमतीका नेमीश्वरके साथ विवाह नहीं हो पाया था कि वे, भोज्यपदार्थ बननेके लिए बँधे पशुओंकी करुण पुकारसे प्रभावित होकर तप करने चले गये; फिर भी राजीमतीने जीवन पर्यन्त उन्हींको अपना पति माना। ऐसी पत्नीका प्रेम झूठा अथवा वासनामिश्रित होगा, यह कोई नहीं कह सकता। हिन्दीकी अनेक मुक्तक रचनाओंमें राजीमतीके सौन्दर्य और विरहकी भावपरक अनुभूतियाँ है, किन्तु वे अपभ्रंशकी प्रोषितपतिकाओंसे यत्किंचित् भी प्रभावित नहीं है। राजीमती सुन्दर है, किन्तु उसे अपने सौन्दर्यका कभी आभास नहीं होता। राजीमती विरहप्रपीडित है, किन्तु उसे पतिके सुखका ही अधिक ध्यान है। विरहमें न तो उसकी शय्या नागिन बन सकी है और न उसने अपनी रातें ही पाटियाँ पकडकर बितायी है। राजशेखरके 'नेमीश्वरफागु', हर्षकीर्त्ति, हेमविजय और विनोदीलालके 'नेमीश्वरगीतों'में राजीमतीका सौन्दर्य तथा जिनहर्ष, लक्ष्मीवल्लभ, विनोदीलाल और धर्मवर्धनके 'नेमिराजीमती बारहमासों'में राजीमतीका विरह उत्तम काव्यका निदर्शन है। कहींपर भी अश्लीलता नहीं है। सब कुछ मर्यादासे बँधा है। हिन्दीके जैन काव्योंमें नेमीश्वर और राजीमतीको लेकर अनेक मंगलाचरणोंकी भी रचना हुई है, किन्तु उनमें कहीं भी "पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रताम्" और "औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्त्तमाना ह्रिया[1]।" जैसी बात नहीं है। जब कि भगवान्‌के मंगलाचरण भी वासनाके कैमरेसे खीचे जा रहे थे, नेमीश्वर और राजुलसे सम्बन्धित मांगलिक पद दिव्यानुभूतियोंके प्रतीक-भर ही रहे। उन्होंने अपनी पावनताका परित्याग कभी नहीं किया।

रहस्यवाद

जैन अपभ्रंशके 'परमात्मप्रकाश', 'सावयधम्मदोहा', 'दोहापाहुड' – रामसिंह 'वैराग्यसार' और 'दोहापाहुड' – महचन्द में आत्म-ब्रह्ममें प्रेम करने और उसमें तन्मय होनेकी बात कही गयी है। वहाँ आत्म-ब्रह्मकी भक्तिसे सम्बन्धित अनेक चित्र है, जिनपर तन्त्रात्मक प्रवृत्तिका भी हलका-सा रंग है। मध्यकालीन हिन्दीके जैन कवि अपभ्रंशके इस रहस्यवादसे प्रभावित है, किन्तु वे तन्त्रवादसे मुक्त है। उनकी अनुभूतियोंमें भावात्मकता अधिक है। आचार्य कुन्दकुन्दके 'भावपाहुड'में भी भावात्मक अनुभूतिकी ही बात अधिक कही गयी है। भाव-

[1]. देखिए हर्षकी 'रत्नावली' के प्रारम्भिक मंगलाचरण।

मूलक अनुभूति ही रहस्यवादका प्राण है। विचारात्मक अनुभूति दर्शनके क्षेत्रमें प्रतिष्ठित है। अनुभूति दोनो है, किन्तु पहलीमे भाव उत्पन्न होते हैं और दूसरीमें विचार। डॉ० राधाकृष्णनने विचारात्मक अनुभूतिको अध्यात्मविद्या कहा है।[1] अध्यात्मविद्या वह है, जिसमे मुख्यत: अनुभूतिगत तत्त्वका विचार किया जाये। रहस्यवाद भावात्मक अनुभूति है।[1]

अनुभूतिका दूसरा नाम अनुभव है। कवि बनारसीदासने अनुभवकी परिभाषा लिखी है, "आत्मिक रसका आस्वादन करनेसे जो आनन्द मिलता है, उसे ही अनुभव कहते है[2]।" उसीको विशद करते हुए उन्होंने कहा, "इसी अनुभवको जगत्के ज्ञानी जन रसायन कहते है। इसका आनन्द कामधेनु और चित्रावेलिके समान है, इसका स्वाद पंचामृत भोजन-जैसा है। अनुभव मोक्षका साक्षात् मार्ग है[3]।" पाण्डे रूपचन्दने 'अध्यात्म सवैया' मे लिखा है कि आत्मब्रह्मकी अनुभूतिसे यह चेतन दिव्य प्रकाशसे युक्त हो जाता है। उसमे अनन्तज्ञान प्रकट होता है और यह अपने-आपमे ही लीन होकर परमानन्दका अनुभव करता है।[4]

---

१. डॉ० राधाकृष्णन, Heart of Hindusthan, अनुवाद–भारतकी अन्तरात्मा, विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी, १९५३, पृ० ६५।

२ वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याको नाम ॥१७॥
बनारसीदास, नाटकसमयसार, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि० सं० १९८६, पृ० १७।

३. अनुभौके रसको रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है।
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पच अमृतको कौर है।
देखिए वही, १९वाँ पद्य, पृ० १७-१८।

४. अनुभौ अभ्यासमैं निवास सुध चेतन कौ,
अनुभौ सरूप सुध बोधको प्रकास है,
अनुभौ अनूप उपरहत अनंत ज्ञान,
अनुभौ अनीत त्याग ज्ञान सुखरास है।
अनुभौ अपार सार आप ही को आप जानै,
आप ही मैं व्याप्त दीसै जामै जड नास है।
अनुभौ 'अरूप है सरूप चिदानंद चंद,
अनुभौ अतीत आठ कर्म स्यो अफास है ॥१॥
अध्यात्म सवैया, मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति।

मध्यकालीन हिन्दीके जैन काव्योंमें रहस्यवादी गीत और पद बिखरे हुए हैं। उनमे 'आराधना प्रतिबोधसार' – सकलकीर्त्ति, 'सम्माधि' – चरित्रसेन, 'तत्त्व-सारदूहा'–शुभचन्द्र, 'चेतनगीत' – जिनदास, 'अनित्यपंचाशत' – त्रिभुवनचन्द्र, 'सुन्दरसतसई' – सुन्दरदास, 'खटोलनागीत' – पाण्डे रूपचन्द, 'अध्यात्मगीत' – बनारसीदास, 'मनराम विलास' – मनराम, 'बहत्तरी' – आनन्दघन, 'हितोप-देशबावनी' – हेमराज, 'आगम विलास' – जगतराम, 'चेतनबत्तीसी' – लक्ष्मी-वल्लभ, 'अक्षरबावनी' – बिहारीदास, 'चेतन गीत' – किशनसिंह और 'चेतन सुमतिसज्झाय' – भवानीदास प्रसिद्ध रचनाएँ है। इनमे आत्म-ब्रह्मके प्रेमकी अभिव्यक्ति रूपकोके द्वारा की गयी है। रूपक सरस है, ऐसी सरसता संस्कृत-प्राकृतके जैन कवियोमें नही पायी जाती।

सतगुरु

जैन काव्योंमे सतगुरुका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ सतगुरु और ब्रह्ममे भेद नहीं स्वीकार किया गया है। उन्होने अर्हन्त और सिद्धको भी 'सतगुरु' की संज्ञासे अभिहित किया है। कबीरका गुरु ब्रह्मसे पृथक् है। गुरुके द्वारा ही गोविन्द मिलता है, अतः कबीरने गुरुको ब्रह्मसे बडा कहा है। गुरुके प्रति कबीरका यह दृष्टिकोण स्वार्थजन्य अधिक लगता है, भक्तिपरक कम। दूसरी ओर जो भक्त ब्रह्मको भी 'गुरु' कहकर ही पुकारता है, उसकी गुरु-भक्तिमे सन्देह नही किया जा सकता। जैन कवि गुरु-भक्त थे। उन्होने पचपरमेष्ठीको 'पचगुरु' कहा है। पचपरमेष्ठीमे अर्हन्त-सिद्ध शामिल है, आचार्य–उपाध्याय तथा साधु भी। साधु यदि सम्य-क्त्वी है, तो गुरु-पदका अधिकारी है। गुरु वही है, जो सम्यक् पथका निर्देशन करे। सम्यक् पथका अर्थ है मोक्ष-मार्ग। उसे वही बता सकता है, जो उसपर चल चुका हो। सच्चा साधु उसपर चलता है और उसके अंश-अंशसे परिचित रहता है। हिन्दीके जैन कवियोने 'गुरु' को मोक्ष-मार्गका प्रकाशक कहा है।

कबीर ने 'गुरु' की शक्तिकी बात तो बहुत की, किन्तु उसके प्रति शिष्यकी अनुरागात्मक श्रद्धाका तो जैसे वहाँ अभाव ही है। उधर जैन काव्योंको गुरु-भक्तिमे अनुरागको पर्याप्त स्थान मिला। जैन शिष्यने गुरुके मिलन और विरह दोनोके ही गीत गाये। गुरुके मिलनमे शिष्यको समूची प्रकृति लहलहाती हुई दिखाई दी और विरहमे उसने समूचे विश्वको उदासीन देखा। रल्हकी 'जिनदत्त चौपई', उपाध्याय जयसागरकी 'जिनकुशलसूरिचौपई', कुशललाभका

'श्रीपूज्यवाहणगीतम्', साधुकीर्त्तिका 'जिनचन्द्रसूरिगीतम्' तथा जोधराजका 'सुगुरुशतक' अनुरागात्मक भक्तिके उत्तम दृष्टान्त हैं[1]।

हिन्दीके सभी कवियोंने स्वीकार किया है कि गुरुके सामर्थ्यवान् होने मात्रसे कुछ नही होता। शिष्यमे योग्यता, ग्रहण करनेकी उपादान शक्ति होनी ही चाहिए। उपादान शक्तिके अभावमें गुरु कितना ही समझाये शिष्य समझता नही। जैन कवियोंने अपने अनेक पदोमें इस भावको सरसताके साथ प्रकट किया है; किन्तु गुरु अत्यधिक उदार होता है। शिष्यमे ग्रहण करनेकी शक्ति हो या न हो, वह गुरुके आशीर्वादका पात्र तो बनता ही है। बनारसीदासने 'नाटक-समयसार'मे गुरुको मेघके समान कहा है। गुरुमे-से मेत्रकी ही भाँति 'बानीरूपी' अखडित धार निकलती है और उससे सब जीवोंका हित होता है।

"ज्यों बरषे बरषा समै, मेघ अखंडित धार।
त्यों सदगुरु बानी खिरै, जगत जीव हितकार।"

ब्रह्मकी प्रेरणा

प्रत्येक भक्त अपने भगवान्से याचनाएँ करता है। जैन भक्तने भी की है। उसने कहीं पुत्र, कही धन और कही मोक्ष माँगा। उसका माँगना कभी व्यर्थ गया हो, ऐसा सुननेमें नही आया। वीतरागी प्रभुने अपने भक्तकी सभी मनो-कामनाओंको पूरा किया, फिर वे भौतिक हो या आध्यात्मिक। किन्तु प्रश्न तो यह है कि जो भगवान् संसारसे मुक्त हो चुका, उसका संसारसे क्या सम्बन्ध ? जैन सिद्धान्त जिनेन्द्रमे कर्त्तृत्व नही मानता और बिना कर्त्तृत्वके वह भक्तकी इच्छाओंको पूरा भी नही कर सकता। फिर जैन भक्त किस सहारेसे टिकता है ? उसके टिकनेका अवलम्ब है जिनेन्द्रकी प्रेरणा। जिनेन्द्र कुछ नहीं देते, किन्तु उनके दर्शन और पूजा-उपासनासे भक्तमें पुण्यप्रकृतियोंका जन्म होता है।[2] ये प्रकृतियाँ चक्रवर्तीकी विभूति देती है और तीर्थंकरका पद भी। अर्थात् उनमे क्षणिक और स्थायी दोनों ही प्रकारका आनन्द देनेकी सामर्थ्य है। सारांश यह कि जिनेन्द्र

१. रल्हकी 'जिनदत्त चौपई', जैन मन्दिर पाटौदी, जयपुरके गुटका नं० २०० में मौजूद है। इसमें ५५३ पद्य है। जोधराजका सुगुरुशतक भी इसी मन्दिरके गुटका नं० २३६ में अंकित है। अवशिष्ट रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी है।

२. पुण्यप्रकृतियाँ अन्य मार्गोंसे भी जन्म ले सकती हैं, किन्तु भक्तिमार्ग आसान, सीधा और सरस है, जनसाधारणके मनको रुचता है। ज्ञान प्रधान जैन धर्ममें उसका विधान बहुत बड़े आश्वासनकी बात है।

कुछ नहीं देते, किन्तु उनकी प्रेरणा सब कुछ देती है। उससे भक्तमें ऐसी सामर्थ्यका जन्म होता है, जिससे वह स्वत: सब कुछ प्राप्त कर सकता है। इसे ही प्रेरणाजन्य कर्त्तृत्व कहते है। इसमे भक्त 'दैव-दैव पुकारा' तक ही सीमित नहीं रहती, अपितु अभीष्ट प्राप्त करनेके लिए कर्मक्षेत्रमे उतरती है। भक्ति और कर्मका ऐसा समन्वय कहीं देखनेको मिलता है। इसमे जैन भक्त न तो भक्तिके नितान्त परावलम्बनसे आलसी बन पाता है और न कर्मकी शुष्कतासे बेचैन होता है।

जिनेन्द्रका सौन्दर्य प्रेरणाका अक्षय पुंज है। उसे लेकर कवियोकी आनन्दानुभूतियाँ भी उभरती रही हैं। 'स्वयम्भू स्तोत्र' में आचार्य समन्तभद्रने लिखा है, "न पूजार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे। तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न: पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्य:॥" मध्यकालीन हिन्दीके जैन काव्योमें ऐसी अनेकानेक उक्तियाँ है। द्यानतरायने जिनेन्द्रके प्रेरणाजन्य कर्त्तृत्वको एक उपालम्भके द्वारा प्रकट किया है।

"तुम प्रभु कहियत दीनदयाल।
आपन जाय मुकति मैं बैठे, हम जु रुलत जगजाल।
तुमरो नाम जपैं हम नीके, मन बच तीनौं काल॥
तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल।
बुरे-भले हम भगत तिहारे, जानत हो हम चाल॥
और कछू नहिं यह चाहत हैं, राग-दोष कौं टाल।
हम सों चूक परी सो बकसो, तुम तो कृपा विशाल॥
द्यानत एक बार प्रभु जग तैं, हमकों लेहु निकाल।"

आधुनिक हिन्दीके कवियोका मन भी आराध्यके प्रेरणाजन्य सौन्दर्यमे ही अधिक रमा है। 'प्रियप्रवास'की राधाने पवनको दूती बनाकर कृष्णके पास भेजा। दूतीने पूछा कि वहाँ तो सब काले ही काले होगे, मै कृष्णको कैसे पहचानूँगी? राधाने कहा,

"बैठे होंगे जिस थल वहाँ भव्यता भूरि होगी।
सारे प्राणी वदन लखते प्यारके साथ होंगे॥
पाते होंगे परमनिधियाँ लूटते रत्न होंगे।
होती होंगी हृदयतलकी क्यारियाँ पुष्पिता-सी॥
देते होंगे प्रथित गुण वे देख सद्दृष्टि द्वारा।
लोहाको छू कलित करसे स्वर्ण होंगे बनाते॥"

राधाने कृष्णके व्यक्तित्वमें एक ऐसा जादू माना है, जिससे समीपस्थोंको परम निधियाँ और रत्न प्राप्त हो जाते हैं। कृष्ण कुछ देते नहीं, उनके 'दर्शन'मे ऐसी शक्ति है, जिसकी प्रेरणा भक्तको सब कुछ पानेमे समर्थ बनाती है। जिसकी केवल सद्दृष्टिसे ही प्रथित गुण आ जाते हों, वह जादू ही है और क्या। इसे ही जैन आचार्य प्रेरणा कहते रहे हैं, और जैन-कवि उसीके प्रेरणा-दीप जलाते रहे हैं। रायचन्दकी सीताने राममें, हेमविजयकी राजुलने नेमिकुमारमे, कुशल-लाभकी अंजनाने पवनदेवमे प्रेरणाजन्य सौन्दर्यकी अनुभूतियाँ की है।

पंचकल्याणक स्तुतियाँ

तीर्थंकरोंके गर्भमें आने, जन्म लेने, तपके लिए जाने, केवलज्ञानके उत्पन्न होने और मोक्ष प्राप्त करनेके अवसरपर जो उत्सव मनाये जाते हैं, उन्हे 'कल्याणक' कहते है। वे कल्याण करते है, अतः उनकी यह संज्ञा सार्थक ही है। जैन काव्योंमे उनका अनुभूतिपरक विवेचन है। प्रबन्ध काव्योंमें अधिक है फिर चाहे वे संस्कृत-प्राकृतके हों अथवा अपभ्रंश और हिन्दीके। वहाँ तीर्थंकरके प्रत्येक कल्याणकसे सम्बन्धित एक-एक सर्ग है, किन्तु कवियोंका मन गर्भ और जन्म-कल्याणकोंमे ही अधिक रमा है। भूधरदासके पार्श्व-पुराणमे इन दोका सरस वर्णन है। कविकी सबसे बडी सामर्थ्य है चित्रांकन। हिन्दीके महाकवियोने रुचिकवासिनी देवियोके द्वारा माँकी सेवा, सद्यःजात बाल तीर्थंकरका पाण्डुक-शिलापर स्नान, इन्द्रका ताण्डव नृत्य और 'आनन्द' नाटक आदि दृश्योंको सफलतापूर्वक अंकित किया है। उनमे प्राकृतिक छटाका समन्वय होनेसे सौन्दर्य और भी बढ गया है।

प्रबन्ध काव्योंमे यथाप्रसंग मुक्तक स्तुतियोंकी भी रचना की जाती है। उनमे तत्-तत् कल्याणकको लेकर तीर्थंकरके प्रति अपना भक्ति-भाव प्रकट करना ही कविका उद्देश्य होता है। अपेक्षाकृत हिन्दीके प्रबन्ध काव्योंमे ऐसी स्तुतियोंकी अधिकता है। हिन्दीके कवियोने तो मुक्तक रूपसे भी पंचकल्याणक-स्तुतियोंका निर्माण किया है। संस्कृत-प्राकृतमे उनका नितान्त अभाव है। यह हिन्दी-कवियोंकी अपनी निजी विशेषता है। पाण्डे रूपचन्दकी 'पंचमंगल स्तुति' आज भी जैन-मन्दिरोंमें प्रतिदिन पढ़ी जाती है। जगरामके 'लघुपंचमंगल'की एक हस्त-लिखित प्रति मुझे बड़ौतके दिगम्बर जैन-मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें मिली है। पाण्डे रूपचन्दने प्रसिद्ध 'पंचमंगलस्तुति'के अतिरिक्त एक 'लघुपंचमंगल'का भी

निर्माण किया था। वह भी बडौतके शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध हुआ है। भवानी-दासके 'पंचमंगलकाव्य'की एक प्रति बनारसमे रामघाटपर स्थित प्राचीन जैन-मन्दिरमें मौजूद है। भट्टारक धर्मचन्दका 'पंचमंगल' जयपुरके पाटौदीके जैन-मन्दिरमें उपलब्ध है। इन काव्योमे जैन कवियोंका हृदय जैसे उमड ही पड़ा है। जगरामके लघुमगलका एक वह दृश्य देखिए, जिसमे छप्पन कुमारिकाएँ माँकी सेवा करती है,

> "ईक सनमुष दरपन लीया, ईक ठाडी चँवर ढुरावै जी।
> बसन आभूषन ईकसै, ईक मधुरी बैन बजावै जी॥
> पूँछत एक पहेली का, ईक उतर सुनि हरषावै जी।
> निसि दिन अति आनन्द स्यौ, इम नव मास बितावै जी॥
> महिमा त्रिभुवन नाथ की, कवि कहाँ लौं वरणावै जी।
> भक्ति परे ना बसि भयो, जगतराम जस गावै जी॥

दास्यभाव

भक्तको भगवान्‌का दास होना ही चाहिए। वह दासता जो भक्तके हृदयमे जन्म लेती है, सात्त्विकी ही होती है। उसका भौतिक स्वार्थसे युक्त दासताके राजसिक पहलूसे सम्बन्ध नही होता है। जैन भक्त भगवान्‌का दास है। वह भगवान्‌की सेवामे अपना जीवन बिता देना चाहता है। हिन्दीके अनेक जैन कवियोने भव-भवमे जिनेन्द्रकी सेवा करनी चाही है। उन्होंने न तो सासारिक सुख माँगे और न मोक्ष ही, माँगी तो सेवा। सेवाजन्य आनन्द ही उनके जीवनका चरम लक्ष्य बना रहा। उनकी यह आकाक्षा पवित्र थी—स्वार्थरहित।

जैन भक्तका आराध्य भी कैसा उदार और दयालु है कि वह अपने दासको अपने समान बना लेता है। आचार्य समन्तभद्रने लिखा है कि हे भगवन्! जो आप-की शुश्रूषा करते है, वे शीघ्र ही आप-जैसी लक्ष्मीसे सुशोभित होते हैं।[1] इसीलिए कवि बनारसीदासने ज्ञानीके लिए भी सेवाभावकी भक्ति अनिवार्य बतलायी है। जो भगवान् दीनोंपर इतनी दया करे कि उन्हे अपने समान बना ले, सच ही वह 'दीनदयालु' है। इसी कारण जैन भक्त बार-बार उस 'दीनदयालु'को पुकारता है[2],

---

१. देखिए स्तुतिविद्या, ७०वाँ श्लोक।

२. कवि भूधरदासकी 'अहो जगद्गुरु'वाली विनती, जो 'बृहज्जिनवाणीसंग्रह'में प्रकाशित हो चुकी है।

"अहो जगद्गुरु एक सुनियो अरज हमारी।
तुम प्रभु दीनदयालु, मैं दुखिया संसारी॥"

और यह भी सच है कि उसका पुकारना कभी निरर्थक नहीं गया। दीनदयालुने दीनपर दया कर उसे भी 'दीनदयालु' बना लिया। ऐसे भगवान्का यदि कोई दास बने तो ठीक ही है। यदि न बन पाये तो दुर्भाग्य है।

हिन्दीके अनेक जैन कवियोंने दास्यभावकी भक्ति की है। उसका विवेचन तीसरे अध्यायमे किया गया है। यह उनके लिए एक उत्तर होगा, जो जैन भक्तिमे दास्यभाव नही मानते। उनके कथनानुसार आत्मामे परमात्मा बननेकी ताक़त मौजूद है, फिर उसे दासता करनेकी क्या आवश्यकता है। उनके सिद्धान्तानुसार आत्मा और परमात्मा समान है, फिर दासताको स्थान ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वे भगवान्मे कर्तृत्व भी नहीं मानते, इसलिए भी दासताका खण्डन करते है। किन्तु आत्मा अभी परमात्मा बनी नही है, उसमे उन तत्त्वोका आविर्भाव नही हुआ है, जो परमात्मामे मौजूद है, अत यदि वह परमात्मामें सेवाभाव रखे तो अनुपयुक्त नही है। जहाँतक कर्तृत्वका सम्बन्ध है, वह भले ही प्रेरणात्मक हो, है तो, फिर दास्यभाव भी निभ ही सकता है। जैन कवियोने दास्यभक्तिके अनेक पदोका निर्माण किया है।

आराध्यकी महत्ता

आराध्यकी महत्ता स्वीकार किये बिना श्रद्धा हो उत्पन्न नही होती, भक्ति तो दूरकी बात है। इसी महत्ताके साथ भक्तकी अपनी लघुताकी स्वीकृति स्वतः ही जुडी है। अर्थात् भक्त जबतक अपनेको लघु और आराध्यको महान् स्वीकार नही करता, वह भक्त ही नही है। जैन भक्तमे भी ये दोनो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है। आराध्यकी महत्ता प्रकट करनेके अनेक ढग है, और उनमे एक यह भी है कि अपने आराध्यको अन्य देवोसे बडा बताया जाये। सूर और तुलसीने कृष्ण और रामको ब्रह्मा, महेश और बुद्धसे बड़ा कहा है। जैन कवियोंने भी जिनेन्द्रको अन्य देवोंसे बड़ा माना। ऐसा करके उन्होंने अपने इष्टदेवमे अनन्य भाव ही प्रकट किया है। उन्होंने किसी अन्यके प्रति कटुता अभिव्यक्त नही की। अपने इष्टदेवको सर्वोत्कृष्ट बताना भक्तका कर्तव्य है, किन्तु जिन अन्य देवोंसे उत्कृष्ट दिखाया जाये, उनके प्रति घृणात्मक भाव प्रकट करना ठीक नही है। सगुणोपासक कवि निर्गुणब्रह्मका खण्डन कटुताके साथ करते रहे है। उनका यह कार्य निषेधात्मक

अधिक है, विधेयक कम। निर्गुणब्रह्मका खण्डन सगुणब्रह्मकी भक्ति नही है। सगुण और निर्गुणको एक माननेसे जैन कवि इस संघर्षसे नितान्त मुक्त रहे है। उन्होंने जैनातिरिक्त देवोंसे अपने देवको बडा तो बताया, किन्तु उनको बुरा भी नहीं कहा। जैन संस्कृत काव्योंमें तो कही-कही ब्रह्मा, विष्णु, महेशके प्रति तीखापन भी दिखाई देता है, किन्तु जैन हिन्दी रचनाओमें ऐसा नही है।

जैन कवियोंने आराध्यकी महत्ता एक अन्य शैलीसे भी प्रकट की है। यह शैली विधेयक है और प्रथमकी अपेक्षा उदारतापरक भी। इसमे भक्त कवि अन्य देवोंकी आराधना तक करनेको तैयार रहता है, किन्तु तभी, जब उसमे अपने इष्टदेवके गुण घटित हों। रामके भक्त तुलसीदास कृष्णकी वन्दनाको भी तैयार है, किन्तु जब वे मुरली छोड़कर 'धनुष-बाण' धारण करें। एक जैन कवि शकरकी पूजा करना चाहता है, किन्तु तभी जब शंकर प्रलय करना छोडकर 'शं' अर्थात् शान्ति करनेवाले बन जायें। इसी भाँति वे 'ब्रह्मा' की उपासना करनेको भी तैयार है, किन्तु तभी जब वह उर्वशीके मोह-जालसे निकलकर 'क्षुत्तृष्णाश्रमराग रोगरहित' हो जायें।[१] आचार्य हेमचन्द्रने तो अपने आराध्यका नाम ही नही लिया। उनके लिए तो वे सभी इष्टदेव है, जिनमे रागादिक दोष क्षयको प्राप्त हो गये है,

"भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोऽस्तु ते॥"

भक्तकी लघुताकी बात ऊपर कही जा चुकी है। आराध्यकी महत्ताके समक्ष भक्तको अपना प्रत्येक गुण और कार्य लघु हो प्रतीत होता है। भक्तिके क्षेत्रमे लघुताका भाव हीनताका द्योतक नही है। भक्त जितना ही अधिकाधिक अपनेको लघु अनुभव करता जायेगा, उतना हो विनम्र होता जायेगा और आराध्यके समीप पहुँचता जायेगा। तुलसीकी 'विनयपत्रिका'मे 'लघुता' प्रमुख है। जैन कवि कुमुदचन्द, जगजीवन, मनराम, बनारसीदास, रूपचन्द और भूधरदासके पदोमे भी लघुताको ही मुख्यता दी गयी है। बनारसीदासका एक पद्य देखिए,[२]

१. आचार्य अकलंक, अकलकस्तोत्र सटीक, दूसरा और चौथा श्लोक।

२. नाटकसमयसार, उत्थानिका, १२वाँ पद्य।

"जैसें कोउ मूरख महासमुद्र तिरिबे को,
भुजानि सों उद्यत भयौ है तजि नावरौ।
जैसें गिरि ऊपरि बिरखफल तोरिबे कों,
बावनु पुरुष कोऊ उमंगै उतावरौ।
जैसे जलकुण्ड में निरखि शशि प्रतिबिम्ब
ताके गहिबे कों कर नीचो करे टावरौ।
तैसैं मैं अलपबुद्धि नाटक आरम्भ कीनौ
गुनी मोहि हँसेंगे कहेंगे कोउ बावरौ॥"

लघुताके साथ ही दीनताका भाव भी जन्म लेता है। दीनताका अर्थ है ग़रीबी, गरीबी केवल रुपये-पैसेकी नहीं, हर तरहकी। भक्तमें न तो गुण हैं और न पुण्य करनेकी सामर्थ्य। उसकी ज़िन्दगी पापोंमें कटती है। इसी कारण उसे बारम्बार गर्भके दुःखोंको झेलना पड़ता है। वह जीवन-भर बेचैन रहता है। कोई भी भगवान् उसके इन दुःखोंको तभी दूर कर सकता है, जब वह 'दीनदयालु' हो। अहिंसाको परम धर्म माननेके कारण जिनेन्द्र तो स्वभावसे ही 'परम-कारुणिक' होते हैं। उन्होंने सदैव दीनोंपर दया की है। हिन्दीके जैन कवियोंने उनके 'दीनदयालु' रूपको लेकर बहुत कुछ लिखा है। उनमें पं० दौलतरामकी 'अध्यात्म बारहखडी', भैया भगवतीदासका 'ब्रह्मविलास', भूधरदासका 'भूधर-विलास', द्यानतरायका 'द्यानतविलास' तथा मनरामका 'मनरामविलास' प्रसिद्ध है। इनमें भगवान्के उस 'विरुद' का निरूपण है, जिसके सहारे दीन तरते हैं, भले ही उन्होंने हीन कर्म किया हो।

भगवान् इसलिए भी महान् हैं कि वह अशरणोंको शरण देता रहा है। जीव अपने ही पाप और अपराधोंके कारण ऐसा बन जाता है कि उसे कोई शरण देने-को तैयार नहीं होता। ऐसोंपर भगवान् दया करता है। उनके अपराधोंको परि-मार्जित कर उन्हें भी भवसमुद्रसे तार देता है। जिनेन्द्र जब 'दीनदयालु' है तो 'अशरणशरण' भी है। अशरणोंको शरण देना भी दयासे ही सम्बन्धित है। जैन कवियोंने जिनेन्द्रके इस रूपको लेकर अनेक अनुभूतिपरक 'पदों'का निर्माण किया है। पं० दौलतरामका कथन है,

"जाऊँ कहाँ तजि शरण तिहारे।
चूक अनादितनी या हमरी, माफ करौ करुणा गुन धारे॥
डूबत हौं भवसागर में अब, तुम बिनु को मोहि पार निकारे।"

भक्तको भी पूरा विश्वास है कि उसे केवल जिनेन्द्र ही शरण दे सकते हैं। वे केवल शरण ही नही, अपितु उसे तार भी देंगे, क्योंकि उनका ऐसा 'विरुद' है। कवि द्यानतरायने लिखा है,[1]

"अब हम नेमिजी की शरन।
और ठौर न मन लागत है, छाँडि प्रभुके शरन॥
सकल भवि-अघ-दहन बारिद विरद तारन तरन।
इन्द्र-चन्द्र-फनिन्द ध्यावैं, परम सुख दुख हरन॥"

कीर्त्तन

कीर्त्तनका तात्पर्य है भगवान्‌की कीर्त्तिका वर्णन करना। वैष्णव मन्दिरोंमे ताल-मंजीरोंके साथ होनेवाले कीर्त्तनका रूप जैन मन्दिरोंमे कभी प्रचलित नही रहा। मध्यकालमे देवस्थानोंपर भी जैन भक्त नृत्य और गायनके साथ रास करने लगे थे, किन्तु श्री जिनवल्लभसूरि (वि० स० ११६७) ने लगुड और तालरासों-को बन्द कर दिया था, क्योंकि इन रास-कर्त्ताओंकी चेष्टाएँ विटों जैसी होने लगी थी। अन्य रास प्रचलित रहे, नृत्य और गायन भी। किन्तु यहाँ रूप भी वैष्णव-मन्दिरोंमे होनेवाले कीर्त्तन-जैसा नही था।

काव्यमे कीर्त्तनको नाम-जप कहते है। जिनेन्द्रके नाम-जपकी महिमा जैन कवियोंने सदैव स्वीकार की है। मानतुंगाचार्यने 'भक्तामरस्तोत्र'मे लिखा है, "त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति॥" आचार्य सिद्धसेनने भी 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र'मे लिखा है, "आस्तामचिन्त्यमहिमा जिनसंस्तवस्ते नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति॥" हिन्दीके जैन साहित्य-मे तो स्थान-स्थानपर भगवान्‌के नामकी महत्ताका भावपूर्ण निरूपण है। वैसे तो सूर और तुलसीने भी अपने आराध्यके नाम लेने मात्रसे ही असीम सुख प्राप्त होने-की बात लिखी है, किन्तु जिनेन्द्रका नाम लेनेसे सासारिक वैभव तो मिलते ही है, साथ ही उनके प्रति अनाकर्षणका भाव भी प्राप्त होता है। वैभव मिलता जाये और उसके साथ ही मन उससे पृथक् होकर वैराग्यकी ओर खिचता जाये, यह ही जिनेन्द्रके नाम-जपका उद्‌देश्य है। कवि बनारसीदासके 'नामनिर्णय विधान'मे ऐसा

---

१. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, पहला पद।

सिद्ध भी है। भैया भगवतीदासने 'सुपंथकुपंथपचीसिका' में जिनेन्द्रके नामकी अचिन्त्य महिमाका वर्णन किया है। उदाहरणके लिए,

"तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखै उर, तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन चिन्ता को न राखै पास, तेरो नाम पारस सो दारिद डरत है॥
तेरो नाम अमृत पिये तैं जरा रोग जाय, तेरो नाम सुखमूल दुख को दरत है।
तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतराग, भव्य तोहि पाय भवसागर तरत है॥

कीर्त्तनका दूसरा अर्थ है गुणोंका कीर्त्तन। जिनेन्द्रमें गुण तो हैं असीम और मानव है ससीम, फिर उन्हे कैसे कहे। अतः वह असीमको कहनेके लिए अतिशयोक्तिका सहारा लेता है। यहाँ 'अतिशयोक्ति' शब्द असीमके पक्षमें नहीं, अपितु कहनेवाले 'ससीम' के पक्षमें घटता है। ससीम कह नहीं पाता, किन्तु जो कुछ भी कहता है, वह भी उसके लिए बढा-चढा कथन है। असीमके सीमारहित गुणोंको तो वह जान भी नही पाता, अत. उन्हे बढ़ा-चढ़ाकर कहनेका तो कोई अर्थ ही नही है। 'स्वयम्भू स्तोत्र' में इसे अल्पमतिका 'प्रलाप-लेश' कहा है, वह अल्पमति, जो जिनेन्द्रके अशेषमाहात्म्यको जानता ही नही। धनञ्जयने 'विषापहार स्तोत्र' में स्पष्ट ही लिखा, "वक्तुं कियान् कीदृशमित्यशक्यः, स्तुतिस्ततोऽशक्तिकथा तवास्तु।" हिन्दीके पद-साहित्यमे 'असीम' के गुणोंको कहनेकी अशक्यता सरसताके साथ अभिव्यक्त की गयी है। कवि द्यानतरायने एक स्थानपर लिखा है,

"प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी।
गणधर कहत पार नहिं पावै, कहा बुद्धि है मेरी॥
शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि तुम जस होत न पूरा।
एक जीभ कैसे गुण गावै उलू कहै किमि सूरा॥
चमर छत्र सिंहासन बरनौं, ये गुँण तुमतैं न्यारे।
तुम गुँण कहन वचन बल नाहीं नैन गिनै किमि तारे॥"[1]

पं० दौलतरामकी 'अध्यात्मबारहखड़ी' में भी लिखा है कि जिनेन्द्रकी गूढ महिमा गणपति भी नहीं कह पाते, फिर भला मैं मतिहीन अज्ञानी उस भेदको कैसे पा सकता हूँ।[2]

---

१. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ४५वाँ पद।

२. अध्यात्मबारहखड़ी, बड़ामन्दिर, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति, 'ग' अक्षर, ७५वाँ पद्य।

"गूढ़ स्वभाव जिनिंद सदा तू सब पती,
महिमा तेरी गूढ़ लहै नहिं गणपती।
तू गूढ़ातमदेव निरन्तर सब मही,
मैं मतिहीन अयान भेद पायो नहीं॥"

स्मरण

सभी भक्त अपने-अपने आराध्यका स्मरण करते हैं। स्मरण ही वियोगीका एकमात्र सहारा है। उसीके बलपर भक्त जीवित रहता है। भक्त तबतक स्मरण करता है, जबतक आराध्यमय नहीं हो जाता। राधा जब स्मरण करते-करते कृष्णमय हो गयी, तभी उसे चैन पड़ा। जैन आचार्योंने स्मरण और ध्यानको पर्यायवाची कहा है। स्मरण पहले तो रुक-रुककर चलता है, फिर शनैः-शनैः उसमें एकतानता आती जाती है, और वह ध्यानका रूप धारण कर लेता है। स्मरणमें जितनी अधिक तल्लीनता बढ़ती जायेगी, वह उतना ही तद्रूप होता जायेगा। 'एकीभाव स्तोत्र'में लिखा है कि भगवान्‌के ध्यानसे मुझमें 'त्वय्येवाहं'की मति उत्पन्न हो जाती है।[1] 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र'में कहा गया है कि जिनेन्द्रके ध्यानसे क्षणमात्रमें यह जीव परमात्म दशाको प्राप्त हो जाता है।[2]

हिन्दीके जैन कवियोंने सतत स्मरणके बलपर भगवान्‌के तादात्म्यकी बात अनेक स्थानोंपर कही है। कवि बनारसीदासने 'अध्यात्मगीत'में लिखा है, "भागइ भरम करत पिय ध्यान। फाटर तिमिर ज्यों ऊगत भान।"[3] कवि

---

१. प्रादुर्भूतस्थिरपदसुख त्वामनुध्यायतो मे,
त्वय्येवाहं स इति मतिरुत्पद्यते निर्विकल्पा।
मिथ्यैवेयं तदपि तनुते तृप्तिमभ्रेषरूपा,
दोषात्मानोऽप्यभिमतफलास्त्वत्प्रसादाद्भवन्ति॥
—एकीभावस्तोत्र, १७वाँ पद्य।

२. ध्यानाज्जिनेश भवतो भविनः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥
—कल्याणमन्दिरस्तोत्र, १५वाँ श्लोक।

३. बनारसीविलास, जयपुर, अध्यात्मगीत, १५वाँ पद्य, पृ० १६१।

द्यानतरायका कथन है कि 'आतमराम' सों लगनेमे अर्थात् ध्यान करनेसे 'दुविधा भाव' दूर हो जाता है, भक्त और स्वामीमे भेद नहीं रहता, दोनों एक हो जाते हैं।[1] भैया भगवतीदासने 'सुआबत्तीसी'में "ध्यावत आप माहिं जगदीश, दुहुं पद एक बिराजत ईश।"[2] लिखकर ध्यानसे तादात्म्यकी बातको पुष्ट ही किया है। प० दौलतरामने भी "तब वास्यौं विछरूँ नहीं, ध्याऊँ है निरग्रन्थि" लिखा है।[3]

स्मरणसे केवल भगवान्का तादात्म्य हो नही, अपितु भौतिक विभूति भी उपलब्ध होती है। मुनि वादिराजका शरीर कोढ़की दुर्गन्धिसे युक्त था, जिनेन्द्र-की स्मृतिसे स्वर्ण-जैसा चमक उठा।[4] हिन्दीके कवि द्यानतरायका कथन है कि प्रभुके स्मरणसे यह जीव तर तो जाता ही है, साँप और मेढक-जैसे जीवोंको सुरपद भी प्राप्त होता है। देवताओंका वैभव प्रसिद्ध है।[5] भैया भगवतीदासने 'परमात्मछत्तीसी'में लिखा है, "राग द्वेष को त्याग के धर परमातम ध्यान। ज्यों पावे सुख सम्पदा, भैया इम कल्यान॥[6]" सांसारिक विभूतियोंकी प्राप्ति होती अवश्य है, किन्तु हिन्दीके जैन कवियोंने आध्यात्मिक सुखके लिए ही बल दिया है। प्रभुके स्मरणपर तो लगभग सभी कवियोंने जोर दिया है, किन्तु ध्यान-वाची स्मरण जैन कवियोंकी अपनी विशेषता है।

दर्शनकी महिमा

आराध्यको सतत देखते रहनेकी तीव्र अभिलाषा कभी बुझती नहीं। अँखियाँ हरि-दरसनकी भूखी बनी ही रहती है। हो भी क्या, प्रभु लावण्यसिन्धु हैं, उनके लावण्यजलसे प्यासेकी प्यास तृप्त नही होती। गोपीके नेत्र तो कृष्णके मुखको देखते ही लुभा जाते थे, अर्थात् इस भाँति आनन्दमग्न हो जाते थे कि उन्हे लोक-

---

१. द्यानतपदसंग्रह, ३६वाँ पद।
२. ब्रह्मविलास, सुआबत्तीसी, ३०वाँ पद, पृ० २७०।
३. अध्यात्म बारहखड़ी, प्रारम्भ, ४६वाँ पद्य।
४. ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिनवपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि॥
एकीभावस्तोत्र, ४था श्लोक।
५. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ७७वाँ पद।
६. ब्रह्मविलास, परमात्मछत्तीसी, ३५वाँ पद्य, पृ० २३०।

लज्जा और कुलकानिका भी ध्यान नहीं रहता था। इधर अभी तीर्थंकरका जन्म ही हुआ है कि इन्द्र टकटकी लगाकर निरखने लगा। तृप्त नहीं हुआ तो सहस्रनेत्र धारण कर लिये। तृप्ति फिर भी न मिल सकी। भट्टारक ज्ञानभूषणने 'आदीश्वर-फागु' में बालक आदीश्वरके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए लिखा है, "देखनेवाला ज्यों-ज्यों देखता जाता है, उसके हृदयमे वह बालक अधिकाधिक भाता जाता है।[1]" अर्थात् वह तृप्ति का अनुभव नहीं करता। और ये नेत्र जब अपने प्रिय-को नही देख पाते तो उसके प्रतीक्षा-पथपर बिछे रहते हैं। दिन और रात देखते रहनेसे आँखें लाल हो जाती है, किन्तु दुखती नहीं, क्योंकि प्रियमिलनकी ललक उन्हें निरन्तर देखते रहनेकी शक्ति देती है। महात्मा आनन्दघनने लिखा है कि मार्गको निहारते-निहारते आँखें स्थिर हो गयी है, जैसे कि योगी समाधिमें और मुनि ध्यानमे होता है। वियोगकी बात किससे कही जाये। मनको तो भगवान्‌का मुख देखनेपर ही शान्ति हो सकती है,[2]

"पंथ निहारत लोयणें, द्रग लागी अडोला।
जोगी सुरत समाधि मैं, मुनि ध्यान झकोला॥
कौन सुनै किनकुं कहुं, किम मांडुं मैं खोला।
तेरे मुख दीठे हले, मेरे मनका चोला॥"

हिन्दीके जैन कवियोने हृदयमे बैठे 'आतमराम' के दर्शनको बात अनेक बार कही है। उन्हे उसके देखनेसे एक चरम आनन्दकी अनुभूति मिलती है। उसके दर्शनसे यह जीव स्वयं भी 'परमातम' बन जाता है। आनन्दतिलकने 'महानन्दिदेउ' मे लिखा है, "अप्प विंदु ण जाणहिं आणंदा रे। घट महि देव अणंतु।[3]" कवि विद्यासागरने 'विषापहारछप्पय' मे लिखा है कि 'बहु देहों' के मध्य 'एक रूप' 'द्युतिवंत' जिनदेव विराजमान है, जो मुख घुमाकर देखता है, उसे परमसुख मिलता है।[4] भट्टारक शुभचन्द्रने भी 'तत्त्वसारदूहा' में, "देह मीतर तिम अप्प

१. आहेकनियकुण्डल झलकइ खलकइ नेउर पाइ।
जिम जिम निरखइ हरखइ हियडइ तिम तिम भाइ॥
आदीश्वरफागु, आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति, ८६वाँ पद्य।

२. आनन्दघनपद संग्रह, अध्यात्मज्ञानप्रसारकमण्डल, बम्बई १६वाँ पद।

३. आनन्दतिलक, महानन्दिदेउ, आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति, तीसरा पद्य।

४. विद्यासागर, विषापहारछप्पय, दि०जैनशास्त्रभण्डार दूंणी, गुटका नं० १४३, ७वाँ पद्य।

सरूप, सुद्ध दूध माहिं रहि जिम अप ।" लिखा है।[1] उन्होंने देहके भीतर रहने-वाले 'अमुत्त अप्पा' के दर्शनसे परमानन्द प्राप्त होनेकी बात तो एकाधिक बार लिखी है। कवि ब्रह्मदीपने 'अध्यात्मबावनी'में स्पष्ट ही कहा है, "जै नीकै धरि घटि महि देखै, तौ दरसनु होइ तबहि सबु पेखै[2] ।" पाण्डे हेमराजने 'उपदेशदोहाशतक' मे लिखा है कि घटमें बसे निरंजनदेवके दरसनसे ही 'सिवषेत' मिलता है, अन्यथा नहीं।[3] कवि बनारसीदासका कथन है कि घटमे रहनेवाले इस परमात्माके रूपको देखकर महा रूपवन्त थकित हो जाते हैं, उसके शरीरकी सुगन्धिसे अन्य सुगन्धियाँ छिप जाती हैं।[4]

'आतमराम' के दर्शनसे भक्तको केवल हृदयके भीतर ही आनन्दकी अनुभूति नही होती, अपितु उसे समूची पृथ्वी भी आनन्दमग्न दिखाई देती है। सिंहलद्वीपसे आये हुए रतनसेनको जब नागमतीने देखा तो उसे पूरा विश्व हरा-भरा दिखाई दिया। बनारसीदासने भी प्रिय 'आतम'के दर्शनसे प्रकृतिमात्रको प्रफुल्लित दिखाया है। द्यानतरायने तो सब जगह वसन्त फैला हुआ देखा है।

भगवान्के 'दर्शन' मे असीम बल है। दर्शन मात्रसे ही सभी मनोकामनाएँ पूरी हो जाती है। अत. जैन कवि जिनेन्द्रको चिन्तामणि और कल्पवृक्ष-जैसे सम्बोधनोंसे सदैव सम्बोधित करते रहे है। किन्तु 'दर्शन' से भौतिक सुख पानेका अधिक कथन जैन संस्कृत स्तोत्रोंमे उपलब्ध होता है। हिन्दीके जैन कवियोंने आध्यात्मिक आनन्दपर ही अधिक बल दिया है। यशोविजयजीने अपने 'पार्श्वनाथस्तोत्र' मे लिखा है,

> "कल्पद्रुमोऽद्य फलितो लेभे चिन्तामणिर्मया ।
> प्राप्त कामघटः सद्यो यज्जातं तव दर्शनम् ॥
> क्षीयते सकलं पापं दर्शनेन जिनेश ! ते ।
> तृष्या प्रलीयते किं न ज्वलितेन हविर्भुजा ॥"

---

१. तत्त्वसारदूहा, मन्दिरठोलियान, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति, २१वी चौपई।

२. ब्रह्मदीप, अध्यात्मबावनी, पाण्ड्या लूणकरजीका मन्दिर, जयपुर, गुटका नं० ११४, ४३वाँ पद्य।

३. कोटि जनम लौ तप तपै, मन बच काय समेत।
सुद्धातम अनुभौ बिना क्यो पावै सिवषेत ॥
उपदेशदोहाशतक, बधीचन्दजीका मन्दिर, जयपुर, वेष्टन नं० ६३६, १८वाँ दोहा।

४. बनारसीविलास, अध्यात्मपदपंक्ति, ७वाँ पद।

यहाँ कवि पापके क्षयसे जिस पुण्यके उदयकी कल्पना कर रहा है, वह पुत्र-पौत्रादिक, धन-सम्पत्ति और रोगक्षयसे अधिक सम्बन्धित है। हिन्दीके कवि प० दौलतरामने केवल इतना ही कहा कि भगवान्‌के दर्शनसे जिस दिव्य आनन्दकी अनुभूति होती है, उसके समक्ष सासारिक सुखजन्य आनन्द तो अत्यधिक गौण है।

भक्तिसे अंगोंकी सार्थकता

'भक्ति'में समर्पणका भाव प्रधान होता है। भक्त अपने जीवनको तभी सार्थक मानता है, जब वह भगवान्‌के चरणोपर समूचा चढ जाये। चरणोंपर चढ़ जानेका तात्पर्य यह नहीं है कि भक्त अपनी बलि दे दे। आगे चलकर तान्त्रिक सम्प्रदायमे बलिको भक्तिके रूपमे स्वीकार किया गया। यह समर्पणवाले पहलूकी विकृत व्याख्या थी। यद्यपि तान्त्रिक सम्प्रदायका प्रभाव जैन देवियोंपर दिखाई देता है, किन्तु वह बलि और मांस-भक्षण तक नही पहुँच पाया है। अत जैन भक्त कवियोंने अपनेको समर्पित तो किया, किन्तु बलिके रूपमे नही। जैन भक्तके समर्पणमे एक निराला सौन्दर्य था। उसने अपने प्रत्येक अंगकी सार्थकता तभी मानी जब वह जिनेन्द्रकी भक्तिमे तल्लीन हो। आचार्य समन्तभद्रने 'स्तुतिविद्या'मे लिखा है, "प्रज्ञा वही है, जो तुम्हारा स्मरण करे, शिर वही है, जो तुम्हारे पैरोंपर विनत हो, जन्म वही है, जिसमे आपके पाद-पद्मका आश्रय लिया गया हो, आपके मतमे अनुरक्त होना ही मागल्य है, वाणी वही है, जो आपकी स्तुति करे और विद्वान् वह ही है, जो आपके समक्ष झुका रहे।[1]" वप्पभट्ट सूरिने भी 'जिनस्तवनम्' मे लिखा है[2], "वे आँखें नहीं जो आपका दर्शन नही करती, वह चित्त नही जो आपका स्मरण नहीं करता, वह वाणी नही जो आपके गुणोंको नही गाती और

---

१. प्रज्ञा सा स्मरतीति या तव शिरस्तद्यन्नतं ते पदे
जन्मादः सफलं पर भवभिदो यत्राश्रिते ते पदे।
माङ्गल्य च स यो रतस्तव मते गीः सैव या त्वा स्तुते
ते ज्ञा या प्रणता जना क्रमयुगे देवाधिदेवस्य ते ॥
स्तुतिविद्या, ११३वाँ श्लोक।

२. न तानि चक्षूषि न यैर्निरीक्ष्यसे न तानि चेतासि न यैर्विचिन्त्यसे।
न ता गिरो या न वदन्ति ते गुणान्न ते गुणा ये न भवन्तमाश्रिताः ॥
जैनस्तोत्रसन्दोह, शान्तात्रैषापराभिधानं साधारणजिनस्तवनम्, छठा श्लोक।

वे गुण नहीं जो आपके सहारे न टिके हों।" यशोविजयने 'पार्श्वनाथस्तोत्र' में, श्री धर्मसूरिने 'श्रीपार्श्वजिनस्तवनम्' मे और आनन्दमाणिक्य गणिने 'पार्श्वनाथ-स्तोत्र' में इन्हीं विचारोको प्रकट किया है। हिन्दी कवियोने भी इस सरस परम्परा-को अपनाया। कवि द्यानतरायका एक पद इस प्रकार है[1],

"रे जिय जनम लाहो लेह।
चरन ते जिन भवन पहुँचे, दान दैं कर जेह ॥१॥
उर सोई जामैं दया है, अरु रुधिर को गेह।
जीभ सो जिननाम गावै, साँच सो करै नेह ॥२॥
आँख ते जिनराज देखैं और आँखैं खेह।
श्रवन ते जिन वचन सुनि शुभ तप तपै सो देह ॥३॥
सफल तन इह भाँति ह्वै है, और भाँति न केह।
ह्वै सुखी मन राम ध्यावो, कहैं सद्गुरु येह ॥४॥"

कवि मनरामके 'मनराम-विलास'मे भी ऐसे ही एक पदकी रचना हुई है। उन्होंने लिखा है कि वे ही नेत्र सफल है, जो निरंजनका दर्शन करते है। सीस तभी सार्थक है, जब जिनेन्द्रके समक्ष झुके। उन्ही श्रवणोंकी सार्थकता है, जो जिनेन्द्रके सिद्धान्तको सुनते है। जिनेन्द्रके नामको जपनेमें ही मुखकी शोभा है। उत्तम हृदय वही है, जिसमे धर्म बसता है। हाथोंकी सफलता प्रभुको प्राप्त करनेमे ही है। चरण तभी सार्थक है, जब वे परमार्थके पथपर दौड़ते है।[2]

"नैन सफल निरखै जु निरंजन, सीस सफल नमि ईसर झावहि।
श्रवन सुफल जिहि सुनत सिद्धान्तहि, मुखज सफल जपिए जिन नांवहि।
हिर्दो सफल जिहि धर्म बसै ध्रुव, करन सुफल पुन्यहि प्रभु पावहि।
चरन सफल 'मनराम' वहै, गनि जे परमारथ के पथ धावहि ॥"

भैया भगवतीदासके 'पंचेन्द्रिय संवाद' मे प्रत्येक इन्द्रियने अपनी प्रशंसा यह कहकर ही की है कि मेरे-द्वारा जैसी भगवद्भक्ति सम्पन्न हो सकती है, अन्यसे नही। एक स्थानपर जीभने कहा, "जीभहि तैं जपत रहै, जगत जीव जिन नाम। जसु प्रसाद तैं सुख लहै, पावै उत्तम ठाम ॥" इसी भाँति आँखका कथन है कि आँखसे जिनेन्द्र बिम्ब और प्रतिमा देखे बिना इस जीवका कल्याण सम्भव नही है। सारांश यह है कि 'पंचेन्द्रिय संवाद' मे प्रत्येक इन्द्रियकी सार्थकता भगव-

१. द्यानतपद संग्रह, कलकत्ता, ६वाँ पद, पृ० ४।
२. मनराम विलास, मन्दिर ठोलियान, जयपुर, वेष्टन नं० ३६५, ६०वाँ पद्य।

उक्तिमें ही मानो गयी है। जगराम, जोधराज, विनयविजय, देवाब्रह्म और रूप-चन्दके पदोंमें भी यह ही बात है।

भक्तिके लिए मनको चेतावनी

कबीर आदि निर्गुनिये सन्तोंकी साखियों और पदोंमें 'चेतावणी को अंग' प्रमुख है। इस अंगमें मन या चेतनको संसारके माया-मोहसे सावधान किया गया है। उसका तात्पर्य यह ही है कि यह मन संसारके जालमें फँसा है। उसे चाहिए कि वहाँसे निकलकर ब्रह्मकी भक्तिमें तल्लीन हो। चेतावनीवाली बात जैन और बौद्ध-साहित्यमें अधिक मिलती है, क्योंकि ये दोनों ही धर्म विरक्तिप्रधान हैं। वैसे तो जैन प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंशके भक्तिपरक काव्यमें वैराग्यका स्वर ही प्रबल है, किन्तु उनमें चेतनको सम्बोधन कर रचे गये हिन्दीके पद-साहित्य-जैसा लालित्य नहीं है। बौद्धोंके सिद्ध साहित्यमें भी नहीं है।

कवि भूधरदास अपने पदोंके प्रसादगुणके लिए प्रसिद्ध हैं। मन, जीव या चेतनको सम्बोधन कर लिखे गये उनके पद अत्यधिक सरस हैं। एक पदमें उन्होंने लिखा है, "यह संसार रैनका सपना है, तन और धन पानीके बुलबुलेके समान हैं। यौवनका कोई भरोसा नहीं, वह अग्निमें तृणके ढेरकी भाँति जल जायेगा, दूसरी ओर काल कुदाल लिये सिरपर खड़ा है, तू अपने मनमें फूला हुआ क्या समझ रहा है। कन्धेपर कुदाल रखकर मोहरूपी पिशाचने तेरी बुद्धिको काट दिया है। अतः हे जीव! दुर्मतिके सिरपर धूल डालकर श्री राजमतीवरका भजन कर।[1]"

'भैया' के पद तेजस्वितासे समन्वित हैं। उन्होंने अनेक पद्योंमें चेतनको करारी फटकार दी है। उन्होंने एक सवैयामें लिखा है, "अरे ओ चेतन!

---

१. भगवन्त भजन क्यों भूला रे।
यह संसार रैन का सपना, तन धन वारि बबूला रे॥
इस जोवन का कौन भरोसा, पावक में तृण पूला रे।
काल कुदार लिये सिर ठाडा, क्या समझै मन फूला रे॥
मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वसूला रे।
भज श्री राजमतीवर भूधर, दो दुरमति सिर धूला रे॥
भूधरविलास, कलकत्ता, १६वाँ पद।

अनादिकाल व्यतीत हो गया, क्या तुझे अब भी चेत नहीं हुआ। चार दिनके लिए ठाकुर हो जानेसे क्या तू गतियोंमे घूमना भूल गया है। तू इन्द्रियोंके संग क्या लगा हुआ है। तू चेतनहारा होकर भी चेतता क्यों नहीं ?"[1] भैयाकी फटकारोंका अन्त नही है। कही तो वे कहते है, "हे चेतन! तेरी मति किसने हर ली है। तू अपने परम पदको क्यों नहीं समझता।" कही कहा, "हे चेतन! उन दुःखोंको भूल गये, जब नरकमें पडे संकट सहते थे, अब महाराज हो गये हो।[2]" अन्तमें समझाते हुए कहा[3],

"भगवंत भजो सु तजो परमाद, समाधि के संग में रंग रहो।
अहो चेतन त्याग पराइ सुबुद्धि, गहो निज शुद्धि ज्यों सुक्ख लहो॥"

अपने ही घटमे बसे चिदानन्दको यह चेतन देख नहीं पाता। जब देखता ही नही तो भक्ति कैसी? किन्तु इसका कारण क्या है? कारण है माया। जैन साहित्यमे मायापर बहुत कुछ लिखा गया है। मायाका सम्बन्ध मोहनीय कर्मसे है। आठ कर्मोंमे मोहनीय प्रबलतम माना गया है। मोहके कारण ही यह जीव भटकता फिरता है। मोह और माया पर्यायवाची शब्द हैं। कबीरने भी मायाको स्वीकार किया है। कबीरके घटमे बिराजे रामको न देख पानेमे भी माया ही कारण है। जैन कवियोंने मायाको 'ठगनी' कहा है, क्योकि वह समूचे संसारको ठगकर खा जाती है। जो इसपर विश्वास करता है, वह मूर्ख पीछेसे पछताता है।[4] कबीरने मायाको महाठगनी कहा है, क्योकि उसके जालसे ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी बच नही सके हैं।[5] इस मायासे बचानेके लिए देवाब्रह्मने एक

---

१. केवल रूप विराजत चेतन, ताहि विलोकि अरे मतवारे।
काल अनादि वितीत भयो, अजहूँ तोहि चेत न होत कहा रे॥
भूलि गयो गति को फिरबो, अब तो दिन च्यारि भये ठकुरारे।
लागि कहा रह्यो अक्षनि के संग, चेतत क्यो नहिं चेतन हारे॥
ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, ५०वाँ पद्य, पृ० १९।

२. ब्रह्मविलास, परमार्थपद पंक्ति, २०वाँ और २१वाँ पद, पृ० ११६।

३. ब्रह्मविलास, शतअष्टोत्तरी, १०२वाँ पद्य, पृ० ३१।

४. सुन ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया।
टुक विश्वास किया जिन तेरा सो मूरख पिछताया॥
भूधरदास, भूधरविलास, ८वाँ पद, पृ० ५।

५. माया महाठगनी हम जानी।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी॥
कबीर, सबद, सन्तसुधासार, वियोगी हरि सम्पादित, दिल्ली, पृ० १०१।

पदमें लिखा है कि जैसे बादीगरका बन्दर, बादीगरके कहनेपर बारम्बार नाचता है, वैसे ही यह जीव मायाके आदेशपर नृत्य करता है।[1] कवि रूपचन्दने 'अध्यात्म सवैया' में कहा है कि हे मूढ जीव! महामायाके वशीभूत होकर तू ब्रह्मके सम्मुख गमन नहीं कर पाता।[2] महात्मा आनन्दघनने 'आनन्दघनबहत्तरी' मे लिखा है कि हे चेतन! तुम मायाके बसमे हो गये हो, अतः अपने ही हृदयमे विराजमान समतारूपी आनन्दको प्राप्त नहीं करते।[3] द्यानतरायने माया-ममतासे पीछा छुडाकर इस बावरे मनको अरिहंतका स्मरण करनेके लिए कहा है,

"अरहंत सुमर मन बावरे।
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लाव रे॥
युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चाव रे।
यह संसार सुपन की माया, आँख मींच दिखराव रे॥
ध्याव-ध्याव रे अब है दाव रे, नाहीं मंगल गाव रे।
द्यानत बहुत कहाँ कौं कहिए, फेर न कछू उपाव रे॥"

बावनी और शतक आदिमें जैन भक्ति

मध्यकालीन हिन्दीके जैन भक्त कवियोने बावनी, शतक, बत्तीसी और छत्तीसी आदि रूपोंमें अपने भाव अभिव्यक्त किये है। जैनोंके संस्कृत-प्राकृत साहित्यमे ऐसी रचनाएँ उपलब्ध नही है। अजैन हिन्दी कवियोंमें भी इनका प्रणयन अल्प ही हुआ है। बारहखडीके अक्षरोको लेकर सीमित पद्योंमे काव्य-रचना करना हिन्दीके जैन कवियोंकी अपनी विशेषता है। प० दौलतरामका लिखा हुआ 'अध्यात्म बारहखड़ी' नामका एक बृहद् काव्य ग्रन्थ, दि० जैन मन्दिर बडौतके प्राचीन शास्त्रभण्डारमे उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायोमे विभक्त है। इसमें लगभग आठ हजार पद्य है। बारहखडीके प्रत्येक अक्षरको लेकर लिखा गया इतना बड़ा मुक्तक काव्य जैन हिन्दीकी अनन्य देन है। बारहखड़ीमें बावन अक्षर होते है। अधिकांश रूपमे प्रत्येक अक्षरको लेकर एक-एक पद्यकी रचना कर

---

१. महावीरजी अतिशयक्षेत्रका एक प्राचीन गुटका, 'मोहफंदबसि नाचीयो' पद देखिए।

२. "मूढ महामायामई कौ न ब्रह्म सनमुख गमन", अध्यात्मसवैया, मन्दिर बधीचन्द, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति, ८८वां पद्य।

३. आनन्दघनबहत्तरी, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, १३वाँ पद।

बावनियोंका निर्माण होता रहा है। जैन हिन्दी-कवियोंने उनका अधिकाधिक निर्माण किया। उनमें भक्तिपरक अनुपम भाव सन्निहित है। उदयराज जतीकी 'गुणबावनी', हीरानन्द मुकीमकी 'अध्यात्मबावनी', पाण्डे हेमराजकी 'हितोपदेशबावनी', पं० मनोहरदासकी 'चिन्तामणि मानबावनी', जिनहर्षकी 'जसराजबावनी', जिनरंगसूरिकी 'प्रबोधबावनी', लक्ष्मीवल्लभकी 'दूहाबावनी' और 'सवैयाबावनी', किशनसिंह की 'बावनी', निहालचन्दकी 'ब्रह्मबावनी' और भवानीदासकी 'हितोपदेश बावनी', बावनी साहित्यकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। हेमराजकी 'अक्षरबावनी'[1] का एक पद्य इस प्रकार है,

> "उज्ज्वल निरमल चित्त प्रभु नित्य सेव रे।
> ध्याइये शुकल ध्यान पामीये केवल ग्यान
> चरण कमल नमित जी अहमेव रे॥
> हीआ की कुमति हरि जीव में सुमति भरि
> पूजिये ज सुद्ध भाव भगवंत देव रे।
> श्रेणिक रावण जाणा पूजिये ज भगवान
> पूजार्घ की जिन पद लह्यो ततखेव रे॥
> हेमराज भणई सुनि सुणो सजन जन मन
> मेरो उमग्यो है जिण गुण गायबो ॥१०॥"

जैन हिन्दी काव्यमें 'शतक' का प्रचलन कम था। १०० पद्योंकी रचनाको शतक कहते हैं। पद्य १०० से कुछ कम बढ़ भी हो सकते थे। पाण्डे रूपचन्दका 'परमार्थी दोहाशतक' और भवानीदासके 'फुटकर शतक'का उल्लेख इस ग्रन्थमें है। भैयाके 'परमात्मशतक' में भावगाम्भीर्यके साथ शब्दालंकारोंका सौन्दर्य भी उपलब्ध है। यमक और श्लेषका खूब प्रयोग हुआ है। पाण्डे हेमराजका 'उपदेश-दोहाशतक' दीवान बधीचन्दजीके मन्दिर (जयपुर) के शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध हुआ है। भवानीदासका 'फुटकर शतक' बनारसके रामघाटके एक प्राचीन जैनमन्दिरमें मिला है। बहत्तरियाँ तो शतकोंसे भी कम रची गयी। समूचे जैन हिन्दी काव्यमें आनन्दघनकी 'आनन्दघन-बहत्तरी' और श्री जिनरंगसूरिकी 'रंग-बहत्तरी' ही बहत्तरीके नामसे रची गयी है। अन्य कृतियाँ भी हो सकती हैं। किन्तु वे अभीतक भण्डारोंकी खोजका विषय हैं। आनन्दघनबहत्तरीमें भक्ति और अध्यात्मका समन्वय है। उसके पद्य भावविभोरता और सरसताके लिए प्रसिद्ध

---

१. हेमराजकी अक्षरबावनीकी हस्तलिखित प्रति बड़े जैन मन्दिर, जयपुरमें मौजूद है।

है। 'रंगबहत्तरी' में भी चेतनको भगवान्की ओर उन्मुख होनेकी बात कही गयी है। कवि द्यानतराय और बिहारीदासकी दो कृतियाँ ऐसी हैं, जिनमें केवल ५० पद्य है। उनके नाम क्रमशः 'अध्यात्म पंचासिका' और 'सम्बोध-पंचासिका' है।

हिन्दी के जैन कवियोंकी सर्वाधिक कृतियाँ बत्तीसी, छत्तीसी और पच्चीसियोंके नामसे रची गयी। प्रायः इनका निर्माण व्यंजनाक्षरोंको आधार मानकर किया गया है। बनारसीदासकी 'ध्यानबत्तीसी' और 'अध्यात्मबत्तीसी', मनरामकी 'अक्षरबत्तीसी', अचलकीर्त्तिकी 'कर्मबत्तीसी', लक्ष्मीवल्लभकी 'चेतनबत्तीसी' और 'उपदेशबत्तीसी', भैया भगवतीदासकी 'अक्षरबत्तीसी', भवानीदास तथा अजयराजकी 'कक्काबत्तीसी' इनमें व्यंजनाक्षरोंके आधारवाली ही बात है। भैया भगवतीदासने तो 'मनबत्तीसी', 'स्वप्नबत्तीसी' और 'सूआबत्तीसी' नामकी अन्य बत्तीसियाँ भी लिखी हैं। छत्तीसियोंकी रचना भी पर्याप्त हुई हैं। कुशललाभकी 'स्थूलभद्रछत्तीसी', सहजकीर्त्तिकी 'प्रातिछत्तीसी', उदयराज जतीकी 'भजन छत्तीसी', जिनहर्षकी 'उपदेशछत्तीसी', भवानीदासकी 'मरधाछत्तीसी' और बनारसीदासकी 'कर्मछत्तीसी' प्रसिद्ध कृतियाँ है। पच्चीसीमें केवल पच्चीस पद्य होते है। द्यानतरायकी 'धर्मपच्चीसी', विनोदीलालकी 'राजुलपच्चीसी' और 'फूल-मालपच्चीसी' तथा बनारसीदासकी 'शिवपच्चीसी' पच्चीसी काव्यकी उज्ज्वल मणियाँ है। पच्चीसियोंकी रचनामें 'भैया' का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने 'पुण्यपचीसिका', 'अनित्यपचीसिका', 'जिनधर्मपचीसिका', 'सम्यक्त्वपचीसिका', 'वैराग्यपचीसिका', 'नाटकपच्चीसी', 'ईश्वरनिर्णयपच्चीसी', 'कर्त्ता-अकर्त्ता पच्चीसी' और 'दृष्टान्तपच्चीसी' की रचना की है। ये सब 'ब्रह्म-विलास'में संकलित है।

रूपकोंमें भक्ति

हिन्दीका मध्यकाल रूपकोंका युग था। कबीर और सूरदास दोनों ही ने अपने भक्तिपरक भाव रूपकोंके माध्यमसे ही अभिव्यक्त किये हैं। कबीरपर भले ही सूफी प्रभाव हो, किन्तु उन्होंने प्रेमके रूपकोंमें भारतीय परम्पराको ही अपनाया है। कबीरने पत्नीकी पतिके लिए बेचैनी प्रकट की है, पतिकी पत्नीके लिए नहीं। भगवद्विषयक अनुरागको लेकर हिन्दीके जैन कवि प्रेमरूपकोंकी रचना करते रहे है। उनका विवेचन इसी ग्रन्थके तीसरे अध्यायमें किया गया है। वहाँ सुमतिरूपी पत्नीका चेतनरूपी पतिके लिए बेचैनीका भाव प्रकट हुआ है।

एक भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ पतिको पत्नीके लिए व्याकुल दिखाया गया हो।

सूरदास आदि सगुणधाराके भक्त कवियोंके सहस्रों पदोंमे-से किसी-किसीमे पृथक्-पृथक् तो रूपक है, किन्तु उनकी कोई ऐसी समूची रचना नहीं, जो रूपक संज्ञासे अभिहित होती हो। जैन कवियोकी अनेक कृतियाँ समूचे रूपमे 'रूपक' है। उनमे पाण्डे जिनदासका 'मालीरासो', उदयराज जतीका 'वैद्यविरहिणी प्रबन्ध', कवि सुन्दरदासका 'धर्मसहेली', पाण्डे रूपचन्दका 'खटोलना गीत', हर्षकीर्तिका 'कर्महिण्डोलना', बनारसीदासका 'माँझा', अजयराजका 'चरखाचउपई' एवं 'शिवरमणी विवाह' और भैया भगवतीदासका 'सूआबत्तीसी' और 'चेतनकर्म-चरित्र' प्रसिद्ध रूपक काव्य है। कवि बनारसीदासका 'नाटकसमयसार' एक उत्तम रूपक है। उसमे सात तत्त्व अभिनय करते हैं। जीव नायक और अजीव प्रतिनायक है। ऐसी सरस कृति हिन्दीके भक्ति-काव्यको एक अनूठी देन है।

सूरसागरकी भाँति जैन कवियोके पदोमे-से एक-एकमे भी 'रूपक' सन्निहित है। भूधरदासके "मेरा मन सूवा, जिन पद पींजरे वसि, यार लाव न वार रे", "जगत जन जूवा हारि चले", "चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना", द्यानतरायके "परम गुरु बरसत ज्ञान झरी", "ज्ञान सरोवर सांई हो भविजन", भैयाके "काया नगरी जीवनृप, अष्टकर्म अतिजोर" मे रूपकोका सौन्दर्य है। जैन कवियोके रूपक अधिकांशतया प्रकृतिसे लिये गये है। अत: इनमे सौन्दर्य है और शिवत्व भी। वे निर्गुनिए सन्तोकी भाँति कलाहीन भी नही है। देवाब्रह्मके एक पदमे चेतन और सुमतिकी होलीसे सम्बन्धित एक रूपक देखिए[1],

"चेतन सुमति सखी मिल, दोनों खेलो प्रीतम होरी ॥टेक॥
समकित व्रत को चौक वणावौ, समता नीर भरावौ जी।
क्रोध मान की करो पोटली, तो मिथ्या दोष भगावै जी ॥१॥
ग्यान ध्यान की ल्यो पिचकारी, तौ खोटा भाव छुड़ावो जी।
आठ करम को चूरण करिकै, ठौ कुमति गुलाल उड़ावो जी ॥२॥
जीव दया का गीत राग सुणि, संजम भाव बँधावो जी।
बाजा सत्य वचन थे बोलो, तौ केवल वांणी गावो जी ॥३॥
दान सील तौ मेवा की ज्यौं, तपस्या करो मिठाई जी।
'देवाब्रह्म' या रति पाई छै, तौ मन वच काया जोड़ी जी ॥४॥"

---

१ देवाब्रह्म, पद, बधीचन्दजीका मन्दिर, जयपुर, पदसंग्रह, ४९३, पत्र २८वाँ।

जैन भक्तिके विशाल स्तम्भ : प्रबन्ध काव्य

हिन्दीके जैन कवियोने अनेक महाकाव्योका निर्माण किया है। उनमे जिनेन्द्र अथवा उनके भक्तोंकी भक्ति ही मुख्य है। जैन अपभ्रंशके महाकाव्योंसे प्रभावित होते हुए भी हिन्दीके जैन भक्ति-काव्योंमें कुछ अपनी विशेषताएँ भी है। अप-भ्रंशके महाकाव्य स्पष्ट रूपसे दो भागोमे विभक्त किये जा सकते है। स्वयम्भूका 'पउमचरिउ', पुष्पदन्तका 'महापुराण', वीर कविका 'जम्बूस्वामीचरिउ' और हरिभद्रका 'णेमिणाहचरिउ' पौराणिक शैलीमे तथा धनपाल धक्कडकी 'भविसयत्त कहा', पुष्पदन्तका 'णायकुमारचरिउ' और नयनन्दिका 'सुदंसणचरिउ' रोमाचक शैलीमे लिखे गये है। यद्यपि रोमाचक शैलीके महाकाव्योंका भी मूलस्वर भक्ति-परक ही है, किन्तु उनमे युद्ध और प्रेमका अभिनिवेश भी गौण नही है।

हिन्दीके जैन महाकाव्योंमे पौराणिक और रोमाचक शैलीका समन्वय हुआ है। सधारुका 'प्रद्युम्नचरित्र', ईश्वरसूरिका 'ललितागचरित', ब्रह्मरायमल्लका 'सुदर्शनरास', कवि परिमल्लका 'श्रीपालचरित्त', मालकविका 'भोजप्रबन्ध', लाल-चन्द लब्धोदयका 'पद्मिनीचरित', रामचन्द्रका 'सीताचरित' और भूधरदासका 'पार्श्वपुराण' ऐसे ही महाकाव्य है। इनमे 'पद्मिनीचरित' की जायसीके 'पद्मावत' से और 'सीताचरित' की तुलसीके 'रामचरितमानस' से तुलना की जा सकती है। अवशिष्ट महाकाव्योमे भी कथाके साथ भक्तिका स्वर ही प्रबल है।

जैन महाकाव्योकी दूसरी विशेषता है बीच-बीचमे मुक्तक स्तुतियोकी रचना। यदि महाकाव्य तीर्थंकरके जीवन-चरितसे सम्बद्ध होता है, तो पचकल्याणकोके अवसरपर स्तुतियोका निर्माण होता ही है। अपभ्रंशकी अपेक्षा हिन्दीके महा-काव्योमे इन स्तुतियोकी रचना अधिक हुई है। भूधरदासके 'पार्श्वपुराण' मे दस स्तुतियाँ हैं। ठीक प्रसंगपर निबद्ध होनेके कारण उनका सहज सौन्दर्य कथाकी रोचकताका सहारा पाकर और भी बढ जाता है।

तीसरी विशेषता है इन महाकाव्योका अन्तिम अध्याय, जिसमे नायकके केवलज्ञान प्राप्त करनेका भावपूर्ण विवेचन होता है। यहाँ नायकको आत्माके परमात्मरूप होनेकी बात कही जाती है। इसीको जीवात्माका परमात्माके साथ तादात्म्य होना कहते है। उस समय अन्तः और बाह्य आनन्दकी सृष्टिको पर्याप्त अवसर मिलता है। अर्थात् कविकी भावुकता मुखर हो उठती है। उस समय कविके मुखसे जो कुछ निकलता है, वह आत्माके परमात्मरूपकी उपासना

ही होती है। इस भाँति जैन महाकाव्य सगुण : सकल और निर्गुण : निष्कल को भक्तिके रूपमें ही रचे गये हैं।

हिन्दीके जैन खण्डकाव्य अधिकांशतया नेमिनाथ और राजीमतीकी कथासे सम्बद्ध हैं। यद्यपि नेमिनाथ विवाहके तोरणद्वारसे बिना विवाह किये ही वैराग्य लेकर तप करने चले गये थे, किन्तु राजीमतीने उन्हींको अपना पति माना और उनके विरहमें विदग्ध रहने लगी। अतः उनके जीवनसे सम्बन्धित खण्डकाव्योंमें प्रेम-निर्वाहको पर्याप्त अवसर मिला है। उन्हें लेकर जैनकवि प्रेमपूर्ण सात्त्विक भावोंकी अनुभूति करते रहे हैं। इस दृष्टिसे ये काव्य रोमाचक कहे जा सकते हैं, किन्तु उनमें युद्धवाली बात नहीं है। हिन्दीके नेमिनाथपरक खण्डकाव्योंमें राजशेखरसूरिका 'नेमिनाथफागु', सोमसुन्दरसूरिका 'नेमिनाथनवरसफागु', कवि ठकुरसीकी 'नेमीसुरकी बेलि', विनोदीलालका 'नेमिनाथ विवाह', मनरंगकी 'नेमिचन्द्रिका', ब्रह्मरायमल्लका 'नेमीश्वररास' और अजयराज पाटणीका 'नेमिनाथचरित' प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ हैं। हिन्दीमें हरिवंशपुराण भी है, जिनमें नेमीश्वर और उनके भाई वासुदेव कृष्णका समूचा जीवन वर्णित है। हरिवंश-पुराणोंकी परम्परा बहुत पुरानी है। हिन्दीके हरिवंशपुराण संस्कृत-अपभ्रंशके अनुवाद-मर हैं। उनमें कोई मौलिकता नहीं है। किन्तु साथ ही यह भी सच है कि हिन्दीके खण्डकाव्यों-जैसी सरसता और सुन्दरता संस्कृत और अपभ्रंशमें नहीं है।

जैन भक्तिकी शान्तिपरकता

कवि बनारसीदासने 'शान्त' को रसराज कहा है।[1] उनका यह कथन जैनोंके 'अहिंसा' सिद्धान्तके अनुकूल ही है। जैन भक्ति पूर्णरूपसे अहिंसक है। जैनेतर भक्तिमें हिंसाकी बात कहींसे भी आरम्भ हुई हो किन्तु थी अवश्य। वैदिक याज्ञिक अपने देवताओंको प्रसन्न करनेके लिए बलि दिया करते थे। शक्ति-पूजाके साथ हिंसाकी बात और भी बढ़ी। सोमनाथके शक्तिके मन्दिरमें भाद्रपदकी अमावसकी रातमें एकसौ सोलह कुँआरी सुन्दरी कन्याओंकी बलिकी बात प्रसिद्ध ही है। तान्त्रिक-युगमें अहिंसक बौद्ध भी मांस, मदिरा और सुन्दरीसे निर्वाण-प्राप्ति मान उठे थे। जैन देवियाँ तान्त्रिक-युगसे प्रभावित

१. 'नवमो शान्त रसनिको नायक', नाटकसमयसार, बम्बई, १०।१३३, पृ० ३६१।

अवश्य हैं, किन्तु बात मास और मदिरा तक नहीं बढ़ सकी है। जैन अपभ्रंशके 'दोहापाहुड' आदि ग्रन्थोमे तान्त्रिक-युगके कतिपय शब्द पाये जाते है, फिर भी जैनभक्ति, चाहे वह पंचपरमेष्ठीसे सम्बन्धित हो, चाहे यक्ष आदि देवताओंसे अथवा पद्मावती आदि देवियोंसे, हिंसासे यत्किचित् भी कभी भी प्रभावित नहीं हुई। जैन मन्दिर और अन्य भक्ति-स्थल सदैव अहिंसाके निदर्शन बने रहे। हिन्दीके जैनभक्तिपरक काव्यमे तान्त्रिक शब्दोका अभाव तो है ही, हिन्दीके कवियोने मन्त्राधिष्ठात्री पद्मावती आदि देवियोंकी वन्दना भी अल्पादपिअल्प ही की है। जैन हिन्दीके सभी प्रबन्ध काव्योका प्रारम्भ सरस्वतीकी वन्दनासे हुआ है। सरस्वती ही उनकी इष्टदेवी है। मुक्तक काव्योंमे भी सरस्वतीकी पृथक् स्तुतियाँ रची गयी हैं। सरस्वती देवीको जैन कवियोंने शान्तरसको प्रतीकके रूपमे ही प्रस्तुत किया है। बनारसीदासकी सरस्वतीकी स्तुति-वन्दनाका एक पद्य इस प्रकार है,[1]

"समाधान रूपा अनूपा अछुद्रा, अनेकान्तधा स्याद्वादाङ्कमुद्रा।
त्रिधा सप्तधा द्वादशाङ्गी बखानी, नमो देवि वागेश्वरी जैनवानी॥
अकोपा अमाना अदम्भा अलोभा, श्रुतज्ञानरूपी मतिज्ञानशोभा।
महापावनी भावना भव्यमानी, नमो देवि वागीश्वरी जैनवानी॥"

भक्तिके क्षेत्रमे अशान्तिका दूसरा कारण है विलासिता। जैन साहित्यकारोंने विलासका सम्बन्ध भक्तिसे नही जोडा। जैन-साहित्यमे कोई मगलाचरण ऐसा नहीं, जिनमे जगन्माताओंके सुहागरातोंका वर्णन हो। 'गीतगोविन्द'की राधा और 'रिट्ठणेमिचरिउ'की राजुलमे बृहदन्तर है। नेमिनाथ और राजुलसे सम्बन्धित सभी जैन काव्य विरह-काव्य है। उनमे राजुलके विरहका वर्णन है। राजुल विरहिणी थी उस पतिकी, जो सदाके लिए वैराग्य धारण कर तप करने गिरिनारपर चला गया था। अतः उसका विरह कामका पर्यायवाची नहीं था। उसमे विलासिताकी गन्ध भी नही है। नेमिनाथ और राजुलको लेकर लिखे गये मंगलाचरण सात्त्विकतासे ही संयुक्त है। दूसरी ओर 'गीतगोविन्द' की राधाकी मुखर विलासिताको रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भी स्वीकार किया है। गीतगोविन्दने भक्तिकाव्योंमे सस्ते शृंगारको स्थान दिलाया। हिन्दीके कवि विद्यापतिकी राधा भक्तिके स्थानपर विलासिताकी ही प्रतीक है। उसपर गीतगोविन्दका स्पष्ट प्रभाव है। हिन्दीके जैन महाकाव्योंमे सीता, अंजना और

१. बनारसीदास, शारदाष्टक, ५-६ पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० १६६।

राजुलका सौन्दर्य है, उनका प्रेम और विरह भी, किन्तु सब कुछ शीलके ऐसे तागेमे बँधा है, जिसे अश्लीलता कभी तोड़ ही नहीं सकी। जहाँतक मुक्तक काव्योंकी दाम्पत्यरतिका सम्बन्ध है, वह चेतन और सुमतिके बीचमें ही चलती रही। अर्थात् हिन्दीके जैन कवियोने दाम्पत्यरतिका सम्बन्ध भौतिक क्षेत्रसे जोड़ा ही नही। सब कुछ आध्यात्मिक ही रहा। उसे प्रकट करनेके लिए जिन रूपकोकी रचना हुई, उनमे भी विलासिताको स्थान न मिला। उपमा और उत्प्रेक्षाएँ भी मासल प्रेमके क्षेत्रसे न ढूँढी गयी।

अशान्तिका तीसरा कारण है राग। राग मोहको कहते है। जैन लोग मोहनीय कर्मको सबसे बडा मानते है। उसे काटनेमे सबसे अधिक समय लगता है। उसके कट जानेपर यह जीव परम शान्तिका अनुभव करता है। जैन लोग वीतरागकी उपासना करते है। वीतरागीकी भक्तिसे ही समूचा जैन साहित्य भरा पडा है। जैन हिन्दी काव्यमे तो सबसे अधिक राग छोडनेकी बात कही गयी है। वीतरागी प्रभुपर भी भक्त इसीलिए रीझा है कि वह रागको जीतकर ही प्रभु बने है। जैन भक्त कवि अन्य देवोंको उपासना इसीलिए नही कर सका कि,[1]

> "देखे-देखे जगतके देव, राग रिस सौं भरे।
> काहू के संग कामिनि कोऊ आयुधवान खरे॥"

द्यानतरायने भी ऐसे ही वीतरागी भगवान्की प्रशंसा करते हुए कहा है कि हमने तीनो भवनोंको छान डाला है, आपके समान कोई नही देखा। आप स्वयं तरे और संसारके जीवोंको तारा, ममता धारण नहीं की। और देव रागी, द्वेषी अथवा मानी है, तुम राजुलको छोडकर वीतरागी बने हो,[2]

> "तुम समान कोउ देव न देख्या, तीन भवन छानी।
> आप तरे भवजीवनि तारे, ममता नहिं आनी॥
> और देव सब रागी द्वेषी, कामी कै मानी।
> तुम हो वीतराग अकषायी, तजि राजुल रानी॥"

१. भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, २५वाँ पद, पृ० १४।
२. द्यानतराय, द्यानतपद संग्रह, कलकत्ता, २८वाँ पद, पृ० १२।

: २ :

जैन भक्त कवि : जीवन और साहित्य

१. राजशेखरसूरि (वि० सं० १४०५)

राजशेखरसूरिका जन्म प्रश्नवाहन नामके कुलमें हुआ था। वे श्री तिलकसूरिके शिष्य थे। श्री तिलकसूरि अभयदेवसूरिकी परम्परामें हुए हैं। अभयदेव नामके सात सूरिवर भिन्न-भिन्न गच्छोंमें हो चुके हैं। प्रस्तुत अभयदेव हर्षपुरीय गच्छके सूरि थे, इनका समय बारहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध माना जाता है।[1] श्री राजशेखर भी कोटिकगणकी श्रीमध्यम शाखाके हर्षपुरीयगच्छसे सम्बन्धित थे। उनका विरुद मलधारी था[2]।

श्री राजशेखरसूरिने 'प्रबन्धकोश' की रचना ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी वि० सं० १४०५ में, दिल्लीमें रहकर की थी[3]। 'प्रबन्धकोश' संस्कृत गद्यका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके उपरान्त ही उन्होंने श्रीधरकी 'न्यायकन्दली'पर एक पंजिकाकी रचना की। उनके 'विनोदकथासंग्रह'में अनेक रस-पद कथाओंका संकलन है[4]। 'नेमिनाथ फागु' उनकी एक प्रसिद्ध हिन्दी कृति है।

---

१. मुनि चतुरविजय सम्पादित, जैनस्तोत्र-सन्दोह, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० २१, अहमदाबाद, सन् १९३२ ई०।

२. श्रीप्रश्नवाहनकुले कोटिकनामनि गणे जगद्विदिते।
श्रीमध्यमशाखाया हर्षपुरीयाभिधे गच्छे॥
मलधारिविरुद विदित श्री अभयोदयद सूरि सन्ताने।
श्रीतिलकसूरिशिष्य सूरि श्रीराजशेखरो जयति॥
राजशेखरसूरि, प्रबन्धकोश, पृ० १३१, शान्तिनिकेतन, वि० सं० १९९१।

३. शरगगनमनुमिताब्दे (१४०५) ज्येष्ठामूलीयधवलसप्तम्याम्।
निष्पन्नमिद शास्त्र श्रीवर्धयेत्रोः सुख तन्यात्॥ वही, पृ० १३१।

४. मोहनलाल दुलीचन्द देसाई, जैन गुर्जरकविओ, भाग १, पृष्ठ १३, पादटिप्पणी, बम्बई, वि० सं० १९८२।

नेमिनाथ फागु

श्री मोहनलाल दुलीचन्द देशाईने 'नेमिनाथ फागु'का रचनाकाल वि० सं० १४०५ के लगभग स्वीकार किया है।[1]

'नेमिनाथ फागु'में २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ और राजुलकी कथाका काव्य-मय निरूपण हुआ है। नेमिनाथ कृष्णके छोटे भाई थे। जूनागढके राजा उग्रसेन-की कन्या राजमती (राजुल) के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। बारात गयी, किन्तु भोज्य पदार्थ बननेके लिए एकत्रित किये गये पशुओंके करुण-क्रन्दनसे दयार्द्र होकर उन्होने वैराग्य ले लिया। वे गिरिनारपर तप करने चले गये। राजुलने दूसरा विवाह नही किया और नेमिनाथके भक्तिपूर्ण विरहमें समूचा जीवन व्यतीत कर दिया।

'नेमिनाथ फागु' २७ पद्योका छोटा-सा खण्ड-काव्य है। इसमें नेमिनाथकी भक्तिकी ही प्रधानता है।[2] दृश्योंको चित्रित करनेमे कवि निपुण प्रतीत होता है। विवाहके लिए सजी राजुलके चित्रमे सजीवता है। राजुल चम्पककलीकी भाँति गोरी है, उसके शरीरपर चन्दनका लेप है। सीमन्तमे सिन्दूरकी रेखा खिची है। नवरंगी कुंकुमका तिलक भालपर विराजमान है। मोतियोके कुण्डल कानोमें सुशोभित है। मुख-कमल पानकी लालिमासे रचा है। कण्ठमे हार पड़ा है। कंचुकीमे कसा यौवन और उसपर पडी विकसित माला, हाथमे कंकण और खनकती मणिकी चूड़ियोमे, जैसे आज भी राजुलका विवाहोत्साह फूटा पड़ता है। उसकी घाघरीका 'रुणझुण' और पायजेबकी 'रिमझिम' तो आज भी कानोंमें पड़ रही है। रागसे लाल हुई उसकी आँखें, मनमे विराजित पतिको देख रही हैं।[3]

---

१. वही, पृ० १३।

२. सिद्धि जेहि सइ वर चरिअ ते तित्थयर नमेवी।
फागुबंधि पहु नेमि जिणु गुण गाएसउ केवी ॥१॥
राजल देविसउं सिद्धि गयउ सो देउ थुणीजई।
मलहारिहि रायसिहर सूरि किउ फागु रमी जई ॥२७॥

३. किम किम राजलदेवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइगोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारी ॥
नवरंगि कुंकुमि तिलय किय रयण तिलउ तसु भाले।
मोती कुंडल कन्नि थिय बिबालिय कर जाले ॥

राजुलकी शोभा, 'राधासुधानिधि' में वर्णित राधाकी शोभासे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। दोनों ही उपास्य बुद्धिसे चालित हैं।[1]

२. सधारु (वि० सं० १४११)

'सो सधार पणमइ सरसुति' के अनुसार कविका नाम 'सधार' होना चाहिए, किन्तु अधिकाश स्थलोंपर 'सधारु' उपलब्ध होता है, अत: यही ठीक लगता है। सधारु अग्रवाल जातिमें उत्पन्न हुए थे।[2] उनके पिताका नाम साह महाराज और माताका नाम सुधनु था, जो गुणवइ (गुणवती) थी। वे एरच्छ नगरमें रहते थे।[3]

नरतिय कज्जलरेह नयणि मुँह कमलि तंबोलो।
नागोदर कंठलउ कंठि अनुहार विरोलो॥
मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला।
करे कंकण मणि-वलउ चूड खलकावइ बाला॥
रुणझुणु रुणझुणु रुणणएँ कडि घाघरियाली।
रिमझिमि रिमझिमि रिमझिमिएँ पयनेउर जुयली॥
नहि अलत्तउ बलवलउ से अंसुय किमिसि।
अंखडियाली रायमइ पिउ जो अइ मनरसि॥

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पृ०१३ पटना, १९५२ ई०

१. वही, पृ० १०।

२. अगरवालकी मेरी जाति, पुर अगरोए मुहि उतपाति।
श्री दि० जैनमन्दिर बधीचन्दजी (जयपुर) के ग्रन्थभण्डारकी प्रति, वेष्टन नं० ६१२, ६७५वाँ पद्य।

३. सुधणु जणणि गुणवइ उर धरिउ,
सा महाराज घरह अवतरिउ।
एरछ नगर बसंते जानि,
सुणउ चरित मइ रचिउ पुराण॥
वही, ६७६वाँ पद्य,
सुधनुञ जणणि गुणवइ उर धरिउ,
साह महाराज घरह अवतरिउ।
एयरछ नगवर संत नगर वसंते जाणि,
सुणिउ चरितु मइं रचिउ पुराणु॥
दि० जैनमन्दिर सेठका कूंचा, दिल्ली, शास्त्रभण्डार, वि० सं० १६९८ की लिखी हुई प्रति, ७०८वाँ पद्य।

पाठान्तर भेदसे एरच्छके नाम ऐरछ, एरिछि, एलच, एयरच्छ एवं एरस भी मिलते हैं। मूल प्रतिमें एरच्छ दिया हुआ है, जो ठीक प्रतीत होता है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने एरच्छ नगरको उत्तर प्रदेशमें और श्री अगरचन्द नाहटाने मध्यप्रदेशमें माना है। किन्तु 'एरकच्छ दसण्णेसु' के अनुसार एरच्छ, दशार्ण–बुन्देलखण्डमें होना चाहिए और वहाँ इस नामका एक कस्बा आज भी है। उसमें मौर्यकाल तकके अवशेष मिलते है।[१] वहाँ अग्रवाल रहते थे। सधारूका 'प्रद्युम्नचरित्र' एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

प्रद्युम्नचरित्र

इसमे श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका चरित्र वर्णित है। प्रद्युम्न भगवान् जिनेन्द्रका परम भक्त था। जैन परम्परामे इसे कामदेवका अवतार माना गया है।

'प्रद्युम्नचरित्र'का रचना-संवत् विवादग्रस्त है। जयपुर, कामा, दिल्ली और बाराबंकीकी प्रतियोमे वि० सं० १४११ दिया है। सिन्धिया ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, उज्जैनकी प्रतिमे १५११, और रीवांके दि० जैन मन्दिरकी प्रतिमे १३११ वि० सं० दिया हुआ है। सभीमे स्वाति नक्षत्र, शनिवार अंकित है। किसीमे भादवा सुदी ९, किसीमें भादवा पंचमी, किसीमे भादवा बदी ५, और किसीमे भादवा सुदी ५ लिखा है। पुरानी यन्त्रियोके आधारपर, इन तिथियोमे स्वाति नक्षत्र, शनिवारको नही बैठता। फिर भी अधिक प्रतियोमे वि० सं० १४११ ही उपलब्ध होता है, अत. वही मानना उचित लगता है।[२]

'प्रद्युम्नचरित्र'मे लगभग ७०० पद्य हैं। इसे 'परदवणु चउपई' भी कहते हैं। यह एक महाकाव्य है। कथानकमे सम्बन्ध-निर्वाह पूर्ण रूपसे हुआ है। प्रारम्भमें ही कविने भक्तिपूर्वक शारदा, पद्मावती, अम्बिका, ज्वालामुखी, क्षेत्रपाल और चौबीस तीर्थंकरोंको नमस्कार किया है।[३]

मानवकी मूल प्रवृत्तियोको अंकित करनेमे, कवि निपुण प्रतीत होता है। रुक्मिणी प्रद्युम्नकी माँ है। बाहर गये हुए पुत्रके आगमनके हेतु माँका आतुर होना स्वाभाविक ही है। नारदजीने प्रद्युम्नके आनेकी बात कही है। पुत्र

---

१. ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी, मध्य-प्रान्तके जैन स्मारक, पृष्ठ ४७।

२. अगरचन्द नाहटा, 'प्रद्युम्नचरित्रका रचना-काल व रचयिता', अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ६ (जनवरी १९५७), पृष्ठ १७०-१७२।

३. श्री दि० जैनमन्दिर बधीचन्दजी (जयपुर) के ग्रन्थभण्डारकी प्रति, वेष्टन नं. ६१२, पद्य १-३।

आगमनके संकेत भी मिल गये हैं, किन्तु पुत्र नही आया। रुक्मिणी बेचैन है। सच यह है कि पुत्र आ चुका है, पर रुक्मिणीको विदित नहीं हो पाया है। माँकी ममता-सिंचित भावनाओंको कविने चित्रवत् अंकित किया है,

"षण षण रूपिणि चढइ अवास, षण षण सो जोवइ चोपास।
मोस्यो नारद कह्यउ निरुत, आज तोहि घर आवइ पुत ॥
जे मुनि वयण कहे पमाण, ते सवई पूरे सहिनाण।
च्यारि आवते दीठे फले, अरुआचल दीठे पोयरे ॥
सूकी वापी भरी सुनीर, अपय जुगल भरि आये षीर।
तउ रूपिणि मन विभउ भयउ, एते ब्रह्मचारि तहाँ गयउ ॥
नमस्कार तब रुपिणि करइ, धरम विरधि खुडा उचरइ।
करि आदरु सो विनउ करेइ, कणय सिघासणु बैसण देइ ॥
समाधान पूछई समुझइ, वह भूखउ-भूखउ बिललाई।
सखी बुलाइ जणाइ सार, जैवण करहु म लावहु वार ॥
जीवण करण उठी तंखिणी, सुइरी मयण अगनी थंभीणी।
ताजु न चुरइ चूल्हि धुंधाइ, वाह भूखउ-भूखउ चिललाइ ॥"[1]

इस महाकाव्यका मूलस्वर भक्तिमय है। स्थान-स्थानपर भक्तिके दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। एक बार प्रद्युम्न कैलास पर्वतपर जिन-चैत्यालयोंकी वन्दना करने गये। उनकी ज्योति रत्नोंके समान चमकती थी। प्रद्युम्नने उनकी अष्टद्रव्यसे पूजा की और वापस चले आये।[2]

तीर्थंकर नेमिनाथको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उनके समवसरणमें सुरेन्द्र, मुनीन्द्र, भवनवासी देव आये। श्रीकृष्ण तथा हलधर भी पहुँच गये। श्रीकृष्णने स्तुति आरम्भ की : "हे कामको जीतनेवाले, तुम्हारी जय हो। तुम्हारी सुर, असुर सेवा करते हैं। हे देव! तुम्हारी जय हो। दुष्ट कर्मोंको क्षय करनेवाले हे देव! तुम्हारी जय हो। मेरे जन्म-जन्मके शरण, हे जिनेन्द्र! तुम्हारी जय हो। तुम्हारे

---

१. वही, पद्य ३८४-३८६।

२. फिर चेताले वन्दे मयण, तिन्हि ज्योति दिपइ जिम्ब रयण।
अट्ठविधि पूजउ न्हवणु कराइ, वाहुडि मयण द्वारिका जाइ ॥
वही, पद्य ६६०।

प्रसादसे मैं इस संसार-समुद्रसे तिर जाऊँ तथा फिर वापस न आऊँ।"[१]

जब प्रद्युम्नको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तो इन्द्रने स्तुति करते हुए कहा, "हे मोहरूपी अन्धकारको दूर करनेवाले! तुम्हारी जय हो। हे प्रद्युम्न! तुम्हारी जय हो, तुमने संसार-जालको तोड डाला है।"[२] और भी अनेक दृष्टान्त उपलब्ध हैं, जिनके आधारपर 'प्रद्युम्नचरित्र'को भक्ति-साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण कृति माना जाना चाहिए।

३. विनयप्रभ उपाध्याय (वि० सं० १४१२)

विनयप्रभ खरतरगच्छके जैन साधु थे। उनके गुरुका नाम दादा जिनकुशल सूरि था। जिनकुशलसूरिका स्वर्गवास वि० सं० १३८९ मे हुआ, तदुपरान्त उनके पट्टपर विनयप्रभ ही अधिष्ठित हुए।[३] विनयप्रभ वि० सं० १३८२ मे जैन साधु हो चुके थे। यह मान्यता ठीक नहीं लगती कि वे वि० सं० १३९४ और १४१२ के बीच कभी, उपाध्याय पदसे विभूषित किये गये;[४] क्योकि एक प्राचीन पट्टावलीके आधारपर यह प्रमाणित है कि दादा जिनकुशलसूरिने अपने जीवनकालमे ही

---

१. देवि पयाहिण करिउ बहुत, फुणि माधव आरभिउ थुति।
जय कंदर्प्प खयंकर देव, तइ सुर असुर कराए सेव॥
जइ कम्मट्ठ दुट्ठ खिउकरण, जय महु जनम-जनम जिनु सरणु।
तुम पसाइ हउ दूतरु तिरउ, भव संसारि नवाहुडि परउ॥
वहीं, पद्य—६६६, ६६७।

२. थुणइ सुरेस्वर वाणी पवर, जय जय मोहतिमिर हर सूर।
जय कन्द्रप हउ मति नासु, जाइ तोडिवि घालिउ भवपासु॥
वही, पद्य ६६२।

३. मोहनलाल दुलीचंद देसाई, जैनगुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ० १६, पादटिप्पणी।

४. Ancient Jaina Hymns, Edited by Dr. Charlotte Krause, Scindia Oriental Series No 2, Ujjain, 1952, Remarks on the texts, pp. 10.

विनयप्रभको उपाध्याय पदपर प्रतिष्ठित किया था।[1]

'गौतमरासा'की प्राचीन प्रतियोंमें, उसके कर्त्ताका नाम 'विनयपट उवझाय' दिया हुआ है।[2] इसका संस्कृत रूप 'विनयप्रभ उपाध्याय' ही है। मिश्रबन्धुओंने भी यही नाम स्वीकार किया है।[3] पं० नाथूरामजी प्रेमीको १५वीं शताब्दीके उत्तरार्धकी लिखी हुई एक प्रति पाटणके भण्डारमें मिली थी, उसमें 'गौतमरासा'के कर्त्ताका नाम उदयवन्त दिया हुआ है।[4] श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाईने भी विनयप्रभका दूसरा नाम उदयवन्त माना है।[5] अनुमानतः विनयप्रभ साधु जीवन-का और उदयवन्त गृहस्थजीवनका नाम होगा।

विनयप्रभकी कृतियोंमें 'गौतमरासा'के अतिरिक्त ५ स्तुतियाँ और है, जिनमें विविध तीर्थंकरोंका गुणकीर्त्तन हुआ है। प्रत्येकमें १९-२९ के लगभग पद्य हैं। डॉ० शारलण्ट क्राउजेने 'सीमन्धर स्वामि स्तवन'को भी, भाषासाम्यके आधारपर उन्हींकी कृति स्वीकार किया है।[6] इस स्तवनके २०वें पद्यमें 'कम्मकरु विणयपहु जोडि कर वीनवुं'से[7] सिद्ध है कि 'विणयपरु' ही इसके कर्त्ता थे। 'विणयपरु', 'विनयपहु' अथवा 'विनयपहं'का बिगडा हुआ रूप है। मिश्रबन्धु-विनोदमें 'हंसवच्छ-रास' और 'शीलरास'को भी इन्हींकी रचना बतलाया गया है।[8]

---

१. "तथा श्री गुरुभि (श्री जिनकुशलसूरिभिः) विनयप्रभादिशिष्येभ्य उपाध्यायपद दत्तं येन विनयप्रभोपाध्यायेन निर्धनीभूतस्य निजभ्रातु सम्पत्तिसिद्ध्यर्थं मन्त्रगर्भितगौतमरासो विहित तद्गुणनेन स्वभ्राता पुनर्धन-वान् जातः इत्यादि।"

मुर्शिदाबादके नेमिनाथके मन्दिरके ज्ञानभण्डारमें प्राचीन पट्टावली, जैनगुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ० १६, पादटिप्पणी।

२. देवह धुरि अरिहंत नमीजइ, विनयपह उवझाय थुणीजइ।
गौतमरासा, अन्त, पद्य ४८, जैनगुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ० १६।

३. मिश्रबन्धु, मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृ० २१२, लखनऊ, वि० सं० १९८३।

४. पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास, पृ० ३२, जनवरी १९१७।

५. जैनगुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ० १५।

६. Ancient Jaina Hymns, pp. 90-91

७. वही, the texts, pp 124.

८. मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृ० २१२।

गौतमरासा

'गौतमरासा', गौतम स्वामीकी भक्तिमे लिखा गया है। गौतम भगवान् महावीरके प्रमुख गणधर थे। उन्हें भी मोक्ष प्राप्त हुआ था। जैन परम्परामें उनकी पूजा और स्तुतिका बहुत प्रचलन रहा है। संस्कृत और प्राकृतका विपुल साहित्य उनकी भक्तिमें रचा गया है। 'गौतमरासा' प्राचीन हिन्दीका ग्रन्थ है। इसके अनुसार गौतम, मगध देशमे, गुब्बर नामके गाँवके रहनेवाले थे। उनके पिताका नाम वसुभूति था, जो विविध गुणोसे युक्त थे। उनकी माताका नाम पृथ्वी था।[1]

गौतम स्वामीका पूरा नाम इन्द्रभूति गौतम था। वे समूची पृथ्वीमें प्रसिद्ध थे। उन्हें चौदह विद्याएँ उपलब्ध थी। वे विनय, विवेक, विचार और अनेक मनोहर गुणोसे युक्त थे। उनका शरीर सात हाथ प्रमाण था। उनका रूप रम्भा-की भाँति था। गौतमके नेत्र, वचन, हाथ और चरणोकी शोभासे पराजित होकर ही कमल जलमें पैठ गये थे। उन्होने अपने तेजसे हराकर तारागण, चन्द्र और सूर्यको आकाशमे भ्रमाया था। उन्होने अपने रूपसे कामदेवको अनंग करके निकाल दिया था। वे मेरुके समान धीर और समुद्रकी भाँति गम्भीर थे। उनका चरित्र उत्तम था।[2]

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदायमे, 'गौतमरासा'की बहुत प्रसिद्धि है। श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाईने उसकी १८ प्रतियोका विवरण दिया है।[3] इससे उसकी लोक-प्रियता प्रमाणित है। डॉ० क्राउजेने उसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है, "उसमें भक्तिका तीव्रतम भाव, शैलीकी निराली शान और प्रवाहकी मधुर गति सन्नि-हित है।[4]

---

१. जंबुदीवि सिरिभरहखित्ति खोणीतलमंडणु,
मगधदेस सेणिय नरेस रिउ-दलबल खंडणु।
धणवर गुब्बर नाम गामु जहिं गुणगणसज्जा,
वप्पु वसे वसुभूइ तत्थ जसु पुहवी भज्जा॥
गौतमरासा, पद्य २, हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास, पृ० ३२।

२. वही, पद्य ३, ४।

३. जैनगुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृ० ४१६-४१७।

४. Ancient Jaina Hymns, pp. 91.

इसका निर्माण वि० सं० १४१२ में, खम्भातमें हुआ था।[1] प्राचीन हिन्दीके ललित काव्योंमें 'गौतमरासा'का प्रमुख स्थान है।

सीमन्धरस्वामीस्तवन[2]

इस स्तवनके अनुसार सीमन्धर स्वामी, पूर्वविदेहके विहरमाण बीस तीर्थंकरों-में एक हैं। इनका जन्म पुण्डरीकिनी नामकी नगरीमें भरतक्षेत्रकी विगत चतुर्विंशतिकाके १७वें तीर्थंकर कुन्थुनाथ और १८वें तीर्थंकर अरहनाथके मध्य-कालमें हुआ था। उनका शासन अभी चल रहा है। वे भरतक्षेत्रकी आगामी चतुर्विंशतिकाके ७वें तीर्थंकर उदयके समयमें मोक्ष प्राप्त करेंगे।[3]

स्तवनमें भक्ति-भाव पूर्णरूपसे विद्यमान है। कविने लिखा है कि मेरुगिरिके उत्तुंग शिखर, गगनके टिमटिमाते तारागण और समुद्रकी तरंग-मालिका, सीमन्धर स्वामीके गुणोंका स्तवन करते ही रहते हैं।[4] भगवान्का स्तवन, अशुभ कर्मोंसे उत्पन्न हुए मल-पटलको गलानेमें पूर्णरूपसे समर्थ है। जिननाथका दर्शन करनेसे जन्म सफल हो जाता है, ध्यान लगानेसे संसिद्धि मिलती है,

"मेरुगिरि-सिहरि चय-बंधणं जो कुणइ,
गयणि तारा गणइ, वेलुआ-कण मिणइ।
चरम-सायर-जले लहरि-माला मुणइ,
सोवि नहु, सामि, तुह सव्वहा गुणथुणइ॥
तहवि, जिण-नाह, निय जम्म सफली-कए,
विमल-सुह - झाण - संधाण - संसिद्धए।"

---

१. वही, पृ० ६०; हिन्दी जैन-साहित्यका इतिहास, पृ० ३२; जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृ० १५।

२. यह स्तवन 'Ancient Jaina Hymns' में पृ० १२०-१२४ पर प्रकाशित हो चुका है।

३ भरह-खित्तंमि सिरि-कुंथ-अर-अंतरे
जम्म पुंडरिगणी, विजय पुक्खलवरे।
भाविए उदय जिणि सत्तमे सिव-गए,
बहुअ-कालेण सिद्धि गमी सामिए॥
वही, पद्य १६-१७।

४. Ancient Jaina Hymns, pp. 89-90.

असुह - दक - कम्म - मल - पडल - निन्नासणं,
ताल, करवाणि तुह संथवं बहु - गुणं ॥२-३॥"

सुर-भवनोंमे गगन, पाताल और भूमण्डलमें, नगरी, पुरी, नीरनिधि और मेरु पर्वतकुलोंमें, देव-देवियोंके समूह, नारि-नर और किन्नर, सीमन्धर स्वामीके आदरपूर्वक गीत गाते है,

"सुर-भवणि, गयणि, पायालि, भूमंडले,
नयरि, पुरि, नीरनिहि, मेरु-पव्वय - कुले ।
देव - देवी - गणा, नारि - नर - किन्नरा,
तुझ जस, नाह, गायंति सादर - परा ॥७॥"

वे नगर धन्य हैं, जिनमे भव्यजनोंके सब संशयोंको हरनेवाले सीमन्धर स्वामी विहार करते है। भगवान् कामघट, देवमणि और देवतरुके समान है। उनका नाम लेने मात्रसे ही सब इच्छाएँ पूरी हो जाती है,

"धन्न ते नयर जहिँ सामि सीमंधरो,
विहरए, भविअ - जण - सव्व-संसयहरो ।
कामघट, देव-मणि, देव-तरु फलियउ,
तीह घरि जीह रहिं, सामि, तउं मिलियउ ॥१३॥"

भक्त-कविकी तीव्र इच्छा है कि उसका आगामी जन्म पूर्व विदेहमें हो, जिससे वह सीमन्धर स्वामीके चरणोंमे बैठकर, उनका दिव्य उपदेश सुन सके। वह वहाँ स्वामीके गुणोंके गीत गायेगा, और उनके रूपको देखकर प्रसन्न होगा। उसे पूर्ण विश्वास है कि स्वामीके शासनमें दीक्षा लेनेसे कर्म गल जायेंगे और मोक्ष प्राप्त होगा,

"कर-जुअल जोडि करि, वयण तू निसुणिसो,
बाल जिम हेल देइ, पाय तुह पणमिसो ।
महुर सरि तुम्ह गुण-गाहण हउं गायसो,
निय - नयणि रूव रोमंचिउ जोइसो ॥
तुम्ह पासि ट्ठिउ, चरण परिपालिसो,
हणिअ कम्माणि, केवल-सिरिं पामिसो ॥१४-१५॥"

भगवान्‌की भक्तिसे भोग-पद, राज-पद, चक्री-पद और इन्द्र-पद, सभी विभूतियाँ उपलब्ध होती हैं और परमपद भी मिलता है,

"भोगपद, राजपद, नाण-पद, संपदं,
चक्कि-पद, इन्द्र-पद, जाव परमं पदं।
तुज्झ भत्तीइ सव्वं पि संपज्जए,
एह माहप्प तुह सयल जगि गज्जए ॥११॥"

इस स्तवनमे इक्कीस पद्य है। प्रथम बीसकी प्रत्येक पंक्तिमें २० मात्राएँ है। १० के बाद विराम है। आचार्य हेमचन्द्रने छन्दोनुशासनमें इस छन्दका नाम 'आवलि' दिया है। २१वाँ पद्य हरगीतिका छन्दमे है।[१]

स्तवनकी भाषामें लालित्य है और भावोमे स्वाभाविकता।

४. मेरुनन्दन उपाध्याय (वि० सं० १४१५)

मेरुनन्दनके दीक्षागुरुका नाम श्री जिनोदयसूरि था। सूरिजीका जन्म वि० सं० १३७५ में, रुद्रपाल श्रेष्ठीकी पत्नी धारलदेविकी कुक्षिसे, प्रह्लादनपुर नामके नगरमे हुआ था। उन्होने वि० स० १३८२ मे श्रीजिनकुशलसूरिके पास दीक्षा ली, और उनका नाम सोमप्रभ रखा गया। वे वि० स० १४०६ मे वाचनाचार्यके पदपर प्रतिष्ठित हुए। श्रीतरुणप्रभसूरिने उनको वि० सं० १४१५ मे, 'सूरिपद' और 'जिनोदय' अभिधान दिया। सूरिजीका वि० सं० १४३२ मे समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।[२] श्रीमेरुनन्दनने, श्रीजिनोदयसूरिसे, वि० सं० १४१५ के उपरान्त दीक्षा ली होगी। उनके 'जिनोदयसूरि विवाहलउ' की रचना वि० सं० १४३२ मे हुई थी। अत. मेरुनन्दन उपाध्याय और जिनोदयसूरिका सत्ता समय एक ही था।

मेरुनन्दन उपाध्यायकी तीन रचनाएँ उपलब्ध है: 'जिनोदयसूरि विवाहलउ', 'अजितशान्तिस्तवनम्' और 'सीमन्धरजिनस्तवनम्'। तीनों ही भक्तिसे सम्बन्धित हैं। पहलेमे गुरु-भक्ति और अवशिष्ट दोमें तीर्थंकर-भक्ति है।

१. Ancient Jaina Hymns, PP. 89-90.

२. श्री मेरुनन्दन उपाध्याय, 'श्री जिनोदयसूरि विवाहलउ', श्री अगरचन्द नाहटा, ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह, पृ० ३६०, कलकत्ता, वि० सं० १९९४।

तथा

जैन-स्तोत्र सन्दोह, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृ० ७३, अहमदाबाद, १९३२ ई०।

जिनोदयसूरि विवाहलउ[1]

'विवाहला' शब्दकी व्याख्या करते हुए श्रीअगरचन्द नाहटाने लिखा है, "जीवनके उल्लासदायक अनेक प्रसगोंमें विवाह, अत्यन्त आनन्द मंगलका प्रसंग है। इसलिए कवियोंने इस प्रसंगका वर्णन बड़ी ही सुन्दर शैलीमें किया है। विवाहके वर्णन-प्रधान काव्योंकी संज्ञा 'विवाह', 'विवाहलउ', 'विवाहलो' और 'विवाहला' पायी जाती है।"[2]

इन 'विवाहला काव्यों'में, जैनाचार्योंका किसी कुमारी कन्याके साथ नहीं, अपितु दीक्षाकुमारी अथवा संयमश्रीके साथ विवाह रचा गया है। इस तरह ये 'विवाहला' रूपक काव्य है। दीक्षा लेनेवाला साधु दुलहा और दीक्षा अथवा 'संयमश्री' दुलहिन है। 'जिनोदयसूरि विवाहला'मे भी आचार्य जिनोदयका दीक्षा-कुमारीके साथ विवाह हुआ है। अर्थात् इस काव्यमे जिनोदयके दीक्षा लेनेका वर्णन है। यह एक ललित एवं सरस काव्य है।

गुर्जरधरारूपी सुन्दरीके हृदयपर रत्नोंके हारकी भाँति पल्हणपुर नामके नगरमे, एक बार श्रीजिनकुशलसूरि आये। वे अपने ज्ञानके प्रकाशसे, भव्यजनोंके मोहान्धकारको दूर करनेमें समर्थ थे।

"अत्थि गूजरधरा सुंदरी सुंदरे, उरवरे रयण हारोवमाणं।
कच्छि केलिहरं नयरु पल्हणपुरं, सुरपुरं जेम सिद्धामिहाणं॥
अह अवरवासरे पल्हणे पुरवरे, भविय जण कमल वण बोहयंतो।
पत्तु सिरि 'जिणकुसलसूरि' सूरोवमो, महियले मोह तिमिरं हरंतो॥३॥"

सेठ रुद्रपाल अपने परिवारसहित सूरिजीकी वन्दना करने गया। सूरिजीने उसके पुत्र समराको देखकर कहा कि यह तुम्हारा समरा कुमार सम्पूर्ण श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त है और सुविचक्षण भी है। नेत्रोंको आनन्द देनेवाले अपने इस पुत्रका विवाह, हमारी दीक्षाकुमारीके साथ कर लो।

---

१. यह, 'जैन ऐतिहासिक काव्य-संग्रह' मे, वि० सं० १९९४ में, पृ० ३९०-३९९ पर प्रकाशित हो चुका है। इसमें ४४ पद्य है।

२. श्री अगरचन्द नाहटा, 'विवाह और मगल काव्योंकी परम्परा,' भारतीय साहित्य, डॉ० विश्वनाथप्रसाद सम्पादित, आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ, प्रथम अंक, जनवरी १९५६, पृ० १४०।

"अह सयल लक्खणं जाणि सुवियक्खणं, सूरि दट्ठूण 'समरं कुमारं'।
भविय तुह नंदणो नयण आणंदणो, परिणओ अम्ह दिक्खा कुमारिं ॥११॥"

इस प्रकार सूरिजीने उस कुमारको जैनदीक्षा पानेके योग्य घोषित किया और भीमपल्ली चले गये।

कुमार दीक्षा ग्रहण करनेके लिए बारम्बार आग्रह करने लगा, तो माँने समझाया कि तुम्हारे कमलके समान हाथ, अनुपम रूप और उत्तम वंश है। श्रेष्ठ नारियोंके साथ विवाह कर सुखी होओ। नये-नये प्रकारके भोगोंका उपभोग करो और अपने उत्तम कार्योंसे हमारे कुलको कीर्त्तिके शिखरपर आरूढ कर दो।

"तेण कमल दल कोमल हाथ, बाथ म बाउलि देसितउं।
रूपि अनोपम उत्तम वंश, परणाविसु वर नारि हउं॥
नव-नव मंगाहिं पंच पयार, भोगिवि भोग वल्लह कुमार।
क्रमि-क्रमि अम्ह कुलि कलसु चडावि, होजि संवाहिवइ किंत्तिभार ॥१७-१८॥"

पुत्र नही माना और अपने आग्रहपर अटल रहा। तब कुमारके निश्चयको जननीने जाना, और व्याकुल आँखोसे आँसू ढुलकाती हुई बोली कि हे वत्स! जो कुछ तेरे मनको अच्छा लगे वह कर। इस प्रकार गद्गद कण्ठसे स्वीकृति-सूचक वचनोंका उच्चारण कर वह चुप हो गयी।

"तउ कुमर निच्छयं जणणि जाणेवि,
ढणहण नयणि नीरं झरंती।
करिन तं वच्छ जं तुज्झ मण भावए,
अच्छए गद गद सरि भणंती ॥२०॥"

माँकी इस बेवशीमे स्वाभाविकता है और प्रसाद भी।

यह सिद्ध है कि तीव्र गुरु-भक्तिसे अनुप्राणित होकर ही कवि, ऐसे रस-सिद्ध स्थलोको अंकित कर सका है।

अजित-शान्तिस्तवनम्

भगवान् अजितनाथ, भरतक्षेत्रकी चतुर्विंशतिकाके दूसरे और शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थंकर हैं। संस्कृत और प्राकृत साहित्यमे दोनोंके ही मिले-जुले अनेक

स्तवन हैं। प्रस्तुत स्तवन भी प्राचीन हिन्दीमे लिखा गया दोनों तीर्थंकरोंकी भक्तिका काव्य है।

भक्त कवि एक स्थानपर कहता है कि भगवान् अजित जिनेन्द्र संसारके गुरु हैं, और भगवान् शान्तिनाथ नेत्रोंको आनन्द देनेवाले है। दोनो ही विश्वको श्रीसम्पन्न कर कल्याण करते है। जीव मात्रको सुखी बनाना उनका उद्देश्य है। वे सुखरूपी समुद्रके लिए पूनोके चाँदकी भाँति हैं। अर्थात् उनकी कृपाके उदित होते ही, जीवोके सुख-समुद्रमे आनन्दकी लहरें उठने लगती हैं। उन जिनवरोको प्रणाम करने, उनके गुणोंको गाने और सेवन करनेसे पुण्यके भण्डार भर जाते हैं। वह पुण्य मनुष्य भवको सफल बनानेमें पूर्णरूपसे समर्थ है,

"मंगल कमला कंदुए, सुख सागर पूनिम चंदुए।
जग गुरु अजिय जिणंदुए, संतीसुर नयणाणंदुए॥
वे जिणवर पणमेविए, वे गुण गाइ सुसंसेविए।
पुन्य भंडार भरेसुए, मानव भव सफल करेसुए॥"

भक्त युग-युगसे भगवान्‌की शरणमे जाते रहे है। वहाँ उन्हे शान्ति मिली है और सुख प्राप्त हुआ है। यहाँ भी भक्त अजित और शान्तिकी शरणमें गया है। उसका कथन है कि वे भगवान् उत्सव और मंगलके जन्मदाता है। उनकी कृपासे संघके समूचे पाप दूर हो जाते हैं। भगवान्‌के नेत्र कमलोकी भाँति विशाल है, उनमे-से दयारूपी सुगन्धि फूटती है। उस सुगन्धिको पाकर यह जीव भव-समुद्रसे पार हो जाता है। अर्थात् अजित और शान्तिनाथकी शरणमे जानेसे यह भोला भक्त, असार संसारको तैरकर मोक्षमे पहुँच जाता है।

"वे उच्छव मंगलकरण, वे सयलसंघ दुरियहं हरण।
वे वरकमल वयण नयण, वे सिरि जिणराय भवण रयण॥
इम भगसिहि भोलिम तणीए, सिरि अजिय संति जिण थुइ भणिए।
सरणइ विहुं जिण पाएं, सिरि मिणनंदण उवझाए॥"

सीमन्धरजिनस्तवनम्[1]

इस स्तवनमे ३१ पद्य है। इसकी भाषामें माधुर्य, भावोंमे सौम्यता और सादृश्य वर्णनमें प्रौढ़ता है। दृश्यांकन सफल हुए हैं। पद्मासनपर विराजे सीमन्धर

---

१. यह स्तवन, प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय संपादित, जैन स्तोत्र संदोह, अहमदाबाद, १९३२ ई०, में पृष्ठ ३४०–३४५ पर प्रकाशित हो चुका है।

स्वामी और उदयगिरिपर सुशोभित सहस्रकिरणका सादृश्य ऊहाजन्य नहीं है। उपमान और उपमेयको स्वाभाविक ढंगसे ही संघटित किया गया है।

"त तसु अंतरि रयणिहिं घडिउ सिंहासणु झलकंतु,
त पायपीढु तसु तलि विमलो मणि निम्मिउ दिप्पंतु।
त तह सीमंधरु जिणपवरो पउमासणउवविट्ठु,
त सहस किरण जिम उदयगिरि पुण्ण ति जेहिं सुदिट्ठु ॥९॥"

चित्रांकनमें तो कविको अभूतपूर्व सफलता मिली है। दृश्योंका चित्रांकन कवि-की सबसे बड़ी कला है। यह वही कवि कर सकता है, जिसकी अनुभूति सूक्ष्म और कल्पना पैनी हो। एक चित्र यह है, 'सीमन्धर स्वामीके समवसरणमें आती हुई सुर-रमणियाँ परिवारसहित सुविमानोंमें विराजमान है। उनके रूपमें अद्भुत लावण्य है। उड़ते विमानोंमें बैठनेके कारण देवांगनाओंके शरीरमें स्पन्दन हो रहा है, और इस भाँति उनकी कमरमें पड़ी किंकिणियाँ भी हिल रही है। उनसे मधुर ध्वनि निकलती है। देवियोंका हृदय भगवान्की भक्तिसे उल्ल-सित है। वे बड़े उत्साहसे दसों दिशाओंमें फैलकर भगवान्के गीत गाती हुई सम-वसरणमें आयी हैं।'

"त रणउणंतकिंकिणिरयणि ऊगगमंत सुविमाण,
त सपरिवार सुररमणिगणि लवणिमरूव निहाण।
त बहुल भत्ति उल्लसिय हिय दस दिसि घणु पसरंत,
त समवसरणि आवइं सयल सामिय गुण गायंत ॥११॥"

इस काव्यमें उपमागर्भित रूपक भी बहुत है। एक रूपकमें लिखा है कि भगवान्की दिव्यध्वनि गंगाकी उन निर्मल तरंगोंकी भाँति है, जो सम्पूर्ण अपवि-त्रताओंको धोती हुई चली जाती है। संसारमें जलते जीवोंकी दाह केवल अमृतसे ही शान्त हो सकती है, और भगवान्की दिव्यध्वनि एक अमृतके प्रवाहकी भाँति ही है। सीमन्धर स्वामीकी दिव्यध्वनि वर्षाके गरजते उन मेघोंकी भाँति भी है, जिनकी आवाज़ सुनकर, 'भव्य'रूपी मयूरोंके चित्त फरफर नाच उठते हैं,

"निम्मल ए गंगतरंगचंगु पणासियसयलतमु,
भवदव ए संभवदाह फेडणअमियपवाह समु।

सामिय ए तणउ बखाणु जिम जिम गाजइ मेह जिम,
तिम तिम ए भवियण चित्त नाचइ फरफर मोर जिम ॥१५॥"

आराध्यके गुणोंपर रीझकर ही भक्त, भक्त बना है। वह उन गुणोंके गीत गाता ही रहता है। श्रीमेरुनन्दनने भी सीमन्धर स्वामीकी प्रशंसा करते हुए लिखा है, उन जिनेन्द्र भगवान्की जय हो, जिनके वचनोंमें इतना अमृत भरा है कि उसके समक्ष चन्द्रका अमृत-कुण्ड भी तुच्छ-सा प्रतिभासित होता है। भगवान्के नेत्र कोमल और विशाल कमलकी भाँति हैं। देव-दुन्दुभियाँ भगवान्की महिमाको सदैव उद्घोषित करती है। भगवान् अनन्त गुणोंके प्रतीक है, और उनका कृपा-कटाक्ष पल-भरमे ही भक्तको संसार-समुद्रसे पार कर देता है। भक्तको पूरा विश्वास है कि ऐसे भगवान्को प्रणाम करनेसे मन निरालम्ब होकर भ्रमित नही होगा। उसने भगवान्से कृपारूपी आलम्बनकी याचना की है,

"जय जिणवर ! ससहरहारिवयण !
जय कोमलकमल विसाल नयण ! ।
जय सरस अमियरससरिसवयण !
जय महिममहियह देवरयण ! ॥
विलसत अणंत गुणाण ठाण !
संवच्छरमिच्छियदिन्नदाण ! ।
भवसिंधुतरणतारणसमत्थु !
पडियहं आलंबणु देहु हत्थु ॥१८-२०॥"

५. विद्धणू (वि० सं० १४१५)

श्री जिनोदयसूरि विद्धणूके भी गुरु थे। सूरिजीका समय वि० सं० १४१५ से १४३२ तक माना जाता है, अतः विद्धणूका भी वही समय है। विद्धणूने अपने गुरुके लिए लिखा है कि वे तारागणोंमे चन्द्रके समान और जलनिधिमे गिरिप्रवरके समान थे।[1]

---

१. नंदउ विह संघु नंदउ सिरि जिणउदय गुरो,
जिम्ब तारायण चंदु जिम्ब जलनिधिगुरु गिरिपवरो।
श्री विद्धणू, ज्ञानपंचमीचउपई, पद्य ५४७, जैन गुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृ० ४१९।

विद्धणूके पिताका नाम 'ठक्कर माल्हे' था।[1] राजगृहके पार्श्वनाथके मन्दिरमें वि० सं० १४१२ का लिखा हुआ एक शिलालेख है, उसपर ३८ श्लोकोंकी एक प्रशस्ति अंकित है। उसके एक श्लोकसे स्पष्ट है कि उस प्रशस्तिके कर्त्ता ठक्कर माल्हेके पुत्र, वैज्ञानिक, सुश्रावक श्री बोधा नामके कोई व्यक्ति थे।[2] विद्धणूका बचपनका नाम बोधा होना स्वाभाविक भी है। विद्धणूकी रची हुई 'ज्ञानपंचमी चउपई' नामकी रचना उपलब्ध है।

ज्ञानपंचमी चउपई

इसकी रचना, मगधमें बिहार करते समय, कवि विद्धणूने वि० सं० १४२३, भाद्रपद शुक्ला एकादशी, गुरुवारके दिन की थी।[3] इसमें श्रुतपंचमीके दिन व्रत रखनेका माहात्म्य और जिन-शासनकी भक्तिका उल्लेख है। इसकी भाषा प्राचीन हिन्दी है, जिसमें गुजरातीका भी मिश्रण है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने उसको गुजरातीकी अपेक्षा हिन्दीकी ओर अधिक झुका हुआ माना है।[4] इसमें ५४८ पद्य हैं।

जिन-शासनके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए कविने लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्रका शासन असीम है, उसका पार प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो कोई उसको अहर्निशि पढ़ता, गुनता और पूजता है, उसे श्रुतपंचमीके व्रतका फल मिल जाता है।

> जिणवर सासणि आछइ सारु, जासु न लब्भइ अंत अपारु।
> पढ़हु गुणहु पूजहु निसुनेहु, सियपंचमिफलु कहियहु एहु॥

---

१. ठक्कर माहूले पुतु विद्धणु पभणइ सुद्ध मए।
वही, पद्य ५४६।

२. उत्कीर्णा य सुवर्णा ठक्कुर माल्हागजेन पुण्यार्थे।
वैज्ञानिक सुश्रावक बोधाभिधानेन ॥३८॥
वही, पृ० ४१८।

३ हरषिहि लागउ चीतु चउदहसई तेवीसमई ए,
मिय भादवइ इग्यासि गुरु वासरु गहु ऊपनउ,
नयर बिहार मका पंचमि पुलु इम्ब गाइयउ॥
वही, पद्य ५४६।

४. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ३३।

श्रुतपंचमीका फल यही है कि जो कोई नर, मनमें संयम धारण कर इस व्रतको करता है, वह कभी दुःखी नहीं होता और इस दुस्तर संसार-समुद्रको तैर जाता है,

"सियपंचमि फलु जाणइ लोइ, जो नर करइ सो दुहिउ न होइ।
संजम मन धरि जो नरु करइ, सो नरु निश्चइ दुत्तरु तरइ ॥१–२॥"

श्रुतपंचमीके व्रतका अर्थ है, श्रुतदेवीकी भक्ति करना। श्रुतदेवीका ही दूसरा नाम शारदा या सरस्वती है। कविने चौबीस तीर्थंकरोंसे प्रार्थना की है कि शारदा उसे अपने सेवकके रूपमे स्वीकार कर ले। जो शारदा हंसपर चढकर चलती है, जिसके हाथमें वीणा सुशोभित है, जो जिनेन्द्रके शासन-प्रसारमे तल्लीन है, जिसने चारो वेदोको साध लिया है, जो 'अठदल कमल' पर विराजती है और जिसके चन्द्र-जैसे मुखसे अमृत झरता है, विद्धणु ऐसी शारदाको भक्ति-पूर्वक नमस्कार करते है,

"ओंकार जिणइ चउवीस, सारद सामिनि करउ जगीस।
वाहन हंस चडी कर वीण, सो जिण सासणि अच्छइ लीण ॥
अठदल कमल ऊपनी नारि, जेण पयासिय वेदइ चारि।
ससिहर बिंबु अमियरसु फुरइ, नमस्कार तसु 'विद्धणु' करइ ॥३–४॥"

कविने णमोकार मन्त्रके प्रति भक्ति प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि संसारके चिन्ता-समुद्रमें फँसकर यह जीव, घरके सभी धर्म-कर्म विस्मरण कर जाता है। वह क्रोध, मान, माया, मद, मोह और सन्देहमें पड़कर, मुनिवरोके योग्य न तो दान देता है न तप तपता है, और न भोग ही भोगता है। जब श्रावकके घरमे जन्म लिया है, तो प्रति दिन मनमे णमोकार मन्त्रका चिन्तवन करना ही चाहिए।

"चिंतासायर जवि नरु परइ, घर धंधल सयलइ वीसरइ।
कोहु मानु माया (मद) मोहु, जर झंपे परियउ संदेहु ॥
दान न दिन्नउ मुनिवर जोगु, ना तप तपिउ न भोगेउ भोगु।
सावय घरहि लियउ अवतारु, अनुदिनु मनि चिंतहु नवकारु ॥५–६॥"

६. सोमसुन्दरसूरि (वि० सं० १४५०–१४९९)

सोमसुन्दरसूरिके पिताका नाम श्रेष्ठि सज्जन और माताका नाम माल्हण देवी था। उनका जन्म प्रल्हादनपुरमे, वि० सं० १४३० मे हुआ था। माँने सोम (चन्द्र) का स्वप्न देखा था, अत उनका नाम सोम रखा गया।[1]

केवल सात वर्षकी उम्रमे, अपनी बहनके साथ, 'सोम'ने जयानन्द सूरिके पास दीक्षा ली। उनका नाम सोमसुन्दर रखा गया। वि० सं० १४५० में वे सम्पूर्ण जैन वाङ्मयमे पारंगत हो गये। उस समय उन्हे वाचक पद प्रदान किया गया। वि० स० १४५७ मे, पाटणमें उन्हे, श्री देवसुन्दरसूरिने आचार्य पदपर प्रतिष्ठित किया। ये तपागच्छके ५०वें पट्टधर थे।[2]

सोमसुन्दर प्रकाण्ड पण्डित तो थे ही, भव्य और उदार भी थे। उनके अनेकानेक शिष्य थे, जिनमे मुनिसुन्दर, जयचन्द्र, भुवनसुन्दर, जिनसुन्दर और जिनकीर्त्ति मुख्य थे।[3] श्री नन्दिरत्नगणि आदि अनेक विद्वानोने उनका श्रद्धा-पूर्वक स्मरण किया है।[4] श्री सोमसुन्दरसूरिने सघसहित, शत्रुंजय, गिरिनार, सोपारक और तारंगाजी आदि अनेक तीर्थक्षेत्रोकी यात्राएँ की थी। 'प्रतिष्ठा' के क्षेत्रमें वे अद्वितीय थे। उनके द्वारा सम्पन्न करवायी गयी प्रतिष्ठाएँ बहुत अधिक हैं।[5]

मुख्य रूपसे वे संस्कृत और प्राकृतके विद्वान् थे। उनको रची हुई कृतियाँ इस प्रकार हैं : 'चैत्यवन्दनभाष्यावचूरि', 'कल्पान्तर्वाच्य', 'चतुर्विशतिजिनभवोत्कीर्त्तन-स्तवनम्', 'युगादिजिनस्तवनम्', 'युष्मच्छब्दनवस्तवी', 'अस्मच्छब्दनवस्तवी', 'भाष्य-त्रयचूर्णि', 'कल्याणकस्तवः', 'यतिजीतकल्परत्नकोष', 'उपदेशमालाबालावबोध', 'योगशास्त्रबालावबोध', 'षडावश्यकबालावबोध', 'आराधनापताकाबालावबोध',

---

१. "प्रल्हादनपुरे सज्जनश्रेष्ठिनो माल्हणदेव्याः कुक्षौ विक्रम सवत् १४३० वर्षेऽस्य जन्म, सोमस्वप्नावलोकनात् 'सोम' इति प्रादायि नाम।"
जैनस्तोत्र सन्दोह, मुनि चतुरविजय सम्पादित, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ७४, अहमदाबाद १९३२ ई०।

२. जैनस्तोत्र सन्दोह, द्वितीय भाग, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, १९३६ ई०, प्रस्तावना (गुजराती), पृष्ठ ८४–८५।

३. श्री रत्नशेखरसूरि, आचार प्रदीप प्रशस्ति, श्लोक ७–११, जैनस्तोत्र सन्दोह, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ७५।

४. जैनस्तोत्र सन्दोह, प्रथम भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ७५–७८।

५. जनस्तोत्र सन्दोह, द्वितीय भाग, प्रस्तावना, पृष्ठ ८५।

'नवतत्त्वबालावबोध' और 'षष्टिशतकबालावबोध।'[1] 'आराधनारास' गुजराती-हिन्दीका काव्य है। 'मिश्रबन्धु विनोद' मे इसका उल्लेख हुआ है।[2] 'नेमिनाथनवरसफागु' संस्कृत, प्राकृत और गुजराती मिश्रित हिन्दीमे लिखा गया है।

आराधनारास[3]

इसकी रचना वि० सं० १४५० मे हुई थी। इसी वर्ष उन्हे वाचक पद मिला था। इस समय उनकी उम्र २० वर्षकी थी, और वे अनेक विद्याओमे निपुण हो चुके थे। 'आराधनारास' एक प्रौढ कृति है।

नेमिनाथनवरसफागु

यह एक छोटा काव्य है। यह भगवान् नेमिनाथकी भक्तिसे सम्बन्धित है। जिन नेमि जिनेन्द्रके गीतोको शारदा भी गाती है, भला कवि उनकी भक्तिमे तल्लीन क्यो न होगा,

> "समर विमारद सकल विसारद सारद या परदेवी रे।
> गाईसु नेमि जिणिद निरंजन रंजन जगह नमेवी रे॥"

आठ प्रतिहारोकी महिमाको धारण करनेवाले भगवान् नेमीश्वरकी पुरन्दर भी भक्ति करते हैं। उन्ही जिनवरके पास सती राजीमतीने उल्लासपूर्वक, संयम धारण किया था, और फलतः उसे मोक्ष मिला था,

> "प्रथम अशोक विशाल पुल पगर सुकुमाल,
> नाद मनोहरुए चंचल चामरु ए,
> हेमसिंहासणकंत भामंडल झलकंत,
> दुदुभि अंबरिए त्रिणि छत्र उपरीए।
> ईम प्रतिहारज आठ, कसर जितो नगुपाठ,
> रचई पुरंदरुए भूरि भगति धरुए,
> पालीय जिनवर पासि, संयम मन उल्लासि,
> सिवपुरि पुहुती ए राजमती ए सती ए॥३३-३४॥"

---

१. मोहनलाल दुलीचन्द देसाई, जैन गुर्जर कविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ ३२, पादटिप्पणी।

२. मिश्रबन्धु, मिश्रबन्धु विनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २१७।

३. मोहनलाल दुलीचद देसाई, जैन गुर्जर कविओ, तीजो भाग, बम्बई, १९४४ ई०, पृष्ठ ४३८ पर प्रकाशित।

७. उपाध्याय जयसागर (वि० सं० १४७८–१४९५)

मध्यकालमे जयसागर नामके तीन कवि हुए है। तीनो ही जैन थे और तीनो ही हिन्दी के समर्थ कवि माने जाते है। उनमें प्रथम को उपाध्याय जयसागर कहते हैं। उन्होंने जिनराजसूरिके पास दीक्षा ली थी, जो जिनोदयसूरिके पट्टधर थे। श्री जिनवर्धनसूरि उनके विद्यागुरु थे। श्री जिनभद्रसूरिने उनको पाल्हणपुरमे 'उपाध्याय' पदसे सुशोभित किया था[१]।

उपाध्याय जयसागर संस्कृत और प्राकृतके गण्यमान्य विद्वान् थे। उनकी अनेक रचनाएँ उपलब्ध है, जिनमे 'सन्देह दोहावलीपर लघुवृत्ति', 'उवसग्गहर-स्तोत्रवृत्ति', 'विज्ञप्ति त्रिवेणी', 'पर्वरत्नावलीकथा' और 'पृथ्वीचन्द्रचरित्र' बहुत प्रसिद्ध है।

मन्त्रविद्यामे भी ये पारंगत थे। सेरीषिकाभिधान गाँवमे, श्री पार्श्वनाथ-जिन मन्दिरमे पद्मावतीसहित धरणेन्द्रने उन्हे दर्शन दिये थे। मेदपाट नामके देश-मे, नागद्रह नामके शुभस्थानपर, नवखंडपार्श्वचैत्यमे शारदा उनपर प्रसन्न हुई थी।[२]

जयसागरके प्राचीन हिन्दीमे लिखे हुए अनेक मुक्तक काव्य प्राप्त हुए है, जिनमे 'जिनकुशलसूरिचतुष्पदि'–(वि० सं० १४८१), 'वयरस्वामी गुरुरास'–(१४८६), 'गौतमरास', 'नेमिनाथ विवाहलो'–(१४९८), 'चैत्यपरिपाटी'–(१४८७), 'नगरकोट महातीर्थ चैत्य परिपाटी', 'सतगुरुभक्ति', 'आध्यात्मिक विवाह' तीर्थ और चैत्यभक्तिसे सम्बन्धित हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने 'चतुर्विंशति जिनस्तुति', 'अष्टापद तीर्थबावनी', 'अजितस्तोत्र', 'स्तम्भनपार्श्वनाथस्तवन', और 'विहरमान जिनस्तवन' आदि स्तुति-स्तवनोंका भी निर्माण किया था।

---

१. जैनस्तोत्र सन्दोह, द्वितीय भाग, प्रस्तावना, पृ० ६६।

२. सेरीषिकाभिधाने ग्रामे श्रीपार्श्वनाथजिनभवने।
श्रीशेषः प्रत्यक्षो येषा पद्मावतीसहितः॥
श्री 'मेदपाट' देशे 'नागद्रह' नामके शुभनिवेशे।
नवखण्डपार्श्वचैत्ये सन्तुष्टा शारदा येषाम्॥
'श्रीजयसागरउपाध्यायप्रशस्तिः', श्री अगरचन्द नाहटा, ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, कलकत्ता, १९९४ वि० स०, पृ० ४००।

चैत्यपरिपाटी[1] में पाटण, रायपुर, शत्रुंजयगिरि, गिरिनार, पालीताना और जूनागढ आदि अनेक तीर्थोंका आँखो देखा वर्णन है। इसमें २१ पद्य हैं, जो सोरठा और वस्तु नामके छन्दोंमें लिखे गये हैं। इस कृति में अनेक स्थल उत्तम काव्यके निदर्शन है।

'नगरकोट तीर्थ चैत्य परिपाटी'[2] मे नगरकोटके तीर्थों,मन्दिरों और प्रतिमाओं-का आलंकारिक वर्णन है। भाषापर गुजरातीका प्रभाव है। अत: स्पष्ट है कि उपाध्यायजी गुजरातके ही रहनेवाले होंगे। १५वीं शताब्दीके कवियोंमें दृश्यको चित्रित करनेकी ऐसी सामर्थ्य बहुत कममे देखी जाती है। उदाहरणके लिए,

"नंद वणिहि नंदउ सुचिरु चरम जिणासरचंद।
जगु चकोरु जसु दंसणिहिं पामइ परमाणंद॥
पासि पसंसउं कोटिलए गामिहि महि अभिरामि।
महमन कोहलि जिम रमउ तसु गुण अंबारामि॥
हेमकुंभासिरि जिण भवणि ए सवि झुणिया देव।
देवलिय कोठी नयरि करउं वीरजिण सेव[3]॥"

'जिनकुशलसूरिचतुष्पदी' का निर्माण मलिकहलपुरमे हुआ था[4]। यह एक सरस काव्य है। इसमे सूरि जिनकुशलकी महिमाका वर्णन किया गया है। 'वयरस्वामी गुरुरास' भी गुरुभक्तिका ही निदर्शन है। सभी स्तुति-स्तोत्र उत्तम हैं।

'चतुर्विंशति जिन स्तुति' मे २४ जिनेन्द्र का स्तवन है। भगवान् ऋषभदेवके दर्शनोसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द अनिर्वचनीय है,

"सुविहाणउ जइ आज मई, दीठउ रिसह जिणेस,
नयण कमल जिम उल्लसइ, ऊगिउ मलइ दिनेस।
रोम विहि तणु ऊससई, हियडई परमानंद,
नयण अमिय रस झलिणऊ, दीठउ आदि जिणंद[5]॥"

---

१. 'चैत्यपरिपाटी' की हस्तलिखित प्रति पाटण भण्डारमें, मुनि पुण्यविजयजीके संग्रह-में, सत्क प्रतिपत्र न० २–१० पर मौजूद है।
२. इसकी हस्तलिखित प्रति भी उपर्युक्त भण्डारमें है।
३. नगरकोट, महातीर्थ चैत्य परिपाटी, पद्य ११–१३।
४. दादा श्री जिनकुशल सूरि, नाहटा सम्पादित, परिशिष्ट ग, पृ० ८२।
५. जैन गुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृ०१४७६।

कविका विश्वास है कि भगवान् महावीरकी शरणमें जानेसे मन-वचन-कायसे किये गये सभी राग-द्वेष दूर हो जाते हैं। उसने भगवान् वीरसे ऐसे प्रसादकी याचना की है, जिससे वह भव-भवमें भगवान्के पैरोंकी सेवा कर सके,

"राग दोस बसि जो कियउ, मणवय काय पमाय,
तं मिच्छा दुक्कड हवउ, सरण वीर जिण पाय।
करि पसाउ मुझ तिम किमइ, महावीर जिणराय,
इणि भवि अहवा अन्न भवि, जिम सेवउं तु पाय[1] ॥"

८. हीरानन्दसूरि (वि० सं० १४८४-१४९५)

हीरानन्दसूरिकी गणना, १५वीं सदीके उत्तम कवियोंमें की जाती है। वे पिप्पलगच्छके श्रीवीरप्रभसूरिके शिष्य थे। उन्होंने अपनी कृतियोंमें मरुमण्डलके साचोरपुरके वीर भवनका उल्लेख किया है, इससे प्रमाणित है कि वे राजस्थानके रहनेवाले थे।[2] उनकी भाषा भी सरल राजस्थानी ही है। उस समयकी राजस्थानी और हिन्दीमें इतना रूप-भेद नहीं था, जितना आजकल है। यदि यह कहा जाये कि वे एक ही थी, तो अत्युक्ति न होगी।[3] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने राजस्थानीका गुजराती और हिन्दी दोनोंसे ही अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित किया है।[4] इस तरह स्पष्ट है कि हीरानन्दसूरि हिन्दीके महत्त्वपूर्ण कवि थे। उन्होंने 'वस्तुपालतेजपालरास' (वि० सं० १४८४), 'विद्याविलास पवाडो'[5] (वि० सं०

---

१. वही, पृ० १४७९।

२. पीपल गछि गुरुराय श्रीवीरप्रभ सूरि गहगहईए,
पामीअ सुगुरु पसाय, मरुमंडलि रलिआमणुए।
पुर साचुर मझारि, वीर भुवण रलिआमणुए,
संघ सहित घरबारि, संवत चऊद पंचाणवईए।

जैन गुर्जर कविओ, त्रीजो भाग, जम्बूस्वामी विवाहला, अन्तभाग, पद्य ५२-५३, पृ० ४२६।

३. ढोलामारूरा दूहा, श्रीरामसिंह, सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी सम्पादित, भूमिका, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, १९३४ ई० पृ०।

४. हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पृ० ९, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५२ ई०।

५. यह पवाडा, बड़ौदामें प्रकाशित 'गूर्जररासावलि' में प्रकाशित हो चुका है। यह 'पवाडा' साहित्यमें सबसे प्राचीन है।

१४८५), 'कलिकालरास' (वि० सं० १४८६)[1], 'दशार्णभद्ररास', 'जंबूस्वामी वीवाहला' (वि० सं० १४९५) और 'स्थूलिभद्र बारहमासा'की रचना की थी।

कविने विद्याविलास पवाड़ोमे प्रथम जिनेश्वर, शान्तिनाथ, नेमिकुमार और पार्श्वनाथको नमस्कार करते हुए, शारदासे वरदानकी याचना की है और उनसे सम्बन्धित मुख्य तीर्थोंके प्रति भी भक्ति-भाव प्रदर्शित हुआ है।

> "पहिलुं पणमीय पढम जिणेसर, सित्तुंजय अवतर,
> हथिणाउरि श्री शांति जिणेसर उज्जंति निमिकुमार।
> जीराउलिपुरि पास जिणेसर, साचउरे वर्द्धमान,
> कासमीर पुरि सरसति सामिणि, दिउ मुझनई वरदान॥[2]"

'जम्बूस्वामी विवाहला', जम्बूस्वामीकी भक्तिसे सम्बन्धित है। उसके मंगल पद्यमे वीर जिनेश्वर, गौतम गणधर और देवी सरस्वतीका स्मरण किया है।

> "वीर जिणेसर पणमीअ पाय, गणहर गोअम मनि धरीअ,
> समरी सरसती कवि अण पाय, वीणा पुस्तक धारिणी ए।
> बोलिसु जम्बू चरित रसाल, नव नव भाव सोहामणुंअ,
> रयणह संख्या ढाल रसाल, मविअण माविहिं सोमलुए॥१-२॥[3]

'स्थूलिभद्र बारहमासा'मे मुनि स्थूलिभद्रके बारह महीनोंकी जीवनचर्याका भक्ति-पूर्वक वर्णन हुआ है। बारहवर्षीय अकाल पड़नेपर, जब भद्रबाहु स्वामी दक्षिणमे चले गये, तो पाटलिपुत्रमे जैनसंघके अधिष्ठाता स्थूलिभद्र हुए। उन्हें ११ अगोंका ज्ञान था। इस बारहमासामे २८ पद्य है। अन्तमे लिखा है कि जो आनन्दपूर्वक बारहमासा पढता है, उसके पास ऋद्धि-सिद्धि अचल होकर निवास करती हैं।[4]

---

१. कलिकालरास, श्रीअगरचन्द नाहटाके सम्पादनके साथ, हिन्दी-अनुशीलन, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, वर्ष १०, अंक १, जनवरी-मार्च १९५७ ई० में, पृष्ठ ५५-५९ पर प्रकाशित हुआ है।

२. जैनगुर्जर कविओ, प्रथम भाग, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० २५-२६।

३. जैनगुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृ० ४२८-४२९।

४. स्थूलिभद्र बारे मासडा, ए जे भणै धरि आणंद कि।
निहां घरि अचल वधामणुं, ऐ बोले सूरि हीराणंद कि।
स्थूलिभद्र बारहमासा, २८वाँ पद्य, जैनगुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृ० २९।

९. भट्टारक सकलकीर्त्ति (वि० सं० १४९९)

सरस्वती गच्छके श्री पद्मनन्दी एक प्रभावशाली भट्टारक थे। वे भट्टारक रत्नकीर्त्तिके देहली-पट्टपर, वि० सं० १३७५ मे प्रतिष्ठित हुए थे। उनकी प्रशंसा बिजौलियाके शिलालेखों (वि० सं० १४६५ और १४८६) मे अंकित है। उनके दो शिष्य थे—भट्टारक शुभचन्द्र और भट्टारक सकलकीर्त्ति। सकलकीर्त्तिसे ईडर की भट्टारकीय गद्दीकी परम्परा आरम्भ हुई थी।[1]

भट्टारक सकलकीर्त्ति अपने समयके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनका संस्कृत भाषापर एकाधिपत्य था।[2] उन्होंने संस्कृतमें १७ ग्रन्थोंकी रचना की : पुराणसार, सिद्धान्तसारदीपक, मल्लिनाथचरित्र, यशोधरचरित्र, वृषभचरित्र, सुदर्शनचरित्र, सुकुमालचरित्र, वर्धमानचरित्र, पार्श्वनाथ पुराण, मूलाचार प्रदीप, सारचतुर्विंशतिका, धर्मप्रश्नोत्तरश्रावकाचार, सद्भाषितावली, धन्यकुमारचरित्र, कर्मविपाक, जम्बूस्वामीचरित्र, श्रीपालचरित्र।

भट्टारक सकलकीर्त्ति प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उन्होंने सैकड़ों मन्दिर बनवाये, मूर्त्तियोंका निर्माण करवाया और उनके प्रतिष्ठादि महोत्सव, स्वय आचार्य बनकर सम्पन्न किये। उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तियोंमें, तत्कालीन इतिहासकी अनेक बाते अंकित हैं।

सकलकीर्त्तिका समय विक्रमकी १५वीं शताब्दीका उत्तरार्ध माना जाता है। उन्होने संघसहित, वि० सं० १४८१ मे, बडालीमे चतुर्मास किया था। वहाँपर ही उन्होने श्रावण शुक्ला पूर्णिमा, वि० सं० १४८१ को 'मूलाचार प्रदीप'को अपने कनिष्ठ भ्राता जिनदासके अनुग्रहसे पूरा किया।[3]

---

१. जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, पृष्ठ १६।

२. जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, प्रस्तावना पृ० ९-१०।

३. तिहि अवसरे गुरु आविया, बडाली नगर मझार रे,
चतुर्मास तिहा करो शोभनो, श्रावक कीधा हर्ष अपार रे,
अमीझरे पधरावियां, बधाई गावे नर नार रे।
सकल संघ मिलि बन्दिया, पाम्या जयजयकार रे॥
संवत् चौदह सौ एकासी भला, श्रावणमास लसतरे,
पूर्णिमा दिवसे पूरण कर्या मूलाचार महंत रे।
भ्राताना अनुग्रह शकी कीधा ग्रन्थ महान रे॥
वही, पृ० १०।

भट्टारक सकलकीर्त्ति, वि० सं० १४४४ में, ईडरकी गद्दीपर आसीन हुए थे। वि० सं० १४९९ मे, महसाना (गुजरात) मे उनका स्वर्गवास हुआ। हिन्दी-के लिए भी उन्होंने जो कुछ प्रयास किया, उसीके फलस्वरूप उनके शिष्य ब्रह्म जिनदास हिन्दीके उत्तम साहित्यकार बन सके।

भट्टारक सकलकीर्त्तिकी हिन्दीमे लिखी हुई पाँच कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं: 'आराधनाप्रतिबोधसार', 'णमोकारफलगीत', नेमीश्वरगीत', 'मुक्तावलीगीत' और 'सोलहकारणव्रतरास।'

आराधनाप्रतिबोधसार

इसकी भाषा सरल है। उसमे प्रसादगुणका निर्वाह हुआ है। कविने जिन-वाणी, गुरु और निर्ग्रन्थ साधुओंको प्रणाम करके, संक्षेपमें आराधनासार कहा है[1]। इसमे संस्कृत आराधनाका सार है। जो कोई नर-नारी इस आराधना सारको कहता और सुनता है वह भव-समुद्रसे पार हो जाता है। यह आराधना मनुष्योंको ज्ञान प्रदान करती है।[2]

णमोकारफलगीत[3]

णमोकार मन्त्र पंचपरमेष्ठीकी वन्दनासे सम्बन्धित है। प्रस्तुत कृतिमें णमोकार मन्त्रका फल दिया हुआ है। यह एक गीति-काव्य है, उसके प्रत्येक पद्यमें उत्तम भाव उच्छ्वसित हुआ है। भाषामें प्रसादगुण है।

नेमीश्वरगीत

यह गीत जयपुरके प० लूंणकरजीके मन्दिर, गुटका नं० ९६ और वेष्टन नं० ३३८ मे निबद्ध है।

मुक्तावलीगीत

यह गीत, जयपुरके बड़े मन्दिरके गुटका नं० ३६, वेष्टन नं० २४५७ मे प्रस्तुत है।

---

१. श्रीजिनवरवाणी नमेवि गुरु निर्ग्रन्थ पाय प्रणमेवि।
 कहुं आराधना सुविचार संक्षेपि सारोद्धार ॥
 आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति, पहला पद्य।

२. जे भणई सुणइं नरनारि, ते जाइं भवि नेइ पारि।
 श्री सकलकीर्त्ति कह्यु विचार आराधना प्रतिबोधसार ॥
 वही, अन्तिम पद्य।

३. दि० जैन पंचायती मन्दिर बड़ौतके एक गुटकेमें निबद्ध।

१०. श्री पद्मतिलक (वि०की१५वीं शतीका अन्त–१६वीं शतीका आरम्भ)

श्री पद्मतिलककी एक मात्र कृति 'गर्भविचारस्तोत्र' है। उससे ऐसा कुछ प्रकट नही होता, जिसके आधारपर उनका जीवन-वृत्त अथवा गुरु-परम्परा आदिके विषयमे लिखा जा सके। यह कृति उस गुटकेमे निबद्ध है, जो वि० सं० १६२६ मे लिखा गया था,[१] किन्तु 'गर्भविचारस्तोत्र' की भाषासे स्पष्ट है कि उसकी रचना १५वी सदीके अन्त अथवा १६वीके आरम्भमें हुई थी।

गर्भविचारस्तोत्र

इस स्तोत्रमे २८ छन्द है। गर्भवासके दुःखोका वर्णन करनेके कारण ही इसको 'गर्भविचारस्तोत्र' कहते है। यह कोट कागड़ाकी ऋषभ-मूर्तिको लक्ष्य कर लिखा गया है। कोट कागडाके तीर्थंकर ऋषभनाथ दुःख और दुरितोको नष्ट करनेवाले है। उन भगवान्का जाप करनेसे जीवका मन शुद्ध होता है, और वह संसारके भ्रमणसे मुक्त हो जाता है,

"सिरि रिसहेसर पय णमंत्ति, पुर कोटहं मंडण।
कांड़ दुग्गहं पउमंतित्थ दुह दुरिय विहंडण॥
सामी जंपउं किंपि दुरक णिय माणस केरउ।
गरुवा जिणवर किमइ गखि सुह्म मवनउं फेरउ॥[२]"

कविने लिखा है कि मै अनादिकालसे निगोदमे घूमता रहा। वहाँसे निकला तो एकेन्द्रिय – अग्नि, वायु और वनस्पति आदि बना, मनुष्य जन्म न मिल सका,

"आदि अनादि निगोद मांहि बहु कालु भमिउं महं।
सत्तर साढऊसासमज्झि भव पूरिय जिण महं।
खिग्गोदहं णीसरिउ णाह पडियउ एगिंदिहिं।
पुढवि आउ तहं, तेउ वाउ वणसइ दुहुं भेदिहिं॥[३]"

पूर्वजन्मके पुण्य-संयोगसे मनुष्य-भव मिला। किन्तु इसके प्राप्त होनेमें भी जीवको नौ मास तक गर्भके दुःख सहने पड़े। वह नौ मास तक रमणीके नाभि-तलके नीचे पड़ा-पडा दुःख सहता रहा,

---

१. यह गुटका बाबू कामताप्रसादजी जैन, अलीगजके पास है।

२. गर्भविचारस्तोत्र, पहला पद्य, वि० सं० १६२६ के लिखे हुए गुटकेकी हस्तलिखित प्रति।

३. वही, तीसरा पद्य।

"पुव्व पुण्ण संजोगि पुणवि मणुवत्तणु पाविउ ।
विविह दुक्ख णव मास सहइ गब्भिहिं संताविउ ॥
रमणि नामितल्लि नाल कारि दुहुँ पुप्फइ अच्छइ ।
कोसागारिहिं ता मुहेठि पुण जोनि पडिस्थइ ॥[1]"

भगवान् ऋषभदेवके दर्शनोकी महत्ता बताते हुए कविने लिखा है कि हे भगवन् ! तुम्हारे दर्शन करनेसे ऐसा विदित होता है जैसे मुझे चिन्तामणि ही मिल गयी हो, जैसे हमारे आंगनमे कल्पवृक्ष विविध फलोसे फर गया हो, और जैसे हमारे घरमे सुरधेनुका ही अवतार हुआ हो। जिस किसीने भगवान् ऋषभनाथको अपनी भक्तिसे प्रसन्न कर लिया, उसकी सभी मनोवाछित अभिलाषाएँ पूरी हो जाती हैं,

"दंसण तुम्ह विहाण अच्छ चिंतामणि चडियउ ।
सुरतरु अंगण अम्ह अच्छ विविहप्परि फरियउ ॥
सुरहधेणु अंगणिहिं णाह अम्हहं अवयरियउ ।
जइ भेट्यउ सिरि रिसहणाह मणवंछिय सरियउ ॥[2]"

इस काव्यकी भाषामे अपभ्रंश और प्राकृतके प्रयोग अधिक है। फिर भी उसके सौन्दर्यमें कहीपर व्याघात उपस्थित नहीं हुआ है। भाषामे प्रवाह है और भावोमे स्वाभाविकता। उपर्युक्त दृष्टान्तोसे रस उत्पन्न हो सका है।

११. ब्रह्म जिनदास (वि० सं० १५२०)

ब्रह्म जिनदास भट्टारक सकलकीर्त्तिके छोटे भाई और शिष्य थे। वे भी सकलकीर्त्तिके समान ही उत्तमकोटिके विद्वान् थे। उनकी संस्कृत कृतियोंमें 'जम्बूस्वामीचरित्र', 'हरिवंशपुराण' और 'रामचरित्र' का नाम प्रमुख रूपसे लिया जा सकता है। 'जम्बूस्वामीचरित्र' की रचनामे उन्हे अपने शिष्य ब्रह्मचारी धर्मदासके मित्र-कवि महादेवसे सहायता प्राप्त हुई थी। 'धर्मपंचविंशतिका' अथवा 'धर्मविलास' उन्हीकी रचना है।[3]

इनके अतिरिक्त उन्होने 'यशोधररास', आदिनाथरास', 'श्रेणिकरास',

---

१. वही, नौवाँ पद्य।
२. वही, २७वाँ पद्य।
३. जैन ग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रस्तावना, पृष्ठ ११।

'समकितरास', 'करकण्डुरास', 'कर्मविपाकरास', 'श्रीपालरास', 'प्रद्युम्नरास', 'धनपालरास', 'हनुमच्चरित्र' तथा 'व्रतकथाकोष' की रचना की थी।[1] इन सब-की भाषा गुजराती, हिन्दी और राजस्थानीका मिला-जुला रूप है। उनकी बाह्य रूप-रेखाको हिन्दी कहा जा सकता है, जिसपर गुजराती और राजस्थानीका विशेष प्रभाव है।

उनके रचे गये पूजा-ग्रन्थोमे 'जम्बूदीपपूजा', अनन्तव्रतपूजा', 'सार्द्धद्वयदीप-पूजा,' 'चतुर्विंशत्युद्यापनपूजा', 'मेघमालोद्यापनपूजा', 'चतुस्त्रिंशदुत्तरद्वादश-शतोद्यापन' और 'बृहत्सिद्धचक्रपूजा' ज्ञात हो सके है। इनकी भाषा संस्कृत है।[2]

वि० सं० १४८१ मे ब्रह्मजिनदासके अनुरोधसे ही उनके गुरु भट्टारक सकलकीर्त्तिने बडालीमे 'मूलाचारप्रदीप' की रचना की। ब्रह्म जिनदासने स्वयं वि० सं० १५२० मे 'हरिवंशरास' का निर्माण किया। अत उनका समय १५वी शतीका उत्तरार्द्ध और १६वी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। उनकी हिन्दी कृतियोका परिचय इस प्रकार है :

आदिपुराण[3]

इस ग्रन्थमे २१५ पद्य है। रचनामे संस्कृतके आदिपुराणोका सहारा लिया गया है। समाप्त करनेकी शीघ्रतामे 'सम्बन्ध-निर्वाह' ठीकसे नही निभ सका। साथ ही प्रबन्धकाव्यका कोई गुण समुचित रूपसे विकसित नही हुआ है। फिर भी भाषा काव्योपयुक्त है। प्रसादगुणने सौन्दर्य-सृष्टि की है।

कर्मभूमिके उत्पन्न होनेपर, भगवान् ऋषभदेवने षट्कर्मोंकी स्थापना की थी। उन्होने ससारके प्राणियोंको धर्माधर्मका विवेक भी प्रदान किया था। ऐसा करनेमें वे इसलिए समर्थ हो सके कि उन्होने स्वयं भी मुक्तिवधूको प्रत्यक्ष कर लिया था। संसार उनकी जय-जयकार करता था।

---

१. यशोधररास, आदिनाथरास, समकितरास, धनपालरास और व्रतकथाकोष, आमेरशास्त्रभण्डार जयपुरमें, तथा अवशिष्ट रास पचायती मन्दिर, देहलीके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है।

२. इनके नाम विभिन्न गुटकोंमें-से लेकर, श्री परमानन्द शास्त्रीने प्रशस्तिसग्रह, प्रस्तावनामें, पृष्ठ १२ पर, दिये है।

३. श्रीमत् भट्टारक रत्नचन्द्रजीने, सरस्वती गच्छके ब्रह्म प्रेमचन्दसे, सं० १८५६, मगसिर सुदी ३, गाँव श्री मैतवालके मध्य पार्श्वनाथ उपासरेमें, इस काव्यकी प्रतिलिपि करवायी।
देखिए आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति।

ब्रह्म जिनदासने उन भगवान्‌के गुणोंको सद्‌गुरुके प्रसादसे जाना था। भगवान्‌के गुणोंपर रीझकर ही उन्होंने भव-भवमें भगवान्‌की सेवाकी याचना की।[1]

कथाकोषसंग्रह[2]

इस कोषमें छह कृतियाँ संकलित हैं: 'दशलक्षणव्रतकथा, 'निर्दोषसप्तमीव्रतकथा', 'चाँदणषष्ठिव्रतकथा', 'आकाशपचमीव्रतकथा', 'मोक्षसप्तमीव्रतकथा' और 'पंचपरमेष्ठीगुणवर्णन'।

'पंचपरमेष्ठीगुणवर्णन' एक मुक्तक काव्य है। उसका प्रत्येक छन्द, एक पृथक् भावको सहेजकर चला है। उसमें गीतिपरता है, भाव-विभोरता और लय भी। यह पंचपरमेष्ठियोंकी भक्तिसे सम्बन्धित एक उत्तम काव्य है। इस काव्यके सुनने और समझने-मात्रसे ही, जीवके सभी मनोवांछित कार्य पूरे हो जाते हैं, और वह शिवपुरमें पहुँच जाता है। किन्तु सुनते और समझते समय उसका मन निर्मल होना चाहिए।[3]

धनपालरास[4]

इसमें धनपालके चरित्रका वर्णन है। धनपाल भगवान् जिनेन्द्रका भक्त था। स्थान-स्थानपर उसकी भक्तिका उल्लेख हुआ है। कविका विश्वास है कि चौबीस तीर्थंकर और स्वामिनी शारदाको प्रणाम करनेसे मनोवांछित फल उपलब्ध होते हैं।[5]

---

१. षट् कर्म स्वामी थापी पाए, धर्माधर्म वीचार तो,
मुगति रमणी प्रगट कीयो ए, त्रिभुवन जयजयकार तो।
तेह गुण मे जाणों या ए, सदगुरु तणो पमावतो,
भवि भवि स्वामी सेवसु ए, लागु सह गुरु पाय तो।
वही, अन्तिम प्रशस्ति, पंक्ति ११–१४।

२. आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति।

३. पढे गुणे जे साभले, मनि धरी निरमल भाउ।
मन वंछित फलरूवणा, पाये शिवपुर ठाउ॥
पंचपरमेष्ठीगुणवर्णन, अन्तिम पाठ, दूसरा पद्य, आमेरशास्त्रभण्डारवाली प्रति।

४. इस रासकी प्रतिलिपि, पाण्डे रूपचन्दके अध्ययनार्थ, वि० सं० १८०८, श्रावण सुदी १, रविवारको करवायी गयी थी।
आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति।

५. वीर जिनवर नमुं ते सार, तीर्थंकर चौबीसमो।
वंछित फल बहु दान दातार, सारद सामिण वीनवुं॥
धनपालरास, मंगलाचरण।

मिथ्या दुकड़

यह ब्रह्म जिनदासकी एक सफल कृति है। उसमे सादृश्यगत सौन्दर्य है। कवि-ने एक स्थानपर लिखा है, जैसे दिनकरके निकलते ही कमल खिल जाते है, ठीक वैसे ही आदि जिनेश्वरके दर्शनोसे भव्योके मन विकसित हो जाते है। जैसे दिनकरसे अन्धकार फट जाता है, वैसे ही भगवान् मोहको विदीर्ण कर देते है।[1]

भक्त युग-युगसे भगवान्‌के दरवाजेपर जाते रहे है, और वहाँ उन्होने निः-संकोच होकर अपने पापोको कहा है। उन्हे विश्वास था कि दयालु भगवान् अवश्यमेव क्षमा प्रदान करेगे। जैन भक्त भी, त्रिभुवनके नाथ भगवान् जिनेन्द्रके पास गया है,

> "हूँ विनती करूंहवें आपणीय।
> तूं त्रिभुवन स्वामी सुणि भणीय ॥
> जे पाप करया ते कहूँ अनुझ।
> ते मिथ्या दुकड़ होउ नमंझ ॥२॥"

भगवान्‌के अनन्त गुणोका वर्णन करते हुए, उनकी वन्दना करना, एक पुराना रिवाज है। यहाँ भी ऐसा ही एक दोहा है,

> "जिनवर स्वामी मुगति हिं गामी सिद्धि नयर मंडणो।
> भव बंधण खीणो समर सलीणो, ब्रह्म जिनदास पाय वंदणो ॥१॥"

(अन्तिम)

यशोधरचरित्र[2]

इसमे भक्त यशोधरका चरित्र वर्णित है। संस्कृत ग्रन्थोका सहारा लिया गया है। भाषामे प्रसादगुण है। प्रारम्भमे ही कविने मुनिसुव्रतनाथ (२०वें तीर्थकर), शारदादेवी, गौतम गणधर और गुरु सकलकीर्तिको प्रणाम किया है—

> "मुनिसुव्रत जिन मुनिसुव्रत जी नतवुं ते सार।
> तीर्थंकर जे वीसमुं वांछित बहु दान दातार ॥

---

१. आदि जिणेसर भुवि परमेसर सयाल दुक्ख विणासणो।
भुवि कमल दिणेसर मोह तिमिर हर तत्त्व पदारथ भासणो ॥
मिथ्या दुकड, पहला पद्य, आमेरशास्त्रभण्डारकी प्रति।

२. इस काव्यकी प्रतिलिपि, पण्डित रूपचन्दजीके पढनेके लिए, सवत् १८२६ में करवायी गयी थी।
प्रशस्तिसंग्रह, पृ० २४८, जयपुर, १९५० ई०।

सारदा स्वामिणि वलीस्तवुं जिमि बुद्धि सार हुं वेगी मागुं।
गणधर स्वामि नमस्करुं, वली सकल कीरति गुरु भवतार ॥
तास चरण प्रणमीनें, करें सुरासुर सार ॥१॥"

'यशोधरचरित्र'की महिमाका वर्णन करते हुए कविने लिखा है, "गुणोंके भण्डार यशोधरचरित्रको सुनने-मात्रसे ही मिथ्यात्व और राग-मोह दूर हो जाते है, तथा शिवपुर उपलब्ध होता है।

"गुणहतणुं भंडार सुणिइं, जे नर अनुदिन भणें,
हिय मैं धरी बहु भाव, ब्रह्म जिणदास इम परिभणें
तेहने शिवपुरे ठाम ॥"

सम्यक्त्वरास

इसमे भगवान् रामकी कथाके द्वारा सम्यक्त्वकी महिमा बतायी गयी है। रामचन्द्र सुन्दर तो थे ही, दिनकरके समान प्रतापशाली भी थे। वे शास्त्रवेत्ता, महामती, धार्मिक और देवशास्त्र-गुरुके परम भक्त थे। कविने उनकी भक्ति की है।

"जयवंत जय जगि सार सुंदर रामचद्र बखानिये।
लक्ष्मीधर अरु भरत शत्रुघ्न च्यारि पुत्र धरि जाणीइये ॥
कुळ कमल दिनकर सकल शास्त्र सुज्ञानवंत महामती।
देव धर्म्मह गुरु परीक्षण रामचन्द्र क्षतिपती ॥१॥"

श्रेणिकरास[1]

इसमे राजा श्रेणिकका वर्णन है। श्रेणिक मगधका राजा था। उसे बिम्बसार भी कहते है। इसीका पुत्र अजातशत्रु था, जिसे जैन शास्त्रोमे 'कुणिक' कहा गया है। श्रेणिक भगवान् महावीरके मौसा थे। वैशालीके राजा चेटककी एक लड़की त्रिशला, सिद्धार्थ (महावीरके पिता) की पत्नी थी, और दूसरी चेलना, श्रेणिककी रानी। श्रेणिक पहले बौद्धधर्मानुयायी बना और बादमे महावीरका भक्त हो गया। महावीरके समवशरणमे श्रेणिक मुख्य प्रश्न-कर्त्ता था।

कविने इस 'रास'के आरम्भमे ही लिखा है कि मै भगवान् महावीरके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ, और अन्य तीर्थंकरोंकी भी स्तुति करता हूँ, क्योंकि वे 'मनोवाछित'को पूरा करनेवाले है। स्वामिनी शारदापर न्योछावर होता हूँ, वे श्रेष्ठ बुद्धि प्रदान करती हैं,

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति आमेरशास्त्रभण्डारमें मौजूद है।

"वीर जिणवर वीर जिणवर नमुं ते सार,
तीर्थंकर चउवीसमु वांछित बहु दान दातार,
सारदा सामिणि वली तवुं बुद्धिसार हुं वेगि मागुं,
गणधर स्वामी नमस्करुं श्री सकल कीरति भवतार,
श्री भुवनकीरति गुरुमनि धरुं करिसुं रास हुं सार ॥"

१२. मुनि चरित्रसेन (वि० सं० १५वीं शताब्दीका प्रथम या द्वितीय पाद)

मुनि चरित्रसेनकी 'समाधि' नामकी रचना उपलब्ध हुई है।[१] उससे मुनि चरित्रसेनके जीवन और जीवनकालका कोई परिचय नही मिलता। 'समाधि'की भाषासे ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि वह १५वीं शताब्दीके उत्तरार्द्धकी रचना है। भाषामे सम्माइट्ठी, अप्पाणउं, पणासइ, और पाणिउ-जैसे शब्दोंका प्रयोग है। क्रियाओके उकारबहुला होनेसे अपभ्रंशका पुट अधिक मालूम होता है। उसकी वेश-भूषा प्राचीन हिन्दीकी है।

यह रचना समाधि-भक्तिके अन्तर्गत आती है। उसमे "दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरण च बोहिलाहो वि। मम होउ तिजग बन्धव तव जिणवर चरण-सरणेण" वाली भावनाका ही प्राधान्य है। इसका अर्थ है कि समाधिमरण भी भगवान् जिनेन्द्रकी कृपासे मिल पाता है। गणधर गौतमने लिखा है कि यदि भगवान्की कृपासे समाधि मिल जाये तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र समृद्ध होते हैं, जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है,

"गणहर भासिय ए जिय संति समाधी ॥
दंसण णाण चरित्त समिद्धी, संमाधी जिणदेवहं दिट्ठी।
जो करेइ सो सम्माइट्ठी ॥२१॥

'समाधिमरण'के धारण करनेपर आत्मा और पुद्गलके एकत्वकी ही भावना भानी चाहिए। दोनोमे कोई सम्बन्ध नही है। दोनो पृथक्-पृथक् है। यौवन, स्त्री, धन और परिजन सभी अस्थायी हैं, कुछ समय बाद नष्ट हो जायेंगे। अतः हे जीव! धर्ममे आनन्दका अनुभव करो,

---

१. यह कृति, दिल्लीके मसजिद खजूरके जैन पंचायती मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है। यह उस पोथीमें निबद्ध है, जिसमें विनयचन्द्रकी 'निर्झर पंचमीकथा' और 'कल्याणक विधिरास' भी अंकित है।

"अइसउ जाणि जिया वेहत्थ विभिन्ना
पुग्गल कम्मवि अप्पउ भिन्ना ।। सम्माधी० ।।
जोवण धणिय धणु परियणु णासय
जोव हो ! धमु सरीसउ होसइ ।।सम्माधी०।।३६।।"

कविने एक स्थानपर लिखा है कि नेमिनाथके समाधिमरणका स्मरण करो। ऐसा करनेसे अन्तःकरणका समूचा विष नष्ट हो जायेगा। फिर वह अन्तिम दिन शुभ होगा जब मृत्युको भी जीतकर यह जीव शिवलोक प्राप्त करेगा, ऐसी शक्ति-शालिनी समाधिका जो प्रतिदिन ध्यान करता है वह अवश्य ही अजरामर पदको प्राप्त करता है,

"नेमि समाधि सुमरि जिय विसु नासइ।
जिय पर मरकरि पाउ पणासइ ॥
सोहवुं सो दिवसु समाधि मरीजइ।
जम्मण मरणह पाणिउ दीजइ ॥
अइसी समाधि जो अणु-दिणु झावइ।
सो अजरामरु सिव सुह पावइ ॥५०॥"

'समाधि'की भाषामे सरलता है और भावोंमे भक्तिका तारतम्य। स्वाभा-विकताने काव्यको सौन्दर्य प्रदान किया है।

१३. लावण्यसमय (वि० सं० १५२१)

लावण्यसमयका बचपनका नाम लघुराज था। उनके पिताका नाम श्रीधर और माताका नाम झमकल देवी था। उनके तीन भाई थे : वस्तुपाल, जिनदास और मंगलदास। एक बहन थी लीलावती। वे श्रीमाली वणिक् थे। उनके दादा पाटणनगरसे अहमदाबादमे आकर बस गये थे। उनके सबसे बडे पुत्र श्रीधर अजदपुरमे रहते थे। वहाँ ही लघुराजका जन्म हुआ था। उनकी जन्मतिथि पौष बदी ३, सं० १५२१ मानी जाती है।[1]

लघुराजके जन्माक्षरोंपर विचार करते हुए मुनि समयरत्नने उनके पितासे कहा, तुम्हारा पुत्र तपका स्वामी होगा, अथवा वह कोई तीर्थ करेगा। बड़ा यति, महान् विद्वान् और गुरुके वचनोंपर चलकर बहुत बडा वैरागी होगा,

१. विमलप्रबन्ध, पद्य ३०–३६, जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ ७६–७७।

"सुणउ श्रेष्टि होशि तपधणी, कई ए जाशई तीरथ भणी,
कई ए थाशई मोटउ यती, वर विद्या होशई दीपती ॥४०॥"

इस होनहार बालकको तपगच्छपति लक्ष्मीसागरसूरिने, जेठ सुदी दशमी (वि० सं० १५२९) के दिन, पाटणके मध्य, पालणपुरीके अपासरामें, महोत्सवपूर्वक दीक्षा दी और उसका नाम लावण्यसमय रखा। इस प्रकार लावण्यसमयके दीक्षागुरु लक्ष्मीसागरसूरि और विद्यागुरु समयरत्न थे।[1]

कविने स्वयं एक स्थानपर लिखा है कि सोलहवे वर्षमें मुझपर सरस्वती माताकी कृपा हुई, और मुझमें कवित्व शक्तिका जन्म हुआ। जिससे मैं छन्द, कवित्त, चौपई, रास और अनेक प्रकारके गीत तथा राग-रागिनियोंकी रचना कर सका।[2] सिद्धान्त चौपई इन्हीका एक प्रसिद्ध काव्य है। नन्दबत्तीसीकी रचना भी इन्होंने ही की थी।

लावण्यसमयकी ख्याति चतुर्दिक्में व्याप्त हो गयी थी। बडे बडे मन्त्री, राजा-महाराजा, सरदार और सामन्त, उनके चरणोंमे झुकते थे। वि० सं० १५५५ में उनको पण्डित पद मिला। वे अनेक देश-विदेशोंमें विचरण कर उपदेश देते थे। एक बार विहार करते-करते सोरठ देशमे आये और गिरिनारपर ठहरे। उन्होने अनहिलवाड़ पाटणके पास मालसमुद्र नामके गाँवमे चातुर्मास किया। उस समय उन्होंने वि० सं० १५६८ मे 'विमलरास'की रचना पूर्ण की।[3] वि० सं० १५८९ में उनका स्वर्गवास हो गया।[4]

'सिद्धान्त चौपई'के आदिमे ही कविने लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्रके पैरोंमे

---

१ गुरुवचने वईरागी थयु, मात तात पय लागी रहिउ,
जेठ सुदी दिन दसमी तणउ, ऊगणत्रीसई उच्छव घणउ।
पाटणि पाल्हणपुरी पोसाल, जग हुई चउपट चुमाल,
दिई दीक्षा अति आणंदपूरि, गच्छपति लषिमीसागरसूरि।
संघ सजन सहू साषी समई, नाम ठविउं मुनि लावण्यसमई,
नवमइ वरष दीषवर लीध, समयरत्न गुरु विद्या दीध।
वही, पद्य ४१-४३, पृ० ७७।

२. सरसति मात मया तव लही, बरस सोलमई वाणी हुई,
रचिआ रास सुंदर संबंध, छंद कवित्त चउपइ प्रबंध।
विविध गीत बहु करिआ विवाद, रचीआ दीप सरस संवाद,
वही, पद्य ४४-४५, पृ० ७७।

३. वही, पद्य ४५-४६, पृ० ७८।

४. जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृ० ७०, पादटिप्पणी।

नमस्कार करनेसे अपार हर्ष होता है। सद्गुरुके प्रसादसे मुझे देवी सरस्वतीकी प्राप्ति हुई है। मैं भगवान् महावीरके गुणोको गाता हूँ, जिन्हें सुनकर ही जीव शिवपुरी प्राप्त कर लेता है।[1]

लावण्यसमयकी अन्य रचनाओमे, 'स्थूलिभद्र एकवीसो'–वि० सं० १५५३, 'गौतमपृच्छा चउपई'–वि० सं० १५५४, 'आलोयण विनती'–वि० सं० १५६२, 'नेमिनाथ हमचडी'–वि० स० १५६२, 'सेरीसा पार्श्वनाथस्तवन'–वि० सं० १५६२, 'वैराग्यविनती'–वि० सं० १५६२, 'विमलप्रबन्ध'–वि० सं० १५६८, 'अन्तरिक्ष पार्श्व जिनछन्द'–वि० सं० १५८५, 'सुमति साधु विवाहलो', 'यशोभद्र-रास' 'रंगरत्नाकर नेमिनाथप्रबन्ध', 'पार्श्वजिनस्तवनप्रभाती' और 'चतुर्विंशति-जिनस्तवन', भक्तिपरक कृतियाँ है।[2]

प्रायः इनके प्रारम्भमे सरस्वतीकी वन्दना की गयी है। 'नेमिनाथ हमचडी'-के प्रारम्भमे लिखा है, 'सरसवचन दीयो सरस्वतीरे गायस्युं नेमिकुमारो, सामलवरण सोहामणो, ते राजोमती भरतारो रे हमचडी।' 'अन्तरिक्ष पार्श्व-जिनछन्द' मे भी 'सरसवचनयो सरसती मात, बोलीस आदि जस वीख्यात' लिखकर सरस्वतीसे याचना की गयी है। 'सुमति साधु विवाहलो' मे लिखा है, 'सरसति सामिणि दिउ मतिदान मझ मनि अति उमाहलउ ए।' 'रंगरत्नाकर नेमिनाथ प्रबन्ध' मे कई पद्योमे सरस्वतीके गीत गाये गये है,

"तुझ तनु सोहई उज्ज्वल कंति, पूनिम ससिहर परिझलकंती,
पय घमघम घुग्घर घमकंती, हंसगमणि चालइ चमकंती ॥४॥
चालइ चमकंती, जगि जयवंती, वीणापुस्तक पवर धरई,
करि कमल कमंडल काजे कुंडल रविमंडल परिकंती करई ॥५॥
सारद सार दयापर देवी, तुझ पय कमल विमल वंदेवि,
मागुं सुमति सदा तई देवी, दुरमति दूरिथिकी निंदेवि ॥२॥"

'पार्श्वजिनस्तवन प्रभाती' मे, भगवान् पार्श्वनाथकी विनती करते हुए कविने लिखा है,

---

१. सकल जिणंदह पाय नमुं, हिअउई हरष अपार,
अक्षर जेई बोलिसिउं, साचउ समय विचार।
सेविअ सरसति सामिणी, पामिअ सुगुरु पसाउ,
सुणि भवीअण जब वीरजिण, पामिअ शिवपुर हाउ ॥१-२॥
जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृ० ६६।

२. जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ ७१-८८।

"वामानंदन जिनवर पास, तुतो त्रिभोवन लील विलास ।
विनति छोडि भवपाश, हुं छुं देव तुमारो दास ॥१॥

ऋषभदेवकी वन्दना करते हुए, 'चतुर्विंशतिजिनस्तवन'के प्रारम्भमे ही लिखा है,

"कनक तिलक भाले हार हीइँ निहाले,
ऋषभपय पखाले पापना पंक टाले।
भर जिनवर माले फूटरे फूल माले,
नरभव अजुआले राग निइँ रोस टाले ॥१॥"

'वैराग्य विनती' मे भी भगवान् ऋषभदेवकी ही विनती की गयी है। भगवान् भवसे तारनेवाले और सुखके कारण है,

"जय पढम जिणेसर अति अलवेसर, आदीश्वर त्रिभुवनधणीय,
शत्रुंजय सुखकारण सुणि भवतारण वीनतडी सेवक भणीय ॥१॥"

१४. सवेगसुन्दर उपाध्याय (वि० स० १५४८)

संवेगसुन्दर उपाध्याय, बडतपगच्छके जयसुन्दरसूरिके शिष्य थे। उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार थी : जयशेखरसूरि, जिनसुन्दरसूरि, जिनरत्नसूरि और जयसुन्दरसूरि[1]। उनका समय वि० सं० १५४८ के आस-पास माना जाता है। उन्होंने 'सारसिखामनरास'की रचना वि० सं० १५४८ मे की थी।[2]

सारसिखामनरास

इस रासमे २५० पद्य है। उनमे जैनधर्म-सम्बन्धी अनेक शिक्षाओका उल्लेख हुआ है। इसकी भाषापर गुजरातीका प्रभाव है।

पार्श्वप्रभुकी वन्दना करते हुए कविने लिखा है कि मै तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथके पैरोमे, एकचित्त होकर प्रणाम करता हूँ। मुझे यह एकचित्तता गुरुके प्रसादसे मिली है।[3]

---

१. जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ ६७, पद्य २३३-२३४।

२. पनरसइं अडतालइं संवत्सरि, मगसिरि सुदि दसमी गुरु मानुष्यपुरि,
नितु नितु मगल जयकरुए।
वही, पृष्ठ ६७, पद्य २३५।
जयपुरके बडे मन्दिरमें, सारसिखामनरासकी जो प्रति है, उसपर भी रचनाकाल १५४८ वि० सं० ही अंकित है।

३. त्रेवीसमा श्री पासनाह प्रभु केरा पाय ,
हु प्रणमुं एकचित्त थई लही सुगुरु पसाय ॥१॥

देवी सरस्वतीसे वरदान माँगते हुए कविने कहा, "हे माता सरस्वती ! मैं आपसे एक वचन माँगता हूँ कि जो कविराज मुझसे पहले हुए हैं, मेरा मन उनके चरणोंमें लगा रहे।"[1]

उपाध्यायजीने नवकार मन्त्र और चौदह पूर्वोंके प्रति भक्तिका प्रदर्शन करते हुए लिखा है, मैं णमोकार मन्त्र और चौदह पूर्वोंका ध्यान करता हूँ। उनकी महिमा अपार है, एक जिह्वासे वर्णन करते हुए पार नही पाया जा सकता।[2]

श्रुतभक्तिसे अनुप्राणित होकर उन्होंने लिखा है, जो कोई इस काव्यको हृदयमे धारण करता है, उसके सब पाप धुल जाते है, और अत्यधिक सुख प्राप्त होता है। वह दु.खसागरसे पार हो जाता है। उसे अविचल शिवसुख मिलता है।[3]

श्री संवेगसुन्दरने अपने गुरु जयसुन्दरकी भी आराधना की है। उनके गुरु निर्मल यशके धारण करनेवाले थे।[4]

१५. ईश्वरसूरि (वि० सं० १५६१)

ईश्वरसूरि सण्डेरगच्छके श्रीशान्तिसूरिके शिष्य थे। उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है : यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि और शान्तिसूरि। शान्तिसूरिका समय १५५० वि० सं० के आस-पास माना जाता है। इसी समय उन्होंने 'सागरदत्तरास'की रचना की थी। यही ईश्वरसूरिका भी समय है। उन्होंने वि० सं० १५६१ मे ललितागचरित्रकी रचना की। ईश्वरसूरिने वि० सं० १५९७ मे, नाडलाईके मन्दिरमे, आदिनाथकी प्राचीन प्रतिमाका उद्धार कर, उसे पुनः प्रति-

---

१. माता सरसति देवि कन्हई एक सुवचन मागुं,
जे कविराज आगई हूआए तेह चरणे लागुं ॥२॥

२. ध्याऊँ श्री नवकार मंत्र चउद पुरव सार,
वर्णवता एक जीभडीए न लहीजई पार ॥३॥

३. "एक मना जे हिय धरीसई, भवना सईना पातिग धोसई,
होसई सुख तेह अति घणूंए।
ए हितसिष्या नितु हईइ धरस्यई, दुखसागर ते निश्चय तरस्यई
शिव सुख अविचल पामस्यइ ॥२३६-२३७॥

४. यश कीरति जेह निरमल ए जयसुंदर जेह
संवेगनिधि गुरु गणहरुए आराधुं तेह ॥४॥

छित किया था। इस प्रतिमाको, श्री यशोभद्रसूरि, मन्त्रशक्तिके बलसे वि० सं० ९९४ में लाये थे।[1]

ईश्वरसूरिका दूसरा नाम देवसुन्दर भी था। उन्होंने 'जीवविचारप्रकरण-विवरण', 'ललितांगचरित्र', 'श्रीपाल चौपई', 'सटीक षट्भाषास्तोत्र', 'नन्दिषेण मुनिके छह गीत', 'यशोभद्रप्रबन्ध' और 'सुमतिचरित्र'का निर्माण किया। इनमें 'ललितागचरित्र'का दूसरा नाम 'रासकचूडामणि' और 'यशोभद्रप्रबन्ध'का दूसरा नाम 'फाल्गुचिन्तामणि' भी है। 'सुमतिचरित्र'की रचना वि० सं० १५८१ में दीवालीके दिन, नाडलाईके मन्दिरमें हुई थी। उसकी भाषा संस्कृत है।[2] 'ललितांगचरित्र' हिन्दी भाषाका काव्य है।

ललितांगचरित्र

इसमें नृप ललितांगका चरित्र वर्णित है। ललितांग भगवान् जिनेन्द्रका परम भक्त था। अतः इस काव्यका मूल स्वर भक्तिसे ही सम्बन्धित है। इसकी भाषा हिन्दी है; जिसमें प्राकृत और अपभ्रंशके शब्दोंका प्रयोग अधिक हुआ है। उसपर गुजरातीका भी प्रभाव है। ईश्वरसूरिके गुरु शान्तिसूरिके 'सागरदत्त चरित्र'में भी प्राकृत, अपभ्रंश और गुजरातीका मिश्रण है।

इस काव्यमें सोलह प्रकारके छन्दोंका प्रयोग हुआ है। वे छन्द इस प्रकार है: गाथा, दूहा, रासाटक, पद्पद, कुण्डलिया, रसाउल्ला, वस्तु, इन्द्रवज्रोपेन्द्र-वज्रा, अडिल्ल, मडिल्ल, काव्यार्धबोली, अडिल्लार्धबोली, सूडबोली, वर्णनबोली, यमकबोली, छप्पय और सोरठी। इस भाँति यह काव्य विविध छन्दोंमें तो निबद्ध है ही, श्रेष्ठ अलकार और सरस गुणोंसे भी संयुक्त है। कविने स्वयं इसके काव्य-सौन्दर्यकी प्रशंसा करते हुए लिखा है,

> "सालंकारसमत्थं सच्छन्दं सरससुगुणसंजुत्तं।
> ललियंगकुमरचरियं ललणालक्षियव्व निसुणेह ॥४॥"[3]

पं० नाथूराम प्रेमीने भी इसके बाह्य और अन्तः दोनों ही प्रकारके सौन्दर्यकी प्रशंसा की है।[4]

---

१. प्राचीन जैनलेखसंग्रह, मुनि जिनविजयजी सम्पादित, द्वितीय भाग, ३३६वाँ लेख।
२. जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ १०७।
३. जैनगुर्जरकविओ, तीजो भाग, पृष्ठ ५३२।
४. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ३४।

भगवान् पार्श्वप्रभुके पूर्वभवका नाम ललितांग था। उन्होंने जिनेन्द्रकी भक्तिसे ही तीर्थंकर पद प्राप्त किया था। अतः यह चरित्र, पार्श्वप्रभुके ही पूर्वभवका चरित्र है। इसी कारण कविने इसको 'पुण्य चरित्र' कहा है,

"इय पुण्यचरिय प्रबंध, ललिअंग नृपसंबंध।
पहु पास चरियह चित्त, उद्धरिय एह चरित्त।।७३।।"

श्री ईश्वरसूरिने, मालवाके राजा नसीरुद्दीन (१४९८-१५१२ ई०) के प्रधान मन्त्री श्रीपुंज (श्रीमाली वंश) की प्रार्थनासे, इस ललित काव्यका निर्माण, वि० सं० १५६१ मे किया था।[1]

कविने 'ललितांगचरित्र'के प्रारम्भमे ही आदिप्रभु ऋषभदेव और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथको नमस्कार करते हुए लिखा है,

"पढम पढम जिणंदं, पढम निवं पढम धम्म धुर धरणे।
वसह वसह जिणेस, नमामि सुरनामिय पयदेवं ।। १ ।।
सिरि आससेण नरवर, विशालकुल ममर भोगिंदा।
भोगिंद सहिय पासो, दिसउ सिरि तुम्ह पहु पासो ।। २ ।।"

१६. चतरुमल (वि० सं० १५७१)

कवि चतरुमलका जन्म श्रीमालवंशमे हुआ था। उनके पिताका नाम जसवन्त था। वे बड़े ही धर्मात्मा और सदाचारी व्यक्ति थे। उनके घर पुत्र-जन्म हुआ, जिसका नाम चतरु रखा गया। चतरु ज्यो-ज्यों बढने लगा, उसमें जैनधर्मकी निष्ठा भी बढती गयी। जैन पुराणोंके अध्ययनसे, उनका मन नेमीश्वरके चरित्रमें विशेष रूपसे रमा।[2] उन्होंने वि० सं० १५७१ मे नेमीश्वरगीतकी रचना की।[3]

कवि चतरुमल 'गढ़ गोपाचलु' अर्थात् ग्वालियरके रहनेवाले थे। उस समय

---

१. जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ १०५।

२. श्रावग सिरीमल अरु जसवन्त, निहचै जिय धर्म धरंत।
चरु चलन भवि वंदतौ, पुत्र एक ताकें घर भयौ।
जनमत नाउ चतुरु तिन लियो, जैनधर्म दिठु जीयहु धरौ।
नेमि चरित ताकें मन रहै, मुनि पुरान उर गानो कहै ।। १ ।।
आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति। यह प्रति १८२० वि० सं० की है। इसमें ४४ पद्य हैं।

३. वही, पद्य २।

महाराजा मानसिंह ग्वालियरके राजा थे। कविने महाराजाके विषयमें लिखा है कि महाराज मानसिंहका धैर्य, भुजबल और साहस जग-प्रसिद्ध था। उसके राज्यमें सब सुखी थे, और राजाके समान ही प्रजा भी सुखोंका उपभोग करती थी। उनके राज्यमें जैनधर्मका भी बहुत प्रकारसे प्रसार हो रहा था। प्रत्येक श्रावक प्रतिदिन, छह आवश्यक कर्मोंका अनिवार्य रूपसे सम्पादन करता था। कवि चतरुमल भी, जैन-धर्ममें निष्ठा रखते हुए भगवान् नेमीश्वरके गीत गाते थे।[1]

नेमीश्वर गीत

यह एक छोटा-सा गीत है। इस गीतका सम्बन्ध भगवान् नेमीश्वर और राजुलके प्रसिद्ध कथानकसे है। प्रारम्भमें ही कविने, अपने भक्ति-पूर्ण भावोंको प्रकट करते हुए, लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्रको नमस्कार करनेवाला जीव भव-समुद्रसे पार हो जाता है, पंचगुरुओंको प्रणाम करनेसे मुक्ति मिलती है, शारदाको मनानेसे अपार बुद्धि उपजती है, और जादौराय भगवान् नेमीश्वरके गीत गानेसे गुरु गौतम प्रसन्न होते हैं।[2]

अन्तमें भी लिखा है कि इस गीतको पढने और सुननेसे ज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्येक जीवका कर्त्तव्य है कि मनको निश्चय करके नेमीश्वरकी भक्ति-में लगाये,

> "पढत सुनत जो उपज्यै ग्यान,
> मन निहचल करि जिय धरहु।
> राजमती जिन संजमु लियौ,
> नेमी कुंवर नेमी सयल मवी नयौ।
> नेमि कुंवर नेमि जिन वंदि है॥"

---

१. नेमि....देसु सुख सयल निधान, गढ गोपाचलु उत्तिम ठान।
एक सोवनका लंका जसि, तौ वरु राउ सबल वरवीर।
भुव बल आयु जु साहस धीर, मानसिंह जग जानिये।
ताके राज सुखी सब लोगु, राज समान करहिं दिन भोगु।
जैनधर्म बहु विधि चलै, श्रावग दिन जु करै षटकर्म।
निहचै चितु लावैहि जिनधर्म, नेमि कुंवर नेमि जिन वंदि है।
नेमीश्वरगीत, पद्य १।

२. प्रथम चलन जिन स्वामि जुहारु, ज्यो भव सायरु पावहि पार।
लहइ मुकति दुति दुति तिरै, पंच परम गुरु त्रिभुवन सारु॥
सुमिरत उपजै बुद्धि अपारु, सारद मनाविउ तोहि।
गुरु गौतम मो दिउं पसीउ जौ गुन गाउ जादुराइ॥

१७. भट्टारक ज्ञानभूषण (वि० सं० १५७२)

ज्ञानभूषण नामके चार भट्टारक हुए है। चारों ही मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगणसे सम्बन्धित थे, किन्तु उनकी शाखाएँ भिन्न-भिन्न थी। प्रथम ज्ञानभूषण ईडर शाखाके भट्टारक सकलकीर्त्तिके प्रशिष्य और भुवनकीर्त्तिके शिष्य थे[१]। 'जैन धातुप्रतिमा-लेखसंग्रह' से प्रकट है कि वे सागबाडे (बागड) की गद्दीपर वि० स० १५३२ से १५५७ तक आसीन रहे। तदुपरान्त अपने शिष्य विजयकीर्त्तिको भट्टारकीय पदपर प्रतिष्ठित कर स्वयं अध्यात्मरसमे मग्न रहने लगे[२]। वे गुजरातके रहनेवाले थे। उनकी ख्याति चतुर्दिक्मे व्याप्त थी। उन्होने केवल मन्दिरोका निर्माण, मूर्त्तियोंकी प्रतिष्ठा और विविध तीर्थक्षेत्रोंकी यात्राएँ ही नही की, अपितु विभिन्न देशोकी जनताको आध्यात्मिक रसका पान भी कराया। वे व्याकरण, छन्द, अलंकार, साहित्य, तर्क और अध्यात्म आदि शास्त्र-रूपी कमलोंपर विहार करनेके लिए राजहंस थे और शुद्ध ध्यानामृतकी उन्हे लालसा थी[३]। 'परमार्थोपदेश', 'आत्मसम्बोधन' और 'तत्त्वज्ञानतरंगिणी' उनकी विद्वत्ताके द्योतक है। गुजराती उनकी मातृभाषा थी। उन्होने हिन्दीमे 'आदीश्वर-फागु' की रचना की थी।

दूसरे ज्ञानभूषण वे थे, जिनका सम्बन्ध सूरत शाखासे था। उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार मानी जाती है देवेन्द्रकीर्त्ति (वि० सं० १४९३), विद्या-नन्दि (१४९९-१५३७), मल्लिभूषण (१५४४-१५५५), लक्ष्मीचन्द (१५५६-१५८२), वीरचन्द (१५८३-१६००)। ज्ञानभूषण वीरचन्दके शिष्य थे। उनके पश्चात् ज्ञानभूषण ही भट्टारक बने और वि० सं० १६०० से १६१६ तक भट्टारक पदपर प्रतिष्ठित रहे[४]। उन्होने 'जीवन्धररास', 'सिद्धान्तसारभाष्य', 'कम्मपयडी टीका' और 'पोषह रासका' निर्माण किया था[५]।

---

१. संवत् १५४२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ शनो श्रीमूलसंघे········॥
सकलकीर्त्ति तत्पट्टे भ० श्री भुवनकीर्त्ति तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषण
गुरूपदेशात् जागडा पोरवाड ज्ञातीय स० वाजु मनोजु ·····॥
अनेकान्त, वर्ष ४, पृ० ५०२।

२. श्री बुद्धिसागरसूरि, जैन धातुप्रतिमा-लेखसंग्रह, प्रथम भाग, ५६७, ६७२ और १५०६ प्रतिमा लेख।

३. नन्दिसंघ पट्टावली, जैनसिद्धान्तभास्कर, चौथी किरण, पृ० ४३-४५।

४. भट्टारक सम्प्रदाय, जोहरापुरकर सम्पादित, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, वि० सं० २०१४, पृ० १६३-१६७।

५. श्री परमानन्द शास्त्री, पोषहरास और भट्टारक ज्ञानभूषण, अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ४-५, पृ० ११८।

तीसरे ज्ञानभूषण अटेरशाखाके अन्तर्गत हुए हैं। इस शाखाका प्रारम्भ भट्टारक सिंहकीत्तिसे हुआ था। उन्होंने अनेक मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा करायी थी। उनका समय वि० सं० १५२० सिद्ध है[१]। उनके बाद धर्मकीर्ति और तत्पश्चात् शीलभूषण भट्टारक हुए। ज्ञानभूषण शीलभूषणके अनेक शिष्योंमें प्रमुख थे, अतः उनके उपरान्त ज्ञानभूषण ही भट्टारक बने। 'ज्योतिप्रकाश' के एक उल्लेखसे पता चलता है कि उन्होंने चिरकालसे लुप्त हुए जैन तिथि-पत्रकी पद्धतिको प्रकट किया था[२]। वे १७वीं शती (विक्रम) के द्वितीय पादमें हुए थे।

चौथे ज्ञानभूषण नागौर शाखाके भट्टारक रत्नकीत्ति (द्वितीय) के पश्चात् भट्टारक पदपर प्रतिष्ठित हुए थे। रत्नकीर्त्तिका समय वि० सं० १७४५ से १७६६ तक माना जाता है, अतः ज्ञानभूषणका समय इसके उपरान्त ही माना जा सकता है[३]। उन्होंने कतिपय मूर्त्तियोंकी प्रतिष्ठाके अतिरिक्त कोई साहित्यिक कार्य नहीं किया।

यहाँ सम्बन्ध प्रथम ज्ञानभूषणसे है, जिन्होंने हिन्दीमें 'आदीश्वर फागु'[४] की रचना की थी। इनके पूर्व जिनपद्मसूरिका 'थूलिभद्दफागु' और राजेश्वरसूरिका 'नेमिनाथफागु' बन चुके थे। 'फागु' एक प्रकारका लोकगीत है। यह प्रायः बसन्तमें गाया जाता था। आगे चलकर उसका प्रयोग किसीके भी आनन्द-वर्णन और सौन्दर्य-निरूपणमें होने लगा। जैन हिन्दी कवियोंने भगवान् जिनेन्द्रकी

१. सं० १५२० वर्षे आषाढ सुदी ७ गुरौ श्री मूलसंघे भ० श्री जिनचन्द्र तत्पट्टे भ० श्री सिंहकीर्ति लंबकंचुकान्वये अउली वास्तव्ये साहु श्री दिपौ भार्या इंदा······ इष्टिकापथ प्रतिष्ठितं ॥

जैनसिद्धान्तभास्करमें प्रकाशित प्रतिमालेख-संग्रह, पृ० १३। भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ३०३।

२. श्रीजैनदृष्टितिथिपत्रमिह प्रणष्टं
स्पष्टीचकार भगवान् करुणाधुरीणः।
बालावबोधविधिना विनय प्रपद्य
श्रीज्ञानभूषण गणेशमभिष्टुमस्तम् ॥

भट्टारक सम्प्रदाय, लेखांक ३१६।

३. नागौरके पट्टाधीशोंकी प्रकाशित नामावली, जैनसिद्धान्तभास्कर १, पृ० ८०, भट्टारक सम्प्रदाय, पाद टिप्पण ५३।

४. इसकी एक हस्तलिखित प्रति (वि० सं० १६३४), आमेरशास्त्रभण्डार जयपुरमें क्रमसंख्या १५ पर मौजूद है। यह मालपुरामें पाण्डे श्री डूंगाकी प्रेरणासे लिखी गयी थी।

महिमाके अर्थमें 'फागु'का प्रयोग किया है। बनारसीदास आदि कवियोंने 'अध्यात्म फागुओं' की भी रचना की।

'आदीश्वरफागु' में संस्कृत पद्य और फिर उन्हींका भाव हिन्दी पद्यमें दिया गया है। इसमें भगवान् आदीश्वरका समूचा जीवनवृत्त वर्णित हुआ है। प्रत्येक तीर्थंकरका जीवन पंचकल्याणकोंमें विभक्त है और इसी रूपमें उपस्थित करनेकी परम्परा पहलेसे चली आ रही थी। 'आदीश्वरफागु' भी इसी शैलीमें लिखा गया है। इसकी रचना वि० सं० १५५१ में हुई थी।[1] इसमें ५९१ पद्य हैं।

समूचे हिन्दी साहित्यमें सूरदासका बालवर्णन प्रसिद्ध है। उन्होंने बालक कृष्णकी अनेक मनोदशाओंका चित्रण किया है। सच यह है कि वे इस क्षेत्रमें अकेले नहीं थे। मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियोंने तीर्थंकरके गर्भ और जन्मसे सम्बन्धित अनेक मनोरम चित्रोंका अंकन किया है। इन अवसरोंपर होनेवाले विविध उत्सवोंकी छटाको सूरदास छू भी न सके हैं। यह जैन कवियोंकी अपनी शैली थी, जो उन्हें अपनी पूर्व परम्परासे ही उपलब्ध हुई थी।

इस कृतिमें आदीश्वरके जन्मोत्सव-सम्बन्धी अनेक दृश्य हैं, जिन्हें कविने चित्रवत् ही उपस्थित किया है। जन्मके पश्चात् तत्काल ही इन्द्र बालक-आदीश्वर-को पाण्डुक शिलापर स्नान करानेके लिए ले गया। देवगण क्षीर-समुद्रसे रत्न-जटित स्वर्ण-कलशोंमें जल भर-भरकर लाने लगे। उस समय विभिन्न बाजोंसे विविध ध्वनियाँ प्रस्फुटित हो उठीं। उनके लिए उपयुक्त शब्दोंका चुनाव कवि-सामर्थ्यका द्योतक है,

> "आहे रतन जडित अति मोटाउ मोटाउ लीघउ कुंभ,
> क्षीर समुद्र शकूं पूरीय पूरीय आणीयूं अंभ ॥८१॥
> आहे द्रुमि द्रुमि तबलीय वज्जइ घ्रमि घ्रमि मछल नाद
> टणण टणण टंकारव झिणि झिणि झल्लर साद ॥८३॥"

आदीश्वरकी माँने उसे मोतियोंका एक मोटा-सा हार पहना दिया है। उससे बालकका सौन्दर्य बढा नहीं। वह एक बोझा-मात्र बनकर रह गया। किन्तु बेचारी माँ अपने दिलको क्या करे। वह अपने पुत्रको विविध आभूषणोंसे सजाना ही चाहती है। वह सोचती है कि बालकका स्वाभाविक सौन्दर्य इससे और भी बढ़ जायेगा। माँकी यह अतृप्ति भी कितनी स्वाभाविक है।

---

१. आहे एकाणउ अधिका शत पंचस लोक प्रमाण।
सूधउ मणिसिइं लिखिसिइं ते नर अतिहिं सुजाण ॥
आदीश्वर फागु, आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति, २६२वाँ पद्य।

"आहे कोटइ मोटा मोतीयनु पहिराव्यु हार।
पहिरीयां भूषण रंगिन अंगि लगा रज भार ॥४८॥"

कविने बालकके प्राकृतिक सौन्दर्यको विविध उपमानोंके द्वारा अंकित किया है। उसका मुख पूर्णमासीके चन्द्रके समान है। अनुपम है। संसारके किसी पदार्थसे उसकी तुलना नही की जा सकती। उसके हाथ कल्पवृक्षकी शाखके समान है और वे घुटनो तक लम्बे है, अर्थात् उस बालकके महापुरुष होनेकी सूचना देते है,

"आहे मुख जिसु पूनिम चंद नरिंदन मित पद पीठ।
त्रिभुवन भवन मझारि सरीखउ कोई न दीठ ॥
आहे कर सुरतरु वर शाख समान सजानु प्रमाण।
तेह सरीखउ लहकही भूप सरूपहिं जांणि ॥१४४,१४६॥"

काव्य-सौन्दर्य कविकी कल्पनापर निर्भर करता है। वह जितनी उर्वरा होगी, सौन्दर्य उतना ही अधिक होगा। यहाँ उसकी कमी नही है। बालकके नेत्र कमल-दलके समान है, अर्थात् कमलके पत्तो-जैसे दीर्घायित और सुन्दर है। बालकको वाणीमे कोमलता है। बालक केवल बाह्य सौन्दर्यमे ही नही, अपितु आन्तरिक गुणोसे भी युक्त है। उसमे समूचे गुण इस भाँति भरे हुए है, जैसे मानो शरद्कालीन सरोवरमे निर्मल नीर भरा हो,

"आहे नयन कमल दल सम किल कोमल बोलइ वाणी।
शरद सरोवर निरमल सकल अकल गुण खानि ॥१४५॥"

इसी भाँति कविने भगवान्के निरन्तर बढनेका वर्णन किया है। आदीश्वर दिन-दिन इस भाँति बढ रहे है, जैसे द्वितीयाका चन्द्र प्रतिदिन विकसित होता जाता है। उनमे शनैः-शनैः ऋद्धि, बुद्धि और पवित्रता प्रस्फुटित होती जा रही है, जैसे समाधिलतापर कुन्दके फूल खिल रहे हो,

"आहे दिन-दिन बालक बाधइ बीज तणु जिम चन्द।
रिद्धि विबुद्धि विशुद्धि समाधिलता कुल कुंद ॥९२॥"

यौवन आनेपर आदीश्वर सम्राट् बने। एक दिन उनके दरबारमे नीलाजना नामकी नर्त्तकी नृत्य करते-करते ही दिवंगत हो गयी। सम्राट्के हृदयमे वैराग्यका भाव उदय हुआ। वे सोचने लगे, आयु कमल-दलके समान चचल है तथा यौवन और धन करतलके नीरको भाँति अस्थिर है। पुत्र, कलत्र और सुमित्रसे मोह होता है, किन्तु विचार तो यह करना है कि मरते समय कौन साथ देता है,

"आहे आयु कमल दल सम चंचल चपल शरीर।
यौवन धन इव अथिर करम जिम करतल नीर ॥१६६॥"

"आहे पुत्र कलत्र सुमित्र तणीय घणीय छइ आथि।
तेह मंझारि विचारि कहु कुण आवइ साथि ॥१८०॥"

उनका कथन है कि आत्माके बिना यह शरीर किसी काम नहीं आता, जैसे सुगन्धके बिना पुष्प निरर्थक ही है :

"आहे कुसुम असम परिमल लीमधउ कहु केहउ सार।
आतम नइ नहीं लाभ शरीरि न पुष्ट लगार ॥१८६॥"

अनेक जैन कवि ऐसे हुए है, जो एक ओर संस्कृत एवं प्राकृतके विशिष्ट विद्वान् थे, अर्थात् सिद्धान्त और तर्कशास्त्रके पारगामी तैराक थे, तो दूसरी ओर सहृदय भी कम न थे। उनका काव्य उनकी सहृदयताका प्रतीक ही है। कवि ज्ञानभूषणकी गणना ऐसे ही कवियोमे की जाती है।

१८. भट्टारक शुभचन्द्र (वि० स० १५७३)

भट्टारक शुभचन्द्र पद्मनन्दिकी परम्परामे हुए है। उनका क्रम इस प्रकार है : पद्मनन्दि, सकलकीर्त्ति, भुवनकीर्त्ति, ज्ञानभूषण, विजयकीर्त्ति और शुभचन्द्र[1]। इस भाँति ये ज्ञानभूषणके प्रशिष्य और विजयकीर्त्तिके शिष्य थे। इन्होंने भट्टारक श्री ज्ञानभूषणकी प्रेरणासे ही वादिराजसूरिके पार्श्वनाथ काव्यकी पंजिका टीका लिखी थी।

भट्टारक शुभचन्द्रका समय सोलहवी शताब्दीका उत्तरार्द्ध और सतरहवीं-का पूर्वार्द्ध माना जाता है। उन्होंने म० १५७३ मे आचार्य अमृतचन्द्रके समयसार कलशोपर अध्यात्मतरंगिणी नामकी टीका लिखी थी, और सं० १६१३ मे वर्णी क्षेमचन्द्रकी प्रार्थनासे 'स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा' की संस्कृत टीका की। अत. उनका रचना-काल तो निश्चय रूपसे वि० सं० १५७३ से १६१३ तक माना ही जा सकता है। उनके जन्म और मृत्युके विषयमे कुछ भी ज्ञात नही हो सका।

भट्टारक शुभचन्द्र अपने समयके गण्यमान्य विद्वान् थे। उनका संस्कृत भाषा-पर अधिकार था। उन्हे 'त्रिविधिविद्याधर' और 'षट्भाषाकविचक्रवर्त्ती' की पदवियाँ मिली हुई थी[2]। न्याय, व्याकरण, सिद्धान्त, छन्द, अलंकार आदि विषयोमे उनकी विद्वत्ता अप्रतिम थी।

---

१. पाण्डवपुराणप्रशस्ति, अन्त भाग, श्लोक १६७-१७१, जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६-५० ।

२. प० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८३ ।

भट्टारक शुभचन्द्रने 'पाण्डवपुराण'की रचना वि० सं० १६०८ मे की थी। तत्पश्चात् उन्होने वि० सं० १६११ में करकण्डुचरित्र और वि० सं० १६१३ मे 'स्वामीकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा'की टीका लिखी। 'पाण्डवपुराण'की प्रशस्तिमे, उनके द्वारा लिखे गये २५ ग्रन्थोंका उल्लेख हुआ है।[१] श्री कस्तूरचन्द्रजी कासलीवालने उनके ४० से भी अधिक ग्रन्थोंकी सूचना दी है।[२] भट्टारक शुभचन्द्रने हिन्दीमे 'तत्त्वसार दूहा' की रचना की थी।

तत्त्वसार दूहा

इसकी हस्तलिखित प्रति 'ठोलियान जैन मन्दिर, जयपुर' के शास्त्र-भण्डारमे मौजूद है। इसमे ९१ पद्य है। भाषापर गुजरातीका अधिक प्रभाव है। सरल भाषामे उत्तम भाव सन्निहित हो सके है। मोक्षका निरूपण करते हुए कविने लिखा है,

> "कर्मकलंक विकारनो रे निःशेष होय विनाश।
> मोक्ष तत्त्व श्री जिन कही, जाणवा भावु अल्पास ॥२६॥"

कविने वर्ण और जातियोके भेदको कृत्रिम माना है। उनकी दृष्टिमे सभी जीवोकी आत्मा समान है। आत्मामे ब्राह्मणत्व अथवा शूद्रत्व नही आ सकता, क्योकि उसका स्वरूप तरतमाश रूप नही है। इसीको व्यक्त करते हुए कविने कहा है,

> "उच्च नीच नवि अप्पा हुवि,
> कर्मकलंक तणो की तु सोइ।
> बंभण क्षत्रिय वैश्य न शुद्र,
> अप्पा राजा नवि होय क्षुद्र ॥७०॥"

आत्मा पवित्र है। वह धनी-निर्धन, दुर्बल-सबल, हर्ष-द्वेष, और सुख-दुःख सबसे परे है। ये दोष उसे नही सताते,

> "अप्पा धनि नवि नवि निर्धन्न,
> नवि दुर्बल नवि अप्पा धन्न।
> मूर्ख हर्ष द्वेष नवि ते जीव,
> नवि सुखी नवि दुखी अतीव ॥७१॥"

---

१. वही, पृष्ठ ३८४।

२. प्रशस्तिसंग्रह, श्रीकस्तूरचन्द कासलीवाल सम्पादित। श्रीमहावीरजी अतिशयक्षेत्र कमेटी, जयपुर, प्रस्तावना, पृष्ठ १२।

एक स्थानपर कविने लिखा है कि शुद्ध चिदानन्दरूप अपना भाव ही ज्ञान है। उसका चिन्तवन करनेसे मोह-माया दूर हो जाते है, और सिद्धि प्राप्त होती है। आत्माको सिद्धिमें ही सुख मिलता है, अन्यथा नहीं,

> "ज्ञान निज भाव शुद्ध चिदानन्द,
> चींततो मूको माया मोह गेह देहए।
> सिद्धतणां सुखजि मल हरहि,
> आत्मा भाव शुभ एहए ।।९१।।"

गुरुकी महिमाका उल्लेख करते हुए कविने स्वीकार किया है कि गुरुकी कृपाके बिना, शुद्ध चिद्रूपके ध्यान करनेसे कुछ नही होगा। गुरुकी कृपासे ही शुद्ध स्वरूप प्राप्त हो सकेगा,

> "श्री विजयकीर्त्ति गुरु मनि धरी, ध्याऊं शुद्ध चिद्रूप।
> भट्टारक श्री शुभचंद्र भणि था तु शुद्ध सरूप ।।९१।।"

ऐसा प्रतीत होता है कि इस काव्यकी रचना, किन्हीं 'दुलहा' नामके धर्मप्राण व्यक्तिकी प्रेरणासे की गयी थी। स्थान-स्थानपर उसका नाम आया है,

> "रोग रहित संगीत सुखो रे, संपदा पूरण ठाण।
> धर्मबुद्धि मन शुद्धि डी, 'दुलहा' अनुक्रमि जाण ।।९।।"

चतुर्विंशति-स्तुति

भट्टारक शुभचन्द्रकी यह कृति, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुरमे मौजूद है। इसकी भाषापर भी गुजरातीका प्रभाव है।

क्षेत्रपाल गीत

पाटौदी दि० जैन मन्दिर, जयपुर गुटका नं० ५३ में ६९वीं संख्यापर निबद्ध है। इस गुटकेका लेखन-काल वि० सं० १७७५ है।

अष्टाह्निका गीत

यह गीत भी उपर्युक्त मन्दिरके ही गुटका नं० २१६ मे पृ० २१ पर संकलित है।

१९. विनयचन्द्र मुनि (१६वीं शती प्रथम पाद)

मुनि विनयचन्द्र, माथुर संघीय भट्टारक बालचन्द्रके शिष्य थे[१]। वे विनयचन्द्र-सूरिसे स्पष्टतया पृथक् हैं। विनयचन्द्रसूरि चौदहवी शताब्दीके रत्नसिंहसूरिके शिष्य थे[२]।

मुनि विनयचन्द्र, गिरिपुरके राजा अजयनरेशके राज्य-कालम हुए है। उन्होंने अजयनरेशके राज-विहारमे बैठकर ही अपने 'चूनडी'काव्यका निर्माण किया था[३]। अजयनरेशका समय १६वीं शताब्दीका प्रारम्भ माना जाता है, अतः यह सिद्ध है कि विनयचन्द्रका रचनाकाल भी यह ही है। इसके अतिरिक्त जिस गुटकेमे 'चूनडी' काव्य लिखा हुआ मिला है, वह विक्रम सवत् १५७६ का लिखा हुआ है[४]। इससे सिद्ध है कि काव्यका निर्माण वि० सं० १५७६ से पूर्व ही हो चुका था।

'चूनड़ी'[५]

चूनडी एक प्रकारकी ओढनी है, जिसे रँगरेज भिन्न-भिन्न प्रकारके बेल-बूटे

१. माथुर-संघहँ उदय मुणीसरु।
पणविवि बालइंदु गुरु गण-हरु॥
मुनि विनयचन्द्र, चूनडी, दूसरा पद्य, प्रथम दो पंक्तियाँ, अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६–७, पृ० २५८।

२. जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ ५।

३. ति-हुयणि गिरिपुरु जगि विक्खायउ।
सग्ग-खडु णं धर-यलि आयउ॥
तहिं णिवसंते मुणिवरे,
अजय णरिदहो राय-विहारहिं।
वेगें विरइय चूनडिय सोहहु,
मुणिवर जे सुय धारहिं॥३१॥
अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ५–६, पृष्ठ २६१।

४. यह गुटका, प० दीपचन्दजी पंड्याको, अजमेर जिलेके देराठू नामक गाँवके जैन मन्दिरसे सम्बन्धित शास्त्रभण्डारमें मिला था। यह गुटका, कुरुजांगल देशके अन्तर्गत सुवर्णपथ दुर्गमें सोर्नीपत नगरमें, वि० स० १५७६ ज्येष्ठ कृष्णा प्रतिपदाको, सिकन्दरशाहके पुत्र सुल्तान इब्राहीमके राज्यकालमें लिखा गया था। अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६–७, पृष्ठ २५७।

५. यह काव्य, श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर जयपुरके गुटका न० १८३ में भी अंकित है। यह गुटका वि० स० १५७० वैशाख सुदी ७ का लिखा हुआ है।

डालकर रँगता है। काव्यकी चूनडी वह है, जो बिखरे प्रकीर्णकोसे छापी गयी हो। इसे 'चुण्णी' या 'चूणि' भी कहते है। मुनि विनयचन्द्रके इस काव्यमें, एक पत्नीने पतिसे ऐसी 'चूनडी' छपानेकी प्रार्थना की है, जिसे ओढकर जिन-शासनमे विचक्षणता प्राप्त हो जाये।[1]

'चूनडी'मे साकेतिक रूपसे जैनधर्म-सम्बन्धी चर्चाओका संकलन है। उन्हे पढकर जैनधर्मके प्रति श्रद्धाका जन्म होता है।

पत्नीको पूरा विश्वास है कि ऐसी 'चूनडी'मे से, शरद्कालकी जुन्हैयाकी भाँति शीतल प्रकाश छिटकेगा, जिससे समूचा अज्ञानान्धकार नष्ट हो जायेगा। उसकी इच्छा है कि वह शीतल जुन्हाई, उसके हृदयमे वैसे ही निवास करे, जैसे मानसरोवरमे हंसवधू रहती है,

"पणवउँ कोमल-कुवलय-णयणी
अमिय गब्भ जण-सिव-यर-वयणी।
पसारवि सानद जोराह जिम
जा अधारउ सयलु वि णासइ।
सा महु णिवसउ माणसहिँ
हंस-वधू जिम देवि सरासइ॥ १॥"

पत्नीने मोह महातमको तोड़नेके लिए दिनकरके समान पंचगुरुसे भी प्रार्थना की है कि उसका पति ऐसी चूनडी लावे, जिसके सहारे वह भव-समुद्रसे पार हो सके[2]।

'चूनडी' की भाषामे, प्राकृत और अपभ्रंशके शब्दोका प्रयोग अधिक हुआ है।

---

१. हीरा दंत-पंति-पयडंती।
गोरउ पिउ बोलइ विहसंती॥
सुंदर जाइ सु चेइहरि,
महु दय किज्जउ सुहय सुलक्खण।
लइ छिपावहि चूनडिय
हउँ जिण-सासणि सुट्ठु वियक्खण॥३॥

२. विणएँ वंदिवि पंच-गुरु,
मोह-महा-तम-तोडण-दिणयर।
णाह लिहावहि चूनडिय
मुद्धउ पभणइ पिउ जोडिवि कर। पहला ध्रुवक।

उसका समूचा रूप प्राचीन हिन्दीका है। इसमें कुल ३१ पद्य हैं[1]। इस काव्यपर एक विस्तृत संस्कृत टीका भी है, किन्तु उसके रचयिताका नाम, उसमें नहीं दिया है।

निर्झरपंचमीविधानकथा[2]

इस कथामें भविष्यदत्तका चरित्र लिखा गया है। भविष्यदत्त, भगवान् जिनेन्द्र-का परम भक्त था। कथाका मूल स्वर भक्तिसे ही सम्बन्धित है।

प्रारम्भमें ही कविने पंचगुरु, शारदा और अपने गुरुके गुरु, मुनि उदयचन्द्रकी वन्दना की है,

> "पणविवि पंच महागुरु, सारद धरिवि मणे।
> उदयचन्दु मुणि वंदिवि, सुमरिवि बाल मुणे॥"

कविका विश्वास है कि जो कोई भव्यजन इस कथाको पढ़ता और पढ़ाता है, उसके सब पाप क्षण-मात्रमें नष्ट हो जाते हैं। किन्तु ऐसा तभी हो सकता है, जब कि वह गर्व और क्रोधसे मुक्त हो, और उसका मन वशमें हो,

> "भवियहु पढ़हु पढ़ावहु दुरियहु देहु जले।
> माणु म करहु म रूसहु, मणु खंचहु अचलो॥" अन्तिम॥

कविका यह भी कथन है कि जिस भावनासे प्रेरित होकर यह पंचमी कथा कही गयी है, वह सम्यक् भाव अविचल सिद्धिके दर्शन करानेमें पूर्ण समर्थ है,

> "जेण मणंति भडारा पंचमिय चय हो।
> अम्हहि ते दरिसाविय अविचलु सिद्धिपहो॥" अन्तिम॥

इस कथाकी भाषा भी प्राचीन हिन्दी है, जिसमें अपभ्रंश और प्राकृतके शब्दों-का मिश्रण है।

पंचकल्याणकरासु[4]

तीर्थंकरके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्षको पंचकल्याणक कहते हैं।

१. यह काव्य अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६-७ में पृष्ठ २५८-२६९ तक प्रकाशित हो चुका है।

२. देखिए पंचायती मन्दिर दिल्ली, मसजिद खजूरके सरस्वती भण्डारकी एक हस्तलिखित, प्राचीन प्रति।

३. मुनि विनयचन्द्र, निर्झरपंचमीविधानकथा, हस्तलिखित प्रति, पंचायती मन्दिर, दिल्ली, प्रथम पद्य।

४. पंचायती मन्दिर दिल्ली, मसजिद खजूरके भण्डारकी हस्तलिखित प्रति है। पं० दीपचन्दजी पाण्ड्याके उस गुटकेमें, जो उन्हें केकड़ीसे उपलब्ध हुआ है, यह रचना उपलब्ध है।

इस काव्यमे चौबीस तीर्थंकरोके पंचकल्याणकोंकी तिथियोका उल्लेख हुआ है। वह उल्लेख जैनआगमानुकूल है, अतः प्रामाणिक है।

कविने लिखा है कि तीर्थंकरके पाँच निर्मल कल्याणक सिद्धि प्राप्त करानेमे पूर्ण रूपसे समर्थ है,

"सिद्धि सुहकर सिद्धिपहु, पणविवि ति जयपयासण केवल।
सिद्धिहिं कारण थुणमिहउ, सयलवि जिणकल्लाणइ नियमल॥"

कविका विश्वास है कि भगवान् जिनेन्द्रके पचकल्याणकोंकी भक्ति, निविड अन्धकारको विदीर्ण करती है। वह अनेकानेक व्रत-उपवासोंके बराबर फल प्रदान करती है,

"एयभत्तु एकुजि कल्लाणउ, बिहि निव्वियडि अहवइ गट्ठाणउ।
तिहु आयविलु जिणु भणइ, चउहु होइ उपवास गिटत्थह॥
अहवा सयलह खवण विहि, विणय वंदि सुणि कहिउ समत्थहं॥"

भगवान् ऋषभदेव, वासुपूज्य, विमलनाथ और नमिप्रभुकी जन्म-तिथियोंका उल्लेख करते हुए कविने लिखा है,

"पढम पविकि उट्ठजहि आसाढहि, रिसह गब्भु तहि उत्तर साढहिं।
अचारी छट्ठिहिं तहिमि, वंदमि वासुपूज गब्भुच्छउ॥
विमलु सुमिद्धउ अट्ठमिहिं, दसमिहिं नमिजिण जम्मणु तहतउ॥"

इस रासकी भी भाषा प्राचीन हिन्दी ही है। उसपर अपभ्रंश और प्राकृतका प्रभाव है।

२०. कवि ठकुरसी (वि० सं० १५७८)

कवि ठकुरसी, खण्डेलवाल जातिमे उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र पहाड्या था। उनके पिताका नाम घेल्ह था, जो एक कवि थे।[1] उनकी माता धर्मनिष्ठ थी। दोनोंका ही प्रभाव पुत्रपर पडा, और ठकुरसी एक उदार कवि बन सके।

उनका जन्म चम्पावती नामकी नगरीमे हुआ था, जो उस समय धन-धान्यादिसे विभूषित थी। वहाँ भगवान् पार्श्वनाथका एक जिन-मन्दिर भी था, जहाँ

१. घेल्ह सुतनु गुण गाऊँ, जगि प्रगट ठकुरसी नाऊँ।
पंचेन्द्रिय बेल, प्रशस्ति। दीवान बधीचन्दजी जयपुरका हस्तलिखित प्रति, गुटका नं० १६०, पृ० १२६।

बैठकर भट्टारक प्रभाचन्द्र धर्मोपदेश देते थे। वहाँ तोषक नामके विद्वान् और जोणा, ताल्हु, पारस, बाकुलीवाल, नेमिदास, नाथूसि और भुल्लण आदि उत्तम श्रावक रहते थे।[1]

कवि ठकुरसीने 'कृपण-चरित्र', 'मेघमालाव्रतकथा', 'पचेन्द्रिय बेल', 'नेमीसुरकी बेल', 'पार्श्वसकुनसत्ताबत्तीसी', 'चिन्तामणिजयमाल' 'गुणबेलि' और 'सीमन्धरस्तवन' की रचना की थी। सभीकी भाषा प्राचीन हिन्दीका विकसित रूप है। उसमे यत्र-तत्र अपभ्रंशके शब्दोका भी प्रयोग हुआ है। रचनाएँ सरस हैं। सभीमे प्रसादगुण मौजूद है।

कृपण-चरित्र[2]

कविने इस कृतिको वि० सं० १५८० मे, पौष मासकी पचमीके दिन पूरा किया था।[3] इस काव्यमे ३५ छप्पय हैं। इसमे एक कंजूसका आँखों-देखा चरित्र चित्रित किया गया है।

कविके नगरमें ही एक कृपण रहता था। वह कंजूस था और उसकी पत्नी उदार तथा धार्मिक। एक बार पत्नीने सुना कि गिरनारकी यात्राके लिए संघ जा रहा है। उसने वहाँ चलनेका पतिसे आग्रह किया। उसने कहा कि वहाँ जाकर उन भगवान् नेमिनाथके दर्शन करेंगे, जिन्होंने मूक पशुओंकी करुण दशासे द्रवित हो वैराग्य धारण किया था। उनकी वन्दनासे जन्म सफल होगा और अमर पद प्राप्त कर सकेंगे[4]।

व्ययकी बात सुनकर कृपण बेचैन हुआ और अपने एक दूसरे कृपण मित्रकी सम्मतिसे पत्नीको, उसकी माँके घर भेज दिया।

---

१. प० परमानन्द शास्त्री, कविवर ठकुरसी और उनकी कृतियाँ, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १, पृ० १२।

२. यह काव्य बम्बईके दिगम्बर जैन मन्दिरके सरस्वती भण्डारमें, एक गुटकेमें लिखा है।

३. मै पदरा सौ असइ, पोप पाचै जगि जाण्यौ।
जिसौ कृपणु इक दीठु, तिसौ गुणु तासु बखाण्यौ ॥
बम्बईके दिगम्बर जैन मन्दिरके सरस्वती भण्डारकी हस्तलिखित प्रति, ३५वाँ छप्पय, उद्धृत प० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, १९१७ ई०, पृ० ३५।

४. प० परमानन्द शास्त्री, कविवर ठकुरसी और उनकी कृतियाँ, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १, पृष्ठ ११।

"कृपणु कहै रे मीत, मज्झु घरि नारि सतावै।
जात चालि धणु खरचि, कहै जो मोहि न भावै॥
तिहि कारण दुब्बलौ, रयण दिन भूख न लागै।
मीत मरणु आइयौ, गुज्झु आखौ तू आगै॥
ता कृपण कहै रे कृपण सुणि, मीत न कर मनमाहि दुखु।
पीहरि पठाइ दै पापिणी, ज्यौं को दिण तूं होइ सुखु॥"

जब संघ यात्रासे लौटा तो कृपणने देखा कि कई लोग असीम धन कमाकर लाये है। उसे अपने न जानेपर दुःख हुआ। इसी दुःखसे प्रपीडित होता हुआ वह मरण-शय्यापर लेट गया। उसने लक्ष्मीसे प्रार्थना की कि मैंने तुम्हारी जीवन-भर एकनिष्ठतासे सेवा की, अब तुम मेरे साथ चलो। लक्ष्मीने उत्तर दिया, तूने न तो देवमन्दिरोंमे जाकर भगवान्‌के दर्शन-पूजनादिमे ध्यान लगाया, और न तीर्थ-यात्रा, प्रतिष्ठा तथा चतुर्विध संघादिके पोषणमे धन व्यय किया, अतः मैं तेरे साथ नही जा सकती।

"लच्छि कहै रे कृपण झूठ हौं कदे न बोलौं,
जु को चलण दुइ देइ गैल लागी तासु चालौं।
प्रथम चलण मुझु एहु देव देहुरें ठविज्जै।
दूजै जात पतिट्ठ दाणु चउसंघहि दिज्जै,
ये चलण दुवे तै भजिया ताहिविहूणी क्यों चलौं।
झखमारि जाह तुं हौ रही बहुडि न सगि थारे चलौं॥"

लक्ष्मीके इस उत्तरसे अत्यधिक दुःखी होता हुआ कृपण मर गया। पत्नीने उसके धनको पुण्य-कृत्योमे व्यय किया।

इस भाँति इस काव्यका मुख्य अश, कृपणकी कृपणतासे सम्बन्धित होकर भी, भक्तिसे युक्त है। जिनेन्द्रकी भक्ति, इस लोकमे तो लक्ष्मी—सम्पत्ति प्रदान करती ही है, परलोकमे भी पुण्य कर्मके उदयसे लक्ष्मी—चरम शोभा मिलती है, ऐसा इस काव्यका निष्कर्ष है।

मेघमालाव्रतकथा[1]

कवि ठकुरसीने इस काव्यका निर्माण, चम्पावती नामकी नगरीमे, वणिकपुत्र मल्लिदासके कहनेसे, वि० सं० १५८०, श्रावण सुदी छठके दिन किया था[2]।

१. यह काव्य, अजमेरके भट्टारक हर्षकीर्त्तिके शास्त्रभण्डारके एक गुटकेमें अंकित है।

२. हाथु व साह महत्ति महंते, पहाचंद गुरु उवएसंते।
पणादह सइजि असीते अगल सावण मासि छठिव्विय मगल।
मेघमालाव्रतकथा, अन्तिम प्रशस्ति, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १, पृ० १३, पाद-टिप्पणी।

इसमें ११५ कडवक और २११ पद्य है।

इस काव्यमें मेघमालाव्रत करनेकी विधियोंका सांगोपांग वर्णन हुआ है। कथामें निबद्ध होनेके कारण, विधियोंके उल्लेखमें रूक्षता नहीं आने पायी है। यत्र-तत्र भगवान् जिनेन्द्र और पंचगुरुओंकी भक्तिकी बात भी कही गयी है।

पंचेन्द्रिय वेल[1]

इसकी रचना वि० सं० १५८५ में, कार्त्तिक सुदी १३ के दिन हुई थी[2]। इसमें पाँच इन्द्रियोंकी वासनाका चित्र उपस्थित किया गया है। यद्यपि इसका मूल स्वर उपदेश है, किन्तु शैली इतनी रम्य है कि पाठक रस-विभोर हो जाता है। इस काव्यमें केवल छह पद्य है।

कविने प्रत्येक इन्द्रियकी हानि दिखलानेके लिए, प्रायः दृष्टान्तोंका सहारा लिया है। इससे काव्यकी रमणीयता और भी बढ़ गयी है। घ्राण इन्द्रियका सम्बन्ध गन्धसे है, और गन्धलोलुपी सदैव हानि उठाता है। कविने यह भ्रमरके दृष्टान्तसे पुष्ट किया है। एक भ्रमर कमलमें इसलिए बन्द हो गया कि वह रात-भर उसके रसको अघाकर ले सके। किन्तु सूर्योदयके पूर्व ही एक हाथी आया और कमलको नालसहित उखाड़कर पैरोंसे कुचल दिया, जिससे भ्रमरको भी प्राण त्यागने पड़े। कविका कथन है कि घ्राण इन्द्रियकी वश्यता स्वीकार करने वालोंका यही हाल होता है[3]।

१ इसकी एक हस्तलिखित प्रति, आमेरशास्त्रभण्डार, जयपुरमें मौजूद है। यह वि० सं० १६०८ में लिखी गयी थी। एक प्रति नया मन्दिर देहलीमें भी है।

२ संवत् पन्द्रहसैर पिच्यासिया, तेरसि सुदि कातिग मासे।
ए पाँच इंदी वसि राखै, सो हरत परत सुख चाखै॥
कवि ठकुरसी, पंचेन्द्रिय बेल, आमेरशास्त्रभण्डारकी प्रति।

३ "कमल पयट्ठो भमर दिनि घाण गंध रस रूढ।
रयणि पड़ीतो सकुड्यो नीसरि सक्यो न मूढ।
सो नीसरि सक्यो न मूढा अतिघ्राण गंधरस रूढा।
मनचिंतै रयणि गवाऊँ, रसलेस्यु आज अघाऊँ।
जब ऊगै लो रवि विमलो, सरवर विगसै लो कमलो।
तब नीसरिस्यौ यह छोडे रसु लेस्यौ आइ बहोडे।
चिंतन्ति चित्ति तसु ठकु आयौ दिनकरु उगिवा न पायौ।
जल पैठि सुगावर आयौ नीसरत कमल पाखड़ी खायौ।
गहि सूडि पावतलि चाप्यौ अलि मार्यो थरहरि कंप्यौ।
यह गंध विषै वसि हूओ अलि अहल अमूठो मूवो।
अलि मरण करण दिठ दीजै अति गंधुलोभु नहि कीजै॥३॥"
पंचेन्द्रिय बेल, पं० परमानन्द शास्त्री, कविवर ठकुरसी और उनकी कृतियाँ अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १, पृष्ठ १३।

स्पर्शेन्द्रियकी विषमता दिखलाते हुए कविने लिखा है कि इसी इन्द्रियके कारण वनमे स्वच्छन्द विचरनेवाला हाथी, लोहेकी श्रृंखलाओमे बँधता है, और अकुशके घावोंको सहन करता है[1]। कीचक, रावण और शंकरने भी इसी इन्द्रियके कारण अनेको दुःख उठाये थे।[2]

नेमीसुरकी वेल[3]

इसका दूसरा नाम 'नेमिराजमती वेल' भी है। इसका कोई स्पष्ट संवत् नही दिया है, किन्तु अनुमान है कि उपर्युक्त रचनाओके आस पास ही यह भी रचा गया होगा। इसमे भगवान् नेमिनाथ और राजलके जीवनका परिचय है। इसमे तीर्थंकर नेमीश्वरकी भक्ति ही प्रधान है।

पार्श्वनाथ सकुन सत्ता बत्तीसी

इस काव्यकी रचना वि० सं० १५७८ मे हुई थी। इसकी हस्तलिखित प्रति, प० लूणकरजीके मन्दिर, जयपुरमे, गुटका न० २५ मे अंकित है।

गुण वेल

इसकी हस्तलिखित प्रति, पं० लूणकरजीके मन्दिर, जयपुरमे गुटका नं० ९२ मे लिखी है। यह गुटका सं० १७२१ का लिखा हुआ है।

'चिन्तामणिजयमाल' और 'सीमन्धर-स्तवन'का उल्लेख पं० कस्तूरचन्द कासली-वालने किया है।[4]

---

१. वन तरुवर फल खाउ फिरि, पय पीवन हु स्वच्छन्द।
परसण इन्द्री प्रेरियो, बहु दुख सहे गयन्द॥
बाध्यो पाग सकुल घाले, सो कियो सगके चाले।
परसण पेरह्यं दुख पायो, तिनि अकुश घावा घायो॥
पचेन्द्रिय वेल, नयामन्दिर देहलीकी हस्तलिखित प्रति।

२ परसण रस कीचक पूरचो, गहि भीम शिलातल चूरचो।
परसण रस रावण नामइ, मारचो लंकेसुर रामइ।
परसण रस शंकर राच्यौ, तिय आगे नट ज्यो नाच्यो।

३. यह काव्य, श्री दि० जैन बडा मन्दिर जयपुरके गुटका न० ९२ मे, और श्री दि० जैन मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुरके गुटका न० २५ में अंकित है।

४. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थ सूची, भाग ३, प्रस्तावना, पृष्ठ १४।

२१. विनयसमुद्र (वि० सं० १५८३)

विनयसमुद्र, उपकेशगच्छके हर्षसमुद्रके शिष्य थे। हर्षसमुद्रके भी गुरुका नाम सिद्धिसूरि था।[1] विनयसमुद्रका रचना-काल वि० सं० १५८३ से १६०५ तक माना जा सकता है। उन्होने वि० सं० १५८३ मे 'विक्रम प्रबन्ध चौपई'को और वि० सं० १६०५ मे 'रोहिणेय रास'की रचना की थी। इस ·चय उनकी आठ रचनाएँ उपलब्ध है, सभी उपर्युक्त समयके अन्तर्गत ही रची गयी।

वे रचनाएँ इस प्रकार है 'विक्रमप्रबन्ध चौपई', 'आरामशोभा चौपई', 'अंबड चउपई', 'मृगावती चौपई', 'चन्दनबाला रास', 'चित्रसेनपद्मावती रास' और 'पद्मचरित्र'। इनमे अंबडचउपई श्री मुनिरत्नसूरिके संस्कृतमे लिखे गये 'अंबडचरित्र'का भावार्थ लेकर लिखी गयी है,[2] अवशिष्ट सभी मौलिक है। इन रचनाओपर गुजरातीका विशेष प्रभाव है।

विनयसमुद्रकी कृतियोंमें भक्तिके उद्धरण

'विक्रमप्रबन्ध रास'[3] मे ४६९ पद्य है। इसके प्रारम्भमे ही सरस्वतीकी वन्दना करते हुए कविने लिखा है,

> "देवि सरसति प्रथम प्रणवेवि, वीणा पुस्तक धारिणी।
> चंद्र विहसि सु प्रसंसि वल्लह काममीरपुर वासिणी॥"

'पद्मचरित्र'[4] मे सीताका चरित्र प्रधान है। उसके शीलकी महिमाका वर्णन

---

१. श्री उवएसगछ गणवर सूरि, चरण करण गुण किरण मयूर।
रयण प्रणु गुणगण भूरि, तसु अनुक्रमि जंपइ सिद्धसूरि॥
तेह नइ वाचक हर्ष समुद्र तसु जसु उजल बीर समुद्र।
तसु विनये विन या बुद्धि एह, रच्यु प्रबध निरखि तणेह॥
विक्रमपबन्ध रास, पद्य ४६७-४६८, राजस्थानके जैनशास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूची, भाग ३, पृष्ठ २९६।

२. अंबड मोटउ हुयो विमाल, तासु चरित्र सुणी रसाल,
श्री मुनिरत्न सूरिनो कह्यो, तेहथकी भावारथ लह्यो।
अंबड चउपई, अन्तिम प्रशस्ति, ११वाँ पद्य, जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ १६१।

३. यह काव्य, जयपुरके ठोलियोंके दि० जैन मन्दिरके गुटका न० १०२ में अंकित है। रचनाकाल वि० सं० १५८३ दिया है।

४. पद्मचरित्रकी रचना वि० सं० १६०४ में हुई थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उदयपुरके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है। यह प्रति वि० स० १६५९, आषाढ मास, शुक्लपक्ष १४ की लिखी हुई है। जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृ० १७०।

करते हुए कविने लिखा है कि जो कोई इसको कहता और सुनता है, उसके मन-की सभी आशाएँ पूर्ण हो जाती हैं,

"कीधी कथा ए सीता तणी, सीलतणी महिमा जसु घणी।
भाषई मणिउयो बहु गुण पुणी, पूरइ आस सदा मन तणी ॥१७०॥"

'आराम शोभा चौपई'[1] के आदिमें भगवान् अरिहन्त और रत्नत्रयकी महिमा-का वर्णन किया गया है,

"श्री जिन शासनि जगि जयउ, जिणि राजा अरिहंत।
दया धर्म भाषउ मकउ, भय भंजण भगवंत ॥१॥
जिणवरि भाष्या श्रीमुखइ, बोलई त्रिण्नि सुपवित्त।
ज्ञान अनई दरिसण वली, चरण तरव गुणजत्त ॥२॥
रत्नत्रय जे नर कही, पालई ते नर धन्य।
वलि विशेषि दंसण कही, सुख संयोग सुपुन्य ॥३॥"

'मृगावती चौपई'[2] के आरम्भमें भी शारदा, गुरु, चौबीस तीर्थंकर और भग-वान् अरिहन्तकी वन्दना की गयी है,

"सामणि देवति शारदा, सुगुरुजी हर्ष समुद्र।
वलि समरथ चउबीस जिण, वारण भवह समुद्र ॥१॥
श्री जिनशासन वर नयर, राजा श्री अरिहंत।
समवसरण लईठा सभा, भाषइ श्री भगवन्त ॥२॥"

'चित्रसेनपद्मावती रास'[3] में 'नवकारमन्त्र'की महत्ताका वर्णन किया गया है,

"प्रथम क्षीर मन्त्रि हि वडऊं, होऊ कार जिमसार।
अंतिम सायरइ गंग जलि, मंत्रइ वडउ नवकार ॥४॥"

इसी रासके प्रारम्भमें भगवान् शान्तिनाथ, जो पाँचवें चक्रवर्ती भी थे, की वन्दना की गयी है,

---

१. आराम शोभा चौपई, बीकानेरमें, वि० सं० १५८३ में लिखी गयी थी। उसका आदि और अन्तका भाग, श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाईने दिया है। जैनगुर्जरकविओ, तीजो भाग, पृ० ६२५।

२. मृगावती चौपईकी रचना, बीकानेरमें, वि० सं० १६०२ में हुई थी। वही, पृ० ६२६।

३. चित्रसेन पद्मावती रासकी रचना, जोधपुरमें वि० सं० १६०४ में हुई थी। वही, पृ० ६२७।

"संति जिणवर संति जिणवर सकल सुखकर,
पंचम चके सर पवर संतिकरणं सवि दुरिय दुखहर।
श्रवर सवे तिथेसरु चउदसरस बावन गणधर ॥१॥"

२२. कवि हरिचन्द (वि० सं० की १६वीं शतीका प्रथम पाद)

जैनोमे तीन हरिचन्द हुए हैं। एक तो सस्कृतके प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामके प्रसिद्ध काव्यकी रचना की थी। दूसरे भट्टारक हरिचन्द थे, जिनके गद्य-बन्धका उल्लेख बाणभट्टने किया है। उन्होंने चरक-टीका भी लिखी थी[1]। प्रस्तुत कवि हरिचन्द, इन दोनोसे पृथक् थे। उनकी रचनाओमे प्राचीन हिन्दीका विकसित रूप पाया जाता है। उनकी एक रचना, वि० सं० १६२० के लिखे हुए गुटकेमे मिली है[2]। इससे सिद्ध है कि उसका निर्माण वि० सं० १६२० के पूर्व ही हुआ होगा। कवि हरिचन्द अग्रवाल वंशमे उत्पन्न हुए थे।

उनकी रची हुई दो कृतियाँ उपलब्ध हैं, 'अनस्तमितव्रतसन्धि' और 'पचकल्याणक'। दोनोंकी ही भाषामे प्राकृत और अपभ्रशके शब्दोका बाहुल्य है। फिर भी उनकी भाषाका मूल रूप, प्राचीन हिन्दीका विकसित रूप ही कहा जा सकता है।

अनस्तमितव्रतसन्धि

यह काव्य १६ सन्धियोमे पूर्ण हुआ है। पद्धणिया छन्दका प्रयोग किया गया है। प्रत्येक सन्धिके अन्तमे एक घत्ता है। इस काव्यका विषय रात्रि-भोजनके निषेधसे सम्बन्धित है। शैली इतनी मनोहर है कि निषेधकी रूक्षता रंचमात्र भी आभासित नही होती। कविने इस काव्यकी रचना भक्ति-भावसे की है, ऐसा उसने स्वय ही लिखा है,

"मत्तिए जिणु पणवेवि, पयडिउ पद्धणिया छंदेण"

---

१. प० भगवद्दत्तके अनुसार भट्टार हरिचन्द्र, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके भाई या निकट सम्बन्धी थे। राजशेखरने लिखा है कि उज्जैनीमें काव्यकार परीक्षामें हरिचन्द्र और चन्द्रगुप्त दोनों परीक्षित हुए थे।
देखिए, प० नाथूराम प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, सशोधित साहित्यमाला, बम्बई, अक्टूबर १९५६, पृ० ३०८।

२. उनकी 'अनस्तमितव्रतसन्धि' रचना, जयपुरके श्री दि० जैन बडा मन्दिरके गुटका नं० १७१ में अंकित है। यह गुटका वि० स० १६२०, पौष सुदी २ का लिखा हुआ है।

सौधर्मेन्द्र भगवान् महावीरका स्नानोत्सव मनानेके लिए आया। आते ही चौबीस तीर्थंकरोंको कुसुमांजलि अर्पित की। भगवान् महावीरको प्रणाम किया। वे भगवान् कलि-मल और कलुषको नष्ट करनेवाले हैं। उनका स्नानोत्सव जीवको सभी पापोंसे मुक्त कर देता है,

"आइ जिणिंदु रिसहु पणवेप्पिणु, चउवीसह कुसुमंजलि देप्पिणु।
वड्ढमाण जिणु पणविवि भावि, कलमलु कलुसवि वलिउपावें।
दुलहउ पावेप्पिणु मणुय जम्मु, जिणनाहें देसिउ मुणिवि धम्मु।
महु मज्ज मंसु नउ अहिलसेइ, पंचुवर न कयाइ विगसेइ॥"

कविने अन्तमें लिखा है कि वह इस काव्यको गुरु-भक्ति और जिन-भक्तिसे ही पूरा कर सका है,

"वील्हा जंद्रु तणाएं जाणं, गुरुभत्तिए सरसइहिं पसाएं॥
अयरवाल वरवंसे, उप्पणइ महहरियदेण।
भत्तिए जिणु पणवेवि, पयडिउ पद्धड़िया छंदेण॥"

पंचकल्याण[1]

कविने प्रारम्भमें ही लिखा है कि मैं उन जिनेन्द्रके गर्भादिक कल्याणोंका वर्णन करता हूँ, जिनके चरणोंपर, इन्द्रोंके मणि-जटित मुकुट झुका करते हैं,

"शक्र चक्र मणि मुकुट बसु, चुबित चरण जिनेश।
गम्भादिक कल्लाण पुण, वण्णउ भक्ति विशेष॥"

चारों प्रकारके इन्द्र, मन, वचन और कायसे, तीर्थंकरके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोंका महोत्सव मनाते हैं,

"गम्भ जम्म तप णाण पुण, महा अमिय कल्लाण।
चउविय शक्रा आयकिय, मणवक्काय महाण॥"

सौधर्म स्वर्गके इन्द्रने अपने अवधिज्ञानसे प्रभुके गर्भ-कल्याणका अवसर समझा, और उसने कुबेरको प्रभुकी जन्म-नगरीको सुन्दर बनानेकी आज्ञा दी,

"सौधम्मिंदास अवधिधारा, कल्लाण गम्भ जिण अवधारा।
णयरी रचणा अग्गादिण्णी, कुब्बेरसिक्ख सिर धर लिण्णी॥"

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति, १६३४ ई० के लिखे एक गुटकेमें संकलित है। गुटका बाबू कामताप्रसादजी जैन, अलीगंजके पास है।

२३. देवकलश (विक्रमकी १६वीं शतीका उत्तरार्ध)

देवकलश, उपकेशगच्छके उपाध्याय देवकल्लोलके शिष्य थे। उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है : देवकुमार, कर्मसागर, और देवकल्लोल[1]। देवकलशके जन्म-स्थानके विषयमे कोई स्पष्ट उल्लेख नही मिलता। किन्तु उपकेशगच्छीय होनेके नाते यह कहा जा सकता है कि वे गुजरात प्रान्तके ही रहनेवाले थे। उनकी भाषापर भी गुजरातीका अधिक प्रभाव है।

ऋषिदत्ता

यह देवकलशकी एक-मात्र रचना है। इसका निर्माण वि० स० १५६९ मे हुआ था।[2] इसकी एक हस्तलिखित प्रति, दिल्ली सेठ कूँचाके दिगम्बर जैन मन्दिरमे मौजूद है।

'ऋषिदत्ता' एक कथा-काव्य है। ऋषिदत्ता, राजा सिहरथकी पत्नी थी। इस काव्यमे उसके शीलगुणका उत्तम वर्णन है। अन्तमे सिहरथ और ऋषिदत्ता दोनोने ही साधु-दीक्षा धारण कर ली और भद्दलपुर नामकी प्रसिद्ध नगरीसे निर्वाण-को प्राप्त हुए। भद्दलपुर भगवान् शीतलनाथकी जन्मभूमि मानी जाती है।

इस काव्यको उत्तमकोटिमे गिना जा सकता है। उक्तिवैचित्र्य और भावोन्मेषने ऐसा आकर्षण उत्पन्न कर दिया है कि उससे पाठकके हृदयका तादात्म्य अवश्य ही हो जाता है। आलम्बनमें समानधर्मके निरूपणने 'रस' को जन्म दिया है।

भाषामे ऐसा लालित्य है कि उपदेश अथवा वर्णनात्मकताकी शुष्कता भी सरस हो गयी है। सिहरथके पिता कनकरथके गुणोके वैभवका वर्णन ऐसा ही है,

---

१. श्री उवएस गछसिगार, वाचकवर श्रीदेवकुमार, विद्या चवद अपार।
तासु पाटि उवझाय कर्मसागर, हूआ सर्वगुणमणि रयणागर शास्त्रनणा आधार।
तासु पट्टि उवझाय जयवन्त देवकल्लोल महिमावन्त, दिन-दिन ते उदिवन्त।
ऋषिदत्ता चोपई, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य २६६-२६८, जैनगुर्जरकविओ, भाग ३, पृ० ५५५।

२. ताम सीसदग कलसिइं हरसिइ, पनरह सइ गुणहत्तरि बरसिइं।
रचिउ सीलप्रबध, ए चरित रिषिदत्ता केरउ।
सील तणोउ नापन उनबेरउ छइ प्रगट सबध ॥
दिगम्बर जैन मन्दिर सेठके कूँचा, दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति।

"कणकतणी परि तनु अभिराम, तिणि कनकरथ दीधउ नाम ।
गुणियण सघ घणूं तसु मगइ, निरगुण दीठा मन कमकमइ ।।
सूरवीर समरांगणि धीर, दाता जलनिधि जिम गंभीर ।
बोलइ सुललित मधुरी वाणि, सहु को तिणि रीझइ अभिराम ।।१७-१८।।"

शीलकी महिमाका वर्णन करते हुए कविने सुन्दर शब्दोंमे लिखा है,

"सीलइं हुइ नीरोग पुण, सीलइं टलइ किलेस,
सीलइं रूप सरूप हुई, सीलि न दुख लव लेस ।
सीलइ जस जगि विस्तरइ, सीलि न हुई संताप,
सीलई संचई पुण्य धन, सीलि पखालइ पाप ।
सीलईं रीझइ लोक सवि, विबुध करई सुपसाउ,
हेमादिक सिद्धइ तणउ, सीझई सयल उपाउ ।।४-६-७।।"

जो नर-नारी भावपूर्वक 'ऋषिदत्ता चौपई' को पढते हैं और सुनते है, उनके सभी मनोवांछित कार्य पूर्ण हो जाते है, वे सकल शास्त्रसिद्धान्तोमे निपुण बन जाते है, तथा वे नवरस, नवतत्त्व और जिनवरके गुणोको पहचान उठते है,

"जे नर नारी भावइ भणिसिइ,
आंणी मन ऊलट नितु सुणिसिई,
भाव सकति भरपूरि ।
नितु नितु ते मनवंछित पांमइ,
सकल शास्त्र सिद्धंत वखाणइ,
नव तत नव रस वाणी जाणइ,
जिनवर गुण विहसंति ।।३०१-३०२।।"

२४. मुनि जयलाल (विक्रमकी १६वीं शताब्दीका उत्तरार्ध)

मुनि जयलालकी रचना 'विमलनाथस्तवन'से मुनिजीके जीवन और गुरु-परम्पराके विषयमे कुछ भी विदित नही होता । यह रचना जिस गुटकेमे निबद्ध है, वह वि० सं० १६२६ का लिखा हुआ है,[1] इससे सिद्ध है कि मुनि जयलाल वि० स० १६२६ से पूर्व कभी १६वी शताब्दीके उत्तरार्धमे हुए है ।

विमलनाथस्तवन

यह काव्य तेरहवे तीर्थकर विमलनाथकी भक्तिसे सम्बन्धित है । वैराटपुर (जयपुर रियासत) मे विराजमान विमलप्रभुकी प्रतिमाको लक्ष्य कर ही इन

१. यह गुटका, श्री कामताप्रसादजी जैन, अलीगंजके संग्रहमें मौजूद है ।

छन्दोंका निर्माण हुआ है। कहा जाता है कि यह प्रतिमा अतिशयपूर्ण थी। उसकी भक्तिसे पाप तो दूर भागते ही थे, पुण्य-जन्य वैभव भी उपलब्ध होते थे। किन्तु भक्तिमें विभोर कवि वैभव तो चाहता ही नही, मोक्ष भी नही चाहता, उसे तो भव-भवमें अपने प्रभुके दर्शनोकी ही प्यास है,

"तुम दरसन मन हरषा, चंदा जेम चकोरा जी
राज रिधि मांगउ नहीं, भवि भवि दरसन तोरा जी ॥१३॥"

भगवान्‌के दर्शन कर भक्तका हर्षित हो जाना स्वाभाविक है। चकोर जैसे चन्द्रके दर्शन कर प्रसन्न होता है, वैसे ही भक्त भगवान्‌को देखकर आह्लादित हो जाता है। राज्योंके वैभवसे ऊपर उठना आसान नही है, किन्तु जो प्रभुके दर्शनोंको ही भव-भवमें चाहता है, उसके लिए यह कठिन भी नही है। कविताकी इन दो पंक्तियोंमें ही भक्ति-रस जीवन्त-सा हो उठा है।

कविका कथन है कि इस विश्वमें प्रभुके अतिरिक्त और कोई नि.स्वार्थ भावसे सहायता करनेवाला नही है। विश्वके सभी प्राणी, यहाँतक कि माता, पिता और वनिता भी स्वार्थके साथी है। इस कथनका तात्पर्य है कि प्रत्येक प्राणी भगवान् जिनेन्द्रका ही सहारा ले, अन्यका आश्रय व्यर्थ है,

"मात पिता वनिता भाई, स्वारथि सवइ संगाई जी।
तुम्ह सम प्रभु कोई नहीं, इहरत परति सहाई जी ॥१४॥"

वैराटपुरके तेरहवे जिननायक श्री विमलप्रभुका गुणगान करते हुए कविने लिखा है, वे प्रभु सकल ऋद्धि-सिद्धियोंके देनेवाले है। उनकी भक्ति करनेसे मोक्ष तो स्वतः ही उपलब्ध हो जाता है। वे भगवान् चतुर्विध संघका मगल करते है, और समूचे पापोंको जडसे उखाड फेकनेमे समर्थ है। मुनि जयलाल वन्दना करते है कि हे भगवन्! आप अपना शुभ-दर्शन मुझे सदा प्रदान करें। इससे भक्तका जीवन कृतार्थ हो सकेगा,

"वैराटिपुर श्री विमल जिनवर सयल रिधि सिधि दायगो।
इमि थुणिउ भत्तिहि नियइ सत्तिहि, तेरमउ जिणनायगो ॥
श्री सयल संघह करण मंगल, दुरिय पाप निकंदणो।
श्री जयलाल मुणिंद जंपइ, देहि नाण सुदसणो ॥१७-१८॥"

२५. भट्टारक जयकीर्त्ति (विक्रमकी १६वी शताब्दीका उत्तरार्ध)

भट्टारक जयकीर्त्तिको मुनि श्री जयकीर्त्ति भी कहते है। उनकी रचना 'भवदेव चरित्र', जिस गुटकेमे निबद्ध है, वह विक्रम सं० १६६१, वैशाख सुदी १२

का लिखा हुआ है।[1] और उनका काव्य 'पार्श्व भवान्तरके छन्द' जिस गुटकेमें अंकित है, वह वि० सं० १५७६ का लिखा हुआ है।[2] इससे प्रमाणित है कि उन्होंने अपनी इन कृतियोंका निर्माण विक्रमकी १६वी शताब्दीके उत्तरार्धमे कभी किया होगा।

यह सुनिश्चित है कि भट्टारक जयकीर्ति, उन जयकीर्तिसे स्पष्टरूपेण पृथक् है, जिन्होने 'छन्दोनुशासन'का निर्माण किया था, और जो रामकीर्तिके गुरु थे।[3] वे सस्कृतके विद्वान् थे, और भट्टारक जयकीर्तिकी उपर्युक्त दोनो रचनाएँ हिन्दीमें है। उनकी एक अन्य कृति 'ब्रह्मचर्य उपदेशमाला'के नामसे प्राप्त हुई है, जो दि० जैन बडा मन्दिर, जयपुरके गुटका नं० २५८ मे निबद्ध है।

'पार्श्व भवान्तरके छन्द'का सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथकी भक्तिसे है। इसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथके पूर्व भवोका वर्णन हुआ है। पार्श्वनाथ जैनोंके तेईसवें तीर्थंकर थे। इस काव्यमे वर्णनकी शुष्कता नही है, अपितु एक प्रवाह-पूर्ण सौन्दर्य है।

२६. श्री क्षान्तिरंग गणि (वि० की १६वीं शताब्दीका उत्तरार्ध)

श्री क्षान्तिरंग गणिकी रचना खैराबाद 'पार्श्वजिनस्तवन' उस गुटकेमे निबद्ध है, जो वि० सं० १६२६ का लिखा हुआ है।[4] इससे निश्चित है कि वे इस संवत्से पूर्व कभी हुए है। सम्भवतः वे १६वी शताब्दी विक्रमके उत्तरार्द्धमे मौजूद थे।

नगर खैराबाद जिला सीतापुरमें है। उसके जैन मन्दिरमे पार्श्व जिनकी प्रतिमा विराजमान है। कहा जाता है कि वह प्रतिमा अतिशयपूर्ण है। उसमें कुछ ऐसी वीतरागता है कि उससे प्रत्येक दर्शक प्रभावित होता ही है। क्षान्तिरंग गणिने इसी प्रतिमाको लक्ष्य कर 'पार्श्वजिनस्तवन' की रचना की है।

भगवान्की महत्तामे भक्तको पूरा विश्वास है। वह जानता है कि भगवान्की कृपासे अज्ञान तो दूर होता ही है, किन्तु जन्म-जन्मके मनोवाछित फल भी प्राप्त होते है। खैराबादको सुशोभित करनेवाली पार्श्व जिनेन्द्र की प्रतिमामे मोहिनी

---

१. यह गुटका, श्री दि० जैन बडा मन्दिर, जयपुरमें वेष्टन नं० २६५२ में निबद्ध है।

२. यह गुटका प० दीपचन्द पण्ड्याको 'देराठू' नामके गाँवके जैनमन्दिरके शास्त्र-भण्डारकी शोध करते हुए प्राप्त हुआ था।
अनेकान्त, वर्ष ५, किरण ६-७, जुलाई १९४२ ई०, पृ० २५७।

३. प० नाथूराम प्रेमी, जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० ४०५।

४. यह गुटका, बाबू कामताप्रसादजी जैन, अलीगजके पास है।

शक्ति है, किन्तु उस सौन्दर्यको भव्यजन ही देख पाते हैं। सुर, नर, किन्नर, नाग और नरेन्द्र सभी भगवान्के चरणोंमें झुककर अपना जन्म सफल बनाते हैं।

"पास जिणंद खइराबाद मंडण, हरषधरी नितु नमस्यं हो।
रोर तिमिर सब हेलिहिं हरस्यूं, मनवंछित फल वरस्यं हो॥
भुवण विसाल भविक मन मोहइ, अनुपम कोरणि सोहइ हो।
सुर नर किंनर नाग नरेसर, पणमइ प्रह सम पाया हो॥"

नगर खैराबादके पार्श्व जिनेन्द्रका रूप, नेत्र और मन दोनोंको ही अच्छा लगता है। उनके दर्शन करने-मात्रसे ही मनकी सभी अभिलाषाएँ ऐसे पूरी हो जाती हैं, जैसे मानो वे कल्पवृक्ष ही हों। कोई उन भगवान्से, स्वर्ण-तिलकधारिणी लक्ष्मीकी याचना क्या करे, वह तो स्वय ही भगवान्के चरणोंमें स्थित होकर झुकी रहती है। क्षान्तिरंग गणिने भी उन भगवान्को प्रणाम किया है, उन्हें विश्वास है कि ऐसा करनेसे सुख दिन-प्रति-दिन बढता ही जायेगा,

"इय पास जिणवर नयणमणहर, कप्पतरुवर सोहए।
श्री नयर खयराबाद मडण, भविय जणमण मोहए॥
श्री कनक तिलकु सुसीस सुंदर, लिक्ष्मी विनय मुणीसरो।
तसु सीस गणि क्षांतिरंग पभणइ, हवइ दिन-दिन सुखकरो॥"

२७. श्री गुणसागर (विक्रमकी १६वीं शताब्दीका उत्तरार्ध)

श्री गुणसागरकी रचना 'पार्श्वजिनस्तवन' भी उपर्युक्त गुटकेमें ही निबद्ध है इस आधारपर उनका समय भी वि० सं० १६२६ से पूर्व माना जा सकता है। उनकी दूसरी कृति 'शान्तिनाथस्तवन', जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमें गुटका नं० ९७ में अंकित है[१]।

श्री गुणसागरकी दोनों ही कृतियाँ भक्तिसे सम्बन्धित हैं। पहलीमें भगवान् पार्श्वनाथकी, और दूसरीमें भगवान् शान्तिनाथकी स्तुति की गयी है।

'पार्श्वजिनस्तवन' एक दर्शन-स्तोत्र है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथके दर्शनोंकी महिमा बतलायी गयी है। भगवान्की भक्तिमें विभोर होते हुए कविने लिखा है कि पार्श्व-जिनेन्द्रके दर्शनोंपर न्यौछावर हो जाइए। उनके दर्शनोंमें मन रँग लो और गीत गाओ। भगवान्के दर्शन सभी संकटोंको—चाहे वे मार्ग, घाट और उद्यानमें उत्पन्न हुए हों, अथवा नागपाशके कारण आये हों, उपशम करनेमें समर्थ है। केवल विकट संकट और कष्ट ही शान्त नहीं होते, अपितु बड़े-बड़े

१. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूची, भाग ३, पृ० २८२।

दुरित और पापोका भी निवारण हो जाता है। भगवान्‌के दर्शन अक्षय सम्पत्ति (मोक्ष) के कारण है, उसे प्राप्त करनेके लिए सभी आनन्द, रंग और विनोद न्यौछावर कर देने चाहिए,

"पास जी हो पास दरसण की बलि जाइयै, पास मनरंगै गुण गाइयै।
पास बाट घाट उद्यान मैं, पास नामै संकट उपसमै। पा०।
उपसमै संकट विकट कष्टक, दुरित पाप निवारणो।
आणंद रंग विनोद वारू, अषै संपति कारणो ॥पा०॥"

२८. बूचराज (वि० सं० १५३७–१५९७)

बूचराज हिन्दीके एक प्रतिष्ठित कवि थे। राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंमे उनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई है। किन्तु किसीमे भी उन्होने अपना परिचय नही दिया है। उनकी प्रसिद्ध कृति 'नेमिनाथवसंतु'मे केवल इतना लिखा है कि वे मूलसंघके भट्टारक पद्मनन्दिकी परम्परामे हुए है। उनके वंश और माता-पिता आदिका कोई उल्लेख नही है। 'सन्तोषतिलक जयमाल'मे 'रचना-स्थल' हिसार (पंजाब) दिया हुआ है। उनकी रचनाओपर राजस्थानीका प्रभाव है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि वे राजस्थानके रहनेवाले थे। वे ब्रह्मबूचाके नामसे प्रसिद्ध थे। ब्रह्मचारी होनेके कारण वे जगह-जगह घूमते-फिरते थे, अतः किसी ग्रन्थके हिसारमे समाप्त करनेसे, हिसारको उनकी जन्मभूमि मान लेना प्रामाणिक नही है।

बूचराजका रचनाकाल वि० सं० १५३७–१५९७ माना जा सकता है। ऐसा उनकी रचनाओसे प्रकट ही है। उन्होने अपना दूसरा नाम वल्ह, वील्ह और वल्हव भी लिखा है। हो सकता है यह उनका उपनाम हो। इनकी ख्याति अधिक थी। वि० सं० १५८२ मे इनको 'सम्यक्त्व कौमुदी'की एक हस्तलिखित प्रति चाटसू नगरमे भेंट की गयी थी। उनकी उपलब्ध रचनाओका परिचय निम्न प्रकार है :

मयण जुज्झ

यह एक रूपक काव्य है। इसका निर्माण वि० सं० १५८९ मे हुआ था। इसमे भगवान् ऋषभदेव और कामदेवका युद्ध दिखाया गया है। ऋषभदेव मोक्ष-रूपी लक्ष्मी प्राप्त करना चाहते है, किन्तु कामदेव बाधा उपस्थित करता है, अतः युद्ध होना अनिवार्य हो जाता है। कामके प्रमुख सहायक मोह, माया, राग, द्वेष हैं।

वसन्त उसका दूत है। वह पहलेसे जाकर कामकी जीतका वातावरण तैयार करता है। वृक्ष एवं लताएँ नया रूप धारण करती है। पुष्प विकचित हो जाते है। कोकिल कुहू-कुहूकी रट लगाती है। भ्रमर गुंजार करते है। युवतियाँ शृंगार रचाती है,

"वज्जउ नीसाण वसंत आयउ छल्ल कंद सिखिल्लियं।
सुगंध मलया पवण झुल्लिय, अंब कोइल्ल कुल्लियं।
रुणझुणिय केवइ कलिय महुवर सुतर पत्तिह छाइयं।
गावंति गीय बजंति वीणा तरुणि पाइक आइयं ॥१७॥"

सन्तोषजयतिलक

इसकी एक हस्तलिखित प्रति दि० जैन मन्दिर नागदा, बूँदी (राजस्थान) के गुटका संख्या १७९ मे पत्र १७ से ३० तक संकलित है। इसमें १२३ पद्य है। गाथा, षट्पद, दोहा, रढ, पद्धणी, अडिल्ल, रासा, चदायणु, गीतिका, त्रोटक, रगिक्का आदि छन्दोका प्रयोग हुआ है। इस काव्यकी रचना हिसार नगरके मध्य, वि० सं० १५९१, भाद्रपद सुदी ५, शुक्रवार, स्वाति नक्षत्र, वृष लग्नमे हुई थी।[1]

इसकी भाषा प्राचीन हिन्दी है। उसपर राजस्थानीका प्रभाव है। इसमे कविने लोभ, मोह और रोषपर लिखते हुए सन्तोषकी महत्ता स्थापित की है। इसका अन्तिम पद 'रढ' छन्दमे है,

"पढहिं जे के सुद्ध भाएहि
जे सिक्खहिं सुद्ध लिखाव, सुद्ध ध्यान जे सुणहिं मनु धरि।
ते उत्तिम नारि नर अमर सुक्ख भोगवहिं बहु प्यारे॥
यहु सतोषह जयतिलउ जंपिउ 'वल्हि' समाइ।
मंगलु चौविह संघ कहु करइ वीरु जिणराइ ॥१२३॥"

लोभके प्रभावको कहते हुए कविने लिखा है कि वह मुनियो तकको नही छोडता,

"वण मज्झि मुनीसर जे वसहि सिव रमणि लोभु तिन हियइ मांहि।
इकि लोभि लाग्गि पर भूमि जाहि पर करहि सेव जीउ जीउ मणहि॥"

१. संतोषहु जयतिलउ जंपिउ हिसार नयर मज्ञ मे
जो सुणहि भविय इक्क मन, ते पार्वाहि वछिय सुक्ख ॥१२०॥
संवत् पनरइ इक्याण, भद्दवि सिय पाक्खि पंचमी दिवसे
सुक्क वारि स्वाति वृखे, जेउ तह जाणि वंभना मेण ॥१२१॥
सन्तोषजयतिलककी नागदावाली हस्तलिखित प्रति।

चेतन पुद्गल ढमाल

यह कृति उपर्युक्त मन्दिरके उसी गुटकेमे पत्र ३२–४४ पर अंकित है। इसमें १३६ पद्य है। उनमे चेतनको पुद्गलकी संगति न करनेकी बात कही गयी है। चेतनको विविध प्रकारसे सावधान कर चिदानन्दकी भक्तिकी ओर प्रेरित किया गया है। इस कृतिकी भाषापर अपभ्रंशका अधिक प्रभाव है। अधिकाश शब्दोकी प्रवृत्ति उकारान्त है।

कविने एक पद्यमे लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्र इस संसारमे दीपकके समान है। इस दीपकके उदित होनेसे मिथ्यारूपी अन्धकार भाग जाता है। इसी दीपकके प्रकाशमे यह जीव संसाररूपी समुद्रको भी तैरकर पार हो सकता है,

"दीपगु इकु सवनि जगि, जिनि दीपा संसारि।
जासु उदय सहु भागिया, मिथ्या तिमरु अध्यारु।।२।।
जिण सासण महि दीवडा, 'वल्ह' पया नवकारु।
जासु पसाए तुम्हि तिरहु, सागरु यहु संसारु।।३।।"

भव-भवमे जिनेन्द्रके पैरोकी सेवाकी याचना करता हुआ भक्त कवि कहता है,

"करि करुणा सुणु वीनती, तिभुवण तारण देव।
वीर जिणेसर देहि मुझु, जनमि जनमि पद सेव ॥२९॥"

चेतन और पुद्गलमे महदन्तर है। चेतन चिरन्तन है और पुद्गल विनश्वर। चेतनमे गति है और पुद्गलमे जडता। जैसे फूल मर जाता है और परिमल जीवित रहता है, वैसे हो शरीर नष्ट हो जाता है और चेतन जिन्दा रहता है। इस तथ्यको कोई-कोई ही जानते हैं,

"फूलु मरइ परमलु जीवइ, तिसु जाण सहु कोइ।
हंसु चलइ काया रहइ किवरु बराबरि होइ ॥८३॥"

कवि दृष्टान्त देनेमे निपुण है। जबतक मोती सीपमे रहता है, उसके सभी गुण पलायन कर जाते हैं, इसी भाँति जबतक चेतन जडके साथ है, उसे दुःख-ही-दु:ख भोगने पड़ते है,

"जब लगु मोती सीप महि, तब लगु समु गुण जाइ।
जब लगु जीयडा संगि जड, तब लग दूख सहाइ ॥१०५॥"

टंडाणा गीत

टंडाणा 'टांड' शब्दसे बना है। टाडका अर्थ है व्यापारियोका चलता हुआ समूह। यह विश्व भी गतिवान् प्राणियोंका समूह ही है, अतः इस गीतमे टंडाणा

शब्द संसारके अर्थमे लिया गया है। इसमे प्राणीमात्रको संसारसे सजग रहनेके लिए कहा गया है,

"मात पिता सुतसजन सरीरा दुहु सब लोग विराणावे।
इयण पख जिम तरुवर वासे दसहुं दिशा उडाणावे॥
विषय स्वारथ सब जग वछै करि करि बुधि बिनाणावे।
छोडि समाधि महारस नूपम मधुर बिन्दु लपटाणावे॥"

नेमिनाथवसन्तु और नेमीश्वरका बारहमासा

बूचराजकी ये दो कृतियाँ अत्यधिक सुन्दर हैं। पहलीमे नवयौवना, विरहिणी राजोमतीकी उन मनोदशाओंका चित्रण है, जो नेमिनाथके अकस्मात् वैराग्य लेनेके उपरान्त वसन्त आनेपर बनी थी। दूसरीमे राजीमतीकी विरहावस्थाका वर्णन है।

पतिके पथका अनुसरण करनेके लिए राजीमतीने वैराग्य भी ले लिया था। तपस्विनी होनेके उपरन्त नवयौवना राजीमतीका वसन्तको देखकर प्रथम अनुभव हुआ,

"अमृत अंबु लउ मोर के, नेमि जिणु गढ़ गिरनारे
म्हारे मनि मधुकरू निह वसइ, संजमु कुसमु मझारे॥२॥
सखिय वसंत सुहाल रे, दीसइ सोरठ देसी
कोइल कुहकइ, मधुकर सारि सब वणइ पइसो॥३॥
वियलसिरी यह महकै हरे, भंवरा रुणझुण कारो
गावहि गीत स्वरास्वरि, गंध्रव गढ़ गिरनारो॥४॥"

पद

बूचराजके ८ पद दि० जैन मन्दिर नागदा बूँदी (राजस्थान) के गुटका नं० १७९, पत्र १० पर लिखे हैं। दो पद निम्न प्रकार हैं—

"रंग हो रंग हो रंगु करि जिणवरु ध्याईयै
रंग हो रंग होइ सुरंग सिउ मन लाइयै॥
लाईयै यहु मनुरंग इस सिउ अवरंगु पतंगिया
धुक्ति रहइ जिउ मजीठ कपड़े तेव जिण चतुरंगिया॥
जिवलगनु वस्तरु रंग तिवलगु इसहि कांन रंगाव हो
कवि 'वल्ह' लालचु छोडु झूठा रंगि जिवरु ध्याव हो॥१॥
रंग हो रंग हो मुकति वरणी मनु लाइयै
रंग हो रंग हो भव संसार न आईयै

आईयै नहु संसारि सागरि जीय बहु दुख पाइयै
जिस वाझु चहुगति फिरया छोडै सोइ मारगु ध्याइयै
तिमुणह तारणु देउ अरहतु सुगुण निजु गाइयै
कवि 'वरह' लालचु छोडु झूंडा मुकति सिउरंग लाइयै ।।४।।"

२९. छीहल (वि० सं० १५७५)

छीहल सोलहवी शताब्दीके सामर्थ्यवान् कवि थे। विविध शास्त्रभण्डारोमे उनकी पांच रचनाएँ प्राप्त हुई है। किन्तु उनमे कविका यत्किचित् भी जीवन-परिचय निबद्ध नही है। उनपर राजस्थानीका प्रभाव है। अत. यह सिद्ध है कि वे राजस्थानके निवासी थे। उनकी कृतियाँ मुक्तक है। उन्हे आध्यात्मिक भक्ति-का निदर्शन कहना चाहिए। उनमे दो तो रूपक ही हैं। समूची मुक्तक रचनाको रूपकके रूपमे निर्माणकी शैली जैनोकी अपनी हैं।

पंचसहेली गीत[1]

इसका निर्माण वि० सं० १५७५, फाल्गुन सुदी १५ को हुआ था।[2] इसमें ६८ पद्य है। मालिन, तम्बोलनी, छीपनी, कलालनी और सुनारिन पाँच सहेलियाँ है। पाँचोने अपने-अपने प्रियके विरहका वर्णन किया है। वास्तवमे वह परमात्मा-का ही विरह है। जब प्रिय मिल जाता है, तो वह भी ब्रह्मके मिलन-जैसा ही है। प्रेम उत्पन्न होकर विरहमे पुष्ट होता है। उसकी साधना अधूरी नही रह पाती। प्रिय-मिलन होता है। उससे परम आनन्दकी प्राप्ति होती है। यह एक सुन्दर रूपक-काव्य है। इसमे पाँच सहेलियाँ भिन्न-भिन्न जीवोकी प्रतीक है। उनका प्रिय-मिलन ही ब्रह्म-मिलन है। यहाँ रूपकके माध्यमसे ब्रह्म-मिलनकी धुनमे विरहजन्य पीड़ा मुख्य है।

मालिनका पति, उसे भरे यौवनमे छोडकर कहीं चला गया है। उसका दु ख अनन्त है। कमल-वदन मुरझा गया है और वनराजि-जैसा शरीर सूख गया है। पियाके बिना उसे एक-एक क्षण, एक-एक बरसके बराबर लगता है। जिस शरीर-रूपी वृक्षपर यौवन-रससे भरे स्तनरूपी दो नारगी लगे थे, वह विरहकी अग्निमे

१. यह गीत, लूणकरणजी पाण्डया मन्दिर, जयपुरके गुटका न० १४४ में अंकित है।
२. संवत् पनर पचुहत्तरउ पूनिम फागुण मास ।
पंच सहेली वरणवी कवि छीहल्ल परगास ।।
पंचसहेली गीत, पद्य ६८, वही गुटका ।

सूखने लगा है, और सींचनेवाला दूर है। उसने चम्पाकी पँखड़ियोंसे एक नया हार गूँथा था। यदि वह इसे पतिके बिना पहने तो अंगोंको अंगारों-सा प्रति-भासित हो,

"कमलवदन कुमलाइया सूकी सूख बनराइ।
बिन पीया रइ एक दिन बरस बराबरि जाइ॥
तन तरवर फल लग्गीया दुइ नारिंग रसपूरि।
सूकन लागा बिरह-झल सींचनहारा दूरि॥
चम्पाकेरी पंखडी गूंथ्या नवसर हार।
जइ हुइ पहिरउ पीव बिन लागइ अंग अंगार॥"

पतिके बिना विरहने तम्बोलनीकी चोलीके भीतर घुसकर उसके शरीरको मारा है। उसके पत्ते झड़ गये हैं और बेलि सूख गयी है। वसन्तकी रात काटना दूभर हो गया है। ग्रीष्मके सन्तप्त दिन कैसे कटें, छाया देनेवाला पति परदेश चला गया है।[1] छीपनीके दिलकी पीरको दूसरा जान ही नहीं सकता। उसके तनरूपी कपडेको, विरहरूपी दर्जी दुःखरूपी कतरनीसे, दिन-रात काटता चला जाता है, पूरा ब्यौंत नहीं लेता। विरहने उसके सुखको नष्ट कर, दुःखका सचार किया है, किन्तु एक उपकार भी किया है, जो उसकी देहको जलाकर छार कर दिया। इससे उसको दुःखोंसे मुक्ति मिल गयी।[2] कलालीकी देहपर मदमाते यौवनकी फाग ऋतु बिखरी हुई है। किन्तु पति दूर हैं, अतः वह किसके साथ

---

१. दूजी कहइ तबोलनी सुनि चतुराई बात
बिरहइ मारया पीव बिन चोली भीतरि गात॥२४॥
पात झंडे सब रूख के बेल गई तन सुक्कि
दूभर राति वसंत की गया पीयरा मुक्कि॥२६॥
तन बाली बिरहउ दहइ परीया दुक्ख असेसि
ए दिन दूभरि कउ भरइ छाया प्रीय परदेसि॥२८॥

२. तीजो छीपनि आखीया भरि दुइ लोचन नीर।
दूजा कोइ न जानई मेरइ जीयइ की पीर॥३१॥
तन कपडा दुख कतरनी दरजी विरहा एह।
पूरा ब्यौंत न योतइ दिन-दिन काटइ देह॥३२॥
सुख नाठा दुख संचरया, देही करि दहि छार।
बिरहइ कीया कत बिन इम अम्हसु उपगार॥३६॥

होली खेले। उसे तो 'विसूरि-विसूरि' कर मरना है।[1] सुनारिन विरहरूपी समुद्रमें इस भाँति डूब गयी है कि उसकी थाह नही मिल पाती। उसके प्राणोंको मदनरूपी सुनारने हृदयरूपी अँगीठीपर जला-जलाकर कोयला कर दिया है।[2]

कतिपय दिनोंके उपरान्त फिर वे पाँचों मिली। अब उनके चेहरे आह्लादित थे। उनका साईं आ गया था। उनके दिन सुखमें बीत रहे थे। वियोग देनेवाला वसन्त चला गया। अब वर्षाऋतुका आगमन हो गया, तो पति भी आ गया है। मनकी सब आशाएँ पूरी हो गयी है। तम्बोलनीने चोली खोलकर, अपार यौवनसे भरे गातको निकाला और पतिके साथ बहुत प्रकारसे रंग किया, नयनसे नयन मिलाया। इसे ही रभस आलिंगन कहते है। इसके लिए कबीरका दिल मचला था और उससे भी पूर्व मुनि रामसिंहका। साधक जीव जब ब्रह्मसे मिलता है, तो ऐसे ही अंगसे अंग मिलाकर मिलता है। बिना एक हुए वह रह ही नही सकता। तम्बोलनीका यह मिलन रहस्यवादकी तुरीयावस्था है। परम आनन्द उसीका पर्यायवाची है। वह मिलन देखिए,

"चोली खोल तम्बोलनी काढ्या गात्र अपार।
रंग कीया बहु प्रीयसुं नयन मिलाई तार ॥५९॥"

पन्थीगीत

यह मन्दिर दीवान बधीचन्दजी, जयपुरके गुटका नं० २७, वेष्टन नं० ९७३ मे निबद्ध है। इसमे केवल छह पद्य है। यह भी एक रूपक-काव्य है। इसमे प्रचलित कथाका सहारा लेकर रूपककी रचना की गयी है।

एक रास्तागीर राहमे चलते-चलते सिहोके वनमे पहुँच गया। वहाँ रास्ता भूल जानेसे वह इधर-उधर भटकने लगा। ऐसी ही अवस्थामे उसे, सामने एक मदमत्त हाथी आता हुआ दिखाई दिया। उसका रूप रौद्र था और वह क्रोधमें

---

१. पाता यौवन फाग रिति परम पीया दूरि।
रली न पूरी जीय की मरउ विसूरि विसूरि ॥४२॥

२. कहइ सुनारी पंचमी अंग अपना दाह।
हुं तउ बूडी विरहमइ पाउं नाही थाह ॥४५॥
होया अंगीठी मूसि जिय मदन सुनार अभंग।
कोयला कीया देह का मिल्या सवेइ सुहाग ॥४६॥

अपनी शुण्डाको इधर-उधर हिला रहा था। पथिक भयभीत होकर भागने लगा। हाथी भी उसके पीछे-पीछे लग चला।

आगे एक अन्धा कुआँ था। वह घास-फूससे ढँका था। पन्थी उसे न जान सका और उसमे गिर गया। उसने एक मरकनी टहनी पकड ली, जो कुएँकी दीवालमे उग आयी थी। उसके सहारे लटकता हुआ वह कठिन दुःख भोगने लगा। ऊपर हाथी खडा था, चार दिशाओंमे चार सर्प थे, नीचे अजगर मुँह बाये पड़ा था। टहनीकी जड़को दो चूहे काट रहे थे।

उस कूपके पास एक बडका वृक्ष था। उसमे मधु-मक्खियोंका छत्ता लगा था। हाथीने उसे हिला दिया। अगण्य मक्खी उड़ने लगी। साथ ही छत्तेसे मधु भी चू उठा और उसकी बूँदें पन्थीके मुँहपर गिरने लगी। उसकी रसना उनका रसास्वादन ले उठी। उस आनन्दमे वह अपने घोर दुःखको भूल गया,

> "उहिसमौ मधु कणो अहिर ऊपर पड़त रस रसना लीयो।
> वा ब्यूंद कं सुष लागि लोमी सब्बै दुख बीसरि गयौ ॥४॥"

यहाँ मधुका बूँद ही सासारिक सुख है। जीव पथिक है। अज्ञान भयानक हाथी है। संसार ही कुआँ है। गति सर्प है। व्याधियाँ ही मक्खियाँ है। निगोद अजगर है। यह संसारका व्यवहार है। अतः हे गँवार! तू चेत जा। जो मोह-रूपी निद्रामे सोते है, वे अत्यधिक असावधान है। शरीर और इन्द्रियोंके रसमे भटककर इसने जिनेन्द्र-जैसे परम ब्रह्मको भुला दिया है, अतः उसका नर-जन्म व्यर्थ है। छीहलका कथन है कि अबतक तू नाना दीर्घ दुःखोको सहन करता रहा है। अब जिनेन्द्रकी बतायी युक्तिसे तू मुक्तिके परम सुखको प्राप्त कर सकता है,

> "ससार कौ एहु विवहारौ चित चेतहु रे गंवारो!
> मोह निद्रा में जे सुता, ते प्राणी अति बेगुना ॥
> प्राणी बेगुना बहुत ते जिन परम ब्रह्म बिसारियौ।
> भ्रम भूलि इंदि तनौरसि नर जनम वृथा गंवाइयौ ॥
> बहु काल नाना दुख दीरघ सह्या 'छीहल' कहै करि धर्म्म।
> जिन भाषित जुगतिस्यौ त्यौ मुक्ति पद लहौ ॥६॥"

उदरगीत

यह गीत भी उपर्युक्त गुटकेमे ही संकलित है। इसमे केवल चार पद्य हैं। कृति सुन्दर है। जीव दस मास गर्भमे रहता है। उसे अत्यधिक कष्ट सहने पड़ते हैं।

वह सोचता है कि इस बार उबरनेपर जिनेन्द्रकी भक्ति करूँगा। जन्म लेता है। संसारकी हवा लगती है, तब वह मूर्ख सब कुछ भूल जाता है।

"उदर उदधि में दस मासाह रह्यौ।
पिंड अधोमुषि बहु संकटि सह्यौ।
बहु सह्यौ संकट उदर अंतरि चिंतबै चिंता घणी।
उबरौं अबकी बार जै हु भगति करिस्यौं जिणतणी।
ऐसोल संकट पडिहि बोलै बहुडि जगत जामण लयो।
संसार की जब बाहलि लागि मूढ सब बीसरि गयो॥१॥"

बालकका जन्म हुआ। जमीनपर लोटता रहा। जब भूख लगी, माँका स्तन रोकर पी लिया। मुखसे लार चूती रही। लक्ष्य-अलक्ष्य और भक्ष्याभक्ष्यमे कोई अन्तर नही किया। बालपन खो दिया, जिनवरकी भक्ति नही की। फिर यौवन आया, उसके नशेमे चारो ओर घूमा, परधन और परतियको ताकता फिरा। ऐसा करनेमें उसे आनन्द आया। किन्तु वह मूर्ख यह न समझ सका कि यह 'विषफल' है, 'अमीफल' तो जिनकी सेवा है। परब्रह्म विसार देनेसे काम, माया, मोहने उसपर अधिकार कर लिया। भावपूर्वक जिनवरकी पूजा नही की, यौवन व्यर्थ ही खो दिया,

"जोवन मातो नर चिहुं दिसि भमै, परधन परतिय ऊपरि मनखै।
मनखै परधन देखि परतिय चित ठाइ नरषए।
छंडै अमीफल सेव जिनकी विषय विषहल चाखए।
काम माया मोह व्याप्यौ परब्रह्म विसारियौ।
पुजियो न जिनवर भावसेथी वृथा जीवन हारीयौ॥३॥"

बैरी बुढापा आ गया। सुधि-बुधि नष्ट होने लगी। कानोंने सुनना बन्द कर दिया। नेत्रोंकी ज्योति धुँधली पड गयी। किन्तु जीवनके प्रति मोह और अधिक बढ गया। छीहलका कथन है कि हे नर! तू भ्रममे पडकर भटकता क्यो फिर रहा है। युक्तिपूर्वक जिनेन्द्रकी भक्ति कर। तू मुक्तिलीलाका आनन्द ले सकेगा,

"जरा बुढापा बैरी आइयो, सुधि-बुधि नाठी जब पछिताइयो।
पछिताइयो जब सुधि नाठी, श्रवण सबद न बूझए।
जीवण कारणि करै लालच, नयन मग्ग न न सूझए।
अब कहै छीहल सुणौ रे नर, भ्रम भूले कांई फिरौ।
करि भगति जिन की जुगति स्यौ, रयौ मुकति लीलह वरौ॥४॥"

पंचेन्द्रियवेलि

यह कृति दि० जैन मन्दिर, पाटौडी, जयपुरके गुटका नं० ६५, पृ० ३०७ पर अंकित है। इसमे भी मनको इन्द्रियोंकी संगतिसे हटाकर जिनेन्द्र-भक्तिकी ओर उन्मुख किया गया है। जैनोंका बेलि-साहित्य विशाल है। वेलि शब्द संस्कृत-के 'वल्ली' और प्राकृतके 'वेल्लि' से समुद्भूत हुआ है। वाड्मयको उद्यान मान-कर, उसकी प्रवृत्तियोंको वृक्ष अथवा वृक्षागवाची नामोंसे अभिहित किया जाता रहा है। जैन वेलि-साहित्य तीन प्रकारका होता है ऐतिहासिक, कथानकवाची, और उपदेशात्मक। प्रस्तुत कृतिका स्वर तीसरे प्रकारका है। अन्तमे जिनेन्द्र-भक्तिकी ओर मोड देनेके कारण उसकी भक्ति-परकता भी स्पष्ट ही है।

इसमे चार पद्य हैं। मनको सम्बोधन करके लिखा गया है। मन चंचल है, भटकनेकी उसकी आदत है। उसे आराध्यकी भक्तिकी ओर मोडनेका काम भक्त कवि करते रहे है। कबीरका 'चेतावणी कौ अग' और तुलसीदासकी 'विनय-पत्रिका' इस दिशाकी महत्त्वपूर्ण कडियाँ है। जैन और बौद्ध कवियोका तो उसपर परम्परागत अधिकार हो है। यहाँ छीहलने लिखा है कि यदि घट पवित्र नही है, तो जप, तप और तीर्थ सभी कुछ व्यर्थ है। पहले घटका पवित्र होना आवश्यक है। उसका उपाय है जिनवरका चिन्तवन। उससे भव-समुद्र तिरा जा सकता है,

> "कलि-विष-कोटि विनासौ जिनवर नाम जु लाये।
> जै घट निरमल नाहीं का जप-तप तीर्थ कराये।
> का जप तप तीर्थ कराये जै परद्रोह न छडौ।
> लंपट इन्द्री लघु मिथ्याती जन्म अपणौ मंडौ।
> छीहल कहै सुरागै रे नर बावरे सीख सयाणी करीए।
> चिंतवन परम ब्रह्म कीजे तौ भव दुह सायर तरीए॥४॥"

नाम बावनी

इसमे ५० पद्य है। यह एक उत्तम काव्यका निदर्शन है। इसमें विविध विषयोंपर तल्लीन होकर लिखा गया है। अन्तमे जिनेन्द्रके नाम-माहात्म्यका उल्लेख है। उन पद्योकी विनयपत्रिकाके पदोसे तुलना की जा सकती है। यह कृति मन्दिर ठोलियान, जयपुरके गुटका नं० १२५ मे संकलित है। इस गुटकेका लेखन-काल वि० सं० १७१२, ज्येष्ठ सुदी २ दिया हुआ है। 'नामबावनी'का निर्माण वि० सं० १५८४ मे हुआ था।

३०. भट्टारक रत्नकीर्त्ति[1] (वि० सं० १६००-१६५६)

रत्नकीर्त्तिके पिताका नाम सेठ देवीदास और माताका नाम सहजलदे था। वे जैनोंकी हुँबड जातिमें उत्पन्न हुए थे। बागड प्रदेशका घोघानगर उनका जन्म-स्थान था। बुद्धि तीव्र थी। बचपनसे ही सिद्ध होने लगा था कि बालक होनहार है। एक दिन वहाँ भट्टारक अभयनन्दि आये। बालककी प्रतिभाने उन्हें प्रभावित किया। उन्होंने माँ-बापकी स्वीकृतिसे उसे शिष्यरूपमें स्वीकार कर लिया।

भट्टारक अभयनन्दि अपने युगके ख्यातिप्राप्त व्यक्ति थे। वे एक ओर सिद्धान्त, काव्य, ज्योतिष, व्याकरण, आयुर्वेद एवं मन्त्र-विद्यामें पारंगत थे, तो दूसरी ओर व्यवहारकुशल तथा प्रभावशाली भी थे। रत्नकीर्त्ति उन्हींके पास रहे, अध्ययन किया। कतिपय वर्षोंमें ही वे भी प्रामाणिक विद्वान् माने जाने लगे। व्युत्पन्न तो थे ही। अभयनन्दिने उन्हें अपना पट्टशिष्य घोषित किया, और वि० सं० १६४३ में भट्टारक-पदपर अभिषिक्त कर दिया। वहाँ वे संवत् १६५६ तक बने रहे। कुछ पहलेसे उनका रचना-काल माना जा सकता है।

यदि कोई व्यक्ति विद्वान् हो, चरित्रवान् हो, सुन्दर हो और लक्ष्मी उसके चरणों तले भूलुण्ठित होती रहती हो, तो वह अतिमानव ही कहलायेगा। रत्न-कीर्त्तिमें ये सभी गुण थे। सौन्दर्यके क्षेत्रमें शायद वे अपने युगके सबसे अधिक सुन्दर युवक थे। वे दूसरे उदयन ही थे। दीक्षा, संयमश्री, मुक्तिलक्ष्मी आदि अनेक कुमारियोंके साथ उनका विवाह हुआ था। उनके सौन्दर्यके गीत उनके शिष्योंने गाये हैं। कवि गणेशकी कतिपय पंक्तियाँ हैं,

> "अरध शशिसम सोहे शुभ माल रे।
> वदन कमल शुभ नयन विशाल रे॥
> दशन दाड़िम सम रसना रसाल रे।
> अधर बिम्बाफल विजित प्रबाल रे॥
> कंठ कम्बूसम रेखात्रय राजे रे।
> कर किसलय-सम नख छवि छाजे रे॥"

उनका शिष्य-परिवार पर्याप्त बड़ा था। एक शिष्या वीरमतिने वि० सं०

---

१. बलात्कारगणकी सूरतशाखाकी ही एक परम्परा भ० लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य अभय-चन्द्रसे प्रारम्भ हुई। उनके पट्टशिष्य थे अभयनन्दि। अभयनन्दिके शिष्य थे रत्नकीर्त्ति। भट्टारक सम्प्रदाय, जीवराजग्रन्थमाला, शोलापुर, पृष्ठ २००।

१६६२ में भगवान् महावीरको मूर्त्ति प्रतिष्ठित करायी थी।[1] शिष्य जयसागरने बलसाढ नगरमे हुए प्रतिष्ठा-महोत्सवका वर्णन किया है। उसमे भट्टारक रत्नकीर्त्ति अपने संघसहित शामिल हुए थे। शिष्योमे कुमुदचन्द्र सर्वश्रेष्ठ थे। उनकी प्रत्येक रचनामे गुरु रत्नकीर्त्तिका स्मरण किया गया है। उन्हीको वि० सं० १६५६ मे अपने पट्टपर प्रतिष्ठित कर रत्नकीर्त्ति नितान्त उदासीन हो गये थे।

उनकी रचनाएँ

भट्टारक-पदसे अनेक उत्तरदायित्व सम्बद्ध थे। उनका ठीक निर्वाह करनेके लिए कठोर हृदयकी आवश्यकता थी। अधिकाश भट्टारक ऐसे ही हो जाते थे। किन्तु रत्नकीर्त्तिका हृदय सरस था। वे जन्मजात कवि थे। उनका मर्म सदैव द्रवणशील रहता था। उनके रचे ३८ पद इस कथनके साक्षी है। राजुलने बहुत हटका, किन्तु निष्ठुर नेत्र नही माने। हृदय फाडकर बह चले, उस गिरिकी ओर जानेकी आकाक्षा थी, जहाँ नेमीश्वर रहते थे। नही तो फिर और क्या करते। यहाँ तो कुछ भी अच्छा नही लगता। रजनी कभी समाप्त ही नहीं होती,

"वरज्यो न माने नयन निठोर।
सुमिरि सुमिरि गुन भये सजल घन, उमंगि चले मति फोर ॥
चंचल चपल रहत नहिं रोके, न मानत जु निहोर।
नित उठि चाहत गिरि को मारग, जे हीं विधि चन्द्रचकोर ॥
तन मन धन यौवन नही भावत, रजनी न भावत भोर।
रतनकीरति प्रभु वेग मिलो, तुम मेरे मन के चोर ॥"

नेमिनाथफागु[2]

इसमे ५१ पद्य है। इसकी रचना हासोट नगरमे हुई थी। इसका भी सम्बन्ध नेमीश्वर-राजुलके प्रसिद्ध कथानकसे है। दिगम्बर कवियोने बहुत कम

१. सं० १६६२ वर्षे वैशाख वदी २, शुभ दिने श्रीमूलसघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० अभयचन्द्रदेवा तत्पट्टे भ० अभयनन्द तच्छिष्य आचार्य श्रीरत्नकीर्त्ति तस्य शिष्याणी बाई बीरमती नित्यं प्रणमति श्रीमहावीरम्।
वही, लेखांक ५७२, पृष्ठ १६३।

२. नमिविलास उल्हासस्यु, जे गास्ये नर-नारि।
रत्नकीरति सूरीवर कहे, ते लहे सौख्य अपार ॥
हासोट माहि रचना रची, फाग राग केदार।
श्री जिन जुग धन जाणीये, सारदा वर दातार ॥
नेमिनाथफागुकी हस्तलिखित प्रति, पद्य ५१, श्री यशःकीर्त्ति-सरस्वती-भवन, ऋषभदेव।

फागुओंकी रचना की है। उनमें भट्टारक ज्ञानभूषणका 'आदीश्वरफागु' सबसे बड़ा है। पिछले पृष्ठोंपर इसका उल्लेख हो चुका है। भट्टारक विद्याभूषणके 'नेमिनाथ-फागु' में भी २५१ पद्य हैं। तीसरा ब्रह्मरायमल्ल रचित 'नेमिनाथफागु' है। यह एक छोटी कृति है। प्रस्तुत रचना चौथा फागु है। इसमें राजुलकी सुन्दरताका एक चित्र इस प्रकार है,

> "चन्द्रवदनी मृगलोचनी मोचनी खंजन मीन।
> वासग जीत्यो वेणिइं, श्रेणिय मधुकर दीन॥
> युगल गल दाये शशि, उपमा नासा कीर।
> अधर विद्रुम सम उपमा, दंतनू निर्मल नीर॥
> चिबुक कमल पर षट्पद, आनंद करे सुधापान।
> ग्रीवा सुन्दर सोभती, कम्बु कपोलने वान॥"

नेमिबारहमासा[1]

यह एक लघु कृति है। इसमें केवल १२ त्रोटक छन्द हैं। विरहवर्णनके अन्तर्गत 'बारहमासा' आवश्यक तत्त्व माना जाता था। बारह महीनोंमें विरहिणी-की क्या दशा होती थी, यह दिखाना ही अभीष्ट रहता था। जायसीके 'नागमती-विरहवर्णन'[2] में भी 'बारहमासा' शामिल है। कविने 'ज्येष्ठमास' का वर्णन किया है। इस मासमें 'काम' अधिकाधिक सता उठता है। वह किसी उपायसे उपशम नहीं होता। उसकी ऐसी बेचैनी रहती है कि न तो भोजन अच्छा लगता है और न आभूषण ही सुहाते हैं,

> "आ जेष्ठ मासे जग जलहरनो उमाहरे।
> काई बाप रे वाय विरही किम रहे रे॥
> आररते आरत उपजे अंग रे। अनंग रे संतापे दुख केहे रे॥
> केहने कहे किम रहे कामिनी आरति अगाल।
> चारु चंदन चीर चिंते माल जाणे व्याल॥
> कपूर केसर केलि कुंकम केवड़ा उपाय।
> कमल दल जल छांटणा वन रिपु जाणे वाय॥

१. इसकी भी हस्तलिखित प्रति उपर्युक्त भवनमें मौजूद है। उसकी अन्तिम प्रशस्ति है, "लि० संवत् १६१४ वर्षे कार्तिकमासे शुक्ल पक्षे चतुर्थी तिथौ भौम दिने लिखितमिद पुस्तकं, जयतु। श्रीकाष्ठासंघे नंदीतटगच्छे विद्यागणे भट्टारक श्रीविद्याभूषण तत् शिष्य ब्रह्मश्री जयपाल पठनार्थं तथा परोपकारार्थं भवतु।"

२. इसकी हस्तलिखित प्रति, दि० जैनमन्दिर, संघीजी, जयपुरके ज्ञानभण्डारमें है।

भावे नहीं भोजन भूषण, कर्ण केश माप।
परी नग में पान नीको, राखि करें कर माप।"

मध्यकालीन कवियोने 'विरह' का विवेचन करते हुए 'काम' शब्दका बहुत प्रयोग किया है। किन्तु यह 'काम' शब्द कामदेवका नही, अपितु 'विरह' का पर्यायवाची रहा है। पहले 'विरह' के अर्थमे 'काम' का प्रयोग होता था। कालिदासके 'कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणा चेतनाचेतनेषु' मे भी 'काम' 'विरह' का ही प्रतीक है। अतः कोई यह न समझे कि नेमिनाथके विरहमे राजुल 'काम-प्रपीडिता' रहती थी।

३१. ब्रह्म रायमल्ल (वि० सं० १६१५)

ब्रह्म रायमल्ल सत्तरहवी शताब्दीके प्रथम पादके समर्थ कवि थे। उन्होने हिन्दीके अनेकानेक काव्योकी रचना की। इनकी भाषा सरस और प्रसादगुणसे युक्त है। इनके पूर्व सोलहवी शताब्दीके अन्तिम पादमे पाण्डे राजमल्ल हो चुके है। दोनोमे भेद स्पष्ट है[1]। पाण्डे राजमल्ल सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रशके विशिष्ट विद्वान् थे। उन्होने हिन्दीमे तो केवल छन्द-शास्त्र लिखा है। छन्द-शास्त्रमे भी अधिकतर दृष्टान्त अपभ्रंशके ही है। कविवर बनारसीदासने इन्ही राजमल्लका उल्लेख किया है। डॉ० जगदीशचन्द्र जैनने इन्ही राजमल्लके विषयमे लिखा है कि आप जैनागमके बडे भारी वेत्ता एक अनुभवी विद्वान् थे[2]।

ब्रह्म रायमल्ल जन्मसे ही कवि थे। उनमे हृदयपक्ष प्रधान था। उन्होने जो कुछ लिखा हिन्दीमे लिखा, सस्कृत-प्राकृतमे नही। उन्होने जैन नैयायिकों और सैद्धान्तिकोका भी अध्ययन किया था, किन्तु उनकी शुष्कतासे प्रभावित नही हुए। उन्होने जैन धर्मके मूल तत्त्वोको मानवकी मूल वृत्तियोंके साथ आगे बढाया। उनके काव्योमे सरसता है।

संस्कृत 'भक्तामर स्तोत्रवृत्ति[3]'को इनकी रचना माना जाता है। इसके आधारपर रायमल्लका जन्म 'हूबड' वशमे हुआ था। उनके पिताका नाम 'मह्य'

---

१. प० नाथूरामजी प्रेमीने दोनोको एक ही समझा था।
हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ५०।
२. उद्धृत कामताप्रसाद जैन, हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० ७६।
३. सेठके कूँचा मन्दिर, दिल्लीकी प्रतिमें लेखकका नाम मुनि रत्नचन्द पढा है, अतः इस विषयमें खोजकी आवश्यकता है।

और माताका नाम 'चम्पा' था। उनकी माता अनेक गुणोंसे सम्पन्न थीं और व्रतादिक कार्य करती ही रहती थी। वे जिनेन्द्रकी भक्त थी और इसी कारण उनके पुत्र रायमल्ल भी व्रती और 'जिनपादकंजमधुप' बन सके थे। माताका प्रभाव पुत्रपर पड़ता है। ब्रह्म रायमल्लके गुरुका नाम मुनि अनन्तकीर्त्ति था। वे मूलसंघ शारदगच्छके आचार्य रत्नकीर्त्तिके पट्टपर अवस्थित थे।[1]

ब्रह्म रायमल्लके रचे हुए सात हिन्दी काव्य उपलब्ध हुए है। इनमे 'नेमीश्वररास' वि० सं० १६१५, मे, 'हनुवन्त कथा' वि० सं० १६१६ मे, 'प्रद्युम्नचरित्र' स० १६२८ मे, 'सुदर्शनरास' सं० १६२९ मे, 'श्रीपालरास' सं० १६३० मे और 'भविष्यदत्त कथा' सं० १६३३ मे रची गयी। 'निर्दोषसप्तमी व्रतकथा' भी इन्हीकी कृति है। उसपर रचना-संवत् नही है। इनकी भाषामे गुजरातीका पुट है। अपभ्रंशके शब्दोका भी प्रयोग हुआ है।

नेमीश्वर रास

यह रास भगवान् नेमीश्वरकी भक्तिमे बना है। उसमे भगवान् नेमिनाथ तथा राजुलकी कथाका आश्रय लिया गया है। कथानकके रुचिकर होते हुए भी काव्य साधारण कोटिका है।

हनुवन्त कथा[2]

जैनोकी प्राचीन कथाओके अनुसार हनुमान् अंजना-पुत्र थे। अंजना भगवान् जिनेन्द्रकी परम भक्त थी। पुत्र भी तदनुरूप ही बना। जैनोंके बलभद्र रामकी भक्ति कर वे अमर हो गये। आराध्यके भक्तोकी भी भक्ति होती रही है। हनुमान्‌की भक्तिमे भी अनेक काव्य और रासादिकोका निर्माण हुआ है। 'हनुवन्त कथा' भी उसी परम्पराका एक काव्य है।

पवनंजै राय, हनुमान्‌के पिता थे। उनके यहाँ भगवान् जिनेन्द्रके पूजनकी तैयारियाँ हो रही हैं। कुमकुम और चन्दन घिस लिया गया है, उसमे कपूर मिला दिया है। केतकीके पुष्प मँगवा लिये है, उनमें-से सुगन्धि निकल रही है। पवनंजैने पूजनकी थाली भगवान् जिनेन्द्रके चरणोंमें समर्पित की। उन्हें विश्वास है कि ऐसा करनेसे आत्मा शुद्ध होगी और एक दिन मोक्ष भी मिल जायेगा,

---

१. जैन ग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, पृ० १००।

२. इसकी एक हस्तलिखित प्रति, सेठ कूँचाके मन्दिर, दिल्लीमें तथा एक प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरामें मौजूद है। इसी प्रतिके अन्तमें रचना-काल वि० सं० १६१६, बैसाख बदी नवमी दिया है।

"कूं कूं चंदन घसिया घरणी, मांझि कपूर मेलि अति घणी।
जिणवर चरण पूजा करी, अवर जन्म की थाली भरी॥
'राय' भोग केतकी सुवास, सो भाविया वंदऊ जास।
'जिणवर आगें धरैं पषालि, जाणि मुकति सिर बंधि पालि॥४१-४२॥"

सन्ध्याका समय है। पवनंजैराय मित्रोंसहित अपने मन्दिरके ऊपर बैठे हैं। घोसलोंकी ओर उड़ते हुए पक्षी आसमानमें शब्द कर रहे हैं। सरोवरके किनारे आते ही उनका 'पुलक' और भी मुखरित हो उठा। वहाँके वृक्षोंपर ही उनके घोसले हैं। दिशाओंका लाल मुख काला पड़ गया है। चकवा-चकवी भी पृथक्-पृथक् हो गये हैं। चित्रमें स्वाभाविकता है और रस भी,

"दिन गत भयौ आथयो भाण, पंषी शब्द करै असमान।
मित्त सहित पवनंजै राय, मन्दिर ऊपर बैठो जाय॥
देखै पखी सरोवर तीर, करै शब्द अति गहर गहीर।
दसै दिसा मुष कालो भयो, चकहा चकिही अन्तर लयो॥"

कविने वीर बालकका ओजस्वी चित्र खींचा है। हनुमान् क्षत्रियके पुत्र थे। वीरता उनका स्वभाव था। उनके बाल-तेजसे शत्रु-घटाएँ ऐसे विदीर्ण हो जाती है, जैसे बाल-सूर्यसे अन्धकार फट जाता है। सिंह चाहे छोटा ही हो फिर भी दन्तियोंको मारनेमें समर्थ होता ही है। सघन वृक्षोंसे व्याप्त वन कितना ही बिस्तीर्ण हो, अग्निका एक कण ही उसे जलानेमें समर्थ है,

"बालक जब रवि उदय कराय, अन्धकार सब जाय पलाय॥
बालक सिंह होय अति सूरो, दन्तिघात करे चकचूरो।
सघन वृक्ष बन अति बिस्तारो, रत्तो अग्नि करे दह छारो॥
जो बालक क्षत्रिय को होय, सूर स्वभाव न छाड़े कोय॥"

प्रद्युम्नचरित्र

इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेरशास्त्रभण्डारमें सं० १८२० की लिखी हुई मौजूद है। इस काव्यकी रचना हरसोर गढ़के जिनेन्द्र मन्दिरमें हुई थी। वहाँ देव, शास्त्र, गुरुके भक्त श्रावक लोग रहते थे। प्रशस्तिमें ग्रन्थका रचना-काल वि० सं० १६२८ दिया गया है। प्रारम्भमें ही जगत्के नाथ तीर्थंकरकी वन्दना करते हुए कविने लिखा है कि उनका स्मरण करनेसे मन उत्साहसे भर जाता है। अठारह दोष दूर हो जाते है, और छियालीस गुण उत्पन्न होते हैं,

"हो तीर्थंकर बंदू जगनाथ।
तोह सुमिरण मन होइ उछाह तो हुआ छ अरु होय जी सी ॥
तिह कारण रहै घट पूरि गुण छीयालीस सोभे भला जी।
दोष अठारह किया दूर तो रास भणौ परदमन को जी ॥"

सुदर्शन रास

यह रास आमेरशास्त्रभण्डारमे मौजूद है। काव्यकी रचना वैशाख शुक्ला सप्तमी वि० सं० १६२९ मे हुई थी। वह सम्राट् अकबरका राज्य-काल था। कविने अकबरके लिए लिखा है कि वह इन्द्रके समान राज्यका उपभोग कर रहा था। उसके हृदयमें भारतके षट् दर्शनोंका बहुत अधिक सम्मान था,

"साहि अकबर राजई, अहो भोगवे राज अति इन्द्र समान।
और चर्चा उर राखै नहीं अहो छः दरसण को राखै जी मान ॥२॥"

काव्यकी भाषापर गुजरातीका प्रभाव है और उसकी रचना साधारण ही कही जा सकती है। भगवान् आदिनाथको प्रणाम करते हुए कविने मंगलाचरणमे लिखा है,

"प्रथम प्रणमौं आदि जिणिंद, नाभि राजा कुल उदयाजी चंद।
नगर अयोध्या अपने स्वामी पूरब लाख, चौरासी सी जी आई,
मरुदे जी मात हैं उर धरिउं ॥"

श्रीपालरास

इसकी एक प्रति आमेरशास्त्रभण्डारमे मौजूद है। इसमें ४० पन्ने है। कुल पद्योंकी संख्या २९७ है। इसका लिपि संवत् १६८९ और रचना सं० १६३० हैं। इसमे राजा श्रीपालकी कथा है। वे 'कोटीभट' कहलाते थे। अर्थात् उनमे एक करोड भटोंका बल था। सौन्दर्यमें कामदेवके समान थे। पूर्व कर्मोंके विपाकसे वे कोढ़ी हो गये। एक राजा अपनी कन्या मैनासुन्दरीसे नाराज होकर उसका विवाह उनके साथ कर गया। मैनासुन्दरी भगवान् जिनेन्द्रकी भक्त थी। उसने भगवान्की भक्ति की और जिनेन्द्रकी एक मूर्तिके प्रक्षालित-जलसे ही अपने पतिका कोढ ठीक कर लिया। श्रीपाल फिर पहले-जैसे ही सर्वांगसुन्दर हो गये।

इस प्रकार काव्यमें जिनेन्द्रकी भक्ति ही प्रमुख है। मनोरम कथानक और भक्तिपूर्ण भावोने काव्यको उत्तम कोटिका बना दिया है। भाषामें शिथिलता है किन्तु खटकनेवाली नही। मंगल पद्य इस प्रकार है,

"हो स्वामी प्रणमो आदि जिणंद, बंदौ अजित होई आनंद।
संभौ बंदौ जुगति स्यौ, हो अभिनंदन का प्रणमो पांइ॥"

भविष्यदत्त कथा

धनपालकी अपभ्रंश 'भविसयत्तकहा' प्रो० याकोबी-द्वारा सम्पादित होकर सन् १९१८ में म्यूनिककी 'रॉयल एकेडेमी'से प्रकाशित हुई थी। धनपालके पश्चात् अनेकानेक भविष्यदत्तकथाओंका निर्माण होता रहा। प्रस्तुत काव्य भी उसी परम्पराकी एक देन है। 'भविष्यदत्तकथा'को पंचमी-व्रत-कथा भी कहते हैं। इसमें पंचमी-व्रतका माहात्म्य बताया गया है। ग्रन्थका मुख्य आधार भक्ति है। भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिके कारण ही भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्तके द्वारा दिये गये भीषण दुःखोंका उन्मूलन कर सका। उसकी माँ 'सुयपंचमी' व्रत रखती है, और वह स्वयं भगवान् जिनकी पूजा करता है। अतः ठीक समयपर एक देवने सहायता की और उसको पत्नी तथा धन-सम्पत्ति दोनों ही प्राप्त हो गये।

इसकी एक प्रति वि० सं० १६९० की लिखी हुई आमेरशास्त्रभण्डारमें मौजूद है। इसमें ६७ पन्ने हैं। प्रशस्तिमें लिखा है कि इसका निर्माण सं० १६३३ में कार्तिक सुदी चौदसको शनिवारके दिन हुआ था। उस दिन स्वाति नक्षत्र और सिद्धि योग था।[1]

इस काव्यकी रचना ढूँढाहड देशके सागानेर नामके स्थानपर हुई थी। सागानेरकी शोभाका वर्णन करते हुए कविने लिखा है कि उसकी चारों दिशाओंमें सुन्दर बाजार थे, जिनमें मोती-हीरोंका व्यापार होता ही रहता था। वहाँ भगवान् जिनेन्द्रका एक बहुत ऊँचा मन्दिर भी था। उसमें बेशकीमती तोरण टँगे थे, बहुमूल्य चँदोवा तने थे। वहाँ राजा भगवतदास राज्य करता था। अनेकों राजकुमार उसकी सेवा करते थे। प्रजाको सब प्रकारका सुख था। दुःखी और दरिद्रोंकी भी आशाएँ पूरी होती रहती थीं। वहाँ बड़े-बड़े धनवान् श्रावक रहते थे। वे जयजयकार करते हुए भगवान् अरिहन्तकी पूजा प्रतिदिन करते थे,

"देस ढूंढाहड सोभा घणी, पुंजें तहां आलि मणतणी।
निमल तलै नदी बहु फिरै, सुख से बसै बहु सांगानेरि॥

---

१ सोलह सै तैंतीसा सार, कातिक सुदी चौदस सनिवार।
स्वांति नक्षत्र सिद्धि शुभजोग, पीडा खन व्यापै रोग॥
अन्तिम प्रशस्ति।

चहुंदिसि बाण्या भला बजार, भरे पटोका मोती हार।
भवन उत्तुंग जिनेश्वर तणा, सोभै चंदवा तोरण घणा ॥
राजा राजै भागवतदास, राजकुँवर सेवहिं बहु तास।
परजा लोग सुखी सुख बसें, दुखी दलिद्री पुरबै आस ॥
श्रावक लोग बसै धनवंत, पुजा करहि जयहि अरहत।
उपराउ परी बैरन कास, जिहि अहिमिंद सुर्ग सुख वास ॥"

३२. कुशललाभ (वि० सं० १६१६)

कुशललाभ जैसलमेरके रावल हरराजके आश्रित कवि थे। रावल हरराजका समय सत्तरहवी शताब्दीका प्रथम पाद माना जाता है। कुशललाभका रचनाकाल भी यह ही था। उक्त रावलजीके कहनेसे ही उन्होने राजस्थानीके आदिकाव्य 'ढोला मारू रा दूहा' के बीच-बीचमे अपनी चौपाइयाँ मिलाकर प्रबन्धात्मकता उत्पन्न करनेका प्रयास किया था। इसपर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका कथन है, "मुझे लगता है कि भावपूर्ण पदोके बीच रासलीला आदिके समय कथासूत्रको जोड़नेके लिए ये चौपाई-बद्ध पद बादमे जोडे गये होगे। ढोलाके दोहोका कथासूत्र मिलानेमे कुशललाभने इसी कौशलका सहारा लिया था।'[1] यह कहना ठीक नही है कि समय-समयपर उसमे दाँव-पेच-भरी हुई कथाओकी चिप्पियाँ लगाकर उसे मुक्तकसे 'आख्यानक काव्य' बना देनेके प्रयत्न हुए है।'[2] इन चौपाइयोसे विरहरसमे कोई व्याघात नही पहुँचा है, अपितु कथाके एक सूत्रमे बँध जानेसे 'प्रबन्धकाव्य' का आनन्द आया है, तो फिर वे 'कथाओकी चिप्पियाँ' कैसे हो सकती है। इसके अतिरिक्त वे 'दाँव-पेंच-भरी' तो तब हो, जब उन्होने मूलकथाकी स्वाभाविकताको विनष्ट किया हो। किन्तु ऐसा नही हुआ है।

कुशललाभ खरतरगच्छके समर्थ गुरु श्री श्री अभयदेव उपाध्यायके शिष्य थे।[3]

---

१. हिन्दी साहित्यका आदिकाल, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, १९५२ ई०, पृष्ठ ९७।

२. नामवरसिंह, हिन्दीके विकासमें अपभ्रंशका योग, साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहाबाद, नवीन संस्करण, १९५४ ई०, पृष्ठ २८२।

३. श्री षरतर गच्छि सहि गुरुराय, गुरु श्री अभयधर्म उवझाय।
तेजसार रास, अन्त, १५वाँ पद्य, जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ २१४।

ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उन्हें कवित्व-शक्ति जन्मसे ही मिली थी। उन्होंने भक्ति, शृंगार और वीर-जैसे प्रमुख रसोपर सफल कविताएँ की। उनकी शृंगारपरक रचनाका नाम 'माधवानल चौपाई' है। इसे 'माधवानल-कामकन्दला' भी कहते है। इसकी रचना भी श्रावक हरराजकी प्रेरणासे ही फागुन सुदी १३, रविवारके दिन सं० १६१६ मे हुई थी।[1] इसमे साढे पाँच सौ चौपाइयाँ है। इसमे माधवानल और कामकन्दलाके प्रेमकी कथा है। कही लोकमर्यादाका उल्लंघन नही हो सका, यही इसकी विशेषता है। आज भी यह ग्रन्थ राजस्थान और गुजरातमे बहुत प्रसिद्ध है।

कुशललाभने भक्तिसे प्लावित अनेकानेक काव्योकी रचना की और उनमे कतिपय ये है: 'श्रीपूज्यवाहणगीतम्', 'स्थूलिभद्रछत्तीसी', 'तेजसार रास', 'स्तम्भनपार्श्वनाथस्तवनम्', 'गौडीपार्श्वनाथस्तवनम्' और 'नवकारछन्द'।

श्रीपूज्यवाहणगीतम्

यह गीत, ऐतिहासिक जैन-काव्यसग्रहमे संकलित है।[2] काव्य सरस है, भाव सुन्दर और भाषा रम्य। कविने भक्तिपूर्ण भावोसे श्रीपूज्यवाहणके चरणोमे अपनी पुष्पाजलि अर्पित की है।

गुरुके प्रवचनोके अर्थको वृक्षोने समझा है, और उसीमे तन्मय होकर मानो वे झूम उठे है। कामिनी कोयलमधुर स्वरमे गुरु महाराजके ही गीत गा रही है। 'पूज्यनी देशना' से प्रभावित होकर ही मानो गम्भीर गगन बारम्बार गाज रहा है। मयूरोकी थिरकन और चकोरोकी पुलकपूर्ण आँखोमे गुरूपदेशका शुभ भाव स्पष्ट झलक रहा है,

> **"प्रवचन वचन विस्तार अरथ तरवर घणा रे।**
> **कोकिल कामिनी गीत गायइ श्री गुरु तणा रे।**

---

१ रावल मालि सुपाट धरि, कुंवर श्री हरिराज।
विरचिएह सिणगाररसि, तास कुतूहल काज॥
संवत् सोल सोलोतरइ, जैसलमेर मझारि।
फागुण सुदि तेरसि दिवसि, विरचि आदित्यवार॥
गाथा साढी पाँचसइ, ए चउपइ प्रमाण।
माधवानल चौपई, अन्तिम प्रशस्ति, प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, पृष्ठ २४७-२४८।

२. ऐतिहासिक जैन-काव्यसग्रह, अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, वि० स० १९९४, पृष्ठ ११०-११७।

गाजइ-गाजइ गगन गम्भीर श्री पूज्यनी देशना रे।
भवियण मोर चकोर थायइ शुभ वासना रे ॥६३॥"

गुरुके ध्यानमें स्नान करते ही शीतल वायु मस्त चालसे चल रही है। सारा संसार सुगन्धिसे महक रहा है और वह सुगन्धि गुरूपदेशकी ही है। गुरु महाराजके कारण ही विश्वके सातों क्षेत्रोंमें धर्म उत्पन्न हो सका है। यदि ऐसे गुरुका प्रसाद उपलब्ध हो सके तो अवश्य ही सुख मिलेगा, ऐसा भक्तको विश्वास है,

"सदा गुरु ध्यान स्नान लहरि शीतल वहइ रे।
कीर्त्ति सुजस विसाल सकल जग मह महइ रे।
साते क्षेत्र सुठाम सुधर्मह नीपजइ रे।
श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे ॥६४॥"

स्थूलभद्र-छत्तीसी

यह काव्य बीकानेरकी अनूप संस्कृत लायब्रेरीके एक गुटकाके पृष्ठ ९१-९८ पर संकलित है।[1] इसमें रचना-काल नहीं दिया है। कुल ३७ पद्य हैं। यह काव्य आचार्य स्थूलभद्रकी भक्तिमें निर्मित हुआ है। इसकी भाषामें सरसता और भावोंमें स्वाभाविकता है। प्रारम्भमें ही 'स्थूलभद्र-छत्तीसी' कहनेकी प्रतिज्ञा करते हुए कविने लिखा है,

"सारद शरद चन्द्र कर निर्मल, ताके चरण कमल चितलाइकि।
सुणत संतोष होइ श्रवणण कुं, नागर चतुर सुनहु चितचाइकि ॥
कुशललाभ बुति आनन्द भरि, सुगुरु प्रसाद परम सुख पाइकि।
करिहुं थूलभउ छत्तीसी, अतिसुन्दर पद्दबध बनाइकि ॥१॥"

यह काव्य गुरु-भक्तिके अन्तर्गत आता है। गुरुकी महिमा अपार है। शिष्य कितने ही अपराध करे, किन्तु उसे विश्वास रहता है कि उदार गुरुसे क्षमा मिल ही जायेगी,

"वैसा वाइक सुणी भयउ लज्जित मुणि,
सोच करि सुगुरु कइ पास आवइं।
चूक अब मोहि परी चरण तदि सिर धरि,
आप अपराध आपइं खमावइ ॥३७॥"

---

१. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, चतुर्थ भाग, अगरचन्द नाहटा सम्पादित, साहित्य संस्थान, उदयपुर, १९५४ ई०, पृष्ठ १०५।

ऋषि स्थूलभद्र निर्मल हो चुके हैं। उन्होंने पापरूपी मलोको विगलित कर दिया है। उनके सुयशके वर्णन करनेमे भक्त-कविको परम आनन्द प्राप्त होता है,

> "धन्य थूलिभद्द रिषि निर्म्मल परखि,
> ताहि कइ सरिस कुण नर कहावइ।
> धरति जे ब्रह्म तप सुजस तिनका,
> सूवन कुशल कवि परम आनन्द पावइ ॥३७॥"

तेजसार-रास

यह रास गुरु अभयधर्म उपाध्यायकी प्रेरणासे लिखा गया था। इसकी रचना वीरमपुर नामके नगरमे वि० सं० १६२४ मे हुई थी। वाचक कुशललाभका कथन है कि इस जिनपूजाको जो कोई पढता है, उसके सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

> "श्री खरतर गच्छि सहि गुरुराय, गुरु श्री अभयधर्म उवझाय।
> सोलहसई चउवीसि सार, श्री वीरमपुर नयर मझार।
> अधिकारई जिनपूजा तणइ, वाचन कुशल लाभ इम भणइ।
> जे वांचई नई जे सांभलइ, तेहना सहू मनोरथ फलई॥१५-१६॥"

यह दीप-पूजासे सम्बन्धित काव्य है। इसकी उपलब्ध प्रति पौष शुक्ला १४ वि० सं० १६४४ को तपागच्छके सहजविमलने राजपुरमे की थी। श्रीसहजविमल तपागच्छाधिराज परमगुरु भट्टारक श्रीहेमविमलसूरिके शिष्य मुख्य पण्डित श्री सुमतिमण्डल गणिके शिष्य थे[1]।

प्रारम्भमे ही जिन-प्रतिमाके पूजनकी महिमाका उल्लेख है। जिन-प्रतिमा जिनेन्द्रके समान ही है। उसकी पूजा करनेसे इहभव और परभव दोनो ही सँभल जाते हैं,

> "श्री सिद्धारथ कुलतिलं चरम जिणेशर वीर।
> पान्नुगि प्रणमी तसतणा सोविन्नवन्नसिरीर॥

---

१. इति तेजसार दीपपूजाविषये रास समाप्त, स० १६४४ वेष, पोस सु० १४ राजपुर नगरे, तपागच्छाधिराज श्रीश्रीपरमगुरु भट्टारक श्री हेमविमलसूरि, तत् शिष्य मुख्य पण्डित श्री सुमतिमंडण गणि, तत् शिष्य सहजविमलेन लिखितो अयं रास।
जैनगुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृ० २१५।

जिनवर श्रीमुखि ऊपदिसउं भविकलोक सुषकाजि।
जिन प्रतिमा जिन सारणी माषि श्रीजिनराजि॥
प्रतिमा जिननी जिनसूरि आणहि एकंति
आहिभव परभव सुष लहई इम भाषई अरिहंत॥१-३॥"

स्तम्भनपार्श्वनाथस्तवनम्[1]

श्री कुशललाभने इस स्तवनकी रचना खम्भातमे, वि० सं० १६५३ मे की थी[2]। स्तम्भन पार्श्वनाथकी सातिशय मूर्ति है। संस्कृतमे स्तम्भन पार्श्वनाथको लेकर अनेको स्तुति-स्तोत्रोंकी रचना होती रही है। तरुणप्रभाचार्य और जिनसोमसूरिके स्तम्भनपार्श्वनाथस्तवनोका संकलन 'मन्त्राधिराजकल्प' मे हुआ है। हिन्दीमे कुशललाभका 'स्तम्भनपार्श्वनाथस्तवनम्' उसी परम्परामें है। इस स्तवनका आदि और अन्त निम्न प्रकारसे है,

आदि

"प्रभु प्रणमुरे पास जिणेसर थमणौ,
गुण गावारे मुज मन उलट अति घणौ।
ज्ञानी विणरे एहनी आद न को लहै,
तोहें पणिरे गीतारथ गूरु ईम कहै॥"

अन्त

"ईमि स्तव्यो स्थंमण पास स्वामी नयर श्रीषमायतैं,
जम सहा गुरु श्रीमुष सुणिव वांणि सास्त्र आगम संमते।
ए आद मूरति सकल सुरति सेवता सुख पांमीए,
मनभाव आंणि काम जांणि, कुशललाभ पजंपये॥"

गौडीपार्श्वनाथस्तवनम्[2]

गौडी पार्श्वनाथकी भी सातिशय प्रतिमा है। उसके दर्शन करनेसे रोग-शोक दूर हो जाते है। श्री यशोविजयका संस्कृतमे लिखा हुआ 'गौडीपार्श्वनाथस्तवन' अत्यधिक प्रसिद्ध है[3]। श्री कुशललाभका 'गौडीपार्श्वनाथस्तवन' हिन्दीकी रचना है। इसमे २३ पद्य है।[4] स्तवनमें गौडीपार्श्वनाथकी भक्ति ही मुख्य है। कविने

१. इसकी हस्तलिखित प्रति, श्री दि० जैन मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुरके गुटका नं० ९२ में निबद्ध है।

२. यह स्तवन, बडोदराके श्री शान्तिविजयजीके भण्डारमें मौजूद है। इसकी दूसरी प्रति, जयपुरके पं० लूणकरणजीके मन्दिरमें, गुटका नं० ६६ में अंकित है।

३. जैनस्तोत्रसन्दोह १, मुनि चतुरविजय-द्वारा सम्पादित, अहमदाबाद, पृ० ३८४।

४. जैन गुर्जरकविओ, पहला भाग, पृ० २१६।

प्रारम्भमे उस सरस्वतीकी हाथ जोडकर वन्दना की है, जो सुराणी है, स्वामिनी है, और वचन-विलासकी ब्रह्माणी है। वह एक ऐसी ज्योति है, जो समूचे विश्वमे व्याप्त है,

"सरसति सामनी आप सुराणी, वचन विलास विमल ब्रह्माणी,
सकल जोति संसार समाणी, पाद परणमुं जोडि युग पाणि ॥१॥"

गौडीपार्श्वनाथकी वन्दना केवल नर ही नही, किन्तु असुर, इन्द्र, देव, व्यन्तर और विद्याधर आदि सभी करते है। भगवान् पार्श्व जिनेन्द्र समूचे संसारके नाथ है। भगवान्‌के दर्शन उस चिन्तामणिके समान है, जो सभी मनोवाछितोको पूरा कर देती है। जिनके दर्शनोमे ऐसी शक्ति हो, उसकी महिमा अपरम्पार है,

"तेणि धरा जस तुअ उदधि तिहां दिप असंखित,
व्योम धरणि पायाल आण सुर बहे अखंडित।
असुर इन्द्र नर अमर विविध व्यंतर विद्याधर,
सेवे तुज पाय सय न माज सुजपे निरंतर।
जगनाथ पास जिनवर जयो मनकामित चिंतामणी,
कवि कुशललाभ संपति करण धवलधींग गौडीधणी ॥
अन्तिम कलश ॥"

नवकार छन्द

इसमे १७ पद्य है। इसकी हस्तलिखित प्रति अहमदाबादके गुलाबविजयजीके भण्डारमे मौजूद है।[1] इसमे पंच परमेष्ठीकी वन्दना की गयी है। श्री कुशललाभने लिखा है कि उसका नित्य जाप, संसारकी सुख-सम्पत्तियोंको प्राप्त कराता है, और सिद्धि भी प्रदान करता है। एकचित्तसे पंचपरमेष्ठीकी आराधना करनेसे अनेकों अभिलषित ऋद्धियाँ प्राप्त हो जाती है,

"नित्य जपीई नवकार संसार संपति सुखदायक,
सिद्धमंत्र शाश्वतो इम जंपे श्री जगनायक।
नवकार सार संसार दे कुशललाभ वाचक कहे,
एकचित्ते आराधीई विविध ऋद्धि वंछित लहे ॥ अन्तिम कलश ॥"

---

१. जैन गुर्जरकविओ, पहला भाग, पृ० २१६।

३३. साधुकीर्ति (वि० सं० १६१८)

साधुकीर्तिकी गुरु-परम्परा इस प्रकार है : मतिवर्धन, मेरुतिलक, दयाकलश और अमरमाणिक्य। [1] अमरमाणिक्य साधुकीर्तिके गुरु थे। ये खरतरगच्छके साधु थे, उन्होंने स्थान-स्थानपर जिनचन्द्रसूरिका स्मरण किया है। एक साधु-कीर्ति और हो गये है, जो बडतपगच्छके जिनदत्तसूरिके शिष्य थे। दोनोमे भिन्नता स्पष्ट है।

साधुकीर्त्ति भक्त-कवि थे। उन्होने अनेक स्तुति-स्तोत्रोंकी रचना की। उनमे प्रसिद्ध ये है : 'पदसंग्रह', 'सत्तर-भेदी पूजाप्रकरण', 'चूनडी', 'रागमाला', 'शत्रुंजय स्तवन', 'नमिराजर्षि चौपई'। इनकी भाषापर गुजरातीका विशेष प्रभाव है।

सत्तर-भेदी पूजाप्रकरण

इसकी रचना अणहिलपुरमें वि० सं० १६१८ श्रावण शुक्ला ५ को हुई थी।[2] इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुरके ठोलियोके दि० जैन मन्दिरमे गुटका नं० ३३ मे संकलित है। श्री कस्तूरचन्द कासलीवालने इसका रचनाकाल वि० सं० १६५८ लिखा है, जब कि इसके अन्तिम पदसे वि० सं० १६१८ सिद्ध है। इसका आदि-भाग इस प्रकार है,

> "ज्योति सकल जगि जागती है, सरसति समरसु मंद।
> सत्तर सुविधि पूजातणी, पमणिसु परमानंद॥"

चूनड़ी

इसकी प्रति जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमे गुटका नं० १०२ मे निबद्ध है। इस गुटकेका लेखनकाल सं० १६४८ है, अतः यह सिद्ध है कि रचना सं० १६४८ से पहले ही हुई होगी। इसको पूरी रचना 'थाउलपुरि सोहामणउ, गढ मढ मन्दिर वाई हो' चालमे की गयी है।

रागमाला

इसकी प्रति भी ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरमे गुटका नं० ३३ में निबद्ध है।

---

१. साधुकीर्त्ति, आषाढभूति-प्रबन्ध, अन्त भाग, पद्य १८२-१८३, जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृ० २२०।

२. संवत् १६ अठार श्रावण सुदि। पंचमि दिवसि समाजइ ॥३॥
जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृ० २२०।

शत्रुंजय स्तवन[1]

इसकी रचना १७वीं शताब्दीके प्रथम पादमें हुई। इसकी एक हस्तलिखित प्रति श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाईके पास है। उसका आदि-अन्त इस प्रकार है।

आदि

"पय प्रणमी रे, जिणवरना शुभ भाव कई।
पुंडरगिरि रे, गाइसु गुरु सुपसाऊ लई॥"

अन्त

"इम करीय पूजाय थाजो गहि संघ पूजा आदरई,
साहम्मिवच्छल करई मवियाँ, भव समुद्र लीला तरई,
संपदा सोहग तेह मानव, रिद्धि वृद्धि बहु लहई,
अमरमाणिक सोस सुपरइ, साधु कीरति सुख लहई॥"

नमिराजर्षि चौपई

इसकी रचना नागौरमें वि०सं० १६३६ माघ शुक्ला ५ को हुई थी। इसकी प्रति १७वीं सदीकी लिखी हुई ही मौजूद है, जिसमें ५ पत्रे हैं।[2]

अन्य स्तोत्र-स्तवन[3]

'एकादशी स्तोत्र', 'विमलगिरि स्तवन', 'आदिनाथ स्तवन', 'सुमतिनाथ स्तवन', 'पुण्डरीक स्तवन', 'जिनादि कवित्त', 'नेमिस्तवन' और 'नेमिगीत' भी साधुकीर्त्तिकी ही रचनाएँ हैं।

३४. हीरकलश (वि० सं० १६२४)

हीरकलश खरतरगच्छके श्वेताम्बर साधु थे। इसी शाखामें श्री जिनचन्द्र-सूरिका जन्म हुआ था, जिनका नाम सुनते ही वादि जन पलायन कर जाते थे। उन्हींके पट्टपर आगे चलकर श्री देवतिलक उपाध्याय विराजमान हुए। उनमें अगाध पाण्डित्य और सुजनताका अभूतपूर्व समन्वय था। उनके शिष्य हर्षप्रभु नामके मुनि हुए। हीरकलश उन्हींके शिष्य थे।[4]

---

१. जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृष्ठ २२०–२२१।

२. जैनगुर्जरकविओ, भाग ३, पृष्ठ ६९९।

३. वही, पृष्ठ ७००।

४. जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृष्ठ २३४-२४० तथा भाग ३, पृष्ठ ७२५-२८।

हीरकलशका रचनाकाल वि० सं० १६२४ से १६७७ तक माना जाता है। हीरकलशकी सात रचनाएँ प्राप्त हैं : 'सम्यक्त्वकौमुदी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'कुमतिविध्वंस चौपाई', 'आराधना चौपई', 'मुनिपति चरित्र चौपई', 'सोलह स्वप्नसज्झाय', 'अठारह नातरा सम्बन्धी सझाय।'

सम्यक्त्वकौमुदीरास

इसकी रचना वि० स० १६२४ माह सुदी १५ बुधवार पुष्यनक्षत्रमें हुई थी। कविने रचनास्थलका उल्लेख करते हुए लिखा है कि मैंने इस रासकी रचना 'सवालष' नामकी नगरीमे की, जहाँके धार्मिक-स्नेहने मुझे बाँध लिया था।[1] इसकी सबसे प्राचीन प्रति वि० सं० १६५२ भाद्र बदी ४ भौमवारकी लिखी हुई मौजूद है, जिसे बनासुत परीष वीरदासने अपने पढनेके लिए लिखा था। इस काव्यमे १०५० पद्य है और सभी चौपाइयोमे निबद्ध हैं। इस रासमें अनेक भक्तोके चरित्रोका सरस वर्णन है। भाषामे लय है और भावोमे भक्तिकी सरसता।

सिंहासन बत्तीसी

इस काव्यकी रचना वि० सं० १६३६ आसोज वदी २ को, सवालष देशके अन्तर्गत मेड़ता नामके नगरमे हुई थी। इसकी एक प्रति मेवाडके सरस्वती भण्डारमे वि० सं० १६४६ कात्तिक सुदी १२ रविवारकी लिखी हुई मौजूद है।[2] इस प्रतिमे श्लोक-संख्या ३५०० है। सभी पद्य चौपाई और दोहोंमे है। वैसे तो इस काव्यमे विक्रमादित्य भोजका चरित्र वर्णित है, किन्तु वास्तवमे दानकी महिमा बताना ही कविका मुख्य लक्ष्य था। दानकी महिमाका उल्लेख जैन-शास्त्रोंके अनुसार ही किया गया है।

कुमतिविध्वंस चौपई

इस काव्यके निर्माण-कालका उल्लेख करते हुए कविने लिखा है, 'इसकी

---

१. सवत सोलहसई चउवीस, माही पूनम बुध सरोस पुष्य नक्षत्रई लेह,
देश सवालष नयरी जेह, धर्म तणउ जिलां वाध्युनेह, तिहा कोई चउपई जेह।
जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृष्ठ २३४-२३५।

२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग १, डॉ० मोतीलाल मेनारिया सम्पादित, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर, १९४२ ई०, पृष्ठ १५२-१५३।

रचना वि० सं० १६७७ जेठ सुदी १५ बुधवारके दिन कर्णपुरी नामके नगरमे हुई थी।' इसकी एक प्रति वि० सं० १७५९ की लिखी हुई मौजूद है।[1]

इस काव्यमे मूर्त्ति पूजाका समर्थन किया गया है। उस समय मुसलमान और हिन्दुओंके कुछ सम्प्रदाय मूर्त्ति-पूजाको कुमति मानने लगे थे। इसमे उसका निरास किया गया है।

आराधना चौपई

इसकी रचना वि० सं० १६१३ माह सुदी १३ गुरुवारको नाणौरमे हुई थी। इसकी एक प्रति बीकानेरके नाहटा श्रीके पास है, जिसमे केवल ४ पन्ने है। दूसरी प्रति आसोज बदी १३ वि० स० १८६९ की लिखी हुई महर भण्डारमे मौजूद है। इसमे केवल ७ पन्ने है। एक तीसरी प्रति और भी है जो १७वी या १८वी सदीकी लिखी हुई है, जिसमे ६ पन्ने है। इस काव्यमे २४ तीर्थंकरोकी आराधना की गयी है।

मुनिपति चरित्र चौपई

इस चौपईकी रचना वि० सं० १६१८ माह बदी ७ रविवारको बीकानेरमे हुई थी। इसकी प्रति वीरगामके संघ भण्डारमे मौजूद है। इसमे कुल ७२३ पद्य है। इसमे मुनिवर मुनिपतिके चरित्रकी महिमाका वर्णन है। पूरा काव्य 'मुनि-भक्ति' से ओतप्रोत है।

सोलह स्वप्न सझाय

इस छोटे-से काव्यका निर्माण वि० सं० १६२२ भादो सुदी ५ को हुआ था। गर्भमे आनेके पूर्व तीर्थंकरकी माता १६ स्वप्न देखा करती है। उन्हीका यहाँ उल्लेख है। इसमे कुल २० पद्य है।

अठारह नातरां सम्बन्धी सझाय

इसकी रचना वि० स० १६१६ श्रावण शुक्लामे हुई थी। जम्बू स्वामीने जिन १८ नातराओंका उल्लेख किया है, उन्हीका इसमे वर्णन है। इसमे कुल ५२ पद्य है।

---

१. सोलहमै सत्तोत्तरवास, कर्णपुरी नयरी-उल्हास।
जेहि पुनिम ने बुधवारे, श्री संवेगि जोग-अवतार॥
जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृष्ठ २४०।

३५. पाण्डे जिनदास (वि० सं० १६४२)

'जम्बू चरित्र' मे पाण्डे जिनदासने अपना परिचय दिया है। वे आगरेके रहनेवाले थे। उनके पिताका नाम ब्रह्मचारी सन्तीदास था। कुछ विद्वानोका कथन है कि उन्होने ब्रह्म सन्तीदासके पास शिक्षा प्राप्त की थी। हो सकता है कि उन्होने शिक्षा भी अपने पिताके समीप ही ग्रहण की हो। एक ही व्यक्ति गुरु और पिता दोनो हो सकता है। यदि 'ब्रह्म' विशेषण शंका उत्पन्न करता हो तो यह भी असम्भव नही है कि श्री सन्तीदासने पुत्रोत्पत्तिके उपरान्त ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया हो।[1]

इनका रचनाकाल बादशाह अकबरका समय माना जाता है। इन्होने स्वयं भी ऐसा ही लिखा है।[2] इनके आश्रयदाता अकबरके प्रसिद्ध मन्त्री टोडरशाह थे। उनके पुत्र दीपाशाहके पढनेके निमित्त ही 'जम्बूस्वामीचरित्र'की रचना हुई थी। टोडरशाहके परिवारके रिषभदास, मोहनदास, रूप मगद और लछमीदास-का उल्लेख भी उन्होने किया है। वे सभी धार्मिक व्यक्ति थे और उनकी ख्याति भी विशेष थी। दीपाशाहने मथुरामे एक 'निषिद्धिका'का निर्माण करवाया था।[3] हो सकता है उन्होने मथुराके प्राचीन जैन-स्तूपोका भी जीर्णोद्धार कर-वाया हो।[4]

पाण्डे जिनदासके लिखे हुए अनेक काव्योका पता चला है। वे इस प्रकार है : 'जम्बूस्वामीचरित्र', 'योगीरासा', 'जखडी', 'चेतनगीत', 'मुनीश्वरोकी जयमाल', 'मालीरासा', और 'पद'। इनमे अन्तिम चार तो नवीनतम खोजके परिणाम है। 'चेतनगीत' श्री दि० जैन मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुरके गुटका नं० २७ मे, 'मुनीश्वरो-

---

१. ब्रह्मचार भयो संतीदास, ताके सुत पाडे जिनदास।
तिन या कथा करी मनलाय, पुन्य हेत मित तत वर ताहि ॥९५॥
दि० जैन मन्दिर, बडौतके सरस्वती भण्डारकी प्रति।

२. अकबर पातस्याह का राज, कीनी कथा धर्म के काज,
भूल्यौ बिसर्यौ अक्षर जहा, पंडित गुणी सवारौ तहा ॥९२॥

३. कोई धर्मनिधि पासा साह, टोडल सुत आगरे सनाह।
ताके नावं कथा यह करी, मथुरा मे जिहि निसही करी ॥९३॥
ऋषभदास अरु मोहनदास, रूप मगद अरु लिछ्मीदास।
धर्मबुद्धि ता रहीयौ चित्त, राज करे परवार संजुत्त ॥९४॥

४. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाकी हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थोंकी खोजके त्रैवार्षिक २०वे विवरणमें पाण्डे जिनदासका विवरण, न० ३।

की जयमाल', गुटका न० १६० में, 'मालीरासा', गुटका नं० १६२ मे और 'पद', गुटका नं० ३२ मे सकलित है। इनके 'पद-संग्रह'का रचनाकाल वि० सं० १६७१ जेठ बदी १३ दिया हुआ है।

जम्बूस्वामीचरित्र

'जम्बूस्वामीचरित्र'की रचना वि० सं० १६४२ मे हुई।[1] इसमें जम्बूस्वामी नामक एक जैन-भक्तका चरित्र है। इसकी वह प्रति, जिसका उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकामे है, सं० १७५१ की लिखी हुई है। हिन्दीके प्रसिद्ध जैन कवि विनोदीलालने अपने पढनेके लिए लिखी थी। जम्बूस्वामी जैनोंके अन्तिम केवली थे और उनकी भक्तिमे ऐसी अनेकानेक रचनाएँ बनती चली आ रही है। हिन्दी-मे लिखा हुआ यह प्रस्तुत चरित्र भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियोंसे उत्तम कोटिका है।

जब राजा श्रेणिक भगवान् महावीरके समवशरणमे गया तो मानस्तम्भके समीपस्थ होते ही उसका मन कोमल हो गया,

"मानस्थम्भ पास जब गयौ, गयो मान कोमल मन भयौ।
तीन प्रदच्छिना दीनी राइ, राजा हरष्यै अंगि न माइ॥८॥
नमसकार करि पूज कराइ, पुणि मुनि कोठै बैठो आइ।
परमेसुर स्तुति राजा करै, बार-बार भगति उचरै॥९॥"

योगीरासा

योगि-भक्तिका काव्य है। इसका विवरण काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाकी १७वी त्रैवार्षिक खोज रिपोर्टमे पृष्ठ ८९ पर अंकित है। बीकानेरके अभय जैन पुस्तकालयमे 'जोगी रासौ'की कई प्रतियाँ मौजूद है।[2] 'योगीरासा'की एक प्रति आमेरशास्त्रभण्डार और एक प्रति महावीरजी शास्त्रभण्डारमे भी है।

'योगीरासा'के दो पद्य अत्यधिक सुन्दर है, उनमे दूसरा तो आध्यात्मिक ओजका प्रतीक है। कवि कहता है, "मै मोहके विशाल पर्वतको खोदकर बहा दूँगा। स्थूल इन्द्रियोंको जीवित नही छोड़ूँगा। कन्दर्परूपी विकराल सर्पके टुकडे-टुकडे कर दूँगा और विषम विषसे भरे हुए विषयोंको तो समाप्त ही कर दूँगा,

---

१. संवत तौ सोला से भए, बयालीस ता ऊपर गये।
भादौ बदि पाँचै गुरुवार, वा दिन कथा कियौ उच्चार॥९१॥

२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृष्ठ १२९–३०।

"ना हौं राचौं णा हौं विरचौं, णा कछु मंति ण आणौ ।
जीव सबै कुइ केवल ज्ञानी, आप्पु समाणा जाणउ ॥२१॥
मोह महागिरि चौदि बहाऊँ, इंद्रिय थूलि न राषउ ।
कंदर्प्प सर्प्प निदप्प करै बिनु, विषया त्रिषम विष नाखौ ॥२२॥[1]"

जखड़ी

यह काव्य 'बृहज्जिनवाणी सग्रह' (पृ० ६०९–६११) में प्रकाशित हो चुका है। इसका रचनाकाल वि० सं० १६७९ है। इसमे सात पद्य है। इसमे चौथा पद्य सम्यग्दृष्टिकी महिमासे युक्त है,

"दंसण गुण बिन जात जिके दिन सो दिन धिक-धिक जानि ।
धन्य सोहि सोही परमिष्ठो, भ्रांति न मनमाहि आनि ॥
भ्रांति सु मिथ्यादृष्टि लच्छन, संशय रहित सुदिष्टी ।
यों जानै विन गह्यौ गही जे, पद पावै परमिष्टी ॥४॥"

लावणी

पाण्डे जिनदासकी रची हुई दो लावणी श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र महावीरजीके एक अप्रजले गुटकेमें निबद्ध हैं।

"मैं भव भव माहीं देव जनेस्वर पाऊँ
इन चौरासी कर माहिं फेरि नहीं आऊँ ॥
जै जै जैनधरम जिनदास लावणी गाई
तेरी अचल अखंडित ज्योति सदा सुखदाई ॥"

चेतनगीत

इस गीतमे ५ पद्य है। कविने चेतनको सम्बोधन करके कहा है,

"चेतन हो तेरो परम निध्यन, काइ दलिद्री होइ रह्यो हो ।
निरमोलिक हो नग तेरे हाथ, मुठी बाँधि बीकत रह्यो ॥
कत रह्यौ मिथ्या मूठि बांधि वि, बता नग अछता करो ।
निजु रत्न भीतरि जतन बाहिरि, दिष्टि कहि कैसे फुरौ ॥
इमि प्रकट परिषि बिहरषु, मानिबी विकबिड जिगहि जेतनौ
तिम परम पंडित दिव्य दिष्टिहिं, कह्यौ तुम स्यौं चेतना ॥१॥"

---

१ महावीरजीशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रति ।

मालीरासौ

इसमे २६ पद्य हैं। यह एक रूपक-काव्य है। जीव माली है और भव एक वृक्ष है। कविका कथन है कि भववृक्षके फल जहरके समान है, उन्हें नही चखना चाहिए,

> "माली वरज्यौ हो ना रहै, फल चाषण की भूष।
> बाधि सुगाढी गडगढी, कूदी चढ्यौ भवरूषि हो प्राणी ॥४॥
> सुरडालि चढ़ी मालिया, हंसि हंसि तें फल षाय।
> अंति सु रोवै रे कंद्रो, जब माला कुमलाइ हो प्राणी ॥५॥"

पद

जिनदासके पदोमे भक्त कविके हृदयकी स्वाभाविकता सर्वत्र व्याप्त है। एक पदकी कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार है,

> "आनंदरूपी आनंद करता विरद यही अति मारा।
> सुष समूह का दाता भाई महामंत्र नवकारा हो ॥२॥
> ऐसे प्रभु को नाम मविक जन पलक न जात बिसारा हो।
> जिनदास नाम बालहारी करि हो मोहि निस्तारा हो ॥३॥"

३६. त्रिभुवनचन्द्र (१७वीं शताब्दी विक्रम पूर्वार्ध)

त्रिभुवनचन्द्र हिन्दीके प्रौढ कवि थे। वे आगरेके रहनेवाले थे। उन्हे पाण्डे रूपचन्द्र और कवि बनारसीदासका सान्निध्य प्राप्त हुआ था।[1] उनको रचनाएँ उसी रंगमे रँगी हुई है, जो बनारसी-मण्डलकी मुख्य देन थी। उनके पारिवारिक जीवन और गुरु-परम्पराके विषयमे कुछ भी विदित नही है। वे अपनी रचनाओमे केवल 'चन्द्र' का प्रयोग करते है।

उनकी हिन्दी-रचनाओमे अनित्य पंचाशत, षट्द्रव्य वर्णन, प्रास्ताविक दोहे और फुटकर कवित है। प्रथम दो संस्कृतकी अनुवाद-मात्र है, और अवशिष्ट दो मौलिक कृतियाँ है। भाषा-शैलीके आधारपर चन्द्रशतक भी इन्हीकी कृति मालूम होती है। उसमें कविके उपनाम चन्द्रका ही प्रयोग है। त्रिभुवनचन्द्र, १७वी शताब्दीके प्रथम पादके कवि थे। उनकी रचनाओमे उत्कृष्ट कोटिका साहित्य निबद्ध है।

---

१. प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, प्रस्तावना, पृष्ठ १८।

अनित्य पंचाशत

इसकी प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारमे मौजूद है। इसमे पद्य-संख्या ५५ तथा छन्द अधिकतर छप्पय और सवैया हैं। इसकी दूसरी प्रति जयपुरके पण्डित लूंणकरजीके मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० ३५ वेष्टन नं० ३१९ मे निबद्ध है। इस गुटकेपर लेखनकाल वि० सं० १६५२ पडा हुआ है। इससे सिद्ध है कि 'अनित्य पंचाशत'की रचना १६५२ से पूर्व हो चुकी थी। बनारसीदासका 'कल्याण मन्दिरस्तोत्र' भी इसी गुटकेमे निबद्ध है।

प्रारम्भिक मंगलाचरणमें ही कविने अत्यधिक सरस ढंगसे उस भगवान्‌की जय-जयकार की है, जो संसारमे 'परमातम' के नाम प्रसिद्ध है,

"सुद्ध स्वरूप अनूपम मूरति जासु गिरा करुनामय सोहै।
संजमवंत महामुनि जोष जिन्हों पर धीरज चाप धरौ है।
मारन कौ रिपु मोह तिन्हें वह तीक्षन सारक पंकति हो है।
सो भगवंत सदा जयवंत नमों जग में परमातम जो है॥"

ज्ञानीजन सासारिक हर्ष और शोकको वास्तविक नही मानते। वे इन दोनोंसे ही निरपेक्ष रहते हैं। इस विचारसे सम्बन्धित एक पद्य देखिए,

"जहाँ है संजोग तहाँ होत है वियोग सही,
जहाँ है जनम तहाँ मरण कौ वास है।
संपति विपति दोऊ एक ही भवन दासी
जहाँ वसै सुष तहाँ दुष कौ विलास है।
जगत में बार-बार फिरै नाना परकार
करम अवस्था झूंठी थिरता की आस है।
नट कैसे भेष और और रूप होहिं तातैं,
हरष न सोग ग्याता सहज उदास है॥५१॥"

अन्तमे संस्कृत 'अनित्य पंचाशत'के रचयिता आचार्य पद्मनन्दिकी वन्दना की है।

चन्द्रशतक

इसकी प्रति जैन सिद्धान्त भवन आरामे मौजूद है। इसमें १०० पद्य है। कवित्त और सवैयोंका ही प्रयोग किया गया है। यह एक प्रौढ रचना है। भाषा सरल होते हुए भी सरस है और भाव सीधे-सादे होते हुए भी मधुर है। कवितामें न तो प्रसादकी कमी है और न लालित्यकी। सभी पद आध्यात्मिकतासे ओत-प्रोत हैं। उदाहरणके लिए,

"गुन सदा गुनी माहिं, गुन गुनी भिन्न नाहिं,
　　भिन्न तो विभावता, स्वभाव सदा देखिए।
सोई है स्वरूप आप, आप सो न है मिलाप,
　　मोह के अभाव में, स्वभाव सुद्ध पेखिए॥
छहों द्रव्य सासते, अनादि के ही भिन्न भिन्न,
　　आपने स्वभाव सदा, ऐसी विधि लेखिए।
पाँच जड़ रूप, भूप चेतन सरूप एक,
　　जानपनों सारा चंद, माथे यों विसेखिए॥"

३७. कुमुदचन्द (वि० सं० १६४५-१६८७)

इनका जन्म गोपुर नामके गाँवमे हुआ था। पिताका नाम सदाफल और माताका नाम पद्माबाई था।[1] कुल मोढवंशके नामसे विख्यात था। यशपाल मोढके 'मोहपराजय' से विद्वान् परिचित ही होगे। मोढ गुजराती बनियाँ होते थे। अवश्य ही कुमुदचन्दके पूर्वज गुजरातसे राजस्थानके गोपुर ग्राममें आ बसे होंगे। उनकी रचनाओपर राजस्थानी और गुजरातीका प्रभाव है। प्राचीन हिन्दी, राजस्थानी और गुजरातीमे विशेष अन्तर नही था। अतः कुमुदचन्दकी कृतियोको इनमे-से किसी एक भाषाकी कहना संगत नही है।

उन्हे जन्मसे ही उदासीन प्रवृत्ति और अध्ययनशील मस्तिष्क मिला था। पहलीका प्रभाव यह हुआ कि वे युवावस्थासे पूर्व ही उदासीन हो गये। अध्ययनशील होनेके कारण उन्होने शीघ्र ही व्याकरण, काव्य और सिद्धान्तपर अधिकार कर लिया। भट्टारक रत्नकीर्त्ति अपने शिष्यके ज्ञानको देखकर मुग्ध हो उठे। बारडोलीमें नया पट्ट स्थापित किया था। उसपर कुमुदचन्दको वि० सं० १६५६ मे अभिषिक्त कर दिया।[2] इस पदपर वे वि० स० १६८७ तक प्रतिष्ठित रहे।[3]

---

१. मोढवंश शृंगार शिरोमणि, साह सदाफल तात रे।
　जायो यतिवर जुग जयवंतो, पद्माबाई सोहात रे॥
　धर्मसागरकृत गीत।

२. संवत् सोल छपन्ने वैशाखे प्रगट पयोधर थाप्या रे।
　रत्नकीर्त्ति गोर बारडोली वर सूर मंत्र शुभ आप्या रे॥
　माई रे मनमोहन मुनिवर सरस्वती गच्छ सोहंत।
　कुमुदचन्द भट्टारक उदयो भवियण मन मोहंत रे॥
　गणेश कवि कृत 'गुरुस्तुति'।

३. वही।

कुमुदचन्दकी ख्याति अधिक फैली, गुरु रत्नकीर्त्तिसे भी अधिक। राजा और नवाब भी उनकी प्रशंसा करते थे। उनके विद्याबलसे बड़े-बड़े विद्वान् वशवर्त्ती हो गये थे। जहाँ जाते, जनता उनके पीछे हो जाती। इसका कारण था, विद्वत्ताके साथ-साथ वाणीकी मधुरता और हृदयकी पवित्रता। उनके शिष्य धर्मसागरने एक गीतमे लिखा है कि वे जहाँ विहार करते, मार्ग कुंकुमसे छिड़क दिये जाते, चौक मोतियोंसे पूरे जाते और बधाये गाये जाने लगते।[1]

कुमुदचन्द विद्वान् ही नही, अपितु साहित्यकार भी प्रथम कोटिके थे। अबतक उनकी २८ रचनाएँ और अनेक पद तथा विनतियाँ प्राप्त हुई हैं। इनकी रचनाओंमे गीत अधिक है। उनका सम्बन्ध नेमीश्वर और राजुलके प्रसिद्ध कथानकसे है। 'नेमिजिनगीत'मे राजुलका सौन्दर्य-वर्णन करते उन्होने लिखा है,

> "रूपे फूटडी मिटे जूठडी बोले मीठडी वांणी।
> विद्रुम उठडी पल्लव गोठडी रसनी कोटडी बखांणी रे॥
> सारंग वयणी सारंग नयणी सारंग मनी श्यामा हरी।
> लंबी कटि भमरी बंकी शंकी हरिनी मारि रे॥"

'नेमिनाथ बारहमासा','प्रणयगीत' और 'हिण्डोलनागीत'मे राजुलका विरह मुखर हो उठा है। फाल्गुनमास आनन्दका बना होता है। पत्नियाँ पतियोंके साथ फाग खेलती है। उनके वदन प्रसन्नतासे सदैव खिले बने रहते हैं। किन्तु राजीमती क्या करे, उसके पतिने वैराग्य ले लिया है। वह लौटकर नही आयेगा। उसका विरह फूट पड़ा,

> "फागुण केसू फूलीयो, नर नारी रमे वर फाग जी।
> हंम विनोद करे घणा, किम नाहे धर्यो वैराग जी॥"

'वणजारागीत' मे २१ पद्य है। यह एक रूपक-काव्य है। इसमे मनुष्य वणजारा है। जिस तरह वणजारे इधर-उधर घूमते-फिरते है, उसी भाँति यह मनुष्य संसारमे भ्रमण करता है। दिन-रात पाप कमाता है। संसारके बन्धनसे कभी छूटता नही,

> "पाप कर्यां ते अनंत, जीवदया पाली नहीं।
> सांचो न बोलियो बोल, भरम मो साबहु बोलिया॥"

---

१. सुन्दरि रे सहुआवो, तह्मे कुंकुम छडो देवडावो।
वारू मोतिये चोक पूरावो, रूडा सहगुरु कुमुदचन्द ने वधावो॥
धर्मसागरकृत गीत।

कुमुदचन्दकी विनतियाँ भक्तिरसकी पिचकारियाँ ही है। उनका संकलन मन्दिर ठोलियान, जयपुरके गुटका नं० १३१ मे प्राप्त होता है। इस गुटकेका लेखनकाल वि० सं० १७७९ दिया हुआ है। एक विनतीकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

"प्रभु पायं लागौं करूं सेव थारी।
तुम सुन लो अरज श्री जिनराज हमारी।
घणौं कस्ट करिदेव जिनराज पाम्यो
हूं सबै संसारनौं दुष वाम्यौ।
जब श्री जिनराजनौ रूप दरस्यौ
जबै लोचना सुष सुधाधार वरस्यौ॥
लह्या रतनचिंता नवनिधि पाई
मानौं आगणैं कलपतर आजि आयो।
मनवांछित दान जिनराज पायौ
गयो रोग सताप मोहि सरब त्यागी॥"

कुमुदचन्दके पद मन्दिर लूणकरणजी पाण्डया, जयपुरके गुटका नं० ११४ में अंकित हैं। एक पदमे प्रभुको मीठा उपालम्भ देते हुए भक्त कविने लिखा है,

"प्रभु मेरे तुमकुं ऐसी न चहीए।
सघन विघन घेरत सेवक कूं मौन धरी क्यों रहिए॥
बिघन हरन सुख करन सबनि कू चित्त चिंतामनि कहिए।
अशरण शरण अबन्धु कृपासिन्धु को विरद नीवहिए॥
हम तो हाथ बिकाने प्रभु के अब जो करैं सो सहिए।
तो मनि कुमुदचन्द कहै शरणागति की सरम जु गहिए॥"

उनकी कृतियोंमे 'भारतबाहुबलिछन्द' एक खण्डकाव्य है। इसके कथानकमे भरत और बाहुबलिके प्रसिद्ध युद्धकी कथा है। दोनों ही भगवान् ऋषभदेवके चक्रवर्ती पुत्र थे। भरत बड़े और बाहुबलि छोटे थे। भरतने अपने चक्रवर्तित्वको सार्वभौम बनानेके लिए बाहुबलिको भी झुकाना चाहा। दोनोंमे द्वन्द्व युद्ध हुआ। जीत बाहुबलिकी हुई, किन्तु उन्हें संसारसे वितृष्णा हो गयी और वे वनमे जाकर तप करने लगे।

पूरे काव्यमे दो रस प्रमुख रूपसे पनप सके हैं: वीर और शान्त। बाहुबलि-का समूचा जीवन एक आदर्शचरित्र है। वे वीरताके वरेण्य और शान्तिके अग्रदूत हैं। वे ही दोनों रसोंके नायक हैं। द्वन्द्व युद्धको जाते हुए उनका एक दृश्य है,

"चाव्या मल्ल अखाडे बलीआ,
सुर नर किन्नर जोवा मलीआ।
काछया काछ कर्या कड तांणी,
बोले बांगड बोली वाणी।
भुजा दंड मन सुंड समाना,
ताडंतावंखारे नाना।
हो हो कार करि ते धाया,
वछो वच्छ पडया ले राया।
हक्कारे पच्चारे पाडे,
वलगा वलग करी ते ग्राडे।
पग पडधा पोहोवी-तल वाजे,
कडकडता तरुवर से भाजे।
नाठा वनचर ग्राठा कायर,
छूटा मयगल फूटा सायर।
गड गडता गिरिवर ते पडीआं,
फून फरंता फणपति डरीआ।
गढ गडगडीआ मंदिर पडीआं,
दिग दंतीव मक्या चल चलीआ॥"

इस काव्यका निर्माण वि० सं० १६७० ज्येष्ठ शुक्ला छठको हुआ था। इसको एक हस्तलिखित प्रति आमेरशास्त्रभण्डार जयपुरके गुटका न० ५० मे पृ० ४० से ४८ तक अंकित है।

'ऋषभ-विवाहला' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसकी रचना वि० सं० १६७८ मे घोघानगरमे हुई थी। यह उपर्युक्त गुटकेमें ही पृ० २२७ से २३४ तक निबद्ध है। इसमे ऋषभदेवकी माँके १६ स्वप्न देखनेसे लेकर ऋषभदेवके विवाह पर्यन्तका विशद वर्णन है। अन्तमे वैराग्य धारण करने और मोक्ष-प्राप्तिका उल्लेख है। यह सब कुछ ग्यारह ढालोंमें सम्पन्न हुआ है। अन्तिम ढाल मुख्य है। उससे 'विवाहला' शब्द सार्थक सिद्ध होता है। भक्तिपरक कृतियोमे भौतिक विवाह 'विवाहला' नही कहलाता, जब आराध्यदेव दीक्षाकुमारी, सयमश्री या मुक्तिवधूका वरण करता है, तो वह 'विवाहला', 'वीवाहला', 'वीवाहलो' आदि सज्ञाओसे अभिहित होता है। 'ऋषभ-विवाहला'की अन्तिम ढालमें मुक्तिवधूके साथ ऋषभदेवका विवाह हुआ है।

इस काव्यमे अनेक हृदयग्राही दृश्य हैं। ऋषभदेवका कच्छमहाकच्छकी जिस पुत्रीके साथ विवाह होना था उसके सौन्दर्यका एक चित्र है,

"कछ महाकछ राय रे, जेहनुं जग जश गाय रे।
तस कुअरी रूपें सोहे रे, जोतां जनमन मोहे रे।
सुन्दर वेणी विशाल रे, अरध शशी सम भाल रे।
नयन कमलदल छाजे रे, मुख पूरणचन्द्र राजे रे।
नाके सोहे तिलनु फूल रे, अधर सुरग तणुं नहिं भूले रे॥"

ऋषभदेव माँ मरुदेवीके गर्भमें आये। इन्द्रकी आज्ञासे विविध देवियाँ माँकी सेवा करने आ गयी। सेवामे तल्लीन देवियोंका भक्ति-भाव देखिए,

"एक नित्य निह्वावे, एक पखाले पाय।
एक वीजह्डे चटकावे, सरके वाय॥
एक वेणी समारे, नयणे काजल सारे।
एक पीयल काढ़े, एक अमरी सिणगारे॥
एक चोसर गूथे, एक आपे तम्बोल।
एक पग ते पीले, कुंकम सुरंग रोल॥"

जन्मके उपरान्त बालक ऋषभदेव धीरे-धीरे बढने लगे,

"दिन दिन रूपे दीपतो, कांइ बीजतणो जिम चद रे।
सुर बालक साथे रमे, सहु सज्जन मनि आणंद रे॥
सुन्दर वचन सोहामणां, बोले बालुअडो बाल रे।
रिम झिम बाजे घूघरी, पगे चाले बाल मराल रे॥"

उपर्युक्त रचनाओंके अतिरिक्त कुमुदचन्दने, 'नेमीश्वर हमची' – ८७ पद्य, 'त्रणयरतिगीत'–१७ पद्य, 'दशलक्षणधर्मव्रतगीत'– ११ पद्य, 'शीलगीत'– १० पद्य, 'सप्तव्यसनगीत' – १३ पद्य, 'अढाईगीत' – १४ पद्य, 'भरतेश्वरगीत' – ७ पद्य, 'पार्श्वनाथगीत' – १९ पद्य, 'अन्धोलडीगीत' – १३ पद्य, 'आरतीगीत' – ७ पद्य, 'जन्मकल्याणकगीत' – ८ पद्य, 'चिन्तामणिपार्श्वनाथगीत' – १३ पद्य, 'दीपावली-गीत'– ९ पद्य, 'गौतमस्वामी चौपई'– ८ पद्य, 'पार्श्वनाथकी विनती' – १७ पद्य, 'लोडणपार्श्वनाथजी'– ३० पद्य, 'आदीश्वर विनती'– १० पद्य, 'मुनिसुव्रतगीत' – ७ पद्य, 'गीत' – १० पद्य, 'जोवडागीत' – १० पद्य, 'चौबीस तीर्थंकर देह प्रमाण चौपई' – १७ पद्य और 'त्रेपनक्रिया विनती'– १४ पद्यका भी निर्माण किया था।

३८. कवि परिमल्ल (वि० सं० १६५१)

कवि परिमल्लकी कुल-परम्परा इस प्रकार है : चौधरी चन्दन, रामदास, आसकरन। परिमल्ल आसकरनके पुत्र थे। चौधरी चन्दनका ग्वालियरके राजा मानके दरबारमें अत्यधिक आदर-सम्मान होता था। रामदास और आसकरनने उस ख्यातिको सुरक्षित रखा। कवि परिमल्लका जन्म ग्वालियरमें ही हुआ था, किन्तु वे आगरामें रहते थे। ग्वालियरमें मानसिक कष्ट रहनेके कारण उन्होंने आगराको अपना निवास-स्थान बनाया था, जैसा कि 'बसै आगरे मे तजि सल्लु' से स्पष्ट है,

> "ता आगै चंदन चौधरी, कीरति सब जग मैं विस्तरी ॥
> जाति बरहिया गुन गंभीर। अति प्रताप कुल मंडन धीर ॥
> ता सुत रामदास परबीन। नंदनु आसकरनु सुषलीन ॥
> ता सुत कुल मंडन 'परिमल्ल'। बसै आगरे मैं तजि सल्लु ॥"[1]

उस समय आगरेमे सम्राट् अकबरका शासन था। उसकी प्रशंसा करते हुए कविने लिखा है, "वह दूसरे सूर्यकी भाँति तपता है, उसके राज्यमें कही अनीति नही है, और उसने समूची पृथ्वीको जीत लिया है",

> "बब्बर पाति साहि होइ गयौ। ता सुतु साहि हिमाउ भयौ ॥
> ता सुतु अकबरु साहि सुजानु। सो तप तपै दूसरौ भानु ॥
> ताके राज न कहूं अनीति। वसुधा सर करै सब जीति ॥३२॥"

कवि परिमल्ल बरहिया जातिमे उत्पन्न हुए थे। उस समय बरहियोके अनेको घर ग्वालियरमे थे। सभी वैभव-सम्पन्न, मर्यादापूर्ण और यशस्वी थे। उनमें सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण ही चन्दन चौधरी कहलाते थे। कहनेका तात्पर्य यह कि कविका जन्म एक उच्च परिवारमें हुआ था।

श्रीपाल चरित्र

यह काव्य अत्यधिक लोकप्रिय था। इसकी इतनी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध है कि यहाँ सबका उल्लेख असम्भव ही है। छह प्रतियोका विवरण काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाकी बीसवी त्रैवार्षिक रिपोर्टमे दिया गया है। ये प्रतियाँ क्रमशः वि० सं १८०७, १८३५, १८५६, १८७४, १९१३ और

---

१. श्रीपालचरित्र, पद्य ५, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाकी २०वी त्रवार्षिक रिपोर्ट, नं० ४।

१९२६ की लिखी हुई है। एक प्रति आमेरशास्त्रभण्डार जयपुरमें,[१] दूसरी जयपुरके ठोलियोंके दि० जैन मन्दिरमें[२] और तीसरी जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमें मौजूद है।[३] दिल्लीके पंचायती मन्दिरमें भी एक प्रति है। इन सबमें प्राचीन प्रति आमेरशास्त्रभण्डारकी है। यद्यपि काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाकी १९वी विवरणिकाके सम्पादकोंने, इसका रचनाकाल वि० स० १६४९ निर्धारित किया है, किन्तु सभी प्राचीन प्रतियोंमें वि० सं० १६५१ दिया हुआ है।

यह एक उत्तम कोटिका प्रबन्ध-काव्य है। इसमें महाराजा श्रीपालका चरित्र वर्णित है। उनकी पत्नी मैनासुन्दरीने, जिनेन्द्र-भक्तिसे ही अपने पति श्रीपालका कोढ ठीक किया था। श्रीपाल भी भगवान् जिनेन्द्रका भक्त हो गया था। इस काव्यमें वीर और भक्ति रसका समन्वय हुआ है।

इसको पढनेसे स्पष्ट हो जाता है कि रचयिता एक प्रौढ कवि थे। उन्होंने आगरे और ग्वालियरका सजीव चित्र उपस्थित किया है। श्रीपाल और मैनासुन्दरीके जीवनकी अनेक घटनाओको सुन्दरताके साथ चित्रित किया गया है। धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य, हिंसा और अहिंसाके घात-प्रतिघातोंको भी सुष्ठु ढंगसे दिखलाया है। अन्तमें जैनधर्म और उसके 'भक्तिपरक गीतों' में ही महाकाव्य पूर्ण हुआ है।

कविने जिन-शासन, जिन-माता और जिन-मुनियोंके चरणोंमें अपनी श्रद्धा समर्पित की है,

"वंदौं जिन शासन कौ धम्म, आप साय नासै अघकर्म्म।
वंदौं गुरु जे गुण के मूर, जिनके होय ग्यान कौ पूर।
वंदौं माता सींह वाहिनी, जातैं सुमति होय अति घनी।
वंदौं मुनियन जे गुन धम्म, नवरस महिमा उदतिन कर्म॥

प्रशस्ति अन्तिम॥"

'श्रीपाल चरित्र' दोहे-चौपाइयोंमें लिखा गया है। कहींपर भी यति-भंग और छन्द-भग नही हुआ है। अनुप्रासोका चयन भी सुन्दर है। यद्यपि उसकी भाषामे तद्भव शब्दोका प्रयोग अधिक हुआ है, किन्तु उसकी गति-शीलता कही भी विशृंखल नही होने पायी है। भाषामें व्रज, अवधी, बुन्देलखण्डी और मारवाडीका

---

१. प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, पृष्ठ २७१। इस प्रतिका लिपिकाल वि० स० १७६४ दिया हुआ है।

२. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूची, भाग ३, पृष्ठ २१६।

३. वही, पृष्ठ ७९।

मिश्रण है। कही दोनो, लीनो, कहो दियौ, लियो, अजहूँ और कही कहाडे, मुवामिणि, सीमाण और मणूं आदि शब्दोका प्रयोग है। मिश्रण होते हुए भी भाषाको 'सधुक्कडी' की संज्ञा नही दी जा सकती, क्योकि उसमे साहित्यिकता है।

३९. वादिचन्द्र (वि० सं० १६५१)

ये मूलसघके भट्टारक ज्ञानभूषणके प्रशिष्य और प्रभाचन्द्रके शिष्य थे। इनकी गद्दी गुजरातमे कहीपर थी। इनकी गुरुपरम्परा विद्यानन्दि, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द्र, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, प्रभाचन्द्रके रूपमे कही जाती है।[1] वादिचन्द्र एक समर्थ साहित्यकार थे। उन्होंने संस्कृत और गुजराती मिश्रित हिन्दीमे लिखा। इनका संस्कृतमे लिखा हुआ 'पार्श्वपुराण' १५०० श्लोकप्रमाण है। उसकी रचना वाल्हीक नगरमे कार्त्तिक सुदी ५ वि० सं० १६४० को हुई थी।[2] 'ज्ञानसूर्योदय' नाटकको तो बहुत ही ख्याति है। उसका निर्माण माघ सुदी ८ वि० सं० १६४८ को मधूकनगरमे हुआ।[3] 'पवनदूत' तो कालिदासके मेघदूतके आधारपर रचा गया एक सरस खण्ड-काव्य है। इसमे कुल १०१ पद्य है।[4] 'यशोधरचरित्र' अकलेश्वर भँरोचके चिन्तामणि पार्श्वनाथके मन्दिरमे, वि० सं० १६५७ मे पूर्ण किया गया।[5]

१ वादिचन्द्र, श्रीपाल आख्यान, प्रशस्ति, पद्य ५-८, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८७, पादटिप्पणी २।

२. शून्याब्दौ रसाब्जाके वर्षे पक्षे समुज्ज्वले।
कार्त्तिकमासि पंचम्या वाल्हीके नगरे मुदा ॥
पार्श्वपुराण, प्रशस्ति, ३ श्लोक, प्रशस्तिसग्रह, भाग १, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली, प्रस्तावना, पृ० २४, पादटिप्पणी १।

३ वसु-वेद-रसाब्जाके वर्षे माघे सिताष्टमी दिवसे।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोऽयं बोधसरम्भः ॥
ज्ञानसूर्योदय नाटक, प्रशस्ति, ३ पद्य, जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८५, पाद-टिप्पणी ४। यह नाटक, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बईसे, सन् १९०९ में, प० नाथूराम प्रेमीके अनुवादसहित प्रकाशित हो चुका है।

४ इस खण्डकाव्यको स्वर्गीय प० उदयलालजी काशलीवालने सन् १९१४ में हिन्दी अनुवाद सहित जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई-द्वारा प्रकाशित किया था। अब यह निर्णयसागर प्रेसकी काव्यमालाके तेरहवें गुच्छकमें छपा है।

५. अकलेश्वरसुग्रामे श्रीचिन्तामणिमन्दिरे।
सप्तपंच रसाब्जाके वर्षेऽकारि सुशास्त्रकम् ॥
यशोधरचरित्र, प्रशस्ति, ८१वॉ पद्य, प्रशस्तिसग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, प्रस्तावना, पृ० २४, पादटिप्पणी ४अ।

'सुलोचना चरित्र'की एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १६६१ की लिखी हुई मिली है।[1] ग्रन्थरचना उससे कुछ पूर्व हुई होगी।

उन्होंने गुजराती मिश्रित हिन्दीमें भी अनेक रचनाएँ कीं। उनमें महत्त्वपूर्ण ये हैं: 'श्रीपाल आख्यान', 'भरत बाहुबली छन्द', 'आराधना गीत', 'अम्बिका कथा' और 'पाण्डवपुराण'।

श्रीपाल आख्यान

इस आख्यानकी एक प्रति बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वतीभवनमें मौजूद है। श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाईने जिस प्रतिका उल्लेख किया है, वह वि० सं० १६७६ पौष बदी ३ को लिखी हुई है।[2] आख्यानके विषयमें पण्डित नाथूराम-जी प्रेमीने लिखा है कि यह एक गीतिकाव्य है और इसकी भाषा गुजराती मिश्रित हिन्दी है।[3] इसकी रचना संघपति धनजी सवाके कहनेसे वि० सं० १६५१ में हुई थी।[4] इसमें आकर्षणकी कोई कमी नहीं है। नौ रसोंका प्रयोग हुआ है। भाषामें प्रवाह और सरलता है। काव्यमें अधिकतर दोहे और चौपाईका प्रयोग हुआ है। प्रारम्भिक मंगलाचरण देखिए,

"आदि देव प्रथमि नमि, अंति श्री महावीर।
वाग्वादिनि वदने नमि, गरुड गुण गंभीर॥"
"सरसति सुमति णये अणुंसरि, गौर गरुआ गोयम मनि धरि।
बोलु एक हुं सरस आख्यान, सुण जे सज्जन सहु सावधान॥[5]"

इस काव्यके पढनेसे जिनेन्द्रके प्रति भक्तिपूर्ण भावोंका उदय होता है। चंचल चित्त स्थिर होकर भगवान्की भक्तिमें लग जाता है। दान देने, जिनपूजा करने और सम्यक्त्व धारण करनेमें मन लगता है। णवकार मन्त्रके उच्चारणमें, और ब्रह्मको धारण करनेमें हृदय आनन्दका अनुभव कर उठता है। इस गीतके गानेसे नर-नारियोंको अनेक प्रकारके मंगल प्राप्त होते हैं,

"भवियन थिर मन करीनें सुणज्यो नित सम्बन्ध जी॥९॥

---

१. इसकी एक हस्तलिखित प्रति ईडरके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है, और दूसरी ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वतीभवनमें है।

२. जैनगुर्जरकविओ, त्रीजो भाग, पृ० ८०४।

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३८७।

४. संघपति धन जी सवा वचनें कीधो ए प्रबध जी।
केवली श्रीपाल पुत्र सहित तुम्ह नित्य करो जयकार जी॥१२॥

५. जैनगुर्जरकविओ, त्रीजो भाग, पृ० ८०३।

दान दीजे जिनपूजा कीजे समकित मनें राखिजै जी ।
सुश्रज भणिए णवकार गणिए असत्य न विभाषिजे जी ॥१०॥
लोभ तजीजे ब्रह्म धरीजे सांभल्यानुं फल एह जी ।
ए गीत जे नर नारी सुणसे अनेक मंगल तस गेह जी ॥११॥"

भरत-बाहुबली छन्द

इसका उल्लेख श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाईने 'जैनगुर्जरकविओ' भाग ३ पृ० ८०४-५ पर किया है। उसका एक पद्य इस प्रकार है,

"बोलि वादीचंद्र गणनु कुण रत्नाकर,
अवनि एक तुं मल अचल महिमा महिमाकर,
तुं असलउ भरदेव जित भवतारण,
आश्रीतना जे लोक तेहनुं नरक निवारण,
ऋषभदेव वंछित सलो, बाहुबल जग जाणीइं,
भगति पामी भाव सुं तुम गुण एक वखाणीइ ॥४८॥"

आराधना गीत[1]

इसकी प्रति सादरापुरमे पार्श्वनाथ चैत्यालयके सरस्वतीभवनमे धर्मभूषणके शिष्य ब्रह्म वाघजीकी लिखी हुई मौजूद है। यह एक मुक्तक काव्य है, और उसमे कुल २८ पद्य है। प्रत्येक पद्य अर्हन्तकी भक्तिसे सम्बन्धित है। प्रथम पद्यमे ही सरस्वती और गणधरकी वन्दना करते हुए कविने कहा है कि जो कोई इस आराधनाको पढेगा अथवा सुनेगा, उसके पापका तो लेश-मात्र भी न रह जायेगा।

"श्री सरसती नमी वर पाय, गोयम गणधर राय।
कहुं आराधना सुविशेस, सुणें पाप न रहे लवलेस ॥१॥"

अम्बिका-कथा

इस कथाकी रचना वि० सं० १६५१ मे हुई थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति लखनऊके श्री विजयसेन और यति रामपालजीके पास है। इसमे देवी अम्बिकाके प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित किया गया है। यह कथा प्रकाशित हो चुकी है।[2]

---

१. वही, पृ० ८०५।
२. अगरचन्द नाहटा, अम्बिकाकथा, अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ३-४।

पाण्डव-पुराण

इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुरके तेरहपन्थी मन्दिरमें मौजूद है। इसकी रचना वि० सं० १६५४ में नोधकमें हुई थी।[1]

४०. गणि महानन्द (वि० सं० १६६१)

तपागच्छके प्रसिद्ध श्रीहीरविजयसूरिको शिष्यपरम्परामें एक श्री विद्याहर्ष हुए। उनके शिष्य गणि महानन्द थे।[2] सम्भवतया महानन्द गुजरातके रहनेवाले थे, क्योंकि उनकी रचनापर गुजरातीका अधिक प्रभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजराती उनकी मातृ-भाषा थी। अपने पूर्वाचार्योंका उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है कि श्री हीरविजयसूरिने अकबर बादशाहको उपदेश दिया था, और श्रीविजयसेन गणिने अकबरके दरबारमें भट्ट नामके एक विद्वान्को वाद-विवादमें परास्त किया था,

"श्री विजयसेन गणधार रे।
जिणि शाहि अकबरनो सभा मांहि, भट्ट सुरे कीधो कीधो बहुअ संग रे।
मिथ्यामत रेषड़ा करी रे जिणि गढ़्यु गढ़्यु जिनशासनि रंगरे॥"

महानन्दकी एक-मात्र रचना 'अजना-सुन्दरी रास' है, जो रायपुरमें वि० सं० १६६१ में रची गयी थी। अजना हनुमान्‌की माँ थी। उनपर अनेक आपत्तियाँ आयी, किन्तु वे जिनेन्द्रकी भक्तिसे विचलित न हुईं। उनका सारा जीवन भक्ति-का ही जीवन है। उनकी तुलना मीरासे नहीं की जा सकती। मीराने लौकिक पक्षको नगण्य समझा, अलौकिकमें ही विभोर बनी रही। अंजनाने लोक और अलोक दोनों ही का समान रूपसे निर्वाह किया। उसने गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका भी पालन किया, और वीतरागी भगवान्‌से प्रेम भी किया।

---

१. वेदबाणषडङ्गाङ्के वर्षे तिषेथ मासि चन्द्रे।
नोधकानगरेऽकारि पाण्डवाना प्रबन्धकः॥६७॥
प्रशस्तिसंग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, प्रस्तावना, पृष्ठ २४, पादटिप्पणी ३।

२. गणि महानन्द, अजनासुन्दरीरास, अन्तिम प्रशस्ति, जैन सिद्धान्त-भवन आरा-की हस्तलिखित प्रति।
अजना सुन्दरी रास, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ११।

अंजना सुन्दरी रास[1]

इस रासमें अंजनाके जीवनकी विविधता चित्रित की गयी है। अजनाकी विरहावस्था उन सबमें उत्कृष्ट है। कहीं प्रियमें मिलनेकी उत्कण्ठा है, कहीं प्रिय-के इष्ट-अनिष्टकी चिन्तामें खाना-पीना तक विस्मरण हो गया है, और कहीं प्रिय-की स्मृति-जन्य विभोरताने वस्त्रों तकको विशृंखल कर दिया है। सब कुछ नैसर्गिक है, बनावटका आभास भी नहीं। वही पतिव्रता जब अकारण ही पति-द्वारा तिर-स्कृत होती है, तो इस दुःखको प्रथम मिलनकी स्मृतिसे उपशम कर लेती है। उसकी सासने भ्रमवशात् अजनाको घरसे निकाल दिया, उस समय वह गर्भिणी थी। उस समयका करुणाजनक दृश्य काव्यका मार्मिक स्थल है। किन्तु अंजना-ने भगवान्का सहारा न छोड़ा। उसके जीवनका यह भाग गहरी भगवद्भक्तिसे युक्त है।

बीच-बीचमें प्राकृतिक दृश्योंका चित्रण भी स्वाभाविक ढगमें हुआ है। वसन्त आ गया है। चारों ओर वनमाला फूल गयी है। कलियोंमें बहार आने लगी है, जैसे कुकुमका रंग घोलकर चारों ओर छिटक दिया गया हो। ऐसी शोभा-के मध्यमें सुन्दरी अंजना हाथमें मजरी लिये अपनी सखियोंके साथ क्रीडा कर रही है,

> "फूलिय वनह वनमालीय वालीय करइं रे टकोल।
> करि कुकुम रग रोलीय घोलाय झकम झोल॥
> खेलइ खेल खंडो कली मांकली सहीयर साथ।
> अंजना सुंदरी सुंदरी मंजरी ग्रही करी हाथ॥५४॥"

मधुकर गुंजार कर रहे हैं। कोयल बोल रही है, और मलयानिल बह रहा है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि महानृप मदनने विरहिणियोंको दण्ड देनेके लिए ही यह सब आयोजन किया हो। तभी तो अलियोंकी गुंजारमें मारका विकार, कोयलकी कूकमें कन्तसे मिलनेकी हूक और मन्द-सुगन्ध पवनमें उद्दीपनकी आग है,

> "मधुकर करइं गुंजारव मार विकार वहंति।
> कोयल करइं पटहूकड़ा टूकड़ा मेलवा कंत॥
> मलयाचल थी चलकिउ पुलकिउ पवन प्रचंड।
> मदन महानृप पाझइ विरहीनि सिर दंड॥५५॥"

१. इसकी हस्तलिखित प्रति जैन सिद्धान्त-भवन आरामें मौजूद है। इसमें कुल २२ पन्ने हैं।

इसी वसन्तमे देवता नन्दीश्वरको यात्रा करते है। वहाँके मन्दिरोंमें चढ़ानेके लिए उनके हाथमे सुगन्धित फूल होते हैं,

"एणि समइं नंदीसर वरइ सुरवर जाइ यात्र ।
दीसइ गयण वहता कर गृही कुसुमनां पात्र ॥५६॥"

अंजनाको जैन मुनियोकी भक्तिमे आनन्द मिलता था। वह प्रायः उन्हें आहार दिया करती थी। एक बार उसने आहार देनेके लिए 'नन्दन' नामके मुनि-का पडिगाहन किया, जिन्होने अपने दुर्द्धर्ष तपसे संसारको जीत लिया था। वे चरम-शरीरी थे। उनके गुणोको गाकर प्रत्येक मनुष्य आनन्दका अनुभव करता है, और उसके सब मनोवांछित पूरे हो जाते हैं,

"इणि परिगायु अजना, सुंदरी नंदन धीर ।
द्रव्य भाव वेरी प्रबल, जिण जीत्या जा बड़वीर ॥
चरम शरीरी सुगुण नर, गातां होइ आणंद ।
थइ मनवंछित संपदा, इम बोलइ गणि महानद ॥५६–५७॥"

डॉ० रामसिंह तोमरने महाणंदि-द्वारा रचित एक 'आणंद स्तोत्र'की बात कही है। इसमे ४३ पद्य है। किन्तु अब यह प्रमाणित हो गया है कि वे महाणंदि एक भिन्न व्यक्ति थे। उनकी रचना 'आणंदा'से सिद्ध है कि उसका निर्माण विक्रम-की चौदहवीं शताब्दीमे हुआ होगा। 'आणदा'का प्रकाशन 'सम्मेलन-पत्रिका'मे हो चुका है।

४१. मेघराज (वि० सं० १६६१)

ये पार्श्वचन्द्रसूरिगच्छके साधु थे। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार थी: पार्श्वचन्द्र, समरचन्द्र, राजचन्द्र और श्रवणऋषि[1]। मेघराज श्रवण ऋषिके शिष्य थे। इसी शताब्दीमें एक दूसरे मेघराज भी हुए हैं, वे मेघमण्डल कहलाते थे और जो दिगम्बर ब्रह्म-शान्तिके शिष्य थे। उन्होने 'शान्तिनाथ चरित्र' की रचना की थी। किन्तु मेघमण्डल सतरहवी शताब्दीके पूर्वार्धमे और मेघराज उत्तरार्धमे हुए थे। एक तीसरे मेघराज और थे जो भानुलब्धिके शिष्य थे और जिन्होंने 'सत्तर-भेदी पूजा' का निर्माण किया था।

मुनि मेघराज एक प्रौढ़ साहित्यकार थे। भाव, भाषा और शैली सभी दृष्टियों-

१. नलदमयन्तीरास, अन्त भाग, पद्य २-५, जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृष्ठ ४०२।

से उनकी रचनाएँ सत्काव्यकी कोटिमें आती है। उन्होंने स्थान-स्थानपर रोचक ढंगसे अलंकारोका प्रयोग किया है।

संयम प्रवहण

इसको 'राजचन्द्र प्रवहण' भी कहते हैं। इसमे राजचन्द्रसूरिके साधुजीवनकी महत्ताका उल्लेख है। इसे हम साधु-भक्तिका ग्रन्थ कह सकते है। इसमे रामचन्द्र-सूरिके पूर्वाचार्य सोमरत्नसूरि, पासचन्द्रसूरि और समरचन्द्रसूरिके माता-पिता और आचार्य बनने आदिका भी वर्णन किया गया है। इसकी रचना वि० सं० १६६१ मे हुई थी। इसकी एक प्रति स० १६८१ आषाढ सुदी १५ की लिखी हुई' जयपुरके ठोलियोके मन्दिरमें वेष्टन नं० ३३९ मे बँधी रखी है। उसका आरम्भ और अन्त इस प्रकार है,

"रिसह जिणिसर जगतिलउ नामि नरिंद मल्हार।
प्रथम नरेसर प्रथम जिन त्रिभोवन जन साधार ॥१॥
चक्री पंचम जाणीइ सोलमउ जिनराय।
शान्तिनाथ जगि शान्तिकर नर सुर प्रणमइ पाय ॥२॥"

अन्तिम – राग-धन्यासी

"गछपति दरिसणि अति आणंद।
श्रीराजचंद सूरिसर प्रतपउ जा लगि हु रविचन्द ॥४९॥
संयम प्रवहण मालिमगायउ नयर खम्भावत माहि।
संवत सोल अनइ इकसठई आणी अति उछाह ॥गछ॥
सरवण ऋषि गुरु साधु शिरोमणि, मुनि मेघराज तसु सीस।
गुण गछपति ना भावइ भावइ पहुचइ आस जगीस ॥१५२॥"

अन्य रचनाएँ[1]

इनकी अन्य रचनाओंमे 'नल-दमयन्ती रास', 'सोल सतीनो रास', 'पार्श्वचन्द्र स्तुति' तथा 'सद्गुरु-स्तुति' और है। इनमें 'पार्श्वचन्द्र-स्तुति' उन पार्श्वचन्द्रकी वन्दना है जिनके नामपर 'पार्श्वचन्द्रसूरिगच्छ' ही चल पड़ा था। 'सद्गुरु-स्तुति' मे गुरुकी स्तुति की गयी है और वह एक सुन्दर गीति-काव्य है।

१. जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृ० ४०१-४०२।

४२. सहजकीर्त्ति (वि० सं० १६६१-१६९७)

यह सांगानेर जयपुरके रहनेवाले थे। इनकी कृतियोंसे इनके पारिवारिक जीवनका कुछ भी पता नहीं चलता है। यह खरतरगच्छकी क्षेम शाखाके साधु थे। इन्होंने मुनि जिनचन्द्रका श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। इनके गुरुका नाम आचार्य हेमनन्दन था। इनकी विशेष ख्याति थी। इनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार थी : जिनसागर, रत्नसार, रत्नहर्ष, हेमनन्दन, सहजकीर्त्ति। इनके 'शत्रुजय महात्म्य रास'से आचार्य जिनसिंहसूरि और सम्राट् अकबरकी भेंटका वृत्त विदित होता है।[1] इनकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकारसे है

प्रीति-छत्तीसी

इसकी रचना सांगानेरमें वि० सं० १६८८ में विजयदशमीके दिन हुई थी। उसकी प्रति जयपुरके ठोलियोंके मन्दिरके गुटका नं० ९७ में संगृहीत है। इसकी एक प्रति प० तिलकविजयके शिष्य गोदाके द्वारा श्राविका सभलदेके पढनेके लिए लिखी हुई बडोदराके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है।[2] उसका आदि और अन्त देखिए,

आदि

> "प्रीति न किणिही जीती जायई, इकइविणु अरिहंतजी,
> मावई कोडि उपाय करउ कोइ, लागई मंत न तंतजी।"

अन्त

> "प्रीति छत्रीसी ए वयरागि, भविक मणि हितकारजी,
> वाचक सहजकीरति कहइ मावइ, श्री सघ जयजयकारजी।"

'पार्श्व-भजन', 'चउवीस', 'जिनगणधरवर्णन', 'पार्श्वजिनस्थानवर्णन' और 'बीस तीर्थंकरस्तुति' ये चारों भक्तिसम्बन्धी काव्य जयपुरके बधीचन्दजीके जैन-मन्दिरमें गुटका नं० ११६ में निबद्ध है। उनके रचनाकालके विषयमें कुछ भी विदित नहीं है। हो सकता है कि सतरहवीं शताब्दीका अन्तिम पाद ही इनका रचनासमय हो, क्योंकि इनकी 'प्रीति छत्तीसी' आदिकी रचना उसी समय हुई है।

शत्रुंजय महात्म्य-रास

इसकी रचना आसणकोट में सं० १६८४ में हुई थी। इसकी एक प्रति वि०

---

१. श्री जिनसिंह सिंह जिम दिप्पउ, तसु पाटई चित लावई,
अकबर साहि सभासन रजी, जलनिधि मीन छुडावइ रे।
शत्रुंजय महात्म्य रास, अन्त भाग, पद्य ७१वाँ, जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृ० ५२५।

२. जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृ० ५२६।

सं० १८४५ कार्त्तिक शुक्ला ५ को लिखी हुई मौजूद है, जिसका उल्लेख श्री देसाई महोदयने किया है।[1]

सुदर्शन श्रेष्ठि रास[2]

इसकी रचना बगडीपुरमे वि० सं० १६६१ मे हुई थी। इसमे सेठ सुदर्शनका जीवन-चरित्र वर्णित है। वह भगवान् जिनेन्द्रका परम-भक्त था। पूरा ग्रन्थ भक्तिसे ही ओतप्रोत है। प्रारम्भिक पक्तियाँ इस प्रकार है,

"केवल कमलाकर सुर, कोमल वचन विलास,
कवियण कमल दिवाकर, पणमिय फलविधि पास।
सुरनर किंनर वर ममर, सुन चरणकंज जास,
सरस वचन कर सरसती, नमीयइ सोहाग वास।
जासु पसायइ कवि लहर, कविजनमई जसवास,
हंसगमणि सा भारती, देउ मुझ वचन विलास।"

जिनराजसूरि गीत[3]

यह गीत ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रहमे प्रकाशित हो चुका है। इसमे १८ पद्य है। जिनराजसूरिकी महिमाका वर्णन करते हुए कविने लिखा है,

"राउल 'भीम' सभा भली रे लाल, 'जैसलमेर' मझार।
परवादी जीता जियइ रे लाल, पाम्यउ जय जयकार ॥४॥
क्रोध तज्यउ काया थकी रे लाल, दूरि कियउ अहंकार।
मायानइ मानइ नही रे लाल, लोभ न चित्त लिगार ॥८॥"

गुरुमे इतने गुण है कि कवि उनका वर्णन नही कर पाता —

"जिण माहि बहु गुण सूरिना, देखियइ प्रकट प्रमाण।
वरणवी हुं नवि सकूं, तसु विद्या तणउ गान ॥७॥

गुरुके दर्शनसे परम आनन्द मिलता है,

"सद्गुरु वंदियइ, 'श्री जिनराज सुरिन्द'।
दरशन अधिक आणंद, जंगम सुरतरु कंद ॥२॥"

---

१. जैनगुर्जरकविओ, भाग १, पृ० ५२५-२६।
२. जैनगुर्जरकविओ, भाग ३, पृ० १०१६।
३. ऐतिहासिक जैन काव्यसग्रह, पृ० १७४-१७६।

जैसलमेर चैत्य प्रवाडी

इसकी रचना वि० सं० १६७९ मे हुई थी। इसमें ७ गीत है। जैसलमेरके चैत्योंको नमस्कार किया गया है। उसका आदि भाग देखिए,

> "साधु साधवी श्रावक श्रावी, श्री संघनइं परिवार रे भाई,
> श्री जिनराज सूरीसर हरषई, जैसलमेरु मझारि रे भाई।
> चैत्र प्रवाडि करइ विधि सेती, वाजई वाजित्र सार रे,
> गावई गीत मधुर सर गोरी, खरतर गच्छ जयकार रे भाई॥"

अन्य रचनाएँ

सहजकीर्त्तिने 'कलावती रास' वि० सं० १६६७, 'व्यसन सत्तरी' १६६८, 'देवराज वच्छराज चौपई' १६७२, 'सागर श्रेष्ठिकथा' १६७५, 'शीलरास' १६८६, और 'हरिश्चन्द्र चौपाई' १६९७ की भी रचना की थी।

४३. ब्रह्मगुलाल (वि० सं० १६६२)

श्री ब्रह्मगुलाल रपरी और चन्दवार गाँवोंके समीप 'टापू' नामक गाँवके रहनेवाले थे।[२] यह आज भी आगरा जिलेमे यमुना नदीके किनारे बसा हुआ है। इसके तीन ओर नदी बहती है, अतः यह एक छोटा पूरा प्रायद्वीप ही है। इस भौगोलिक परिभाषासे अनभिज्ञ होनेके कारण ही उसका नाम टापू चल पडा होगा, और उस प्रचलित नामको ही कविने लिखा है। श्री कस्तूरचन्दजी काशलीवालने लिखा है कि ब्रह्मगुलालजी ग्वालियरके रहनेवाले थे।[3] किन्तु सत्य तो यह है कि उन्होंने 'त्रेपन क्रिया' की रचना 'गढ गोपाचल' अर्थात् ग्वालियरमे की थी,[४] किन्तु वे वहाँके रहनेवाले नही थे।

---

१. जैनगुर्जरकविओ, भाग ३, पृ० १०२२।

२. मध्यदेश रपरी चदवार, ता समीप टापू सुषसार।
कृपण जगावनकथा, अन्तिम प्रशस्ति, हस्तलिखित प्रति, श्री शान्तिनाथ दि० जैन मन्दिर, अलीगंज।

३. प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, अगस्त १९५०, प्रस्तावना, पृ० २१।

४ ब्रह्मगुलाल विचारि बनाई गढ गोपाचल थानै।
छत्रपती चहुँ चक्र विराजै साहि सलेम मुगलानै।
त्रेपन-क्रिया, अन्तिम पाठ, प्रशस्तिसग्रह, जयपुर, १९५०, पृ० २२०।

श्री ब्रह्मगुलालके गुरुका नाम भट्टारक जगभूषण था। वे अपने समयके प्रसिद्ध विद्वान् और समर्थ गुरु थे। उन्हींसे ब्रह्मगुलालने ज्ञान उपार्जित किया था और उन्हीकी प्रेरणासे 'कृपण जगावनहार' का निर्माण किया।[1] वह बादशाह जहाँगीर-का समय था। उसका शासनकाल संवत् १६६२ से १६८४ तक माना जाता है। श्री ब्रह्मगुलाल भी इसी समय हुए है। उनकी 'त्रेपन-क्रिया' सं० १६६५ मे[2] और 'कृपण जगावनहार' सं० १६७१ मे बना।[3]

उस समय टापूका राजा कीरतिसिंह था, जो तेग और त्याग दोनोमे ही समान रूपसे निपुण था। वह अपने भव्य गुणोंके कारण कुलमे दीपकके समान माना जाता था। वह अपने मण्डलमे गो-रक्षाके लिए प्रसिद्ध था। भगवान्ने उसे अत्यधिक उदार बनाया था। उसीके राज्यमे धर्मदासजीके भतीजे मथुरामलजी रहते थे, जो अपने कुलके सिरमौर, और दान देनेमे सेठ सुदर्शनके समान थे।[4] वे ब्रह्मगुलालजीके घनिष्ठ मित्र थे, यहाँतक कि ब्रह्मगुलालके मुनि बननेपर वे स्वय भी क्षुल्लक हो गये थे, और ब्रह्मगुलालके साथ ही रहते थे।[5]

ब्रह्मगुलाल सच्चे कलाकार थे। एक बार उन्होने सिंहका वेष बनाया, तो कुछ ऐसा सच्चा सिंहका भाव आया कि उससे एक राजकुमारकी हत्या हो गयी। राजकुमारके पिताको सम्बोधन करनेके लिए जब जैन मुनिका वेष धारण किया तो फिर सच्चे जैन मुनि हो गये।

मुनि ब्रह्मगुलालकी छह रचनाएँ उपलब्ध हुई है 'त्रेपन-क्रिया', 'कृपण जगावन कथा', 'धर्मस्वरूप', 'समवशरणस्तोत्र', 'जलगालन क्रिया' और 'विवेक-चौपई'। इनमे 'विवेक-चौपई' जयपुरके ठोलियोंके मन्दिरमे है[6]।

---

१. जगभूषण भट्टारक पाइ, करौ ध्यान-अंतरगति आइ।
ताको सेवगु ब्रह्म गुलाल, कीजी कथा कृपन उर-साल ॥
कृपण जगावन कथा, अन्तिम प्रशस्ति, हस्तलिखित प्रति, श्री शान्तिनाथ दि० जैन मन्दिर, अलीगज।

२ सोरह सै पैंसठि संमच्छर कातिग तीज अंधियारी हो।
त्रेपन क्रिया, अन्तिम पाठ, प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, पृ० २२०।

३. सोरह सै इकहत्तर जेठ, नुमोहि दिवस सुमरि परमेठि।
कृपण जगावन कथा, अन्तिम प्रशस्ति, अलीगंजकी हस्तलिखित प्रति।

४. कृपण जगावन कथा, अन्तिम प्रशस्ति, अलीगंजवाली प्रति।

५. गये मनाने को मथुरामल, यती धर्म महिमा जानी।
क्षुल्लक होकर साथ हो लिये, भोग वासना सब हानी ॥
कवि पुत्रपति, ब्रह्मगुलाल मुनिकी कथा।

६. ठोलियान मन्दिर, जयपुरका गुटका नं० १२५।

त्रेपन-क्रिया

इसकी प्रति आमेरशास्त्रभण्डारमे मौजूद है। इसकी रचना कार्त्तिक बदी तीज सं० १६६५ मे हुई थी। रचनास्थल ग्वालियर है। उस समय वहाँ सम्राट् जहाँगीरका राज्य था।

इस काव्यमे जैनोकी त्रेपन धार्मिक क्रियाओका उल्लेख है। उनका उल्लेख उपास्य बुद्धिसे ही किया गया है, अन्यथा क्रियाओके कोरे विवरणमे गणितकी शुष्कता अवश्य आ जाती। काव्यमे रूखेपनके दर्शन भी नही होते। प्रथम मंगलाचरणमे ही कविने स्वीकार किया है कि भगवान् जिनेन्द्रकी चर्चा करने-मात्रसे ही पाप तो तुरन्त ही पलायन कर जाते है, और करोडो विघ्न क्षण-मात्रमे नष्ट हो जाते है। भगवान् जिनेन्द्रके मुखसे उत्पन्न हुई सरस्वती देवीका स्मरण करनेसे काव्यके निर्माणमे आशातीत सफलता मिलती है। तीनो लोकके निवासी उस देवीकी वन्दना करनेमे अपना अहोभाग्य मानते है,

> "प्रथम परम मंगल जिन चर्चनु, दुरित तुरित तजि भजि हो।
> कोटि विघन नासन अरिनंदन, लोक सिरवरि मुख राजै हो।
> सुमिरि सरस्वति श्री जिन उद्भव, सिद्ध कवित सुभ बानी हो।
> गन गन्धर्व जक्ष मुनि इन्द्रनि, तीनि भुवन जन मानी हो॥"

कृपण जगावनहार

इसकी एक प्रति अलीगंज जिला एटाके शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिरके शास्त्रभण्डारमे है, दूसरी दिल्लीके पचायती मन्दिरमे और तीसरी नहरौली, आगराके जैन साधु श्री सुखचन्दजीके पास 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के खोज-कर्त्तानि देखी थी।[1] इसके कथानकमे सरसता है और भाषामे रमणीयता।

इस काव्यमे कृपणकी कथाके साथ-साथ भक्ति-रस पुष्ट हुआ है। कथा मे क्षयंकरी और लोभदत्त दोनो ही कृपण है। उनकी दुर्दशाका कारण जिनेन्द्रकी भक्ति से विमुख हो जाना ही है। क्षयकरी अपने पूर्व भवमे धवलसेठकी पत्नी मल्लि थी। एक आष्टाह्निक पर्वोत्सवमे उसने कोई उत्साह नही दिखाया, अपितु पूजनकी सामग्रीमे सडा-गला माल जुटा दिया और मुनियोके मलिन शरीरको देखकर घृणा की, अत. अगले भवमे वह कोढ़िन हुई और नारकीय दु.ख भोगने पडे। अन्तमे भगवान् जिनेन्द्रकी भक्ति करने और साधुओकी सेवासे ही वह स्वर्गमे देव हुई।

कृपण सेठ लोभदत्तकी दो पत्नियाँ कमला और लच्छा जिनेन्द्रकी भक्त थी। एक बार सेठकी अनुपस्थितिमे दोनोने जैन मुनियोको श्रद्धापूर्वक आहार दिया,

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाका पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण।

अत: उनको आकाशगामिनी और बन्धमोचिनी विद्याएँ सिद्ध हो गयी। सेठ जब उनको किवाडोंमे बन्द करके चला जाता था तो वे इन विद्याओंके बलपर सहस्र-कूट चैत्यालयकी वन्दना करने जाती थी। सहस्रकूट चैत्यालयके समीप रत्न तो बिखरे ही रहते है। एक बार वे पडोसिनको ले गयी तो वह बहुत-से रत्न समेट लायी। सेठको उसीसे वहाँके रत्नोंकी बात विदित हुई, और एक दिन वह विमानकी गुखाल्मे बैठ गया। किन्तु संयोगवशात् विमानका वह भाग फट गया और सेठकी मृत्यु हो गयी। दोनों सेठानियोंको दुःख तो हुआ किन्तु सन्तोषपूर्वक जिनेन्द्रपूजा और मुनियोंको दान देनेमे मन लगाया, अत: वे इहजीवनलीला समाप्त कर स्वर्गमे देव हुई।[1]

इस प्रकार 'कृपण जगावन कथा'मे जिनेन्द्रकी भक्ति ही प्रमुख है। इसी कथामे एक जैन आचार्यने राजा वसुपतिको जिनेन्द्रकी मूर्त्ति-पूजाकी उपयोगिता बतलायी है। उन्होंने कहा कि प्रतिमा-पूजन पुण्यका निमित्त है, उससे आत्मा ज्ञानरूपमे परिणमित होती है। प्रतिमा-दर्शनसे कषाय गल जाती है।

"प्रतिमा कारणु पुण्य निमित्त, बिनु कारण कारज नहि मित्त।
प्रतिमा रूप परिणवै आपु, दोषादिक नहिं व्यापै पापु।
क्रोध लोभ माया बिनु मान, प्रतिमा कारण परिणवै ज्ञान।
पूजा करत होइ यह भाउ, दर्शन पाए गलै कषाउ॥"

धर्मस्वरूप

इसकी प्रति आमेरशास्त्रभण्डारमे मौजूद है। उसमे पद्य-संख्या ९२ है। इसकी रचना भाद्रपद शुक्ला तृतीया सं० १७२० मे हुई थी। उसमे जैन धर्मका स्वरूप वर्णन है।

कविने प्रारम्भके मंगलाचरणमे सरस्वती और गणपतिके चरणोकी वन्दना की है[2], किन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि ग्रन्थका सम्बन्ध जैन धर्मसे नही है। क्योंकि "कीजे वाणी श्री जिणवर सार, संसार सग उतरै पार" और "मन्दिर वेदी दीरघ होइ, जीणवर धरम जपै सो होइ" स्पष्ट रूपसे जैन धर्मकी महिमाको बतानेमे समर्थ है। एक नही अनेक जैन कवियोंने सरस्वती और गणपतिकी वन्दनासे अपने ग्रन्थोंका प्रारम्भ किया है। सरस्वतीकी भक्ति तो जैन-परम्परामे बहुत प्राचीनकालसे चली आ रही है, किन्तु गणपतिको भी विद्याके अधिष्ठातृ देवके रूपमे हिन्दीके जैन कवियोंने स्वीकार किया था।

---

१. कृपण जगावन कथा, अलीगजवाली प्रति।

२. प्रथम सुमरौ सारदा, गणपति लागू पाय।
गुण गाऊँ श्री जिण तणा, सुनौ भव्य मन लाय॥

४४. उदयराज जती (वि० सं० १६६७)

'मिश्रबन्धुविनोद' के रचयिताओंने इनके आश्रयदाताका नाम महाराजा रायसिंह लिखा है, जिन्होंने वि० सं० १६३० से १६८८ तक राज्य किया[1]। किन्तु उदयराजकी लिखी हुई 'भजनछत्तीसी'से स्पष्ट है कि इनके आश्रयदाता जोधपुरके राजा उदयसिंह थे। इसी आधारपर श्री अगरचन्दजी नाहटाने 'मिश्रबन्धुविनोद' का निराकरण किया है।[2]

उदयराज जोधपुरके पासके रहनेवाले थे।[3] मिश्रबन्धुओंने उन्हें बीकानेरका रहनेवाला लिखा है।[4] हो सकता है कि बीकानेरमें उनका जन्म हुआ हो और जोधपुरमें आश्रय मिला हो।

'भजनछत्तीसी'में अपना परिचय देते हुए कविने लिखा है कि यह ग्रन्थ मैंने ३६ वर्षकी उम्रमें बनाया और उसका निर्माणकाल सं० १६६७ है।[5] अतः यह निश्चित है कि उदयराजका जन्म सं० १६३१ में हुआ होगा। इनके पिताका नाम भद्रसार, माताका नाम हरषा, भ्राताका नाम सूरचन्द्र, पत्नीका नाम पुरवणि, पुत्रका नाम सूदन और मित्रका नाम रत्नाकर था।[6] ये खरतरगच्छीय भद्रसारके शिष्य थे। भद्रसारने 'चन्दनमलयागिरी चौपई'की रचना की थी।

इनकी रचनाओंमें 'गुणबावनी', 'भजनछत्तीसी', 'चौबीस जिन सवैया' और

---

१. मिश्रबन्धुविनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६४।

२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग २, परिशिष्ट १, पृ० १४२-१४३।

३. साम समये उदयसिंह धाम समये योधपुर।
भजनछत्तीसी, पद्य ३२।

४. मिश्रबन्धुविनोद, प्रथम भाग, पृ० ३६३।

५. साल्हमैं सतसठे, कीध जन भजन छत्रीसी।
मोनुं वरस छत्रीस, हुःव भनि आवइ ईसी।
भजनछत्तीसी, ३७ वें पद्यकी प्रथम दो पंक्तियाँ।

६. समपि पिता भद्रसार जन्म समपे हरषा उर।
समपि भ्रात सूरचन्द्र मित्र समपे रयणायर।
समपि कलित्र पुरवणि समपि पुत्र सूदन दिवायर
रूप अने अवतार ओ भो समपे आपज रहण
उदैराज इह लघो रतो, भवभव समपे मह महण॥
भजनछत्तीसी, पद्य ३२।

'मन प्रशंसा-दोहा' अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। 'मिश्रबन्धु-विनोद'मे 'रंगेजदीन महताब'-को भी इनकी ही रचना माना है।[1] इसके अतिरिक्त 'वैद्य विरहिणी प्रबन्ध' भी इन्हीका रचा हुआ है। गुणबावनी कहीं 'सुभाषित बावनी' और कहीं 'गुणभासा' के नामसे प्रसिद्ध है।

भजनछत्तीसी

इस काव्यको रचना वि० सं० १६६७ फाल्गुन बदी १३ शुक्रवारके दिन हुई थी। इसका रचनास्थल जोधपुर राज्यान्तर्गत 'माडावाड' नामका स्थान माना जाता है। उस समय वहाँ जगमाल नामका राजा राज्य करता था।[2] प्रत्येक भजन भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे युक्त है। भाषाके प्रवाह और भावोकी प्रौढता-को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि कविकी काव्य-शक्ति पर्याप्त रूपसे विकसित थी। एक स्थानपर कविने आत्माको सम्बोधन करते हुए कहा है कि तू भगवान् जिनेन्द्रसे प्रीति कर। यह प्रीति सासारिक सम्बन्धो और मानापमानोको दूर करने-मे पूर्ण रूपसे समर्थ है,

> "प्रीति आप परजले, प्रीति अवरां परजालै।
> प्रीति गोत्र गालवै, प्रीति सुधवंश विटालै॥
> प्रीति काज घर नारि, छेद दै छोरू छोडे।
> प्रीति लाज परिहरै, प्रीति पर खंडे पाडै॥
> धन घटै देत दुख अंग मैं, अमख मखै अजरो जरै।
> उदैराज कहै सुणि आतमा, इसी प्रीति जिणउं करै॥

इस छत्तीसीको पढनेवालेके दुःख सब दूर हो जाते हैं और पाप पलायन कर जाते हैं,

> "भद्रसार चरण प्रणाम करि, मै अनुक्रमि मंड्या कवित।
> त्रैलोक छतीसी बांचता दुःख जाइ नासै दुरति॥"

गुण बावनी

इस काव्यकी रचना बबेरइमें वि० सं० १६७६ वैशाख शुक्ला १५ को हुई थी। इसकी सबसे प्राचीन प्रति वि० सं० १७३६ की लिखी हुई प्राप्त है। इस

---

१. मित्रबन्धुविनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६४।

२. बदि फागुण शिवरात्रि, श्रवण शुक्रवार समूरत।
माडावाह मंझारि, प्रभु जगमाल पृथी पति॥
भजनछत्तीसी, पद्य ३७।

३. गुण बावनी, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ५६, जैनगुर्जरकविओ, पृष्ठ ६७६।

प्रतिको मुनि महिमाणिक्यने सूर्यपुरके मध्य सुश्रावक साह माणिकजी हांसजीकके पढनेके लिए लिखी थी। दूसरी प्रति भुवन विशाल मणिके द्वारा वि० सं० १८१२ माघ बदी ९ को पूगलमे लिखी हुई अभय भण्डार बीकानेरमे मौजूद है। तीसरी प्रति जयपुरके बडे मन्दिरमे उपलब्ध गुटका नं० १२४ मे निबद्ध है।

इस ग्रन्थमे सन्त काव्यकी भाँति पाखण्डका निराकरण और आत्माको सम्बोधन कर अध्यात्मसम्बन्धी पद्योंकी रचना की गयी है। इसमे कुल ५७ पद्य है। प्रारम्भिक मंगलाचरणमे ही 'प्रणव अक्षर' रूप परमेश्वरको नमस्कार करते हुए कविने कहा है,

"ऊंकाराय नमो अलख अवतार अपरंपर,
गहिन गुहिर गंमीर प्रणव अख्यर परमेसर।
त्रिण्ह देव त्रिकाल त्रिण्ह अक्षर त्रेधामय,
पंचभूत परमेष्ठि पंच इन्द्री पराजय।
धुरिमन्त्र यंत्रह धंकारि धुरि, सिध साधक भावंति सह
मद्दसार पयंपइ गुर संमत उदैपुत्र ओंकार कहि॥१॥"

अन्त करणको निर्मल बनानेसे ही सब काम चलते है। बाह्याडम्बर तो व्यर्थ है। 'शिव शिव'का उच्चारण करनेसे क्या होता है, यदि काम, क्रोध और छलको नही जीत लिया। जटाओंके बढानेसे क्या होता है यदि पाखण्ड न छोडा। सिर मुडानेसे क्या होता है यदि मन न मुडा। इसी प्रकार घर-बारके छोडनेसे क्या होता है यदि वैराग्यकी वास्तविकताको नही समझा,

"शिव शिव किधां किस्यूं, जीत ज्यों नही काम क्रोध छल,
कासि कहनायां किस्यू, जो नही मन मांझि निरमल।
जटा वधायां किसू, जांम पाखड न छंडयउ,
मस्तक मुंड्यां किसू, मन जौं माहि न मुंडयउ,
लुगडे किसूं मैले कीये, जो मनमांहि मइलो रहइ,
घरबार तज्यां सीधउ किसू, अणबूझ्यां उदो कहइ॥५३॥"

अपनी इस बावनीकी प्रशंसा करते हुए कविने कहा है, "जबतक समुद्र, ध्रुव, मेरु, पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र और ब्रह्मा-विष्णु-महेश है, तबतक यह बावनी रहेगी, और उत्तरोत्तर उसकी कला बढती ही जायेगी।[१] इस बावनीके कहने, सुनने और लिखनेसे भी अनेको ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त होती है। सम्पत्ति बढती है और सुख मिलता है। एक कवित्तके कहने-मात्रसे ही मनुष्य पण्डित हो जाता है,

१. गुणबावनी, पद्य ५५।

"एकोइ कवित्त कहई हुवई, तिकौ मनिष पंडित कहइ,
उदैराज संपूरण मुखे करइ, तिको अनेक वातां कहइ ॥५७॥"

चौबीस जिन सवैया[1]

इसकी १९वीं शताब्दीकी लिखी हुई एक प्रति बीकानेर बृहद्ज्ञानभण्डार-मे सुरक्षित है। इस काव्यमे चौबीस तीर्थंकरोंकी भक्तिमे २०० सवैयोंका निर्माण हुआ है। सभी भक्ति-रसके उत्तम दृष्टान्त है। रचना प्रौढ है। उसका आदि भाग देखिए,

"प्रथम ही तीर्थंकर रूप परमेश्वर को,
वंश ही इक्ष्वाकु अवतंश ही कहायौ है।
वृषभ लांछन पग धोरी रहै धींग जावै,
धन्य मरु देव तार्की कुक्षी आयौ है॥
राज ऋद्धि छोर करि भिक्षाचार भेष भये,
ममता संतोष ज्ञान केवल ही पायौ है।
नाभिराय जू को नंद नमै सुरनर वृन्द,
उदय कहत गिरि शत्रुंजे सुहायौ है ॥१॥"

मनःप्रशंसा दोहा[2]

इसकी एक प्रति जयपुरके बडे मन्दिरके गुटका नं० १२४ मे निबद्ध है। मन-को सम्बोधन करके अनेक दोहोंका निर्माण हुआ है।

वैद्य विरहिणि प्रबन्ध

इसकी एक प्रति वि० सं० १७७२ कार्त्तिक सुदी १४ की लिखी हुई अभय जैनग्रन्थालय बीकानेरमे सुरक्षित है। इसमे कुल ७८ दोहे हैं। सभी शृंगारिक भक्तिसे ओतप्रोत है। विरहज्वरसे प्रपीडित नारी ब्रजराजरूपी वैद्यके पास जाती है और उसके सभी रोग ठीक हो जाते है।

"एकन दिन ब्रजवासिनी, दिल में दई उहार।
हौं दुखहारी बैद पै, जाइ दिखाऊं नारि॥
को विरहिन जिय सोच मैं, घर अपनी जिय त्रास।
रिगत पान क्यों कर दनै, गयौ बैद पै पास ॥२॥"

---

१. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, अगरचन्द नाहटा, उदयपुर, १९५४, पृष्ठ १२२।

२. राजस्थानमे हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग २, पृष्ठ ३५-३६।

अन्त

"अपने अपने कंत सूं, रस वस रहिया जोइ।
उदैराज उन नारि कूं, जमें दुहागन होइ ॥
जां लगि गिरि सायर अचल, जांम अचल ध्रू राज।
तां लगि रंग राता रहै, अचल जोड़ि अजराज ॥७८॥"

४५. हीरानन्द मुकीम (वि० सं० १६६८)

शाह हीरानन्द जगतसेठके पुत्र ओसवाल जैन थे। वे आगराके रहनेवाले थे। उनके पास अरिमित धन था।[1] आगराके सर्वोत्तम जौहरियोंमें उनकी गणना थी। शहज़ादा सलीमसे घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने सम्मेदशिखरजीकी यात्राके लिए संघ निकाला था। इसका उल्लेख कविवर बनारसीदासजीके 'अर्धकथानक'में हुआ है। उन्होंने लिखा है कि वि० सं० १६६१ चैत्र सुदी २ को हीरानन्द मुकीमने प्रयागपुर नगरसे सम्मेदशिखरको संघ चलाया। स्थान-स्थानपर पत्र भेजे गये। चारो ओर सूचना फैल गयी। बनारसीदासजीके पिता खड्गसैन-के पास भी पत्र आया और वे इस यात्राके निमित्त घोड़ेपर चढ़कर घरबारको छोड़कर तुरन्त चल पड़े, और नन्दजीसे जा मिले।[2] उसी वर्ष संघ वापस भी लौट आया। अनेको मर गये या बीमार हो गये। खड्गसैन भी बीमार अवस्था-में ही घर आये थे।

इस यात्राका सम्पूर्ण विवरण प्रस्तुत करनेवाला एक हस्तलिखित गुटका श्री अगर-

---

१. साहिब साह सलीम को, हीरानन्द मुणीम, [illegible]
ओसवाल कुल जोहरी, वनिक वित्त को सीम ॥२२४॥
अर्धकथानक, प० नाथूराम प्रेमी संपादित, बम्बई १६५७, पृष्ठ २५।

२. आयौ संवत् इकसठा, चैत मास सित दूज ॥२२३॥
तिन प्रयागपुर नगर सौं, कीजौ उद्दम सार।
संघ चलायौ सिखर को, उतर्यौ गंगा पार ॥२२५॥
ठौर ठौर पत्री दई, भई खबर जित तित्त।
चीठी आई सैन को, आवहु जात निमित्त ॥२२५॥
खरगसैन तब उठि चले, ह्वै तुरंग असवार।
जाइ नंदजी को मिले, तजि कुटुम्ब घरबार ॥२२७॥
वही, पृष्ठ २५-२६।

चन्दजी नाहटाको मिला है। यह खरतरगच्छके मुनि तेजसारके शिष्य वीरविजय-का लिखा हुआ है। इसका नाम है 'वीर विजय सम्मेतशिखर चैत्य परिपाटी'। इसके अनुसार एक खरतरगच्छीय संघ आगरेसे चला था। शाह हीरानन्दका संघ जो इलाहाबादसे चला था, बनारसमें इस संघसे आकर मिल गया था। शाह हीरानन्दके साथ हाथी, घोड़े, रथ, पैदल और तुपकदार भी थे। वहाँसे चन्द्रपुरी और पावापुरी आदि अनेक तीर्थोंकी वन्दना करता हुआ तथा बड़े-बड़े विघ्नोंको पार करता हुआ संघ शिखरजी पहुँचा। वहाँ २० टुंक और बहुत-सी मूर्तियोंकी वन्दना की। लौटते समय संघ राजगृहीके पाँच पर्वतों तथा बड़गाँवमें गौतम गणधरके स्तूप और अनेकानेक जैन मन्दिरोंकी पूजा करता हुआ पटना आया। वहाँ संघ १५ दिन ठहरा और शाह हीरानन्दकी ओरसे सबको पहिरावणी दी गयी। जौनपुरसे संघके व्यक्ति अपने-अपने स्थानको चले गये।[1]

इससे शाह हीरानन्दका जैन तीर्थोंके प्रति भक्ति-भाव स्पष्ट है। यह बहुत कम लोगोंको विदित होगा कि वे एक अच्छे कवि भी थे। उनकी रची हुई 'अध्यात्म बावनी' एक सुन्दर काव्य है।

अध्यात्म बावनी

इसकी रचना वि० सं० १६६८ में आषाढ सुदी ५के दिन हुई थी। उसी वर्ष लाभपुरमें भोजिग किशनदास साह वेणीदासके पुत्रके पठनार्थ लिखी गयी इसकी एक प्रति उपलब्ध हुई है।[2] इस काव्यमें ५२ अक्षरोंमें-से प्रत्येकको लेकर एक-एक पद्यकी रचना की गयी है। सभी पद्य अध्यात्मसे ओतप्रोत हैं। सन्तकाव्यकी भाँति ही 'जड चेतन'को सम्बोधन करके अपने हृदयस्थ भावोंको स्पष्ट किया गया है। भाषामें प्रवाह है।

"ऊंकार सरुपुरुष ईह अलख अगोचर,
अंतरज्ञान विचारि पार पावई नहि को नर।
ध्यान मूक मनि जाणि आणि अंतरि हहरावउ,
आतम तसु अनूप रूप तसु ततखिण पावउ।
इम कहहि हीरानन्द संघपति अमल अटलहहु ध्यान थिरि
सुह सुरति सहित मनमई धरउ भुगति-मुगति दायक पवर ॥१॥"

---

१. श्री अगरचन्द नाहटा, शाह हीरानन्द तीर्थयात्रा विवरण और सम्मेतशिखर चैत्य परिपाटी, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १०, पृष्ठ ३००–३०१।

२. गुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृष्ठ ४६६–६७।

अन्त

"मंगल करउ जिन पास आस पूरण कलि सुरतर,
मंगल करउ जिन पास दास जाके सब सुरनर।
मंगल करउ जिन पास, जास पय सेवई सुरपति,
मंगल करउ जिन पास, तास पय पूजइ दिनपति।
मुनिराज कहई मंगल करउ, सपरिवार श्री कान्ह सुम,
बावन्न बरन बहु फल करहु संघपति हीरानंद तुव ॥५७॥"

४६. हेमविजय (वि० सं० १६७०)

हेमविजय वृद्धशाखाके प्रसिद्ध आचार्य हीरविजयसूरिके प्रशिष्य, और विजयसेनसूरिके शिष्य थे। हीरविजयसूरिका असाधारण व्यक्तित्व था, उनमें विद्वत्ता भी उत्तम कोटिकी थी। सम्राट् अकबरने उन्हें वि० सं० १६३९ में दो बार आमन्त्रित किया था। उनका अलौकिक स्वागत हुआ, और उन्हें जगद्गुरु-की पदवी दी गयी।[1] श्री विजयसेनसूरिको भी सम्राट् अकबरने वि० सं० १६५० में निमन्त्रण देकर बुलाया था। उन्हें सवाई हीरविजयकी उपाधिसे विभूषित किया गया था।[2]

श्री हेमविजयने आचार्य हीरविजयकी महत्ताका उद्‌बोधन करनेवाली अनेकानेक स्तुतियोंकी रचना संस्कृतमें की थी। उनमें-से एक तो अभीतक शत्रुंजय पहाड़के शिलालेखमें अंकित है। इसमें ६७ श्लोक हैं। अपने गुरु विजयसेनसूरिकी प्रशंसामें उन्होंने 'विजय प्रशस्ति' का निर्माण किया। यह भी संस्कृतमें ही लिखी गयी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'कथारत्नाकर'की भी रचना की। इसकी प्रसिद्धि बहुत अधिक है।

हेमविजय हिन्दीके भी उत्तम कवि थे। उन्होंने हीरविजयसूरि और विजयसेन-सूरिकी स्तुतिमें छोटे-छोटे बहुत-से हिन्दी पद्य बनाये हैं। तीर्थंकरोंकी स्तवनाके भी कुछ पद रचे हुए मिलते हैं।[3] 'मिश्रबन्धुविनोद' में भी इनका उल्लेख है। वहाँ इनके वि० सं० १६६६ में बनाये हुए स्फुट पदोंकी बात कही गयी है।[4]

---

१. Vide P. P. 265-276 Bhandarkar Commemoration Volume.

२. मोहनलाल दुलीचन्द देसाई, 'Jain Priests at the Court of Akbar', भानुचन्द्र गणि, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, भूमिका, पृष्ठ ६।

३. पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, १९१७, पृष्ठ ४८।

४. मिश्रबन्धुविनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३६७।

नेत्रहीन होनेके कारण उनके पदोमे हृदयकी गहरी अनुभूति है। वे हिन्दीके परिचय-मात्रको ही नही, अपितु प्रौढ़ कवित्व-शक्तिको प्रकट करनेमे समर्थ है।

नेमिनाथके पद

नेमीश्वर राजुलके विवाह-द्वारसे वापस लौट आये। उग्रसेनके द्वारपर बँधे पशुओंकी करुण पुकारसे उनके हृदयमे वैराग्यने जन्म लिया, और वे जैन मुनि होकर गिरनारपर तप करने चले गये। उस समय राजुलकी आतुरताका हेम-विजयने सफल चित्र खीचा है। राजुल बेचैन होकर गिरनारकी ओर दौड उठी। सखियोसे कहा कि तुम एक क्षण यहाँ ही खडी रहो, किन्तु सखियोंने उसे पकड़ लिया, तो वह निहोरे करके कहने लगी कि तुम 'अबही तबही कबही जबही', अर्थात् अब, तब, कब, जब चाहो यदुरायसे जाकर कहो, "हे नेमजी, तोरण-द्वारसे वापस क्यों लौट आये।" वह पद्य देखिए,

> "कहि राजमती सुमती सखियान कूं, एक खिनेक ग्वरी रहुरे।
> सखिरी सगिरी अंगुरी मुही बाहि करति बहुत इसे निहुरे॥
> अबही तबही कबही जबही, यदुराय कूं जाय इसी कहुरे।
> मुनि हेम के साहिब नेम जी हो, अब तोरन तें तुम्ह क्यूं बहुरे॥"

राजुल मानी नही। अकेली ही चल पड़ी। यहाँ लोक-मर्यादाका बन्धन उसे बाँध न सका। राजुलकी दृष्टिमे वह नेमीश्वरकी पत्नी थी। भारतीय कन्या एक बार पति चुनती है, बार-बार नही। इसी कारण किसीकी परवाह किये बिना वह उस ओर दौड गयी। उसका गन्तव्य स्थान दूसरेका पति नही, किन्तु अपना ही पति था, इसलिए कुल-कानिका कोई प्रश्न उपस्थित नही होता। नयी-नयी घटाएँ उमड रही है। इधर-उधरसे बिजली चमक रही है। पियुरे-पियुरे कहकर पपीहा बिलला रहा है। उधर तो आसमानसे बूँदें टपक रही है और इधर 'उग्रसेनलली'-की आँखोसे आँसुओंकी झडी लग गयी है। वह मुनि हेमविजयके साहब नेमीश्वरको देखनेके लिए अकेली ही निकल पड़ी है,

> "घनघोर घटा उनयी जु नई, इततैं उततैं चमकी बिजली।
> पियुरे पियुरे पपिहा बिललाति जु, मोर किंगार करंति मिली।
> बिच बिन्दु परे द्दग आंसु झरें, दुनि धार अपार इसी निकली।
> मुनि हेम के साहब देखन कूं, उग्रसेन लली सु अकेली चली॥"

४७. नन्दलाल (वि० सं० १६७०)

कवि नन्दलाल आगरेके पास 'गोसुना' के रहनेवाले थे। 'उनके पूर्वज बयानामे रहते थे। इनके पिता श्रवणदास गोसुनामे आकर रहने लगे थे। पं० नाथूरामजी प्रेमीने इनकी वंश-परम्परा – अमरसी, प्रेमचन्द्र, श्रवणदास और नन्दलालके रूपमें स्वीकार की है।[1] किन्तु नन्दलालके 'यशोधर' और 'सुदर्शन चरित्र' से स्पष्ट है कि उनके पिताका नाम 'भयरौ' अथवा 'भैरो' था। हो सकता है कि श्रवणदासका बचपनका नाम 'भयरौ' हो। नन्दलालका वंश अग्रवाल और गोत्र गोयल था।[2]

नन्दलालकी माँका नाम चन्दन था। वे धार्मिक प्रवृत्तिकी महिला थी। नन्दलालका झुकाव भी धर्मकी ओर था। वे विद्वान् थे और कवि भी। उनकी सुजनतापर रीझकर ही प्रसिद्ध पण्डित हेमराजने अपनी विदुषी पुत्री 'जैनी' का उनके साथ विवाह कर दिया था। उनसे बुलाकीदासका जन्म हुआ जिसने अपनी माँकी प्रशंसा करते हुए लिखा है, "सुगुन की खानि कीधौं सुकृत की वानि सुभ, कीरति की दानि अपकीरति-कृपानि है। स्वारथ-विधानि पर स्वारथ की राजधानि, रमाहू की रानि कीधौं जैनी जिनवानि है[3] ॥"

नन्दलालके गुरुका नाम भट्टारक त्रिभुवनकीर्त्ति था। उनका यश चतुर्दिक्मे विस्तृत था। त्रिभुवनकीर्त्ति श्रुतके पारगत विद्वान् थे। उनके भी गुरु मुनिराय सुखेमकीर्त्ति इतने पवित्र विद्वान् थे कि उनका नाम लेने मात्रसे ही पाप पलायन कर जाते थे। सुखेमकीर्त्तिके गुरु भट्टारक जशकीर्त्तिका तो बहुत अधिक नाम था। चारों ओर उनके संयमकी ख्याति थी। उन्होंने कामदेवको वशमे कर लिया था।[4] नन्दलालको ऐसी विद्वान् और पावन परम्परा गुरुके रूपमे मिली थी और तदनुरूप ही वे स्वयं भी बने।

कविने अपने समयके आगरेकी प्रशंसामे बहुत कुछ लिखा है। उस समय वहाँ अकबरके पुत्र जहाँगीरका राज्य था। उसके शासनमें सब प्रजा सुखी थी।

---

१. प० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ६५।

२. अगरवाल वरवंश गोसुना गाँव को, गोइल गोत प्रसिद्ध चिन्ह ता ठाव को।
मातहि चन्दन नाम पिता भयरौ भन्यो, नन्द कही मनमोद गुनी गन ना गन्यौ ॥
काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोजका २० वाँ त्रैवार्षिक विवरण, नन्द या नन्दलालका विवरण।

३. बुलाकीदास, पाण्डवपुराण, प्रशस्ति।

४. सुदर्शनचरित्र, प्रशस्ति, पद्य ११–१३, का० ना० प्र० प०, २०वाँ त्रैवार्षिक विवरण।

कोई धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं था। साहित्यकार भी स्वतन्त्र रूपसे लिख रहे थे।[1]

कवि नन्दलालकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं : 'यशोधरचरित्र', 'सुदर्शनचरित्र' और 'गूढ़-विनोद।'

यशोधरचरित्र

'यशोधरचरित्र'की एक प्रति नया मन्दिर दिल्लीके सरस्वतीभण्डारमें प्राप्त है। यह वि० सं० १९७२ की लिखी हुई है। दूसरी हस्तलिखित प्रति वि० सं० १८३९ की लिखी हुई जयपुरके बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरमें है। काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाकी बीसवीं त्रैवार्षिक रिपोर्टमें जिस 'यशोधरचरित्र'का उल्लेख है, उसका लेखनकाल नहीं दिया है। नन्दलालने इस काव्यका निर्माण वि० सं० १६७० श्रावण शुक्ला सप्तमीको किया था।[2]

इस काव्यमें जैनधर्मके प्रगाढ भक्त महाराज यशोधरके जीवन-चरित्रका वर्णन है। अपभ्रंशके प्रसिद्ध कवि पुष्पदन्तसे लेकर नन्दलाल तक अनेक यशोधर-चरित्रोंका निर्माण हो चुका था। अतः काव्यका कथानक तो पुराना ही है, किन्तु काव्यत्वकी दृष्टिसे नयापन है। उसमें चौपाई छन्दका प्रयोग किया गया है। भाषामें प्रसादगुण है और गतिशीलता। काव्यके प्रारम्भमें सरस्वतीकी वन्दना है,

> "द्वु कर जोड़ि नऊ सरसती, बढ़े बुद्धि उपजै शुभ मती।
> जिन बानी मानी जिन आनि, तिनकौ वचन चढ़्यौ परवान॥
> बिबुध विहंगम नव घन बारि, कवि कुल केलि सरोवर मार।
> भवसागर तू तारन भाव, कुनय कुरंग सिंघनी भाव॥
> वे नर सुन्दर ते नर वकी, जिनकी पुहुमि कथा बहुचकी।
> जिनको तैं सारद वर दीयो, सुख सरिता सु अमक जक पीयो॥"[3]

आगरेका वर्णन करते हुए कविने लिखा है कि वहाँ भगवान् जिनेन्द्रके

---

१. जहाँगीर उपमा देऊ काहि, श्री सुलितान नूरदी साहि।
कोश देश मंत्री मति गूढ, छत्र चमर सिंघासन रूढ॥
धन कन पूरन तुंग अवासु, बसहिं निसक धर्म के दास।
सुदर्शनचरित्र, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ५०५, ५०३, वही।

२. संवत् सोरहसै अधिक सत्तरि श्रावन मास।
सुकुल सोम दिन सत्तमी, कही कथा मृदु भास॥
यशोधरचरित्र, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ६।

३. यशोधरचरित्र, आदि भाग, जयपुरके श्री बधीचन्दजी दि० जैन मन्दिरकी हस्त-लिखित प्रति।

भक्तोंकी कमी नहीं थी। अनेक धर्मवन्तोंने असंख्य रुपया व्यय करके जिन-मन्दिरोंका निर्माण करवाया था। उनमें जिनमूर्तियोंकी प्रतिष्ठा भी हुई थी। जैन पुराणोंकी प्रतिलिपियाँ हो रही थीं। जैन कवि भक्तिसे युक्त कविता रचनेमें प्रवृत्त थे,

> "होहि प्रतिष्ठा जिणवरतनी, दीसहि धर्मवंत बहुधनी।
> एक करावहि जिणवरधाम, लागें जहां असषिन दाम॥
> एक लिखा कें परम पुरान, एक करहि संतोक प्रधान।
> राज चैन कोऊ सकति न लुपैं, कविता कवित्त तपी तप तपें।"[1]

सुदर्शनचरित्र

'सुदर्शनचरित्र'की एक प्रति पंचायती मन्दिर दिल्लीमें मौजूद है। कवि नन्दलालने इस काव्यको वि० सं० १६६३ माघ शुक्ला पंचमी गुरुवारके दिन रचा था।[2] काव्यमें सेठ सुदर्शनका चरित्र चित्रित किया गया है। वह एक भक्त सेठ था। इसलिए इस काव्यमें प्रारम्भसे अन्त तक भक्तिकी धारा ही प्रवाहित हो रही है। कथानकपर अपभ्रंशके 'सुदंसणचरिउ' का पूरा प्रभाव है।[3] भाषा और भाव दोनों ही सुन्दर हैं। पूरा काव्य 'चौपाई' छन्दमें लिखा गया है।

आगरेके निवासी निःशंक होकर अपने-अपने धर्मका पालन करते थे, इस कथनको निरूपित करनेवाली एक चौपाई देखिए,

> "धन कन पूरन तुंग अवासु। वसहिं निसंक धर्म के दास॥
> छत्राधीश हमाऊं वंश, अकबर नंद बैरि विध्वंस॥"

गूढ़-विनोद

'गूढ़-विनोद'की एक हस्तलिखित प्रति जयपुरके पण्डित लूणकरजीके मन्दिरमें रखे गुटका नं० ९ में निबद्ध है। इसमें अध्यात्म-सम्बन्धी पद और गीत हैं।

---

१. यशोधरचरित्र, पद्य ६१४–६१५, नया मन्दिर दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति।

२. संवत सोरह से उपरंत, त्रेसठि जानहु वरिष महंत॥
   माघ उज्यारे पाष, गुरु वासर दिन पंचमी।
   बंधि चौपई भाष, नंद करी मति सारषी॥
   सुदर्शनचरित्र, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य ६–७, वही।

३. नैना नंदि आदि जो कही, ताहि विधि बाध्यो चौपही॥
   सुदर्शनचरित्र, अन्तिम प्रशस्ति, पद्य १३, वही।

४८. कवि सुन्दरदास (वि० सं० १६७५)

जैन कवि सुन्दरदास हिन्दीके सन्त सुन्दरदाससे पृथक् थे। जैन कवि सुन्दरदास बागड प्रान्तके रहनेवाले थे। दिल्लीके आस-पासका प्रदेश बागडके नामसे प्रसिद्ध था। कहा जाता है कि ये शाहजहाँ बादशाहके कृपापात्र कवियोंमे-से थे। बादशाहने इनको पहले कविराय, फिर महाकविरायका पद प्रदान किया था। ये औरंगजेबके समय तक जीवित रहे।[1] सन्त सुन्दरदासका जन्म 'घौंसा' नामक स्थानपर हुआ था जो जयपुरसे १६ कोस पूर्वमें स्थित है। इनके पिताका नाम चोखा और माताका नाम सती था।[2] इनकी रचनाओंमें 'सुन्दर विलास' ही अधिक प्रसिद्ध है। वह अध्यात्मका ग्रन्थ है। जैन कवि सुन्दरदास भी अध्यात्मवादी थे। दोनोंकी भाषा, शैली और भावधारामें बहुत कुछ साम्य है, किन्तु दोनोंका अन्तर भी स्पष्ट है।

जैन कवि सुन्दरदासके चार ग्रन्थोंका अनुसन्धान हो चुका है: 'सुन्दर सतसई', 'सुन्दर विलास', 'सुन्दर शृंगार' और 'पाखण्ड पंचासिका'। काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके सम्पादकोंने जब 'सुंदर शृंगार' की खोज की, तो उसके प्रारम्भमें "श्री जिनाय नमः पुनः गणेशाय नमः, देवी पूजूं सरस्वती इरेक पाय। नमस्कार कर जोर कै कहै महाकविराय॥"[3] लिखा हुआ प्राप्त किया। उसपर टिप्पणी लिखते हुए उन्होंने कहा, "इसके प्रारम्भमे 'श्री जिनाय नमः' क्यों लिखा है, यह प्रश्न अपने सभी आश्चर्योंके साथ उपस्थित है।"[4] किन्तु हिन्दीके जैन कवि प्रायः अपनी रचनाओंके प्रारम्भमें भगवान् जिनेन्द्रके साथ-साथ गणेश और सरस्वतीकी भी वन्दना करते रहे है। श्री अचलकीर्तिने तो अपने 'विषापहार स्तोत्र'के प्रारम्भमें "विश्वनाथ विमल गुन ईस। विहरमान बंदौ जिन बीस॥ ब्रह्मा विष्णु गनपति सुन्दरी। वर दीजौ मोहि बागेसुरी"[5] तक कहा है। कवि सुन्दरदासके पदोंके मध्यमें स्थान-स्थानपर भगवान् जिनेन्द्रके गुणोंकी महिमाका वर्णन है। इससे उनका जिन-भक्त होना सिद्ध ही है।

---

१ का० ना० प्र० पत्रिका, Annual Report Search for Hindi Manuscripts-1901, No. 3.

२. डॉ० मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००८, पृ० २६३।

३. का० ना० प्र० पत्रिका, Annual Report search for Hindi Manuscripts-1901, No. 3.

४. देखिए वही।

५. का० ना० प्र० पत्रिकाका १४वाँ त्रैवार्षिक विवरण, अचलकीर्ति जैनका विवरण।

सुन्दर श्रृंगार

काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकामे 'सुन्दर श्रृंगार'की दो हस्तलिखित प्रतियोंका उल्लेख है। पहली जोधपुरके राजकीय पुस्तकालयमे मौजूद है। इसमे ९०० पद्य हैं। यह वि० सं० १७९१ मे लिखी गयी थी। दूसरी श्री भाग्यसागर गणिके शिष्य पं० दौलतसागरने कानपुरमे वि० स० १८३५ मे लिखी थी।[1] तीसरी हस्तलिखित प्रति मेवाडके प्रसिद्ध राजकीय पुस्तकालय सज्जन वाणीविलासमे प्रस्तुत है। यह प्रति वि० स० १८११ की लिखी हुई है। इसमे ४५९ पद्य है।[2] इसके अनुसार यमुना तटपर बसे हुए आगरे नगरमे बैठा हुआ शाहजहाँ बादशाह राज्य करता था,

> "नगर आगरो बसत है जमुना तट सुभ थान।
> तहां पातसाही करै बैठो साहिजिहांन ॥२॥"

जयपुरके पण्डित लूणकरजीके मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० १२६मे भी श्री सुन्दरदासजीका 'सुन्दर श्रृगार' निबद्ध है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति अतिशय क्षेत्र महावीरजीके शास्त्रभण्डारमे मौजूद है। प्रति सुन्दर है। विषय श्रृंगार रससे सम्बन्धित है।

पाखण्ड पंचासिका

यह रचना जयपुरके बडे मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० १२०मे निबद्ध है। इसमे पाखण्डको बुरा कहा गया है। इस काव्यसे प्रमाणित है कि कविराय सुन्दरदास योगीन्दु, रामसिंह और देवसेनकी परम्परामें थे। उन्होंने बाह्य कर्म-कलापोंके परित्यागकी बात कही है।

सुन्दर सतसई और सुन्दर विलास

दोनों कृतियाँ, जसवन्तनगरके दि० जैन मन्दिरके एक गुटकेमे संकलित हैं। यह गुटका स्वयं सुन्दरदासजीने मल्लपुरमे वि० सं० १६७८ मे लिखा था।[3]

दोनो रचनाओंमे आध्यात्मिकतासे भरे पद्योका समावेश हुआ है। कवि अपने 'जी'को सम्बोधन करते हुए कहता है, "ओरे जिया ! तू विषयरसको छोड़ दे, जिससे तुझे सुख प्राप्त होवे। तू सम्पूर्ण विकारोको छोडकर जिनेन्द्रके गुण गा।

---

१. का० ना प्र० पत्रिका, Annual Report Search for Hindi Manuscripts-1901, No. 3.

२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग १, पृ० १५६।

३. कामताप्रसाद जैन, हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १२७–२८।

तेरी महत्ता इसीमे है कि तुझे फिर इस चतुर्गतिमे न आना पड़े, और ऐसा तभी हो सकेगा जब तू क्षण-क्षणमे भगवान् जिनेन्द्रके गुण गायेगा। अपनी आत्मामे चित्त लगानेवाला पुरुष अचल पद प्राप्त करता है,

"जिया मेरे छांड़ि विषय रस ज्यौं सुख पावै।
सब ही विकार तजि जिण गुण गावै॥
घरी-घरी पल-पल जिण गुण गावै।
ताते चतुर गति बहुरि न आवै॥
जौ नर निज आतमु चित लावै।
सुन्दर कहत अचल पद पावै॥[1]

पद

सुन्दरदासजीके लिखे हुए पद मन्दिर ठोलियान जयपुरके गुटका नं० ११० मे और दि० जैन मन्दिर बडौतके शास्त्रभण्डारके पदसंग्रहमे संकलित है। एक पदमे जावकी मूर्खता बताते हुए कविने लिखा है कि वह एक ओर तो ससारका आनन्द चाहता है और दूसरी ओर मोक्षसुख। किन्तु यह तो वैसे ही है जैसे कोई पत्थरकी नावपर चढकर समुद्रसे पार होना चाहे। शय्या बनाये कृपाणोकी और चाहे विश्राम, यह असम्भव है। वह पद्य इस प्रकार है,

"पाथर की करि नाव पार-दधि उतरयौ चाहै,
काग उड़ावनि काज मूढ़ चिन्तामणि बाहै।
बसै छाँह बादल तणी रचै धूम के धाम,
करि कृपाण सेज्या रमै ते क्यों पावै विसराम॥"

कवि सुन्दरदासको अपने आराध्यकी महिमामे अटूट विश्वास था। उनके आराध्यने चिद्रूपका ध्यान घरके संसारसे मुक्ति प्राप्त की थी। उसके समान विश्वमे और कोई नही है। उसकी भक्तिसे रोग-विरोग दूर हो जाते है,

"रहत भये संसार सौं जी हिरदै धरि करि ध्यान,
ध्यान धरयौ चिद्रूप सौं जी उपज्यौ है केवल ज्ञान।
रोग विरोग न संचरै हो मन बछित फल होइ,
कर जोड़ै सुन्दर भणै स्वामी तुम सम और न कोइ॥"[2]

१. वही, पृष्ठ १२६।
२. मन्दिर ठोलियान, जयपुरका गुटका नं० ११०, पृष्ठ १२०, पद्य ५वाँ।
३. दि० जैन मन्दिर, बड़ौतके शास्त्रभण्डारके पदसंग्रहकी हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ३३।

धर्म सहेली

सुन्दरदासकी यह कृति दीवान बधीचन्दजीके मन्दिर जयपुरके गुटका नं० ५१ में निबद्ध है। रचना सरस है। इसमें केवल ७ पद्य हैं।

४९. पं० भगवतीदास (वि० सं० १६८०)

पं० भगवतीदास अम्बाला जिलेके बूढ़िया नामक स्थानपर उत्पन्न हुए थे। उस समय बूढ़िया धन-धान्यादिसे सम्पन्न एक रियासत थी। अब तो वहाँ खण्डहर अधिक है।

भगवतीदासका कुल अग्रवाल और गोत्र बसल था। उनके पिता किसनदासने वृद्धावस्थामें मुनिव्रत धारण कर लिया था। भगवतीदास बूढ़ियासे जोगिनीपुर (देहली) जाकर रहने लगे थे। देहलीमें मोतीबाजारके पार्श्वमन्दिरके पास ही पण्डितजीका निवास-स्थान था।[1]

कवि भगवतीदासके गुरुका नाम भट्टारक महेन्द्रसेन था, जो उस समय दिल्ली-की भट्टारकीय गद्दीपर प्रतिष्ठित थे। महेन्द्रसेन काष्ठासंघ माथुरगच्छीय भट्टारक गुणचन्द्र (वि० सं० १५७६) के प्रशिष्य और सकलचन्द्रके शिष्य थे। भगवती-दासने अपनी प्रत्येक रचनामें महेन्द्रसेनका उल्लेख किया है।[2]

कवि भगवतीदासकी अधिकांश कृतियाँ सम्राट् जहाँगीरके शासनकाल (सन् १६०५-६२) में पूर्ण हुई। कतिपय अवशिष्ट रचनाएँ शाहजहाँके राज्य (सन् १६२८-५८) में भी रची गयीं। कविने जहाँगीरकी प्रशंसा की है।[3] रचनाओं-का निर्माण किसी एक स्थानपर न होकर देहली, आगरा, हिसार, कैथिया, संकिसा आदि अनेक स्थानोंपर हुआ। उनकी २५ कृतियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें

---

१. प्रशस्ति, बृहत्सीतासतु, सलावा प्रति, अनेकान्त, वर्ष ११, पृष्ठ २०५, पाद-टिप्पण २।

२. भट्टारक सम्प्रदाय, जोहरापुरकर, जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, १९५८, पृ० २४३, लेख सख्या (५९९-६०३)।

३. अरे राज लवलो जहागीर का फिरिय जगति तिस आनि हो।
शशि रस वसु विदा धर हां संवत मुनहु सुजान हो॥
गुरु मुनि माहेन्द्रसेनजी पदपकज नमु तास हो।
सहर सुहाया बूढियैं कहत भगौतीदास हो॥३५॥
मुगति शिरोमणि चूनड़ी, देखिए वही, लेख संख्या, ५९९, पृष्ठ २३०।

'ज्योतिषसार' और 'वैद्यविनोद' नामकी दो रचनाएँ भी है।[1] अवशिष्ट २३ साहित्यिक कृतियाँ है। वे आध्यात्मिकता और भक्तिसे पूर्ण है। उनकी भाषा सरस हिन्दी है। भगवतीदासने 'नवाकंकेवली' और 'द्वात्रिंशदिन्द्रकेवली'की प्रतिलिपि भी की थी।[2] रचनाओंका परिचय निम्न प्रकार है,

मुगति रमणी चूनड़ी

इसकी रचना बूढ़िया गाँवमे वि० सं० १६८०मे हुई थी। उस समय जहाँगीरका राज्य था। इसमे ३५ पद्य है। यह एक रूपक-काव्य है। इसमें मुक्ति रमणीको चूनडी बनाया है। यह चूनडो ज्ञानरूपी सलिलमे भिगोकर सम्यक्त्व रूपी रंगमे रँगी जाती है। चूनड़ी स्त्रियोके ओढनेका उत्तरीय रंगीन वस्त्र है।

लघु सीतासतु

कविने पहले वि० सं० १६८४ मे 'बृहत्सीतासतु'का निर्माण किया था, किन्तु रचना बडी हो गयी थी और उसमे आकर्षण भी नहीं रहा था, अतः उन्होने उसे वि० सं० १६८७ चैत्र शुक्ला चतुर्थी चन्द्रवारको संक्षिप्त करके चौपईबद्ध कर दिया।[3] अब यह उपलब्ध है।

'लघुसीतासतु' मे रावणकी पत्नी मन्दोदरी और सीताका संवाद दिया है। मन्दोदरी सीताको रावणके साथ सम्भोग करनेके लिए प्रेरित करती है और सीता अपने सतीत्वपर दृढ़ रहती है। ये संवाद १२ महीनोंमे-से प्रत्येकको लेकर लिखे गये है। आषाढ़के संवादकी कतिपय पंक्तियाँ देखिए,

मन्दोदरी . "तब बोलइ मन्दोदरि रानी, रुति अषाढ़ घनघट घहरानी।
पीय गए ते फिर घर आवा, पामर नर नित मंदिर छावा ॥
लवहिं पपीहे दादुर मोरा, हियरा उमग धरत नहि मोरा।
बादर उमहि रहे चौपासा, तिय पिय बिनु लिहिं उसन उसासा ॥
नन्हीं बूंद झरत झर लावा, पावस नभ आगमु दरसावा।
दामिनि दमकत निशि अंधियारी, विरहिनि काम-बान उरि मारी ॥
भुगवहिं भोग सुनहिं सिख मोरी, जानत काहे भई मति भोरी।
मदन रसाइन इहु जग सारू, संजम-नेमु कथन विवहारू ॥

१. ज्योतिषसार और वैद्य विनोदकी प्रशस्तियाँ 'भट्टारक सम्प्रदाय'में लेखांक ६०१ और ६०२ पर निबद्ध हैं।

२. वही, लेखांक ६०४ व ६०५।

३. पंचायती मन्दिर देहलीकी 'लघु सीतासतु' की हस्तलिखित प्रति।

जब लगि इंस शरीर महिं, तब लगु कीजइ भोगु ।
राज तजहिं भिक्षा ममहिं, हउं भूखा सब लोगु ॥"

सीता : "शुक-नासिक मृग-दग पिक-वइनी, जानुकि वचन लवइ सुणि रइनी
अपना पिय पइ अमृत जानी, अवर पुरुष रवि-दुग्ध समानी ॥
पिय चितवनि चितु रहइ अनन्दा, पिय गुन सरत बढ़त जस कंदा ।
प्रीतम प्रेम रहइ मनपूरी, तिनि बालिमु संगु नाहिं दूरी ॥
सुख चाहइ ते बावरी, परपति संग रति मानि ।
जिउ कपि शीत विथा मरइ, तापत गुंजा आनि ॥
तृष्णा तो न बुझाइ, जलु जब खारी पीजिये ।
मिरगु मरइ धपि धाइ, जल धोखइ थकि रेतकइ ॥"

मनकरहा रास

यह एक रूपक-काव्य है। इसमे मनको 'करहा' बनाया गया है। करहा ऊँट-को कहते है। सबसे पहले मुनि रामसिहने अपने 'पाहुड दोहा'मे मनके साथ करहा-की उपमा दी है। मुनिजी राजस्थानी थे, अतः उनके द्वारा दी गयी इस उपमामे मौलिकता और स्वाभाविकता है। प० भगवतीदास पजाबी थे। उन्होंने अवश्य ही 'मनकरहा' 'पाहुड दोहा' से लिया होगा, किन्तु केवल एक शब्द ले लेनेसे कोई रचना 'बासी' नही हो जाती। 'मनकरहा रास' एक सरस और मौलिक कृति है। उसमे २५ पद्य हैं। वहाँ ससाररूपी रेगिस्तानमे मनरूपी करहाके भ्रमणकी कहानी कही गयी है।

जोगीरास

इसमे ३८ पद्य है। उनमे बताया गया है कि यह जीव इन्द्रिय सुखके कारण संसारमे भटक रहा है। उसे चाहिए कि अपने मनको स्थिर कर, अपने ही आन्तरिक घरमे विराजमान चिदानन्दरूपी शिवनायकका भजन करे। ऐसा करनेसे वह भव-समुन्द्रसे पार हो जायेगा—

"पेखहु हो तुम पेखहु माई, जोगी जगमहि सोई ।
घट-घट-अन्तरि वसइ चिदानन्दु, अलखु न लखिए कोई ।
भव-वन-भूल रह्यौ भ्रमिरावलु, सिवपुर-सुध विसराई
परम अतीन्द्रिय शिव-सुख-तजि करि, विषयनि रहिउ लुभाई ।
अनंत चतुष्टय-गुण-गण राजहिं तिन्हकी हउं बलिहारी ।
मनिधरि ध्यानु जयहु शिवनायक, जिउं उतरहु भवपारी ॥"

चतुर बनजारा

इसमें ३५ पद्य हैं। यह एक रूपक-काव्य है। इसमे उस जीवको चतुर बनजारा कहा है, जिसने अपने अनुभवके बलपर संसारको असार समझा है। अनेक जैन कवियोने जीवकी उपमा बनजारेसे दी है।

वीर जिनिन्द गीत और राजमती नेमीसुर ढमाल

'वीर जिनिन्द गीत'मे पद्य हैं, उनमे भगवान् महावीरकी स्तुति की गयी है। पद्योंमें सरसता है। 'राजमती नेमीसुर ढमाल'मे राजमती और नेमीसुरके प्रसिद्ध कथानकको लेकर २१ पद्योमे लिखा गया है।

टंडाणारास

एक आध्यात्मिक रचना है। इसमे बताया गया है कि यह जीव ज्ञानी है किन्तु अपने प्रमुख गुणोको छोड़नेके कारण अज्ञानी बन गया है। उसका कर्त्तव्य है कि शुक्लध्यान धारण कर केवलज्ञान प्राप्त करे। अन्तिम पद्य देखिए,

> **"धर्म्म-सुकल धरि ध्यानु अनूपम, लहि निजु केवलनाणा वे।**
> **जंपति दास भगवती पावहु, सासउ—सुहु निव्वाणा वे॥"**

अनेकार्थ नाममाला

यह एक कोश-ग्रन्थ है। इसके तीन अध्यायोमे क्रमशः ६३, १२२ और ७१ दोहे हैं। अनेकार्थ शब्दोका पद्य-बद्ध ऐसा कोश हिन्दी साहित्यको अनुपम निधि है। इसको रचना बनारसीदासजीकी 'नाममाला'के १७ वर्ष उपरान्त हुई। किन्तु इस-जैसी सरसता नाममालामे नहीं है। इसका रचनाकाल वि० सं० १६८७ आषाढ कृष्णा तृतीया गुरुवार और रचना-स्थल देहली-शहादरा माना जाता है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति पंचायती जैन मन्दिर देहलीके शास्त्रभण्डारमे निबद्ध है।

मृगांक लेखा चरित

इसका निर्माण पं० भगवतीदासने वि० सं० १७०० अगहन शुक्ला पंचमी सोमवारके दिन हिसार नगरके वर्धमान मन्दिरमे किया था। इस ग्रन्थकी भाषा अपभ्रंश है, किन्तु उसमें हिन्दीका बहुत बडा अश गर्भित है। फिर भी यह अपभ्रंशकी अन्तिम कृति मानी जाती है।

इसमे चन्द्रलेखा और सागरचन्दके चरित्रका वर्णन है। अनेक विपत्तियाँ आयी किन्तु चन्द्रलेखा अपने सतीत्वपर दृढ़ रही। यह एक खण्ड-काव्य है। कथानकमे आकर्षण है।

आदित्यव्रतरास आदि

पं० भगवतीदासकी अवशिष्ट कृतियाँ साधारण हैं, किन्तु उनमे कहीं-कहीं भावपरकता भी है। वे रचनाएँ इस प्रकार हैं—'आदित्यव्रत रास' (२० पद्य), 'पखवाडारास' (२२), 'दशलक्षणरास' (३४), 'खिचडीरास' (४०), 'साधु-समाधिरास' (३०), 'रोहिणीव्रतरास' (४२), 'द्वादश अनुप्रेक्षा' (१२), 'सुगन्धदशमीकथा' (५१), 'आदित्यवारकथा' (४६), 'अनथमीकथा' (२६), 'सज्ञानीढमाल', 'आदिनाथ स्तवन', 'शान्तिनाथ स्तवन'।

५०. पाण्डे रूपचन्द (वि० सं० १६८०-१६९४)

पं० नाथूराम प्रेमीने, 'अर्ध-कथानक' के संशोधित संस्करणमे रूपचन्द नामके चार व्यक्तियोका उल्लेख किया है।[1] उनमे प्रधान वे है, जिनके साथ बैठकर कवि बनारसीदास अध्यात्मचर्चा किया करते थे। दूसरे वे हैं, जिनसे 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' पढकर बनारसीदासका मिथ्यात्व दूर हुआ था। तीसरे वे है, जिन्होने संस्कृतमे 'समवशरण पाठ' की रचना की, और चौथे वे हैं, जिन्होने 'नाटक समय-सार' की भाषा-टीका लिखी। इनमें दूसरे रूपचन्द ही पाण्डे रूपचन्द हैं। कवि बनारसीदासने उन्हे 'गुरु' अथवा 'पाण्डे' कहकर अभिहित किया है। पं० प्रेमी-ने पाण्डे रूपचन्द और 'समवशरण पाठ' के रचयिता पं० रूपचन्दको भिन्न माना है।[2] किन्तु सत्य यह है कि दोनो एक थे। दोनो संस्कृतके विद्वान् थे, दोनोने बनारसमे शिक्षा पायी और दोनोका समय भी एक था।

'समवशरण पाठ' को 'केवल ज्ञानकल्याणार्चा' भी कहते हैं। इसकी रचना वि० सं० १६९२ मे हुई थी।[3] इसकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि पाण्डे रूपचन्दका जन्म कुरु देशके सलेमपुर नामके स्थानपर हुआ था। उनके पितामहका नाम मामट और पिताका नाम भगवानदास था। भगवानदासकी दो पत्नियाँ थीं। पहलीसे ब्रह्मदास और दूसरीसे हरिराज, भूपति, अभयराज, कीर्त्तिचन्द और रूपचन्दका जन्म हुआ। रूपचन्दका वंश अग्रवाल और गोत्र गर्ग था।[4] उन्हें

१. पं० नाथूराम प्रेमी, अर्धकथानक, पृ० ८९-९८।

२. वही, पृ० ९३।

३ समवशरण पाठ, अन्त भाग, ३४वाँ श्लोक, प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, १०७वी प्रशस्ति, पृ० १६१।

४. वही, अन्त भाग, पद्य १-३, पृ० १५८, पद्य ४-५, पृ० १५९।

शिक्षा प्राप्त करनेके लिए बनारस भेजा गया। वहाँ रहकर उन्होंने व्याकरण, जैन दर्शन और जैन सिद्धान्तमें निपुणता प्राप्त की। उस समय बनारसमें अवश्य ही जैन-शिक्षाका प्रबन्ध होगा।

बनारससे लौटकर पाण्डे रूपचन्द दरियापुरमें आये। वहाँपर ही उनका परिवार रहने लगा था। वे आगरा भी गये थे, जैसा कि बनारसीदासजीके 'अर्ध-कथानक' से विदित है। वहाँ उन्होंने तिहुना साहुके मन्दिरमें निवास किया था।[१] इस मन्दिरमें भट्टारक या उनके शिष्य-प्रशिष्य ही ठहर सकते थे, अन्य नहीं। इसी आधारपर पं० नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है कि वे किसी भट्टारकके शिष्य थे। उनकी पाण्डे संज्ञा भी इसी अनुमानका समर्थन करती है, उस समय भट्टारकोंके शिष्य पाण्डे कहलाते थे।[२]

पाण्डे रूपचन्द विद्वान् थे और कवि भी। उन्होंने जैन ग्रन्थोंमें विवेचित अध्यात्म पक्षको भली भाँति समझा था। उसी आधारपर वे बनारसीदास और उनके अध्यात्मी साथियोंके उस भ्रमका उन्मूलन कर सके, जो 'समयसार' की राजमल्लीय टीकासे उत्पन्न हुआ था।[३] दूसरी ओर उन्होंने हिन्दीमें गीति-रचना की, जो उत्कृष्ट कोटिका साहित्य मानी जाती है। उनके गीति-काव्य इस प्रकार हैं, 'परमार्थी दोहाशतक', 'गीतपरमार्थी', 'मंगलगीत प्रबन्ध', 'नेमिनाथ रासा', 'खटोलना गीत'।

'अर्धकथानक'के अनुसार पाण्डे रूपचन्दजीका देहावसान वि० सं० १६९४में हुआ था।[४]

परमार्थी दोहाशतक

यह काव्य बहुत पहले 'रूपचन्द शतक' नामसे 'जैन हितैषी' में प्रकाशित

---

१. अनायास इस ही समय नगर आगरे थान।
रूपचन्द पंडित गुनी आयो आगम जान॥
तिहुना साहु देहरा किया, तहां आय तिन डेरा लिया।
सब अध्यातमी कियो विचार, ग्रन्थ बंचायो गोम्मटसार॥
अर्धकथानक, बम्बई, अक्टूबर १९५७, पद्य ६३०–६३१, पृ० ७०।

२ वही, प्रथम संस्करण, १९४२ ई०, परिशिष्ट ४, पृ० ७८।

३. वही, संशोधित संस्करण, पद्य ५९३, ५९४, ५९५, और ६३४, पृ० ६६ और ७०।

४ फिरि तिस समै बरस द्वै बीच। रूपचंद को आई मीच॥
सुनि सुनि रूपचंद के बैन। बानारसी भयौ दिढ़ जैन॥६३५॥

हो चुका है।[१] इसकी एक हस्तलिखित प्रति जैनसिद्धान्तभवन आरामे भी मौजूद है।

यह काव्य अध्यात्म तत्त्वके मनोरम पद्योंसे युक्त है। यदि आत्मासे कर्म-मलीमस दूर हो जायें, तो वह ही परमात्मा है। कबीरने भी माया-रचित जीवको आत्माको ब्रह्म कहा है। किन्तु वह आत्मा ऐसा सामर्थ्यवान् होते हुए भी, कर्मोंके कारण संसारमे भ्रमण करता है। उसीको सम्बोधन करते हुए कविने कहा है,

"अपनो पद न विचार के, अहो जगत के राय।
भववन छायक हो रहे, शिवपुर सुधि बिसराय॥
भववन भरमत ही तुम्हें, बीतो काल अनादि।
अब किन घरहिं संवारई, कत दुख देखत वादि॥
परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहि गयो सुलझाय।
किंचित इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे लुभाय॥
विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय।
ज्यों जल खारा पीवतें, बाढ़े तृषाधिकाय॥"

पाण्डे रूपचन्द दृष्टान्त देनेमे निपुण हैं। उनमे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव समुचित रूपसे प्रतिष्ठित हुआ है। एक स्थानपर उन्होने लिखा – चेतनसे परिचय बिना जप-तप व्यर्थ है, ठीक वैसे ही, जैसे कणोके बिना तुषको फटकनेसे कुछ हाथ नही आता। यदि चेतनसे परिचय नही तो व्रतोके धारण करनेसे क्या होता है। यह तो वैसे ही है जैसे धान्यसे रहित खेतकी बाड़ी बनाना बेकार है,

"चेतन चित परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकतैं, आवै कछू न हत्थ॥
चेतन सौं परिचय नहीं, कहा भये व्रत धारि।
सालि बिहूनैं खेत की, वृथा बनावत वारि।"

यह काव्य एक प्राचीन गुटकेमे 'दोहरा शतक' के नामसे निबद्ध है। यह गुटका बनारसीदासके अनन्य मित्र कुँवरपालका लिखा हुआ है।[२] इसमे भक्तिरससे युक्त एक सुन्दर पद्य दिया है,

"प्रभु तेरी परम विचित्र मनोहर मूरति रूप बनी।
अंग अंग की अनुपम सोभा, बरनि न सकत फनी॥

१. जैन हितैषी, भाग ८, अंक ५–६।

२. यह गुटका श्री कुँवरपालने वि० सं० १६८४–१६८५ में लिखा था। यह गुटका प० नाथूरामजी प्रेमीके पास श्री अगरचन्दजी नाहटाने भेजा था।

सकल विकार रहित बिनु अंबर, सुंदर सुभ करनी।
निराभरन भासुर छवि सोहत, कोटि तरुन तरनी॥
वसु रस रहित सांत रस राजत, खलि इहि साधुपनी।
जातिविरोधि जंतु जिहि देखत, तजत प्रकृति अपनी॥
दरिसनु दुरित हरै चिर संचितु, सुर-नर-फनि मुहनी।
रूपचन्द कहा कहौं महिमा, त्रिभुवन मुकुट-मनी॥"

गीत परमार्थी[1]

यह काव्य भी आत्माको सम्बोधन करके ही लिखा गया है। सद्गुरु अमृतमय तथा हितकारी वचनोंसे चेतनको समझाता है, किन्तु वह चेतता नही। जब चेतन ज्ञानरूप है, और समझानेवाला कोई साधारण व्यक्ति नहीं, अपितु स्वयं सद्गुरु है, तब तो उसे समझना हो चाहिए। किन्तु वह नही समझता यह ही आश्चर्यकी बात है,

"चेतन, अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै।
अमृत वचन हितकारी, सद्गुरु तुमहिं पढ़ावै।
सद्गुरु तुमहि पढ़ावै चित दै, अरु तुमहू हौ ज्ञानी।
तबहू तुमहिं न क्यौं हू आवै, चेतन तत्त्व कहानी॥"

इसके विपरीत यह आत्मा विषयोंमे ऐसा चतुर है कि कोई उसकी बराबरी नही कर सकता। और यह चतुरता बिना किसी गुरुके प्राप्त हुई है। कविका तात्पर्य है कि सासारिक विषयोंमे ऐसा तीव्र आकर्षण होता है कि यह चेतन उसमें स्वत. लिप्त हो जाता है।

"विषयनि चतुराई कहिए, को सरि करै तुम्हारी।
बिन गुरु फुरन कुविद्या कैसें, चेतन अचरज भारी॥"

निर्गुणवादी सन्तोकी भाँति कविने कहा है कि यह चेतन अपनी वस्तुको भूलकर इधर-उधर भटक रहा है। वह चावलके कणोको छोड़कर छिलका ग्रहण कर रहा है। उसकी वस्तु उसके ही अन्तरमे विराजमान है। यदि चतुर चेतन स्वानुभवकी बुद्धिसे उसे देखे तो देख सकता है,

---

१. इसके छह गीत, परमार्थ जकड़ी संग्रह, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बईमें प्रकाशित हो चुके है। इसके दस गीत, बृहज्जिनवाणी संग्रह, पं० पन्नालाल बाकलीवाल सम्पादित, मदनगंज, किशनगढ़, पृ० ५६२–५६६, सम्राट् संस्करणमें छप चुके हैं।

"अपनी वस्तु सँभारि बिसरी, कहा इत उत भटक ही।
बहिरमुख भूल्यौ भया कत छोडि कन तुष झटक ही॥
निज वस्तु अंतरगत विराजित, चिदानंद निकेतना।
स्वानुभव बुद्धि प्रजुंजि देखहि चेति चतुरमति चेतना॥"

मंगल गीत प्रबन्ध[1]

इसे 'पंचमंगल' भी कहते है। इसमे तीर्थंकरके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्षको लेकर भक्तिपूर्ण पदोंकी रचना हुई है। यह काव्य बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। उसमे कुछ ऐसा सौन्दर्य है जो आज भी प्रत्येकको आकर्षित करता है।

भगवान्‌को गर्भमें आया हुआ जानकर, इन्द्रने कुबेरको भेजा, और उसने भगवान्‌की नगरीको कनक और रत्नोंसे जडकर अद्वितीय बना दिया। भगवान्‌के पिताके घरमे छह माह पूर्वसे ही रत्नोकी वर्षा आरम्भ हो गयी। रुचिकवासिनी देवियाँ प्रसन्न हो-होकर जननीकी सेवा करने लगी,

"जाके गरभ कल्याणक धनपति आइयो।
अवधि ज्ञान परवान सु इन्द्र पठाइयो॥
रचि नव बारह जोजन नयरि सुहावनी॥
कनक रयणि मणि मंडित मंदिर अति बनी॥
अति बनी पौरि पगारि परिखा सुवन उपवन सोहये।
नर नारि सुन्दर चतुर सुख भे देख जन मन मोहये॥१॥"

भगवान्‌का जन्मोत्सव मनानेके लिए इन्द्र परिवारसहित स्वर्गसे चल पडा। मार्गमे अप्सराओंके नृत्य हुए। उनकी कमरमें बँधी कनककी किंकिणियोंसे मधुर स्वर निकलता था। घण्टोंसे घन-घनकी ध्वनि आ रही थी। ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थी। उन्हे देखकर तीनो लोक मोह गये,

"दुलदुलहिं अपछर नटहिं नवरस हाव भाव सुहावने॥
मणि कनक किंकिणि वर विचित्र सु अमर मंडप सोहये।
घन घंट चंवर धुजा पताका देखि त्रिभुवन मोहये॥६॥"

केवलज्ञानके उपरान्त भगवान्‌के समवशरणकी रचना हुई। उसमे भगवान्‌की सेवा करनेवाले, नारी और नर, परमानन्दका अनुभव करते है। मारुत देव भगवान्‌के चारो ओर योजन प्रमाण पृथ्वीको झाड़कर शुद्ध बना देते हैं। मेघ-

१. यह अनेक बार छप चुका है। अब ज्ञानपीठ पूजांजलि, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५७ ई० में, पृ० ९४–१०४ पर प्रकाशित हुआ है।

कुमार गन्धोदककी सुहावनी वृष्टि करते हैं। देव भगवान्के पैरोंके नीचे कमलों-की रचना करते हैं।

"अनुसरे परमानंद सब को, नारि नर जे सेवता।
जोजन प्रमान धरा सुमार्जहि जहां मारुत देवता॥
पुनि करहि मेघकुमार गंधोदक सुवृष्टि सुहावनी।
पद कमलतर सुर खिपहिं कमल सु धरणि ससि सोभा बनी॥१९॥"

लघुमंगल

पाण्डे रूपचन्दकी लिखी हुई यह कृति दि० जैन मन्दिर बड़ौतके गुटका नं० ५५ वेष्टन नं० १७२ पृ० ४५-४७ पर अंकित है। इसमें केवल पाँच पद्य हैं, प्रत्येक पद्यमें छह पंक्तियाँ हैं। कविने प्रथम पद्यमें ही अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि हे प्रभु! तुम्हारी अतुल महिमाका ठीक-ठीक विवेचन तो गणराज भी नहीं कर सकते, मैं तो शक्ति-हीन हूँ, किन्तु तुम्हारी कृपासे मुखरित होकर कुछ कहता हूँ,

"जै जै जिन देवन के देवा, सुर नर सकल करें तुम सेवा,
अद्भुत है प्रभु महिमा तेरी, वरनी न जाय अलप मति मेरी।
मेरी अलप मति वरनि न जाय अतुल महिमा तुम तणि,
गनराज वचननि सो अगोचर पूज्य पद उद्दोतणी।
मैं सकति रहित जिनेसराय दंपति दिपति लाज न जिय धरौं।
तुम सकति बसि वाचाल ह्वै प्रभु किमपि जस कीर्त्तन करौं॥"

नेमिनाथ रासा

'नेमिनाथ रासा'की प्रति आमेरके भट्टारक महेन्द्रकीर्तिके ग्रन्थ-भण्डारके एक गुटकेमें निबद्ध है, जिसे पं० परमानन्दजीने सं० १९४४ में देखा था। 'नेमिनाथ रासा' एक सुन्दर कृति है। उसका आदि और अन्त भाग निम्न प्रकारसे है,[1]

आदि

"पणविवि पंच परमगुरु मण-वच-काय ति-सुद्धि।
नेमिनाथ गुण गावउ उपजे निर्मल बुद्धि॥
सोरठ देश सुहावनो पुहमीपुर परसिद्ध।
रस-गोरस परिपूरनु धन-जन-कनक समिद्ध॥"

१. प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, दिल्ली, प्रस्तावना पृष्ठ ८१।

अन्त

"रूपचन्द जिन विनवै, हो चरननु को दासु।
मैं इय लोक सुहावनौ, विरच्यौ किंचित् रासु॥
जो यह सुरधरि गावहिं, चित दे सुनहिं जे कान।
मन वांछित फल पावहिं, ते नर नारि सुजान॥"

खटोलना गीत

यह गीत देहलीके शास्त्र-भण्डारमे मौजूद है। यह अनेकान्त वर्ष १०, किरण २ मे प्रकाशित हो चुका है। इसमे १३ पद्य है और सभी अध्यात्म रससे युक्त हैं। उसमे काव्य-गत रमणीयता भी है। उसका एक पद्य देखिए,

"सिद्ध सदा जहां निवसहीं, चरम सरीर प्रमान।
किंचिदून मरानोज्झित, मूसा गगन समान॥"

अन्य रचनाएँ

उपर्युक्त रचनाओंके अतिरिक्त 'सोलह स्वप्न फल' और 'जिन स्तुति' नाम-की दो रचनाएँ और प्राप्त हुई है। पहली जयपुरके बडे मन्दिरके गुटका न १२६ मे निबद्ध है, और दूसरी जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमे गुटका नं० १२५ मे अंकित है।

पाण्डे रूपचन्द हिन्दीके एक सामर्थ्यवान् कवि थे। उनकी भाषाका प्रसाद गुण आनन्द उत्पन्न करता है, तो सीधे-साधे भाव मर्मको रस-विभोर बना देते है।

५१. हर्षकीर्ति (वि० स० १६८३)

हर्षकीर्तिने छोटी-छोटी मुक्तक रचनाओंका निर्माण किया है। उनमे अध्यात्म और भक्ति रसकी अधिकता है। उनकी भाषापर राजस्थानीका प्रभाव है। इससे सिद्ध है कि वे राजस्थानके निवासी थे। हो सकता है कि वे जयपुर अथवा उसके आस-पासके रहनेवाले हो। उस समय जयपुर ऐसे लोगोका केन्द्र हो रहा था, जो राजस्थानी मिश्रित हिन्दीमे लिख रहे थे। ये हर्षकीर्ति, हर्षकीर्तिसूरिसे स्पष्ट-रूपेण पृथक् है। हर्षकीर्तिसूरि तपागच्छके चन्द्रकीर्तिसूरिके शिष्य थे। उन्होंने गुजरातीमे केवल 'विजय शेठ विजयशेठानी स्वल्प प्रबन्ध' की रचना की। हर्ष-कीर्ति हिन्दीके कवि थे। उनकी रचनाओंमे रस है और गतिशीलता। रचनाओं-का विवरण निम्न प्रकार है

पंचगति बेल

इसकी रचना वि० सं० १६८३ में हुई थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति पंचायती मन्दिर दिल्लीमे मौजूद है। दूसरी प्रति जयपुरके ठोलियोंके दि० जैन मन्दिरके गुटका नं० १३१ मे संकलित है। तीसरी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरमे गुटका नं० ५१ में निबद्ध है। इसमे कृतिका रचना-काल वि० सं० १६८३ दिया है। यह गुटका वि० सं० १७५४ का लिखा हुआ है।

इस काव्यमे पाँच इन्द्रियोंसे सम्बन्धित विषयोंका वर्णन हुआ है। उन विषयोंमे फँसनेसे जीव निगोदमे जाता है। जीवका कर्तव्य है कि इन्द्रियोंका दास न बने, और भगवान्मे ध्यान लगाये।

नेमिनाथ राजुल गीत

इसकी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरमे स्थित गुटका नं० १६२ मे निबद्ध है। इसमे कुल ६८ पद्य है। सभीमे भगवान् नेमिनाथ और राजुलको लेकर भक्ति दिखायी गयी है।

मोरडा

इसकी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरके गुटका नं० ११८ मे निबद्ध है। इसमे भी नेमिनाथ और राजुलको लेकर विविध भावोंका प्रदर्शन हुआ है, सभी भगवद्विषयक रतिसे सम्बन्धित है। आदि और अन्त देखिए।

प्रारम्भ-राग सोरठी

> "म्हारो रे मन मोडा तू तो गिरनारया उठि आयरे।
> नेमिजी स्यों युं कहिज्यो राजमती दुक्ख ये सौमे ।। म्हारौ० ।।

अन्तिम

> "मोक्ष गया जिण राजइ प्रभु गढ गिरनारि मझार रै।
> राजल तौ सुरपति हुवौ स्वामी हर्षकीर्ति सुकारौ रै ।। म्हारौ० ।।"

नेमीश्वर गीत

इसकी प्रति बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरमे गुटका नं० १६२ में निबद्ध है। इसमें कुल ६९ पद्य है। यह भगवान् नेमीश्वरकी भक्तिमे रचा गया एक गीति-काव्य है।

बीस तीर्थंकर जखड़ी

इसकी प्रति जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमें विराजमान एक पाठ-संग्रहमें संकलित है।

चतुर्गति वेलि

यह प्रति भी जयपुरके बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० ४३ और १४८ में निबद्ध है। पहलेका लेखनकाल वि० सं० १७८२ और दूसरेका सं० १७९९ ज्येष्ठ बदी ११ है। जयपुरके ही पण्डित लूणकरजीके मन्दिरमें गुटका नं० २ और १८ में भी इसकी प्रति संकलित है।

कर्म-हिण्डोलना

इसकी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमें गुटका नं० १६२ में लिखी है। इसमें १८१ पद्य हैं। जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमें भी गुटका नं० २६ में इसकी एक प्रति संकलित है।

अन्य रचनाएँ

'छहलेश्याकवित्त' और 'भजन व पद-संग्रह' जयपुरके पं० लूणकरजीके मन्दिरमें गुटका नं० १८ में निबद्ध हैं।

५२. कनककीर्ति (१७वीं शताब्दी विक्रम उत्तरार्द्ध)

कनककीर्ति खरतरगच्छीयशाखाके प्रसिद्ध जिनचन्द्रसूरिकी शिष्य-परम्परामें नयनकमलके शिष्य जयमन्दिरके शिष्य थे। इनकी समूची काव्य रचनाएँ गुजराती और हिन्दीमें लिखी हुई हैं। बहुत पहले ही श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाई इनके द्वारा गुजरातीमें रची गयी 'नेमिनाथ रास' और 'द्रौपदी रास'-जैसी रचनाओंका विशद उल्लेख कर चुके हैं।[1] दोनों ही रचनाएँ १७वीं शताब्दीके अन्तिम पादकी कृतियाँ हैं। इनका निर्माण क्रमशः बीकानेर और जैसलमेरमें हुआ, अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि ये उसी तरफके रहनेवाले थे। इन्होंने 'तत्त्वार्थ श्रुत सागरी टीका' पर एक विस्तृत हिन्दी टीका लिखी है जो गद्यमें है।[2]

इनकी हिन्दी कृतियोंमें गीत अधिक हैं। सभी भगवान् या किसी ऋषि-मुनिकी स्तुतिमें लिखे गये हैं। काव्यकी दृष्टिसे भी उनकी रचना प्रौढ़ है। भाषा ढूंढारी हिन्दी है, जिसमें 'है' के स्थानपर 'छै' का प्रयोग किया गया है। उन कृतियोंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकारसे है

१. जैनगुर्जरकविओ, भाग १, बम्बई, १९२६ ई०, पृष्ठ ५६८–७२।

२. इसकी प्रति जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमें, वेष्टन नं० ४७ में मौजूद है। इसका लेखनकाल सं० १७४४ कार्तिक वदी ६ है।

मेघकुमार गीत

इस छोटे-से गीति-काव्यमें ऋषि मेघकुमारकी स्तुति की गयी है। इसमें कुल ४६ पद्य हैं। इसकी प्रति जयपुरके ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरमें वेष्टन सं० ४४० में निबद्ध है। उसमें केवल दो पन्ने हैं। इसका अन्तिम भाग इस प्रकार है,

"श्री वीर जिणंद पसाइ, जे मेघकुमार रिषि गाइ।
ताही अगली बीनस बीजाइ, वसी संपति सगली थाइ॥
जे मुनीवर मेघकुमार, जीणी चारित पालउसार।
गुणैरू श्री माणीक सीस, इम कनक भणय नीस दीस॥"

जिनराज-स्तुति

इसकी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरमें गुटका नं० १२५ में लिखी हैं। इसकी लिपि सांगानेर मे सं० १७५९ फाल्गुन सुदी ६ को हुई थी। भाषामें गुजरातीका पर्याप्त सम्मिश्रण है।

विनती

इसकी प्रति भी जयपुरके बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरके गुटका नं० ५१ वेष्टन नं० १०१७ और गुटका नं० १०८ और वेष्टन नं० १११८ में निबद्ध है। यह 'वंदू श्री जिनदाई' से प्रारम्भ होती है। यह भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे सम्बन्धित एक गीत है।

श्रीपाल-स्तुति

इसकी प्रति भी उपर्युक्त मन्दिरके ही गुटका नं० १०१ में निबद्ध है। इसमें श्रीपालकी स्तुति है, जैसा कि इसके शीर्षकसे विदित है। श्रीपाल, भगवान् जिनेन्द्रका परम भक्त था। यह भक्तकी भक्ति है।

पद

कनककीर्तिके पद दि० जैन मन्दिर बड़ौतके पद-संग्रहमें संकलित हैं। कतिपय पद जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० १११ में भी निबद्ध हैं। जयपुरके छावड़ोंके मन्दिरके गुटका नं० ३४ और बधीचन्दजीके मन्दिरके वेष्टन नं० १०२३ में भी उनके पदोंका संकलन है। एक पदमें उन्होंने लिखा है कि भगवान्का नाम लेनेसे निश्चय ही शिवपद मिलता है,

"नर नारी जो गावै रे भाई
निहचै शिवपुर जावही।

कनककीरति गुण गावै रे भाई
अरिहंत नांव हियै धरौ।
अब लीयो जाय तो लीज्यो रे भाई
जिन को नांव सदा भलो ॥"[१]

एक दूसरे पदमे अपने देवको अनुपम कहते हुए कविने लिखा है,

"तुम माता तुम तात तुमही परम धणी जी।
तुम जग संषा देव तुम सम और नहीं जी ॥
तुम प्रभु दीनदयालु मुझ दुष दूरि करो जी।
लीजै मोहि उबारि मैं तुम सरण गही जी ॥
संसार अनंतन ही तुम ध्यान धरो जी।
तुम दरसन बिन देव दुरगति माहि रुल्यो जी ॥"[२]

कर्म घटावलि

इसकी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरमे गुटका नं० १०८ मे सुरक्षित है। इसमे जैन धर्मानुसार आठ कर्मोंका बुरा प्रभाव दिखाया गया है। एक पद्यमें कविने लिखा है कि अपने आराध्यमे प्रेम-निष्ठ होनेसे यह जीव भव-समुद्रके पार पहुँच जाता है,

"भ्रम्यौ संसार अनंत न तुम भेद लह्यो जी।
तुम स्यौ नेह निवारि परस्यौ नेह कीये जी ॥
पडता नरक मझारि अब उधारि करो जी।
तुम स्यौ प्रेम करेरा ते संसार तिरे जी ॥
कनककीरति करि भाव श्री जिन भगति रुचे जी।
पढ़ सुन नर नारि सुरगा सुष लहो जी ॥"

५३. कवि बनारसीदास (जन्म वि० सं० १६४३, मृत्यु वि० सं० १७००)

पारिवारिक जीवन

बनारसीदासका लिखा हुआ 'अर्द्धकथानक' है,[३] जिसके आधारपर यहाँ उनका जीवनवृत्त प्रस्तुत किया जा रहा है। प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यमे 'अर्द्धकथानक' पहला 'आत्मचरित' माना जाता है।

---

१. मन्दिर बधीचन्दजीवाली प्रति।
२. मन्दिर छावडोंवाली प्रति।
३. अर्द्धकथानक, पं० नाथूराम प्रेमी-द्वारा सम्पादित होकर, संशोधित साहित्यमाला बम्बई से अक्टूबर १९५७ में पुनः प्रकाशित हो चुका है।

कवि बनारसीदासजीके पितामह श्री मूलदासजी हिन्दी और फ़ारसीके विद्वान् थे। नरवरके नवाबने उन्हें अपना मोदी नियुक्त किया था। वि० सं० १६०८ सावन सुदी ५ रविवारके दिन मूलदासके घर पुत्र-जन्म हुआ। उसका नाम खड़गसेन रखा गया। वि० सं० १६१३ में मूलदासका स्वर्गवास हो गया। उनकी धन-सम्पत्ति नवाबने ले ली। माँ-बेटे जौनपुरमे आकर रहने लगे। वहाँ खड़गसेनकी ननसाल थी। नाना मदनसिंह चिनालिया जौनपुरके प्रसिद्ध जौहरी थे। उस समयका जौनपुर अधिक समृद्धिशाली था। वहाँ हीरे-जवाहरातका बहुत ऊँचा व्यापार होता था। वह चार कोसमे बसा हुआ था। उसमें ५२ बाज़ार थे। इस नगरको पठान जौनसाहने बसाया था। बनारसीदासके समयमें जौनपुरका नवाब कुलीचरण था, जिसके अत्याचारसे प्रपीडित होकर जौहरी इधर-उधर भाग गये थे।

खड़गसेनजी बड़े होकर आगरेमें आये और सुन्दरदासजीके साथ व्यापार करने लगे। इसके पूर्व वे कुछ समय तक बंगालके सुलतान लोदीख़ाँके पोतदार भी रहे थे। सुन्दरदासके साझेमें व्यापार खूब चला। उसी समय इनका विवाह मेरठके सूरदास श्रीमालकी पुत्रीसे हो गया। प्रथम पुत्रके स्वर्गवासी होनेपर उन्होंने रोहतकके पासकी 'सती माता' की जात की। दो बार जात करनेपर उनके सं० १६४३ माघ सुदी एकादशी रविवारके दिन एक पुत्रका जन्म हुआ, जिसका नाम विक्रमाजीत रखा गया। छह मासके बालकको लेकर वे भगवान् पार्श्व-नाथकी पूजा करनेके लिए बनारस गये। वहाँ उनकी प्रार्थनापर पुजारीने आशी-र्वाद दिया, "भगवान् पार्श्वप्रभुके यक्षने मुझसे प्रत्यक्ष होकर कहा है कि इस बालककी कोई चिन्ता नही रहेगी, यदि पार्श्व-प्रभुके जन्म-स्थानके नामपर इसका नाम रखा जायेगा।" उसके निर्देशानुसार विक्रमाजीत बनारसीदास हो गये।

ग्यारह वर्षकी उम्रमे अर्थात् वि० सं० १६५४ माघ सुदी १२ को खैरा-बादके कल्याणमलकी पुत्रीके साथ उनका विवाह हुआ। जिस दिन पुत्र-वधू घरमें आयी, उसी दिन खड़गसेनकी दूसरी पुत्रीका जन्म और नानीका मरण हुआ। तीनों काम एक साथ किये गये। बनारसीदासजीके तीन विवाह हुए, जिनमें-से प्रथम दो क्रमशः स्वर्गवासिनी हो गयी। बनारसीदासजीके नौ बालक जनमे, सभी काल-कवलित हो गये। उनमे दो लड़कियाँ और सात लड़के थे। उसपर बनारसी-दासजीने यह कहकर सन्तोष धारण किया,

> "तत्त्व दृष्टि जो देखिए, सत्यारथ की भाँति।
> ज्यों जा कौ परिगह घटै, त्यौं ता कौं उपसांति॥"

बनारसीदासकी शिक्षा-दीक्षा

आठ वर्षकी अवस्थामें बनारसीदास चटशालामें विद्या ग्रहण करने जाने लगे। वहाँ गुरुके पास वे एक वर्षमें ही लिखना-पढ़ना सीख गये। इसके पश्चात् १४ वर्षके होनेपर उन्होंने पण्डित देवदत्तके पास विद्याभ्यास किया, और नाम-माला, अनेकार्थ, ज्योतिष, अलंकार, कोकशास्त्र और चार सौ फुटकर श्लोक पढ़े। इसी समय जौनपुरमें उपाध्याय अभयधर्मजी आये, उनके साथ भानुचन्द्र और रामचन्द्र नामके दो शिष्य भी थे। मुनि भानुचन्द्रसे बनारसीदासका स्नेह हो गया, और वे उनके पास विद्याध्ययन करने लगे। मुनिजीसे उन्होंने पंचसन्धि, छन्द, कोश, जैन स्तवन, सामायिक तथा प्रतिक्रमणादि पाठ सीखे। इनके प्रति बनारसीदासजीकी अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने अपनी प्रत्येक रचनामें यहाँतक कि 'नाटक समयसार'में भी उनका स्मरण किया है। बनारसीदासकी कवि-प्रतिभा जन्मजात थी। उन्होंने १५ वर्षकी अल्पायुमें एक 'नवरस' रचना लिखी, जिसमें 'आसिखीका विशेष वरनन' था। उसमें एक हजार दोहा चौपाई थे। श्रेष्ठ ज्ञान होनेपर उन्होंने यह रचना गोमतीमें प्रवाहित कर दी। इससे उनकी कवित्व-शक्तिका परिचय तो मिलता ही है।

बनारसीदासका वंश और गोत्र

बनारसीदासका वंश श्रीमाल और गोत्र बिहोलिया था। इनकी उत्पत्तिके विषयमें बनारसीदासने लिखा है, "रोहतकके पास बिहोली नामका गाँव था, जिसमें राजवंशी राजपूत रहते थे। वे सब एक जैन गुरुके उपदेशसे जैन हो गये। णमोकार मन्त्रकी माला पहननेके कारण उनके कुलका नाम श्रीमाल पड़ा। वहाँके राजाने उनके गोत्रका नाम 'बिहोलिया' रख दिया।"[1] इसपर टिप्पणी करते हुए पं० नाथूराम प्रेमीने लिखा है, "इसमें इतना तो ठीक मालूम होता है कि बिहोली गाँवके कारण इनका गोत बिहोलिया हुआ, जैनोंके अधिकांश गोत्रोंके नाम स्थानोंके कारण ही रखे गये हैं, परन्तु समग्र श्रीमाल जातिके उत्पत्ति-स्थानके विषयमें वे कुछ नहीं कहते।"[2] पण्डित प्रेमीकी दृष्टिमें श्रीमाल जातिकी उत्पत्ति श्रीमाल स्थानसे हुई, जो अब भिन्नमाल कहलाता है।[3] इसके खण्डहर अहमदा-बादसे अजमेर जानेवाली रेलके लाइनपर पालनपुर और आबू स्टेशनसे लगभग

---

१. अर्धकथानक, दोहरा ८–१०, पृ० २।
२. अर्धकथानक, परिशिष्ट, पृ० ११८।
३. वही, पृष्ठ ११८।

५० मील दूर गुजरातकी ओर अवस्थित है। हुएनसांगके समयमें यह नगर गुर्जर देशकी राजधानी था।

बनारसीदास और उनका सम्प्रदाय

बनारसीदासजीका जन्म श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुआ था, किन्तु न वे श्वेताम्बर थे और न दिगम्बर। उस समय आगरेमें अध्यात्मियोंकी एक सैली या गोष्ठी थी, जिसमें सदैव अध्यात्म चर्चा हुआ करती थी। बनारसीदास उसीके सदस्य थे।

'समयसार'की राजमलजी कृत बाल-बोध टीका पढ़कर, बनारसीदासको अध्यात्म चर्चामें जो रुचि उत्पन्न हुई थी, वह वि० सं० १६९२ में पाण्डे रूपचन्दजीसे 'गोमट्टसार' पढ़नेके उपरान्त परिष्कृत हुई। परिणामस्वरूप वे अध्यात्म मतके पक्के समर्थक बन सके। यद्यपि बनारसीदाससे पहले ही आगरेमे अध्यात्मियोंकी सैली थी,[1] किन्तु उनके आनेके बाद उसमें स्थायित्व आया।

बनारसीदासके पाँच साथी थे, पं० रूपचन्द, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुँअरपाल और धर्मदास।[2] ये सब दिन और रात केवल अध्यात्म चर्चा ही नही करते थे, किन्तु तदनुरूप साहित्य-सृजन भी करते थे। बनारसीदास और उनके इस साहित्यिक दलने अध्यात्मवादको अनुभूतिमय काव्यका रूप दिया। जिससे उसमे स्थायित्व तो आया ही, आकर्षण भी उत्पन्न हुआ। बनारसीदासके बादका समूचा जैन-हिन्दी साहित्य उनके काव्योंकी अन्तश्चेतनासे प्रभावित है।

बनारसीदासका दो सन्तोंसे मिलन

कहा जाता है कि बनारसीदासजीको महात्मा तुलसीदाससे भेंट हुई थी। तुलसीदासजीने रामायणकी एक प्रति बनारसीदासजीको दी थी, और उन्होंने 'विराजै रामायण घट माहिं' पद[3] की रचना कर रामायणके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की थी। तुलसीदासजीका स्वर्गवास वि० सं० १६८० में हुआ था, उस समय बनारसीदासकी अवस्था ३७ वर्षकी थी। दोनोंकी भेंट होना असम्भव तो नही है। पं० नाथूरामजी प्रेमीका कथन है, "यदि गोस्वामी तुलसीदाससे साक्षात् होनेकी बात सच होती तो उसका उल्लेख 'अर्द्धकथानक' में अवश्य होता।"[4] हो सकता है कि इस घटनाको गौण समझकर ही उन्होने अपने जीवनवृत्तमे कोई स्थान न

१. वही, पृष्ठ ३७।
२. नाटक समयसार, बुद्धिलाल श्रावककी हिन्दी-टीकासहित, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि० सं० १९८६, प्रशस्ति, पद्य २६–२७, पृष्ठ ५३७।
३. यह पद बनारसी-विलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० २३३पर संकलित है।
४. अर्द्धकथानक, भूमिका, पृ० ६२।

दिया हो। यह सच है कि तुलसीका यश उनके जीवनकालमें नहीं था। इसके अतिरिक्त वे तुलसीकी रामायणकी प्रशंसा पहले ही कर चुके थे।

दूसरे सन्त सुन्दरदासजी हैं, जिनसे बनारसीदासकी भेंट हुई थी। सुन्दरदासजीका जन्म वि० सं० १६५३ और मृत्यु वि० सं० १७४६ मे हुई।[1] उनका रचनाकाल वि० सं० १६६४ से आरम्भ हुआ था। दोनों समकालीन थे। 'सुन्दर ग्रन्थावली'के सम्पादक पं० हरनारायण शर्माने दोनोंकी भेंट होनेकी बात लिखी है। उन्होंने यह भी लिखा है कि दोनोंमे, आपसमे पद्योंका आदान-प्रदान भी हुआ था। पं० नाथूरामजी प्रेमीने इस भेंटको सम्भव माना है।[2] 'अर्द्धकथानक' मे इस घटनाका भी उल्लेख नही है। बनारसीदास स्वयं सन्त थे और उनमें सन्त-समागमकी इच्छा स्वाभाविक थी।

बनारसीदासका साहित्य

बनारसीदासने 'नवरस रचना', 'नाममाला', 'नाटक समयसार,' 'बनारसीविलास', 'अर्धकथानक', 'मोह विवेक युद्ध', 'माँझा' और कुछ फुटकर पदोंका निर्माण किया था। बनारसीदास उत्तम कोटिके कवि थे। उनकी रचनाओंमे रस-प्रवाह है और गतिशीलता भी। जीवन्त भाषा और स्वाभाविक भावोन्मेष उनका मुख्य गुण है।

नवरस रचना

बनारसीदासने इसकी रचना वि० स० १६५७ मे की थी। उस समय उनकी अवस्था १४ वर्षकी थी। रचनाका मुख्य विषय था, 'इश्क'। बनारसीदासने वि० सं० १६६२ मे इस कृतिको गोमतीमें बहा दिया था। इस रचनामें एक हजार दोहा-चौपाई थे।

नाम-माला

इसकी रचना वि० सं० १६७० आश्विन सुदी १० को जौनपुरमें हुई थी।[3] यह एक छोटा-सा शब्द-कोश है। इसमें १७५ दोहे हैं। यद्यपि इसका मुख्य आधार 'धनजय नाममाला' थी, किन्तु उसमे हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत तीनों

---

१. मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० सं० २००८, द्वितीय संस्करण, पृ० २६३-२६५।

२. अर्द्धकथानक, भूमिका, पृष्ठ ६४।

३. बनारसी नाममाला, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, पद्य १७१-१७२।

भाषाओंके शब्दोंका समावेश हुआ है।[1] यह एक मौलिक कृति है।

नाटक समयसार

'नाटक समयसार' बनारसीदासकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसका निर्माण आगरेमें वि० सं० १६९३, आश्विन सुदी १३ रविवारके दिन हुआ था। उस समय बादशाह शाहजहाँका राज्य था।[2]

'नाटक समयसार'में ३१० सोरठा-दोहे, २४५ सवैया-इकतीसा, ८६ चौपाई, ३७ तेईसा-सवैया, २० छप्पय, १८ कवित्त, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलिया हैं। कुल मिलाकर ७२७ पद्य होते हैं।[3]

'नाटक समयसार'का मुख्य आधार है आचार्य अमृतचन्द्र (९वीं शताब्दी विक्रम) की 'आत्मख्याति' टीका, जो आचार्य कुन्दकुन्दके प्राकृतमें लिखे गये 'समयसारपाहुड़'पर, संस्कृत कलशोंमें लिखी गयी थी, और राजमलजी पाण्डे (१६वी शताब्दी विक्रम) की 'बालबोधिनी' टीका, जो हिन्दी-गद्यमे रची गयी थी। किन्तु 'नाटक समयसार' केवल अनुवाद-मात्र नहीं है, उसमे पर्याप्त मौलिकता है। 'आत्मख्याति' टीकामे केवल २७७ कलशे हैं, जब कि 'नाटक समयसार'में ७२७ पद्य हैं। अन्तका 'चौदहवाँ गुणस्थान अधिकार' तो बिलकुल स्वतन्त्र रूपसे लिखा गया है। प्रारम्भ और अन्तके १०० पद्योंका भी 'आत्मख्याति' टीकासे कोई सम्बन्ध नही है। जिनका सम्बन्ध है वे भी नवीन हैं। 'कलश' का अभिप्राय तो अवश्य लिया गया है, किन्तु विविध दृष्टान्तों, उपमा और उत्प्रेक्षाओसे ऐसा रस उत्पन्न हुआ है जिसके समक्ष कलश फीका जँचता है। 'नाटक समयसार' साहित्यका ग्रन्थ है जब कि 'समयसारपाहुड़' और उसकी टीकाएँ दर्शनसे सम्बन्धित है। 'नाटक समयसार'मे कविकी भावुकता प्रमुख है, जब कि 'समयसारपाहुड़'में दार्शनिकका पाण्डित्य।

'समयसार' और 'नाटक'

अपने स्वभाव व गुण-पर्यायोंमें स्थिर रहनेको 'समय' कहते हैं। छहों द्रव्य – जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – अपने गुण-पर्यायोंमें स्थिर रहते हैं, अतः वे सब 'समय' कहलाते हैं। उन सबमें 'आत्म-द्रव्य' (जीव) ज्ञायक

---

१. 'भाषा प्राकृत संस्कृत, त्रिविध सुसबद समेत'
बनारसी नाममाला, दिल्ली, तीसरा पद्य।

२. नाटक समयसार, बम्बई, प्रशस्ति, पद्य ३६–३७, पृ० ५४०।

३. वही, प्रशस्ति, पद्य ३९वाँ, पृ० ५४१।

होनेके कारण सारभूत है, और उसका ही मुख्यतया कथन करनेके कारण इसका नाम 'समयसार' है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्दने 'समयसार' को नाटक नहीं कहा था, किन्तु अमृतचन्द्राचार्यने अपने संस्कृत कलशोंमें उसे नाटककी संज्ञा प्रदान की। बनारसीदासने भी उसे नाटक कहा है। इसमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष सात तत्त्व अभिनय करते हैं। उनमें प्रधान होनेके कारण जीव नायक है और अजीव प्रतिनायक। दोनोंके प्रतिस्पर्द्धी-अभिनय विभिन्न रूपकोंके द्वारा प्रदर्शित किये गये है। आत्मा (जीव) के स्वभाव और विभावको नाटकके ढंगपर बतलानेके कारण इसको 'नाटक समयसार' कहते है।

नाटक समयसारमें रूपकत्व

आत्मारूपी नट सत्तारूपी रंगभूमिपर ज्ञानका स्वांग बनाकर सदैव नृत्य करता है। पूर्व बन्धका नाश उसकी गायन विद्या है, नवीन बन्धका संवर ताल तोडना है, निःशंकित आदि आठ अंग उसके सहचारी हैं, समताका आलाप स्वरोंका उच्चारण है, और निर्जराकी ध्वनि ध्यानका मृदंग है। इस भाँति वह गायन और नृत्यमे लीन होकर आनन्दमें सराबोर है,

"पूर्व बंध नासे सो तो संगीत कला प्रकासे,
नव बंध रुंधि ताल तोरत उछरि कै।
निसंकित आदि अष्ट अंग संग सखा जोरि,
समता अलापचारी करै सुर भरि कै।
निरजरा नाद गाजै ध्यान मिरदंग बाजै,
छायौ महानंद में समाधि रीझि करि कै।
सत्ता रंगभूमि में मुकत भयौ तिहूं काल,
नाचै सुद्धदिष्टि नट ग्यान स्वांग धरि कै॥[2]"

एक-दूसरे स्थानपर आत्माको 'पातुरी' बनाया गया है। एक नटी वस्त्र और आभूषणोंसे सजकर रातके समय नाट्यशालामें 'पट' आड़ा करके आती है तो किसीको दिखाई नही देती। किन्तु जब दोनों ओरके शमादान ठीक करके

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, समयसार, पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ, मारवाड़, फ़रवरी १९५३, दूसरी गाथा, अमृतचन्द्राचार्यकी संस्कृत टीका, पृ० ८–९।

२. बनारसीदास, नाटक समयसार, श्री बुद्धिलाल श्रावककी टीका सहित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि० सं० १९८६, ७९१, पृ० २१५-२१६।

'पट' हटाया जाता है तो सभाके सब लोग उसको भलीभाँति देख लेते है। ठीक ऐसे ही आत्मा, जो मिथ्यात्वके परदेमें ढँका हुआ था, जब ज्ञानके शमादानके उजालेमे प्रकट होता है तो सभी जीव उसे देख सकते हैं। आत्माको इस रूपमें देखनेवाले जीव संसारके ज्ञायक बनते हैं,

"जैसे कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करि कै,
दुहूं और दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखें दृष्टि धरि कें॥
तैसें ज्ञान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,
उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूं लोक भरि कैं।
ऐसो उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारै जा जाल सौं निसरि कैं॥१३५॥"

चेतन, अचेतनकी संगतिमें अचेत हो रहा है, उसीको कविने निद्राका रूपक देकर प्रस्तुत किया है। चेतन कायाको चित्रसारीमें मायाकी शय्यापर सो रहा है। मोहके झकोरोसे उसके नेत्रके पलक ढक गये हैं। कर्मोका बलवान् उदय ही श्वासका शब्द है। विषय-सुखके लिए भटकना स्वप्न है। इस मूढ दशामे आत्मा तीनो काल मग्न रहता है,

"काया चित्रसारी में करम परजंक भारी,
माया की संवारी सेज चादर कलपना।
शैन करे चेतन अचेतनता नींद लिये,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर,
विषै सुखकारी जा की दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहै तिहुं काल,
धावे भ्रम-जाल में न पावै रूप अपना॥७।१४॥"

नाटक समयसारमें भक्ति

कवि बनारसीदासने नवधा भक्तिका निरूपण किया है, और वह इस प्रकार है,

"श्रवन कीरतन चिंतवन, सेवन, वंदन, ध्यान।
लघुता, समता, एकता, नौधा भक्ति प्रवान॥।९८।"

कविकी यह भक्ति कहीं अरिहन्त, कहीं अरिहन्त-बिम्ब, कही सिद्ध, कही श्रुतदेवी, कहीं साधु और कहीं सम्यग्दृष्टियोंके चरणोंमें समर्पित हुई है। अर्थात् कविने यदि एक ओर सगुणकी वन्दना की है, तो दूसरी ओर निर्गुणकी आराधना। बनारसीदासका 'आत्मा' ज्ञानका नहीं, किन्तु भाव-क्षेत्रका विषय है। उन्होने आत्मासम्बन्धी सिद्धान्तको नहीं, अपितु आत्मानुभवको अपने इस नाटकका मुख्य विषय माना है। उन्होंने कहा, "शुद्ध आत्माके अनुभवके अभ्याससे ही मोक्ष मिल सकता है अन्यथा नही।"[1] उनका यह भी कथन है कि आत्माके अनेक गुण-पर्यायोंके विकल्पमें न पडकर शुद्ध आत्माके अनुभवका रस पीना चाहिए। अपने स्वरूपमे लीन होना और शुद्ध आत्माका अनुभव करना ही श्रेयस्कर है।[2] इस भाँति उनका आत्मा ज्ञेय कम और उपास्य अधिक है। भगवान् सिद्ध शुद्ध आत्मा-के प्रतीक है। उनको वन्दना करते हुए कवि कहता है,

'अविनासी अविकार परम रस धाम हैं। समाधान सरवंग सहज अभिराम हैं॥
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं। जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत हैं॥[3]

जिनराज वह ही है, जिसने शुद्ध आत्माके दर्शन कर लिये है। वह शुद्ध आत्मरूप जिनराज घट-मन्दिरमें विराजता है। कविने उसके चरणोमे अपनी भक्ति समर्पित करते हुए कहा है,

"जामें लोकालोक के सुभाव प्रतिमा से सब,
जगी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दरसन उद्योत लीयौ अंतराय अंत कीयौ,
गयौ महामोह भयौ परम महारसी॥
सोई घट-मन्दिर में चेतन प्रगट रूप,
ऐसो जिनराज ताहि वंदत बनारसी॥"[4]

---

१. सुद्ध परमातमा को अनुभौ अभ्यास कीजे,
यहे मोख पंथ परमारथ है इतनो॥
नाटक समयसार, १०।१२५, पृ० ३८८।

२. गुन परजै मे द्रिष्टि न दीजै।
निरविकल्प अनुभौ रस पीजै॥
आप समाइ आप मै लीजै।
तनपौ मेटि अपनुपौ कीजै॥
वही, १०।११७, पृ० ३८३।

३. वही, मंगलाचरण, पृ० ५–६।

४. वही, १।२९, पृ० ५९।

बनारसीदासने आत्माको चिदानन्दके नामसे भी अभिहित किया है। चिदानन्दकी स्तुति करते हुए उन्होंने लिखा,

> "शोभित निज अनुभूति जुत चिदानन्द भगवान।
> सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान॥"

बनारसीदासजीने सगुण ईश्वरकी भक्तिमे भी अनेकानेक पद्योका निर्माण किया है। भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति करते हुए उन्होने कहा कि भगवान्का स्मरण करने-मात्रसे ही भक्तोंके सब भय दूर हो जाते है।

> "मदन-कदन-जित परम धरम-हित, सुमिरत भगति भगति सब डरसी।
> सजल-जलद तन मुकुट सपत-फन, कमठ-दलन जिन नमत बनरसी।"

भगवान् जिनेन्द्र पापरूपी धूलको दबानेके लिए बादलके समान हैं। वे भक्तके भयको दूर करते हैं, उसे कभी नरकमे नही जाने देते और उसे भव-समुद्रसे पार कर देते है। वे भगवान् कामदेवके वनको अग्निको जलानेके लिए रुद्राग्निके समान हैं,

> "पर-अघ-रजहर जलद, सकल जन-नत भव-भय-हर॥
> जमदलन नरक-पद-छयकरन, अगम अतट भव जल तरन।
> वर-सकल-मदन-वन-हरदहन, जय जय परम अभय करन।"

जिन-बिम्ब भी जिनेन्द्र-जैसा ही है। उसका यश जपनेसे हृदयमे प्रकाश उत्पन्न होता है। मलिन बुद्धि पवित्र हो जाती है।

> "जा कौ जस जपत प्रकास जगै हिरदै मैं,
> सोइ सुद्धमति होइ हुती जु मलिन-सी।
> कहत बनारसी सुमहिमा प्रगट जाकी,
> सोहै जिन की छवि सुविद्यमान जिन-सी।"

बनारसीने साधुकी भक्ति करते हुए कहा है कि साधु, धर्मका मण्डन और भ्रमोका उन्मूलन करता है। वह परम शान्त होकर कर्मोंसे लड़ता है, और जीत-कर संसारमे विराजता है।

> "धरम को मंडन भरम को विहंडन है,
> परम नरम ह्वै के करम सौं लर्यो है।
> ऐसो मुनिराज भुवलोक में विराजमान,
> निरखि बनारसी नमसकार कर्यौ है।"

जिनवाणी भगवान्के हृदयरूप तालाबसे निकलकर शास्त्ररूप समुद्रमे

प्रविष्ट हुई है। इसे सम्यग्दृष्टि जीव जान सकते हैं, मिथ्यादृष्टि नहीं। ऐसी जिन-वाणी संसारमें सदा जयवन्त हो,

> "तासु हृदै-द्रह सौं निकली, सरिता सम ह्वै श्रुत-सिन्धु समानी ॥
> यातैं अनंत नयातम लच्छन, सत्य स्वरूप सिधंत बखानी ।
> बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध, सदा जग मांहि जगै जिनबानी ॥

बनारसी विलास

यह बनारसीदासकी फुटकर रचनाओंका संग्रह है। आगरेके दीवान जगजीवनने वि० सं० १७०१ चैत्र सुदी २ को उनकी बिखरी रचनाओंको एक स्थानपर सकलित कर दिया था। और उस संकलनका नाम रखा था 'बनारसी विलास'।[1]

'बनारसी विलास' मे बनारसीदासकी ५० रचनाएँ संगृहीत की गयी है। उनमे 'कर्मप्रकृतिविधान' नामकी अन्तिम कृति भी है, जो फागुन सुदी ७ वि० स० १७०० को समाप्त हुई थी। 'सूक्त मुक्तावली' संस्कृतके सिन्दूर प्रकरणका पद्यानुवाद है। इसमे कुछ पद्य बनारसीदासके मित्र कुँअरपालके रचे हुए है।[2] 'ज्ञान-बावनी' पीताम्बर नामके किसी कविकी रचना है। उसमे बनारसीदासका गुण-कीर्त्तन किया गया है। अवशिष्ट रचनाओंमे 'जिनसहस्रनाम', 'शिवमन्दिर', 'शिवपचीसी', 'भवसिन्धु चतुर्दशी', 'शारदाष्टक', 'नवदुर्गा विधान', 'अष्टप्रकारीजिनपूजा', 'दसबोल', 'अजितनाथके छन्द', 'शान्तिनाथ स्तुति', 'साधु वन्दना' और फुटकर पद्य पचपरमेष्ठी और देवियोकी भक्तिसे सम्बन्धित है। 'ध्यान बत्तीसी', 'अध्यातम फाग', 'अध्यातम गीत', 'अध्यात्म पदपंक्ति' और 'परमार्थ हिंडोलना', आत्मा, ब्रह्म अथवा सिद्धकी वन्दनामें रची गयी कृतियाँ है।

उपर्युक्त ५० रचनाओमे केवल चारके निर्माणका काल दिया है। 'ज्ञान-बावनी' वि० सं० १६८६ मे, 'जिनसहस्रनाम' वि० सं० १६९० मे, 'सूक्त मुक्तावली' वि० सं० १६९१ मे और 'कर्मप्रकृति विधान' वि० सं० १७०० में रची गयी थी। बची हुई कृतियोंका रचनाकाल 'अर्द्धकथानक'से विदित हो जाता है।

'बनारसी विलास'की फुटकर रचनाएँ उत्तम काव्यकी निदर्शन है। उनमे भक्ति और आध्यात्मिकता तो है ही, भावोन्मेष भी कम नहीं है। इसके साथ-साथ

---

१. बनारसी विलास, जयपुर, पृ० २४१।

२. इसमें ४४ पद्य हैं, जिनमें २१ तक तो बनारसीदासका नाम है, और उसके बाद ४६, ६४, ६७, ७८, ८० और ८२, छह पद्योंमें 'कौरा' या कुँअरपालका।

अलंकारोंका प्रयोग भी नैसर्गिक ढंगसे ही हुआ है। भाव और कला दोनों ही पक्षोंमें सौन्दर्य है और मर्यादा भी।

एक स्थानपर कविने चिन्ता प्रकट की है कि न जाने कब इस मनकी दुविधा जायेगी, और यह अपने निरंजनके स्मरणमें लौ लगायेगा। न जाने कब हमारे नेत्र-चातक आत्मारूपी घनसे टपकनेवाली अमृत-बूँदोंका स्वाद लेंगे तथा न जाने कब, हम तनकी ममता त्याग कर, आत्माका शुभ ध्यान लगायेंगे,

"दुविधा कब जैहै या मन की।
कब जिननाथ निरंजन सुमिरौं, तजि सेवा जन जन की।
कब रुचि सौं पीवैं दृग चातक, बूंद अखय पद घन की।
कब शुभध्यान धरौं समता गहि, करूं न ममता तन की॥
दुविधा कब जैहै या मन की॥"[1]

सन्त कवियोंकी भाँति बनारसीदासने कहा कि यह जीव मूर्ख है, क्योंकि यह उस ईश्वरको संसारमें ढूँढता फिरता है, जो उसके घटमें ही विराजमान है। उसका यह ढूँढना कस्तूरी मृगके भ्रमणकी भाँति ही व्यर्थ है,

'ज्यौं मृगनाभि सुवास सौं, ढूढ़त बन दौरै।
त्यों तुझमें तेरा धनी, तू खोजत औरै॥
करता मरता भोगता, घट सो घट माहीं।
ज्ञान बिना सद्गुरु बिना, तू समुझत नाहीं॥"

बनारसीदास ईश्वरको देवोंका देव मानते हैं। उसके चरणोंका स्पर्श करने-मात्रसे ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। अठारह दोषोंसे रहित उस प्रभुकी सेवा करना परम कर्त्तव्य है,

"जगत में सो देवन को देव।
जासु चरन परसैं इन्द्रादिक होय मुकति स्वयमेव॥जगत०॥
नहिं तनरोग न श्रम नहिं चिंता, दोष अठारह भेव।
मिटे सहज जाके ता प्रभु की, करति 'बनारसि' सेव॥जगत०॥[2]"

शारदा देवीकी स्तुतिमें भाव-विभोरता है, तो अनुप्रासोंकी छटा भी। उसमें संगीत-सा आनन्द सन्निहित है,

"अतीता अजीता सदा निर्विकारा। विषै वाटिका खंडिनी खंग धारा॥
पुरापाप विक्षेप कर्तृकृपाणी। नमो देवि वागेश्वरी जैन वानी॥

१. अध्यात्मपद पंक्ति, पद्य १३, बनारसी विलास, जयपुर, पृ० २३१-२३२।
२. वही, पद्य १५, पृ० २३२।

अशोका मुदेका विवेका विधानी । जगज्जन्तुमित्रा विचित्रावसानी ॥
समस्तावलोका निरस्ता निदानी । नमो देवि वागीश्वरी जैनवानी ॥''[१]

अर्द्धकथानक

अर्द्धकथानककी रचना वि० सं० १६९८ मे हुई थी।[२] इसमे बनारसीदासके जीवनके ५५ वर्षकी 'आत्म-कथा' है।[३] यह नाम स्वयं बनारसीदासका दिया हुआ है। उन्होंने अपनी १०० वर्षकी आयु मानकर, ५५ वर्षोको आधी आयुमे शामिल किया, और इसका नाम 'अर्द्धकथानक' रखा। किन्तु इस रचनाके दो वर्ष उपरान्त ही उनका स्वर्गवास हो गया। अतः 'बनारसी-पद्धति' मे आगेका जीवन होगा, एक अनुमान-मात्र है।

इस कथानकमे ६७५ दोहे-चौपाइयाँ हैं। उनमे बनारसीदासके जीवनकी मर्मस्पर्शी घटनाओके साथ-साथ तत्कालीन भारतकी सामाजिक अवस्थाका भी यथार्थ परिचय अंकित है।[४] आजसे ३०० वर्ष पहलेके साधारण भारतीय जीवनका दृश्य ज्योंका-त्यों उपस्थित किया गया है।[५]

यह एक सफल आत्म-कथा है। इसमे जो कुछ कहा गया है, संक्षेपमें और निष्पक्षताके साथ। बनारसीदास चतुर्वेदीने लिखा है, "अपनेको तटस्थ रखकर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मोंपर दृष्टि डालना, उनको विवेककी तराजूपर बावन तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान् कलापूर्ण कार्य है।"[६] डॉ० माताप्रसाद गुप्तका कथन है, "कभी-कभी यह देखा जाता है कि आत्म-कथा लिखनेवाले अपने चरित्रके कालिमापूर्ण अंशोपर एक आवरण-सा डाल देते है – यदि उन्हे सर्वथा बहिष्कृत नही करते – किन्तु यह दोष प्रस्तुत लेखकमे बिलकुल नही है।"[७] पं० नाथूराम प्रेमीने भी लिखा है, "इसमे कविने अपने गुणोके साथ-साथ दोषोंका भी उद्घाटन किया है, और सर्वत्र ही सचाईसे काम लिया है।"[८]

१. शारदाष्टक, पद्य ७, ९, बनारसी विलास, पृ० १६६–१६७।
२. अर्द्धकथानक, पद्य ६७०, पृ० ७४।
३. वही, पद्य ६६३, पृ० ७३।
४. अर्द्धकथा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त-द्वारा सम्पादित, हिन्दी साहित्य परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, भूमिका, पृष्ठ १५।
५. बनारसीदास चतुर्वेदी, 'हिन्दीका प्रथम आत्मचरित', अनेकान्त, वर्ष ६, किरण १, पृष्ठ २१।
६. वही, पृष्ठ २४।
७. अर्द्धकथा, प्रयाग, भूमिका, पृष्ठ १४।
८. अर्द्धकथानक, बम्बई, भूमिका, पृष्ठ २२।

इसकी भाषाके विषयमें स्वयं बनारसीदासजीने कहा है कि वह मध्यदेशकी बोलीमें लिखा जायेगा।[1] मध्यदेशकी सीमाएँ बदलती रही हैं, किन्तु प्रत्येक परिवर्तनमें ब्रजभाषा और खड़ी बोलीके प्रदेश शामिल रहे ही हैं।[2] बनारसीदासजीकी भाषा ब्रज भाषा है, किन्तु उसमें यत्किंचित् खड़ी बोलीका भी सम्मिश्रण है। डॉ० हीरालाल जैनने लिखा है, 'अर्द्धकथानक'में उर्दू-फ़ारसीके शब्द काफी तादादमें आये हैं, और अनेक मुहावरे तो आधुनिक खड़ी बोलीके ही कहे जा सकते हैं। इसपर-से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बनारसीदासजीने 'अर्द्धकथानक'की भाषामें, ब्रजभाषाकी भूमिका लेकर, उसपर मुगलकालमें बढ़ते हुए प्रभाववाली खड़ी बोलीकी पुट दी है, और इसे ही उन्होंने मध्यदेशकी बोली कहा है।[3]

'अर्द्धकथानक'से स्पष्ट है कि बनारसीदासके जीवनमें सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे अच्छाई और बुराईका विश्लेषण करते हुए अपने जीवनको अच्छाईकी ओर ही बढ़ाते गये। वे किसी एक रीति, रिवाज या परम्परासे चिपके न रह सके। एक समय था जब आशिकीको ही उन्होंने अपना धर्म समझ रखा था। परिवर्तन हुआ और वे जैन-भक्त बन गये।

"कहैं दोष कोउ न तजै, तजै अवस्था पाइ।
जैसे बालक की दसा, तरुन भए मिटि जाइ॥
उदै होत सुभ करम के, भई असुभ की हानि।
तातैं तुरित बनारसी, गही धरम की बानि॥"

नित उठित प्रात जाइ जिन भौन। दरसन बिनु न करै दंतौन।
चौदह नेम विरति उच्चरै। सामायिक पडिकौना करै॥
हरी जाति राखी परवां न। जाव जोव बैंगन-पचखान।
पूजा विधि साधै दिन आठ। पढ़ै बीनती पद मुख-पाठ॥"[4]

बनारसीदासकी यह जैन-भक्ति नित्य प्रति बढ़ती ही गयी। जब खैराबादसे ब्याह करके लाये, तो माँ और भार्याके साथ तीर्थयात्राको गये। अहिच्छत्रकी पूजा करनेके उपरान्त वे हस्तिनापुर पहुँचे, वहाँ शान्ति-कुन्थु और अरहनाथकी भक्तिमें एक कवित्त बनाया, जिसका वे नित्य प्रति पाठ करते थे।[5] उस कवित्तको देखिए,

---

१. मध्यदेस की बोली बोलि। गर्भित बात कहौं हिअ खोलि॥
अर्द्धकथानक, पद्य ७, पृ० २।
२. अर्द्धकथा, प्रयाग, भूमिका, पृष्ठ १४–१५।
३. डॉ० हीरालाल जैन, 'अर्द्धकथानककी भाषा', अर्द्धकथानक, पृष्ठ १६।
४. अर्द्धकथानक, पद्य २७२–२७५, पृष्ठ ३१।
५. वही, पद्य ५८०–५८२, पृष्ठ ६४–६५।

"श्री विससेन नरेस, सूर नृप राय सुदंसन ।
अचिरा सिरिआ देवि, करहिं जिस देव प्रसंसन ॥
तसु नंदन सारंग, छाग नंदावत लंछन ।
चालीस पैंतिस तीस, चाप काया छवि कंचन ॥
सुखरासि बनारसिदास मनि, निरखत मन आनंदई ।
हथिनापुर, गजपुर, नागपुर, सांति कुंथु अर वंदई ।"[1]

मोह-विवेक युद्ध[2]

इसमें ११० पद्य हैं। दोहा-चौपाई छन्दोंका प्रयोग किया गया है। इसकी अनेकानेक हस्तलिखित प्रतियाँ जैन-भण्डारोंमें पायी जाती हैं। बीकानेरके खरतर गच्छीय भण्डारके एक गुटकेमें 'बनारसी विलास'के साथ यह भी लिखा हुआ है। इसकी पाँच प्रतियाँ जयपुरके शास्त्र-भण्डारोंमें भी सुरक्षित हैं। बीकानेरवाली प्रतिके भक्तिसे सम्बन्धित दो पद्य इस प्रकार हैं,

"श्री जिन भक्ति सुदृढ़ जहाँ, सदैव मुनिवर संग।
कहै क्रोध तहाँ मैं नहीं, लग्यौ सु आतम रंग ॥५८॥
अविभचारिणी जिनभगति, आतम अंग सहाय।
कहै काम ऐसी जहाँ, मेरी तहाँ न बसाय ॥३२॥"

जैन धर्म वीतरागी है। रागका अर्थ है मोह। मोहको जीतनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। ज्ञान वही है जो मोहको जीत ले। अतः मोह और विवेकका यह युद्ध जैन-परम्पराके अनुकूल ही है। बनारसीदासके पूर्व इस विषयपर अनेक कृतियाँ रची गयी थीं। उनमें यश.पाल मोढ़का 'मोहपराजय', वादिचन्द्रसूरिका 'ज्ञानसूर्योदय', हरदेवका 'मयणपराजय चरिउ', नागदेवका 'मदनपराजयचरित' और पाहलका 'मनकरहारास' प्रसिद्ध हैं। सभीमें मोह और विवेकका युद्ध है। बनारसीदासने अपने पूर्ववर्त्ती तीन कवियों – मल्ल, लालदास और गोपालके 'मोह-विवेक-युद्ध' का उल्लेख किया है। वे उनसे प्रभावित थे। तीनों हिन्दीमें लिखी गयी थीं। प्रस्तुत कृतिके लिए वे मूलाधार बनीं।

बनारसीदासने 'मोह-विवेक-युद्ध' का निर्माण 'नवरस' रचनाके गोमतीमें प्रवाहित करनेके उपरान्त ही किया होगा। 'काम' की प्रतिक्रियासे यह स्पष्ट ही है।

---

१. वही, पद्य ५८३, पृष्ठ ६५।

२. वीर वाणी, वर्ष ६, अंक २३-२४, में श्री अगरचन्दजी नाहटा-द्वारा प्रकाशित हो चुका है। वीर-पुस्तक-भण्डार, मनिहारोंका रास्ता, जयपुर से पुस्तकाकार रूपमें भी निकल चुका है।

इससे सिद्ध है कि यह उनकी प्रारम्भिक कृति है। अतः उसकी शैली बनारसीकी अन्य प्रौढ़ कृतियोंसे नहीं मिलती। आज हिन्दीके अनेक ख्यातिप्राप्त कवि हैं, जिनकी प्रथम रचनाएँ उनकी प्रतीत नहीं होतीं।

इस कृतिके अन्तके तीन पद्योंमें बनारसीका नाम भी दिया हुआ है। फिर भी प्रामाणिक निर्णयके लिए ठोस विचारकी आवश्यकता है।

मांझा

यह रचना जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरके गुटका नं० २८ में निबद्ध है। इसमें १३ पद्य हैं। इसकी छठी पंक्ति देखिए,

"मानुषजनम अमोलक हीरा, हार गंवाओ खासा"

नये पद

प० नाथूराम प्रेमीके द्वारा सम्पादित 'बनारसी-विलास'में तीन नये पदोंका संग्रह किया गया था। अब जयपुरसे प्रकाशित 'बनारसी-विलास'में दो और नये पदोंका प्रकाशन हुआ है। पाटौदी मन्दिर जयपुरके गुटका नं० २२ पृ० १३६ पर मैंने बनारसीदासका एक नया पद देखा है – तू ब्रह्म भूलो तू ब्रह्म भूलो अज्ञानी रे प्राणी !

५४. मनराम (१७वीं शती विक्रम, उत्तरार्ध)

उनकी रचनाओंसे यह सिद्ध है कि मनराम सत्रहवीं शताब्दीके कवि थे। वे बनारसीदासजीके समकालीन थे। उन्होंने अपने मनराम-विलासमें श्री बनारसीदासजीका सादर स्मरण किया है। उनकी रचनाएँ भी बनारसीदासकी भाँति ही आध्यात्मिक-रससे ओतप्रोत हैं। उन्होंने खड़ी बोलीका प्रयोग किया है। हो सकता है कि वे मेरठके आस-पास किसी प्रदेशके रहनेवाले हों। वैसे उनकी कृतियोंसे यह विदित नहीं होता कि वे कहाँके निवासी थे और उनके माता-पिताका क्या नाम था ? श्री कस्तूरचन्दजी कासलीवालने उन्हें संस्कृतका प्रौढ़ विद्वान् कहा है, क्योंकि उनकी रचनाओंमें संस्कृत शब्दोंका प्रयोग किया गया है।[1] किन्तु यह आधार बहुत निर्बल है। केवल संस्कृतके शब्दोंका प्रयोग करने-मात्रसे कोई संस्कृतका उद्भट विद्वान् नहीं कहा जा सकता। उनकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकारसे है :

१. श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल, हिन्दीके नये साहित्यकी खोज, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १२, पृष्ठ ३३३।

मनराम-विलास

इसकी प्रति जयपुरके ठोलियोके दिगम्बर जैन मन्दिरके वेष्टन नं० ३९५ मे निबद्ध है। इसमे कुल १० पृष्ठ और ९६ पद्य है। इनका संग्रह किन्ही बिहारीदास नामके व्यक्तिने किया था। उसने लिखा है, "मेरे चित्तमें ऊपजी, गुनमनराम प्रकास। सोधि बीनए एकठे, किये बिहारीदास॥" अर्थात् बिहारीदासने केवल सग्रह ही नही, किन्तु सम्पादन भी किया था, तभी तो वह मूल पद्योको शुद्ध कर सके। यह काव्य सुभाषितोंसे सम्बन्धित है। इसमे दोहा, सवैया, और कवित्त आदि विविध छन्दोका प्रयोग किया गया है। प्रारम्भमे ही पंच-परमेष्ठीकी वन्दना-में भक्ति है, और सरसता भी,

"करमादिक अरिन कौ हरै अरहंत नाम, सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है।
उत्तम सुगुन गुन आचरत जाकी संग, आचारज भगति वसत जाकै मन है॥
उपाध्याय ध्यान तै उपाधि सम होत, साध परि पूरण कौ सुमिरन है।
पंच परमेष्ठी कौ नमस्कार मंत्रराज ध्यावै मनराम जोई पावै निज धन है॥"

भगवान्के स्वरूपका विवेचन करते हुए मनरामने लिखा है कि – वह भगवान् निर्विकार, निश्चल, निकल, निर्मल ज्योति, ग्यानगम्य और ज्ञायक है, उसका वर्णन कहाँतक किया जाये। जिस-किसीने भगवान्के इस रूपको जान लिया है, फिर उसे विश्वमे कुछ और करनेको नही रह जाता,

"निर्विकार निश्चल निकल निर्मल ज्योति–
ग्यानगम्य ग्यायक कहां लौं ताहि बरनौं।
निहचै सरूप मनराम जिन जानौ ऐसौ,
ताकौ और कारिज रह्यौ न कछू करनौ॥१५॥"

मोहकर्मकी सामर्थ्य सभीको विदित है। उसने जगके सभी प्राणियोको भ्रममें सान रखा है। भ्रमवशात् ही यह जीव अदेवोको देव मानकर उनकी सेवा करता है। सच्चा देव तो उसकी देहके भीतर ही रहता है, जिसे भूलकर वह इधर-उधर भटकता फिरता है,

"देषो चतुराई मोह करम की जग तें,
प्रानी सब राषे भ्रम सानि कै।
देवनि कौ देव सो तौ बसै निज देह मांझ,
ताकौ भूल सेवत अदेव देव मानि कै॥६३॥"

मनरामने अंगोकी सार्थकता इसीमे मानी है कि वे आराध्यकी ओर लगे रहें,

और उनके बताये मार्गपर चलनेमे ही अपनेको कृतकृत्य मानें। वह पद्य इस प्रकार है,

> "नैन सफल निरषै जु निरंजन,
> सीस सफल नमि ईसर ध्यावहि।
> श्रवन सफल जिहि सुनत सिद्धांनहि,
> मुषज सफल जपिए जिन नांवहि।
> हिदौं सफल जिहि धर्म बसै ध्रुव,
> करज सुफल पुन्यहि प्रभु पावहि।
> चरन सफल मनराम वहै गनि,
> जे परमारथ के पथ धावहि ॥९०॥"

भगवान्के नामकी महिमाका उल्लेख करते हुए कवि मनरामने लिखा है कि यदि शुद्ध मनसे चौबीस जिनेन्द्रके नाममन्त्रका उच्चारण किया जाये तो अघरूपी सर्प कैसे ठहर सकता है,

> "मन शुद्ध मनराम चौबीसो जिनंद नाम–
> मन्त्र जपै अघ व्याल कैसे ठहराति है ॥२॥"

यह ससार बहुत ही विचित्र है। इसमें अधिकतर मूर्ख रहते है। वे उसको योगी कहते हैं, जिसकी केवल वेष-भूषा योगकी है, किन्तु उसके मनको नही देखते जो भोगोंसे भरा है। जो मनको देखकर योगीकी परख करते है वे ही ज्ञानी है। ऐसे व्यक्ति सम्पत्तिसे भी अधिक योगीका सम्मान करते है,

> "मन भोगी तन जोग लखि जोगी कहत जिहान।
> मन जोगी तन भोग तसु जोगी जानत ज्ञान ॥७२॥
> सबै अरथ जुत चाह पर पुरुष जोग सनमान।
> ए समझै मनराम जो बोलत सो जग जान ॥७३॥"

रोगापहार-स्तोत्र

इसकी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० १७ मे निबद्ध है। इसमे रोगोको दूर करनेके लिए भगवान् जिनेन्द्रसे प्रार्थना की गयी है। भक्त-कविको विश्वास है कि भगवान् जिनेन्द्रकी उपासनासे आत्मामे ऐसे विशुद्ध भावोका संचार होगा, जिससे शारीरिक और मानसिक सभी रोग स्वतः विलीन हो जायेगे।

बत्तीसी

इसकी प्रति जयपुरके ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरमें गुटका नं० ११० मे

निबद्ध है। इसमें १४ पद्य हैं और सभी भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे सम्बन्धित हैं।

बड़ाकक्का

इसकी एक प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० १२६ में मौजूद है। गुटकेका लेखनकाल सं० १७०४ आषाढ सुदी ५ दिया हुआ है।

अक्षरमाला

इसकी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरमे गुटका नं० ४२ मे संकलित है। ५२ अक्षरोंमे-से प्रत्येकपर एक-एक पद्यका निर्माण किया गया है।

धर्मसहेली

इसकी भी प्रति उपर्युक्त मन्दिरके ही गुटका नं० १६२मे निबद्ध है। यह गुटकेके पृष्ठ १६३पर लिखा हुआ है। इसमे कुल २० पद्य है। इसमे जैन धर्म-की महिमाका उल्लेख है।

पद

इनके अनेको पद प्राप्त हैं, जिनमें भगवान् जिनेन्द्रके भक्ति-रसका ही आधिक्य है। इनके दो पद जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० १७ मे सकलित है। उनके शीर्षक क्रमशः, 'चेतन यो घर नाही तेरो' और 'जिय तै नरभवि यो ही खोयो' है। इनका तीसरा पद इसी मन्दिरके गुटका न० २९, चौथा पद इसी मन्दिरके गुटका नं० ९६में निबद्ध है। चौथेका शीर्षक 'अखियाँ आज पवित्र भई मेरी' से प्रारम्भ हुआ है। यह पद ठोलियोंके जैन मन्दिरके गुटका नं० १११मे भी लिखा हुआ है। मनरामके अनेक सरस पद दि० जैन मन्दिर बडौतके 'पदसंग्रह' की एक हस्तलिखित प्रतिमे संकलित है। अतिशय क्षेत्र महावीरजी के शास्त्रभण्डारकी एक अधजली हस्तलिखित 'पदसंग्रह' की प्रति-मे भी मैने मनरामके कतिपय पद देखे थे।

गुणाक्षरमाला

इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुरके ठोलियोंके दि० जैन मन्दिरमे गुटका नं० १३१मे संकलित है। यह गुटका वि० सं० १७७९ मगसिर बदी ३का लिखा हुआ है। इस काव्यमे ४० पद्य है। सभीमें भगवान् जिनेन्द्रके गुणोंका वर्णन है। 'हे भाई तूने नरभव प्राप्त किया है, इसलिए भगवान् जिनेन्द्रकी भक्ति कर', ऐसे भावसे युक्त पद्य देखिए,

> "मन वच कर आ जोडि कैरे वंदौ सारद मायरे।
> गुण अखिरमाला कहुं सुणौ चतर सुख पाई रे।

परम पुरुष प्रणमौ प्रथम रे, श्री गुर गुन आराधौ रे।
ग्यान ध्यान मारिगि लहै, होई सिधि सब साधो रे।
माई नर भव पायो मिनख को॥"

इस जीवने हीरा-जैसे जन्मको यों ही गँवा दिया, भगवान्‌का भजन नहीं किया,

"हा हा हासी जिन कीरे, करि करि हासी आनौ रे।
हीरौ जनम निवारियो, बिना भजन भगवानौ रे॥
पढ़ै गुनै अर सरदहै रे, मन वच काय जो पोहारे।
नीति गहै अति सुख लहै, दुख न व्यापै ताही रे॥
माई नर भव पायौ मिनख हो॥"

५५. कुँअरपाल (वि० सं० १६८४)

कुँअरपाल कवि बनारसीदासके अनन्य मित्र थे। जिन पाँच साथियोंमे बैठकर बनारसीदास परमार्थ-चर्चा किया करते थे, उनमे कुँअरपालका भी नाम है।[1] बनारसीदासके उपरान्त कुँअरपाल सर्वमान्य हो गये थे। पाण्डे हेमराजने उन्हे 'कौंरपाल ग्याता-अधिकारी' कहा है।[2] महोपाध्याय मेघविजयने 'युक्ति-प्रबोध' मे उनकी सर्वमान्यता स्वीकार की है।[3] कविने स्वयं 'समकित बत्तीसी' मे 'पुरि पुरि कँवरपाल जस प्रगट्यौ' लिखा है।[4]

---

१ रूपचन्द पंडित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतिय भगौतीदास नर कौरपाल गुनधाम॥
धर्मदास ये पंच जन, मिलि बैठे इक ठौर।
परमारथ चरचा करें, इनके कथा न और॥
नाटकसमयसार, प्रशस्ति, पद्य, २६-२७, पृ० ५३७।

२. बाल बोध यह कीनी जैसे, सो तुम सुणहु कहूँ मैं तैसे।
नगर आगरे मे हितकारी, कौरपाल ग्याता अधिकारी॥
पाण्डे हेमराज, प्रवचनसारकी बालबोध टीका, पद्य चौथा।

३ महोपाध्याय मेघविजय, युक्तिप्रबोध, ऋषभदेव-केसरीमल श्वेताम्बर-संस्था, रतलाम, पद्य २-८ के नीचेकी टीका।

४ पुरि पुरि कंवरपाल जस प्रगट्यौ, बहु बिध ताप बस बरणिज्जइ।
धरमदास जस कंवर सदा धनि, बउसाखा बिसतर जिम कीजइ॥
कुँअरपाल, समकित बत्तीसी, जैसलमेरमें कुँअरपालके लिए लिखा गया गुटका, ३१वाँ पद्य।

कुँअरपालका जन्म ओसवाल वंशके चोरडिया गोत्रमे हुआ था। गौडी दासके दो पुत्र थे – अमरसिंह और जसू। कुँअरपाल अमरसिंहके पुत्र थे।[1] जसूके पुत्रका नाम धरमदास या धरमसी था, जिनके साझेमे बनारसीदासने जवाहरातका व्यापार किया था।[2] पं० नाथूरामजी प्रेमीने उनका जन्मस्थान जैसलमेर माना है। वि० सं० १७०४मे गजकुशलगणिने उनके पढ़नेके लिए संग्रहणी सूत्र, जैसलमेरमे ही लिखा था।[3]

एक गुटका, वि० सं० १६८४-१६८५ मे स्वयं कुँअरपालके हाथका लिखा हुआ उपलब्ध है।[4] इसमे 'आनन्दघनके पद', 'द्रव्यसंग्रह भाषा टीका', 'फुटकर सवैया', और 'चतुर्विंशति स्थानानि' रचनाएँ संगृहीत है। उसमे कविकी स्वयंकी कृतियाँ भी है। उनके अन्तमें 'चेतन कंवर' उपनाम दिया गया है। एक पद्यमे कविने लिखा है कि 'जिन प्रतिमा', भगवान् जिनेन्द्रके समान ही होती है। उसके निमित्तको पाकर हृदयमे राग-द्वेष नही रहता। जिन-प्रतिमाका दर्शन जिसको अच्छा नही लगता, वह मिथ्यादृष्टि है। अनिमेष नेत्रोसे जिन-प्रतिमाको देखनेसे सब कर्म कट जाते है।

"जिन प्रतिमा जिन सम लेखीयइ,
ताकौ निमित्त पाय उर अंतर, राग दोष नहि देखीयइ ॥
सम्यग्दिष्टी होइ जीव जे, जिण मन ए मति रेखीयइ।
यहु दरसन जाकूं न सुहावइ, मिथ्यामत मेखीयइ ॥
चितवत चित चेतना चतुर नर, नयन मेष न मेखीयइ।
उपशम कृया ऊपजी अनुपम, कर्म कटइ जे सेखीयइ ॥
वीतराग कारण जिण भावन, ठवणा तिण ही पेखीयइ।
चेतन कंवर भये निज परिणति, पाप पुञ्ज दुइ लेखीयइ ॥"[5]

---

१. खितमधि ओसवाल अति उत्तम, चोरोडिया बिरद बहु दीजइ।
गौडीदास अस गरवत्तन, अमरसीह तसु नंद कहीजइ ॥
वही, ३१वे पद्यकी प्रथम दो पंक्तियाँ।

२. अर्द्धकथानक, पद्य ३५२-३५४, पृ० ३९-४०।

३. वही, परिशिष्ट, पृ० १०२।

४. यह गुटका, श्री अगरचन्दजी नाहटाने पं० नाथूरामजी प्रेमीके पास भेजा था, और उन्हींके पास रहा।

५. अर्द्धकथानक, परिशिष्ट, पृ० १०२।

एक दूसरा गुटका और है, जो कुँअरपालके पढ़नेके लिए अन्य किसी लेखकने लिखा था। इसमे कुँअरपालकी लिखी हुई 'समकित बत्तीसी' नामकी रचना भी संकलित है।[1] इसमे ३३ पद्य हैं। ३१-३३ तकके पद्योमे कविका अपना परिचय है। अवशिष्ट पद्य 'क' से 'ह' तकके अक्षरोसे आरम्भ हुए है। इसका विषय 'आतम-रस' से सम्बन्धित है। इसका अन्तिम पद्य देखिए,

"हुओ उछाह सुजस आतम सुनि, उत्तम जिके परम रस भिन्नै।
ज्यउं सुरही तिण चरहि दूध हुइ, ग्याता तेरह प्रन गुन गिन्नै॥
निजबुधि सार बिचारि अध्यातम, कवित बत्तीस भेंट कवि किन्नै।
कंवरपाल अमरेस तनूभव, अतिहित चित आदर कर लिन्नै॥"[2]

५६. यशोविजयजी उपाध्याय (वि० सं० १६८०-१७४३)

'सुजसवेलीभास' के आधारपर यशोविजयजीका जीवन-परिचय थोडा-बहुत प्राप्त होता है। यदि यह कृति न होती, तो हम उनके विषयमें भी सिवा अनुमान रचनेके और कुछ न कर पाते। उन्होने स्वयं अपने विपुल साहित्यमें कहीपर अपने विषयमे एक शब्द भी नही लिखा। यह भारतीय परम्पराके अनुरूप ही था। 'सुजसवेलीभास' के रचयिता मुनिवर कान्तिविजयजी उनके समकालीन थे। अत. कृतिकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध ही मानी जानी चाहिए।

उपर्युक्त रचनामे यशोविजयजीके जन्म-स्थानके विषयमें कुछ नही लिखा है। अभीतक इस विषयपर मतभेद था, किन्तु अब महाराजा कर्ण देवके वि० सं० ११४० के ताम्रपत्रसे सिद्ध हो गया है कि उनका जन्म गुजरातके 'कनोडा'[3] गाँवमें हुआ था। यह तत्कालीन गम्भूताक्षेत्रमें शामिल था। आज भी वह गाँव 'रूपेणनदी'-के किनारे बसा है। उसमे कनोडिया ब्राह्मण और पटेलोंकी आबादी है। किसी समय वहाँ वणिक् भी अच्छी संख्यामे रहते थे। मध्यकालमें यह गाँव 'काणोदा'-के नामसे प्रसिद्ध था।

यशोविजयजीके पिताका नाम नारायण और माताका सौभाग्यदेवी था। दोनो धर्मपरायण, दानशील और उदार वृत्तिके व्यक्ति थे। उनका प्रभाव

१. यह गुटका भी श्री अगरचन्दजी नाहटाने, पं० नाथूराम प्रेमीके पास भेजा था, उन्हींके पास है।
२. अर्द्धकथानक, पृ० १०१।
३. महेसाणासे पाटण जानेवाली रेलवे लाइनपर दूसरा स्टेशन धीणोज है, इससे चार मील पश्चिममें कनोडा गाँव है।

यशवन्तपर भी पड़ा। यह यशोविजयके बचपनका नाम था। उनका एक छोटा भाई और था, जिसका नाम पद्मसिंह था। दोनोंकी राम-लक्ष्मण-सी जोडी थी। एक बार वे माँके साथ उपाश्रय गये, वहाँ गुरुवरके मुँहसे भक्तामर सुना। यशवन्तको उसी क्षण याद हो गया। उस समय संस्कृत तो दूर, उन्होंने गुजराती भी पढ़ना शुरू नहीं की थी। बालककी इस अद्भुत स्मरण-शक्तिका परिचय सबसे पहले माँको प्राप्त हुआ। उन्होंने तीन दिनसे अन्न-जल ग्रहण नहीं किया था। तीव्र वर्षाके कारण वे भक्तामर नहीं सुन सकी थी, अतः भोजन कैसे करतीं। बालक यशवन्तको जब यह विदित हुआ, तो उसने तुरन्त ही माँको भक्तामर सुना दिया। उच्चारण शुद्ध था। माँ उस बालकमे अलौकिक व्यक्तित्वका आभास पा सकी। वर्षाके रुकनेपर उन्होंने यह सब गुरुवरको सुनाया, और बात हवाकी तरह बहते-बहते अहमदाबाद पहुँची। वहाँ प्रसिद्ध हीरीश्वरजीके चतुर्थ पट्टधर पं० नयविजयजीने सुनी। उन्होंने प्रयास किया। सफल हुए। परिणामस्वरूप वे वि० सं० १६८८ मे बालक यशवन्तको, उसके माँ-बापकी स्वीकृतिके साथ दीक्षा दे सके। अब वे यशोविजय हो गये।

पं० नयविजयजी प्राकृत, संस्कृत, गुजराती, व्याकरण, कोश, ज्योतिष आदि विद्याओंमे पारंगत थे। उनके सान्निध्यमे यशोविजयका विद्याध्ययन प्रारम्भ हुआ। वे प्रतिभाशाली तो थे ही, शीघ्र ही व्युत्पन्न होने लगे। एक बार अहमदाबादमे उन्होंने अष्टावधान किये। उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति और प्रखर बुद्धिसे प्रभावित होकर सेठ धनजी सूराने दो सहस्र चाँदीकी दीनार, उनके उच्च अध्ययनके लिए प्रदान की। वे वाराणसी गये और वहाँके सर्वोत्कृष्ट विद्वान् भट्टाचार्यजीसे षड्दर्शनका पारायण किया। तीन वर्ष उपरान्त वहाँसे चले आये। फिर वि० सं० १७०३-१७०७ तक चार वर्ष आगरेमें किसी न्यायाचार्यके पास कर्कश तर्क ग्रन्थ पढ़े।

यह समझमें नही आ पाता कि उन्होंने तीन वर्ष उपरान्त ही बनारस क्यों छोड दिया, और आगरेमे वह कौन-सा न्यायाचार्य था, जिससे उन्होंने तर्क-ग्रन्थ पढे। क्या वह विद्वान् बनारसके विद्वानोंसे अधिक ज्ञानी था? अवश्य ही यशोविजय-जैसे प्रतिभाशाली छात्रने तीन वर्षमे 'षड्दर्शन' का सूक्ष्म अध्ययन कर लिया होगा। किन्तु जैन न्यायके तल-स्पर्शी विवेचनकी क्षुधा उन्हे आगरा ले आयी होगी। उस समय वहाँ दिगम्बर सम्प्रदायके अनेक पण्डित रहते थे। जैन न्यायके क्षेत्रमें उनकी विद्वत्ता असन्दिग्ध थी। उनसे प्रभावित होकर ही पं० बनारसीदास दिगम्बर

१. अर्द्धकथानक, बम्बई, १९५७ ई०, प्रस्तावना, पृ० ६०।

बन सके थे। पाण्डे रूपचन्दजी तिहुना साहुके मन्दिरमें ठहरे ही रहते थे। 'अष्ट सहस्री' जैन दिगम्बर न्यायका दुरूह ग्रन्थ है। यशोविजयजी उसपर एक उत्तम टीका लिखनेमें समर्थ हो सके। हो सकता है कि उन्होंने इसका अध्ययन आगरेमें किया हो। अगाध विद्वत्ताके साथ लौटे यशोविजयजी। गुजरात तो इसी प्रतीक्षा-में था। अहमदाबादके सूबेदार महावतखाँने अपने दरबारमें उनका शानदार सम्मान किया। वहाँ उन्होंने अपनी विद्वत्ता और स्मरणशक्तिके परिचायक अठारह अवधान प्रस्तुत किये। सब प्रभावित हुए और युवासाधुके गीत गाये जाने लगे। अहमदाबादमें ही वि० सं० १७१८ में उन्हें 'उपाध्याय' पदमें विभूषित किया गया।

वि० सं० १७१९ से १७४३ तकका समय उनके साहित्य-सृजनका काल था। उन्होंने तीन सौ ग्रन्थोंका निर्माण किया। संस्कृत, प्राकृत, गुजराती और हिन्दीपर उनका समानाधिकार था। उन्होंने इन्हीं चार भाषाओंमें लिखा, जमकर लिखा। इससे भारतीय दर्शन और साहित्यके विद्यार्थी सदैव अनुप्राणित रहेंगे।

यशोविजयजीका स्वर्गवास वि० सं० १७४३में डभोई[1] नामके नगरमें हुआ। आज भी वहाँ छह जैन मन्दिर और दो पाठशालाएँ हैं। उस समय इसका नाम दर्भावती था। यह लाट देशकी प्रमुख नगरियोंमें गिनी जाती थी। प्रसिद्ध न्यायवेत्ता श्री देवसूरिजी और श्री मुनिचन्द्र सूरीश्वरजीका जन्म इसी नगरीमें हुआ था। प्रसिद्ध मन्त्री वस्तुपालने यहाँ एक सीमादुर्ग भी बनवाया था। पं० नाथूरामजी प्रेमी डभोईको यशोविजयजीका जन्म-स्थल मानते रहे।[2] अब यह मान्यता खण्डित हो चुकी है। यशोविजयजी पूर्ण ब्रह्मचर्य, सच्ची साधुता, अगाध पाण्डित्य और गौरवके साथ लगभग ६५ वर्ष जीवित रहे। श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यके उपरान्त भारतीय धरा एक बार फिर प्रकाण्ड विद्वत्ताके तेजसे गौरवान्वित हो उठी थी।

साहित्य-सृजन

उनके द्वारा रचित तीन सौ ग्रन्थोंका परिचय देना न तो सम्भव है और न प्रसंगानुमोदित। उन्होंने मुख्य रूपसे तर्क और आगमपर लिखा। किन्तु व्याकरण, छन्द, अलंकार और काव्यके क्षेत्रमें भी उनकी गति अप्रतिहत थी। उन्होंने टीकाएँ और भाष्य लिखे। अनेक मौलिक कृतियोंका भी निर्माण किया। उनमें 'खण्डन-खण्डखाद्य'-जैसे ग्रन्थ उनकी पैनी विद्वत्ताके मानस्तम्भ हैं।

---

१. आज भी यह, दक्षिण-पूर्व रेल्वे लाइनपर, बड़ौदासे १९ मील दूर स्थित एक स्टेशन है। इसकी आबादी तीस हजार है।

२ प० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, सन् १९१७ ई०, पृ० ६२।

'जैन भक्ति-काव्यकी पृष्टभूमि' की भूमिकामे लिखा जा चुका है कि जैन आचार्य केवल दार्शनिक ही नही होते थे, वे कुछ-न-कुछ भक्तिसम्बन्धी साहित्य भी रचते अवश्य थे। श्री यशोविजयजीने गुजरातीमे अनेक स्तवन, सज्झाय, गीत और वन्दनाओंका निर्माण किया है। बनारस और आगरेमें रहनेके कारण हिन्दी-पर भी उनका अच्छा अधिकार था। उनका 'जसविलास' हिन्दीका प्रसिद्ध काव्य है। इसके अतिरिक्त 'आनन्दघन अष्टपदी', 'दिग्पट ८४ बोल' और 'साम्य शतक' भी उनकी हिन्दीकी ही कृतियाँ है।

जसविलास

यह काव्य, 'सज्झाय, पद अने स्तवन संग्रह' नामके मुद्रित संकलनमे छपा है। इसमे ७५ मुक्तक पद है। सभी जिनेन्द्रकी भक्तिसे सम्बन्धित है। एकमे लिखा है कि भक्त ज्योंही प्रभुके ध्यानमे मग्न हुआ कि उसकी समूची दुविधा पल-मात्रमे नष्ट हो गयी। भक्तको आराध्यकी निष्ठामे, हरि-हर और ब्रह्माकी निधियाँ भी तुच्छ दिखाई देती है। भक्त तो अब अपने प्रभुकी अक्षय निधिका स्वामी है। उसके रसके आगे उसे और कोई रस भाता ही नही,

"हम मगन भये प्रभु ध्यान मे।
विसर गई दुविधा तन-मन की, अचिरा सुत गुन गान में॥
हरि-हर-ब्रह्म-पुरन्दर की रिधि, आवत नहिं कोउ मान में।
चिदानन्द की मौज मची है, समता रस के पान में॥
इतने दिन तूं नाहिं पिछान्यो, जन्म गंवायो अजान में।
अब तो अधिकारी ह्वै बैठे, प्रभु गुन अखय खजान में॥
गई दीनता सभी हमारी, प्रभु तुझ समकित दान में।
प्रभु गुन अनुभव के रस आगे, आवत नहिं कोउ ध्यान में॥"

आनन्दघन अष्टपदी[1]

इसमे हिन्दीके जैन सन्त आनन्दघनकी स्तुति की गयी है। कहा जाता है कि उपाध्याय यशोविजय और आनन्दघनजीकी भेंट हुई थी। आनन्दघन सदैव अध्यात्मरसमे मग्न रहते थे। वे कभी जंगलोमे घूमते और कभी गुफाओमे योग-साधना करते। जन-सम्पर्कमे शायद ही कभी आते। जब आते तो सुबोध और सुरुचिपूर्ण शैलीमे उपदेश देते। अवधूत-से इस साधुकी बात श्रीमद् यशोविजयजीने भी सुनी थी। वे उनसे मिलना चाहते थे। एक बार अर्बुद क्षेत्रके समीपस्थ गाँवमे

१. आनन्दघन पदसंग्रहमें पृ० १६४ पर छप चुकी है। यह संग्रह अध्यात्मज्ञान-प्रसारक मण्डल, बम्बईसे वि० स० १९६९ में प्रकाशित हुआ था।

यशोविजयजी व्याख्यान दे रहे थे। उस सभामें एक ओर उदासीन-सा वृद्ध साधु बैठा था। वे आनन्दघन थे। उनसे भेंट हुई। यशोविजयजी इस भाँति प्रभावित हुए कि अपनेको रोक न सके। अष्टपदी उनके भावोद्‌गारोंका सही प्रतीक है। यशोविजय जिस अध्यात्मरसके पण्डित थे, वह ही आनन्दघनकी अनुभूतियोंमें गहरा उतरा था। आनन्दघन 'अध्यात्मरस' ही थे। यह ही तो कारण था कि यशोविजय-जैसा विद्वान् इन्हें देख भाव-विमुग्ध हो उठा। उनकी संगतिसे यशोविजयमें भी अध्यात्मरसकी लहरें उठने लगी थी। इसीको उन्होंने लिखा है कि 'पारस'की संगतिसे लोहा भी 'स्वर्ण' हो जाता है,

"आनन्दघन के संग सुजस ही मिले जब, तब आनन्दसम भयो सुजस।
पारस संग लोहा जो फरसत, कंचन होत ही ताके कस॥
खीर नीर जो मिल रहे आनन्द, जस सुमति सखी के संग भयो है एक रस।
भव खपाइ, सुजस विलास भये सिद्धस्वरूप लीये धसमस॥"

आनन्दघन मार्गमें चलते-चलते गा उठते थे। उनके मुखपर लोकसे न्यारा रूप सदैव बरसता रहता था। वे कभी सुमति सखीसे दूर नहीं होते। उनसे मिलकर यशोविजयको गौरवका अनुभव हुआ,

"मारग चलत-चलत गात, आनन्दघन प्यारे, रहत आनन्द भरपूर॥
ताको सरूप भूप त्रिहुं लोक थे न्यारो, बरखत मुख पर नूर॥
सुमति सखी के संग, नितनित दोरत, कबहुं न होत ही दूर॥
जशविजय कहे सुनो आनन्दघन, हम तुम मिले हुजूर॥"

आनन्दघनको पहचाननेके लिए अपने चित्तके भीतर भी उसी आनन्दकी अनुभूति होनी चाहिए। आनन्दघन आनन्दके ही बने है। वे आनन्दके अक्षय खजाने है। उन्होने 'सहज अलखपद' के सुखका अनुभव किया है। आनन्दघनके सही दर्शनके लिए इसी भावभूमि तक उठना होगा,

"आनन्द की गत आनन्दघन जाणे॥
वाइ सुख सहज अचल अलख पद, वा सुख सुजस बखाने॥
सुजस विलास जब प्रगटे आनन्दरस, आनन्द अखय खजाने।
ऐसी दशा जब प्रगटे चित्त अंतर, सोहि आनन्दघन पिछाने॥"

दिक्पट चौरासी बोल[1]

यह रचना पं० हेमराजजीके 'सितपट चौरासी बोल' का खण्डन करनेके

१. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, उदयपुर, सन् १९५४, पृ० १३९।

लिए लिखी गयी थी। यहाँ पं० सुखलालजीका यह अभिमत कि "उपाध्यायजी थे पक्के जैन और श्वेताम्बर।" ठीक ही प्रतीत होता है उन्होंने 'अध्यात्म-मत खण्डन' मे भी दिगम्बर मान्यताका निराकरण किया है। यदि उपाध्यायजी इस श्वेताम्बर-दिगम्बरके ऊपर उठ पाते तो आचार्य हेमचन्द्रसे भी बडे सिद्ध होते। आजका युग समन्वयवादी है। उसमे उपाध्यायजीका स्थान निर्धारित करते समय यह ही एक 'अटकाव' बना रहेगा।

'दिक्पट चौरासी बोल' की एक हस्तलिखित प्रति १९वी शताब्दीकी लिखी हुई अभय जैनग्रन्थालय बीकानेरमे मौजूद है। इसमे १६१ पद्य है। प्रारम्भिक पद्य इस प्रकार है,

"सुगुणध्यान शुभध्यान, दान विधि परम प्रकाशक।
सुघट मान प्रमान, आन जस सुगति अभ्यासक॥
कुमत वृन्द तम कन्द, चन्द परिद्वन्द्व निकाशक।
कविअ मन्द मकरन्द, सन्त आनन्द विकासक॥
यश वचन रुचिर गंभीर निर्जै, दिग्पट कपट कुठार सम।
जिन वर्धमान सोई वंदियै, विमल ज्योति पूरण परम॥"

साम्यशतक[1]

इसमे १०५ पद्य है। यह श्री विजयसिंहसूरिके 'साम्यशतक'को आधार मानकर मुनि हेमविजयके लिए रचा गया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति उपर्युक्त ग्रन्थालयमे ही संकलित है। आदि और अन्तके दो पद्य देखिए,

आदि,

"समता गंगा मगनता, उदासीनता जात।
चिदानन्द जयवन्त हो, केवल भानु प्रभात॥"

अन्त,

"भावन जाकूं तत्व मन, हो समता रस लीन।
ज्युं प्रगटे तुम साहब सुख, अनुभव गम्य अहीन॥"

५७. महात्मा आनन्दघन (जन्म वि० सं० १६८०, मृत्यु वि० सं० १७४५)

आनन्दघन एक जैन साधु थे। किन्तु यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि वे तपागच्छके थे अथवा खरतरगच्छके। उनको स्वयं गच्छोंसे कोई ममत्व नही

१. वही, पृ० ८१।

था। शायद इसी कारण उसका कही उल्लेख नही है। उन्होंने अपने पारिवारिक जीवनके विषयमे किंचिन्मात्र भी इशारा नही किया है। वे सच्चे अध्यात्मवादी थे, अत उन्होने आत्माका सम्बन्ध ही सच्चा माना और उसीका वर्णन किया। उनकी प्रशंसामे लिखी गयी यशोविजयजीकी 'अष्टपदी' उपलब्ध है, किन्तु वह भी उनके आध्यात्मिक गुणोका वर्णन करके चुप हो जाती है। इतना अवश्य विदित है कि उनका दूसरा नाम लाभानन्द था। श्री के० एम० झावेरीने उनको लाभविजय भी कहा है।[1]

अभीतक उनके मूल निवास-स्थानका भी पता नही लग सका है। कुछ लोगोने विभिन्न कल्पनाएँ की है। गुजरातीके प्रसिद्ध लेखक श्री मनसुखलाल रजवी भाई मेहताने बहुत दिन पूर्व आनन्दघनपर एक ४०-४२ पृष्ठका निबन्ध लिखा था। उनकी भाषाको आधार बनाकर मेहताजीने भाषा-विवेक-शास्त्रकी दृष्टिसे अनुमान किया था कि वे अमुक-अमुक प्रान्तोमे घूमे होगे और अमुक प्रान्तके वासी होगे। उनकी कल्पनाके अनुसार आनन्दघन भी गुजरातके रहनेवाले थे। आचार्य क्षितिमोहन सेनने इसका खण्डन करते हुए उनको राजपूतानेका सिद्ध किया है। उनकी दृष्टिसे गेय पदोकी भाषाको आधार बनाकर किसी व्यक्तिके मूल देशका निर्धारण नहीं किया जा सकता। गानेवालोके मुखसान्निध्यसे गेय पद बदल जाते है और उनमे कुछ विलक्षणता आ ही जाती है। श्री आनन्दघनजीने अपना अन्तिम समय मेडता नगरमे व्यतीत किया था, जो पश्चिमी राजपूतानेमे अवस्थित है। उनकी वाणियोकी ख्याति भी राजपूतानेमे ही अधिक फैली।[2]

आनन्दघनका समय तो लगभग निश्चित-सा ही है। मेडता नगरमे ही यशोविजयजीसे उनका साक्षात्कार हुआ था। यशोविजयजी इतने अधिक प्रभावित हुए कि उनकी प्रशसामे 'अष्टपदी'का निर्माण किया।[3] यशोविजयजीका जन्म संवत् १६८० और स्वर्गवास सं० १७४५मे हुआ था। दभोईनगरमे उनके समाधि-स्थानपर यह मृत्यु सवत् लिखा हुआ है।[4] अतः यह प्रमाणित है कि आनन्दघनजी इन

१. श्री के० एम० झावेरी, माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर, पृष्ठ १३६।

२. आचार्य क्षितिमोहन सेन, जैन-मरमी आनन्दघनका काव्य, वीणा, अंक १, नवम्बर १६३८, पृष्ठ ६-७।

३. यह अष्टपदी आनन्दघन-अष्टपदीके नामसे सज्झाय, पद अने संग्रह में सबसे पहले प्रकाशित हुई थी। अब तो बुद्धिसागरजाके आनन्दघन पद सग्रहमें भी छपी है।

४. जैन स्तोत्र सन्दोह, प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय-द्वारा सम्पादित, प्रस्तावना, पृ० ६०-१०१।

दो संवतोंके बीचमें अवश्य ही मौजूद रहे होंगे। आचार्य क्षितिमोहन सेनने श्री यशोविजयको आधार मानकर ही लिखा है, "मेड़ता नगरमें आनन्दघनके साथ यशोविजयजीने कुछ समय बिताया था, इसलिए ये दोनों ही समसामयिक थे। आनन्दघन कुछ उमरमें बड़े हो सकते हैं। अतएव सम्भव है कि १६१५ ई० सं० १६७२ के आस-पास उनका जन्म और १६७५ ई० सं० १७३२ के लगभग देहावसान हुआ हो।[1] बनारस विश्व विद्यालयके पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्रने भी इसी आधारपर उनको १७०० वि० सं० के आस-पासका माना है।[2] यह सच है कि उनके विषयमें कोई निश्चित तिथि तो नहीं दी जा सकती, किन्तु वे सत्तरहवीं शताब्दीके अन्तिम और अठारहवींके प्रथम पादमें अवश्य मौजूद थे, यह निश्चित है।[3]

आनन्दघन एक उदार हृदयके व्यक्ति थे। यद्यपि उनकी शिक्षा-दीक्षा जैन-धर्ममें हुई थी और जैनत्वके प्रति उनकी प्रगाढ श्रद्धा भी थी, किन्तु उन्होंने जैनधर्मके उस दम्भ और पाखण्डवाले पहलूको कभी स्वीकार नहीं किया जो अन्तिम श्रुतकेवलीके उपरान्त शनै-शनै: पुष्ट होता ही चला आ रहा था। जिन संकुचित सीमाओंको तोड़नेके लिए एक बार जैनधर्मने क्रान्ति की थी, उन्हींमें वह स्वयं आबद्ध हो गया था। आनन्दघन उनसे निकलकर बाहर जा खड़े हुए। आचार्य क्षितिमोहन सेनके कथनानुसार उनपर मध्य युगके 'मरमिया सहजवाद'का विशेष प्रभाव पड़ा। यह सच है कि उनके भाव कबीर, दादू और रज्जब आदिसे मिलते हैं, किन्तु यह भी सच है कि वे बनारसीके अध्यात्मवादसे अत्यधिक प्रभावित थे। 'आनन्दघन बहत्तरी' उन्हीं आध्यात्मिक भावोंसे ओतप्रोत है, जो बनारसीदासकी देन थी। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि वे "साधु वेश त्याग करके मरमी भक्तोंके समान दीर्घ अंगावरण पहना करते और सितार, दिलरुबा प्रभृति यती-जनविवर्जित वाद्य-यन्त्र लेकर घूमा करते थे।[4] यद्यपि उनके विचार वेश-भूषाके समर्थनमें नहीं थे, किन्तु इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वे जैन साधुकी वेश-भूषा त्याग-

---

१. आचार्य क्षितिमोहन सेन, जैन-मरमी आनन्दघनका काव्य, वीणा, अंक १, नवम्बर १९३८, पृ० ८।

२. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, घनानन्द कवित्त, भूमिका, पृ० १५।

३. श्री नाथूराम प्रेमीने कुँअरपाल--चौरडियाके वि० सं० १६८४-१६८५ के लिखे हुए एक गुटकेके आधारपर आनन्दघनका समय १७वीं शताब्दीका मध्य भाग माना है। उन्होंने अनेक तर्कोंके आधारपर यशोविजय और आनन्दघनकी भेंटको भी मिथ्या सिद्ध किया है। अर्द्धकथानक, बम्बई, पृ० ११६-११७।

४. आचार्य क्षितिमोहन सेनका उपर्युक्त लेख, वीणा, नवम्बर १९३८, पृ० ८।

कर मरमी-भक्तकी धारण करते थे। वेश-भूषा दोनो ही है और मेरी दृष्टिमे उन्होने दोनो की ही खिलाफत की। एक यती ज्ञानसागर हुए हैं, जिनकी टीकासे यह स्पष्ट है कि वे जैन साधुके वेशमे ही रहते थे।

उत्तरमध्यकालमे आनन्दघन, घनानन्द और आनन्द नामके कई कवि हुए है। उनमे-से सुजानवाले घनानन्द और जैन आनन्दघनको आचार्य क्षितिमोहन सेनने 'जैन मर्मी आनन्दघन' वाले लेखमे एक ही प्रमाणित किया है। शायद आचार्यजी-का यह अनुमान शिवसिंह सेंगरके 'सरोज' मे घनानन्दके लिए निर्धारित सं० १७१५ पर आधारित है, जो अब गलत प्रमाणित हो चुका है। आचार्य पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रने उनका समय अठारहवी शताब्दीका अन्तिम पाद अनेक प्रमाणोसे सिद्ध किया है।[1] यद्यपि दोनोके विचारोमे कही-कही बहुत साम्य है, किन्तु फिर भी घनानन्दने 'सुजान' को कभी नही छोडा, जब कि आनन्दघनने इस शब्द तकका प्रयोग शायद ही कही किया हो। एक तीसरे आनन्दघन नन्दगाँवके थे, जिनका साक्षात्कार श्री चैतन्यदेवजीसे हुआ था। अतः उनका समय सोलहवी शताब्दीका उत्तरार्द्ध ठहरता है, और वे उपर्युक्त दोनोंसे पृथक् थे।[2] एक चौथे आनन्द और हुए है, जिन्होने काम-विज्ञानपर 'कोक मंजरी'का निर्माण किया था। बहुत दिनो तक इनको और घनानन्दको एक ही माना जाता रहा,[3] किन्तु अब उनका पृथक्त्व स्पष्ट हो गया है।

आनन्दघनकी रचनाएँ

इनकी दो रचनाएँ है, एक तो 'चौबीसी' और दूसरी 'आनन्दघन बहत्तरी'। 'चौबीसी' गुजरातीमे है और 'बहत्तरी' हिन्दीमे। चौबीसीमे चौबीस स्तोत्र है, जो चौबीस तीर्थकरोकी स्तुतिमे रचे गये थे। इसके रचना-कालपर विचार करते हुए पण्डित विश्वनाथप्रसाद मिश्रने 'अध्यात्मवादी आनन्दघन अने श्री यशोविजय' नामके लेखका आधार लेकर लिखा है कि "उनकी चौबीसीकी कई पंक्तियाँ सर्वश्री समयसुन्दर। सं० १६७२। जिराजसूरि। सं० १६७८। सकलचन्द्र। सं० १६४० और प्रीति विमल। सं० १६७१। के जिन स्तवनादि ग्रन्थोमे आये चरणोसे मिलती

१. 'आजकल' जून सन् १९४८ ई० में प० विश्वनाथप्रसाद मिश्रका लेख, आनन्दघन-का निधन संवत्, पृ० १२, और घनानन्द कवित्त, प्रस्तावना, पृ० १८।

२. का० ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५३, अंक १ में प० विश्वनाथप्रसाद मिश्रका लेख, नन्दगाँवके आनन्दघन, पृष्ठ ४९।

३. डॉक्टर ग्रियर्सनका दि मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑव हिन्दुस्तान, पृष्ठ ९२, संख्या ३४७।

हैं, इससे चौबीसीका समय सं० १६७८ के अनन्तर ही ठहरता है।"[1] किन्तु इससे कोई निश्चित तिथि विदित नहीं हो सकी। श्री के० एम० झावेरीने अपने 'माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर'में स्पष्ट रूपसे इसका रचना संवत् १६८७ दिया है। इसपर श्री यशोविजयजी उपाध्याय, ज्ञानविमलसूरि और ज्ञानसारने पृथक्-पृथक् 'बालावबोध टबाकी रचना'की थी। यशोविजयजीने जिस मूल प्रतिको लिया, उसमें केवल २२ स्तवन थे, किन्तु ज्ञानविमलसूरि और ज्ञानसारकी प्रतियोंमें २४ स्तवन थे, और उन्होंने उन सबपर टबाकी रचना की। यह चौबीसी पिछले टबा-सहित 'चौबीस स्तवन आनन्दघन चौबीसी' नामसे श्रावक भीमसिंह माणिकके यहाँसे प्रकाशित हो चुकी है।

आनन्दघन बहत्तरी

यह हिन्दीकी प्रसिद्ध रचना है। यद्यपि गुजराती प्रकाशनोंने उसकी भाषाको गुजरातीमें ढालनेका प्रयास किया है, किन्तु उसका मूल रूप छिप नहीं सका, और आज वह बड़े-बड़े विद्वानोंकी दृष्टिमें भी हिन्दीकी ही कृति है। इसके अनेकों प्रकाशन हो चुके हैं। संवत् १९४४ में यह बम्बईके श्रावक श्री भीमसिंह माणिकके यहाँसे प्रकाशित हुई। इसमें १०६ पद हैं, और कोई भूमिका अथवा टीका-टिप्पणी नहीं है। दूसरा प्रकाशन श्रीयुत् मोतीचन्द गिरधरलाल कापड़िया सोलीसिटरके सम्पादनमें 'आनन्दघन पद्यरत्नावली, प्रथम भाग' के नामसे, जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर' से हुआ। इसमें बहत्तरीके केवल ५० पद्योंपर विवेचन किया है। श्री बुद्धिसागरजीके बृहद् विवेचनके साथ 'आनन्दघनपद-संग्रह' अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल बम्बईसे प्रकाशित हुआ है। यह एक सुन्दर ग्रन्थ है। और आनन्द-घनजीके पदोंका भावार्थ विस्तारसे समझाया गया है। बहुत दिन पूर्व रायचन्द काव्यमालासे भी एक 'आनन्दघन बहत्तरी' छपी थी। इसमें १०७ पद्य हैं। रचनाके शीर्षकसे स्पष्ट है कि इस कृतिमें ७२ या कुछ अधिक पद होने चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे १०० से भी अधिक हो जायें। फिर तो उसका नाम शतक पड़ जायेगा। 'आनन्दघन बहत्तरी' के १०७ पदोंपर आपत्ति उठाते हुए पं० नाथूरामजी प्रेमीने लिखा है, "जान पड़ता है, इसमें बहुत-से पद औरोंके मिला दिये गये हैं। थोड़ा ही परिश्रम करनेसे हमें मालूम हुआ है कि इसका ४२ वाँ पद 'अब हम अमर भये न मरेंगे' और अन्तका पद 'तुम ज्ञान विभो फूली बसंत' ये दोनों द्यानतरायजीके हैं। इसी तरह जाँच करनेसे औरोंका

---

१. का० ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५३, अंक १ में पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्रका लेख, 'नन्दगाँवके आनन्दघन', पृ० ४८।

भी पता चल सकता है।"[1] इसकी बढ़ी हुई संख्याको आचार्य क्षितिमोहन सेनने भी सन्देहकी दृष्टिसे देखा है।[2] मेरी दृष्टिमें श्री महाराज बुद्धिसागरजीका 'आनन्दघन पद-संग्रह' उपयुक्त रचना है। इसका रचना सं० १७०५ स्वीकार किया गया है। 'मिश्रबन्धु विनोद' मे भी यह ही रचनाकाल दिया गया है।[3] यह अठारहवी शताब्दीके प्रथम पादकी कृति है।

भक्तिके विषयमे आनन्दघनजीके जमे हुए विचार थे। लौ, उसका विशिष्ट गुण माना है, मन कही भी जाये, किन्तु उसकी लौ भगवान्के चरणोमे ही लगी रहे, तभी वह भक्ति है अन्यथा नही। कविने उसीको विविध और सुन्दर दृष्टान्तोसे पुष्ट किया है,[4]

"ऐसे जिन चरण चित पद लाऊं रे मना,
ऐसे अरिहंत के गुण गाऊं रे मना।
उदर भरण के कारणे रे गउवां बन में जाय,
चारौ चरै चहुं दिसि फिरै, बाकी सुरत बछरुआ माँय॥"

अर्थात् जिस प्रकार उदर-भरणके लिए गौएँ वनमें जाती हैं, घास चरती हैं और चारों ओर फिरती है, परन्तु उनका मन अपने बछड़ोमे लगा रहता है। ठीक इसी प्रकार ससारके सब काम करते हुए भी हमारा मन भगवान्के चरणोमे लगा रहे और अरिहतके गुण गाता रहे, तभी वह भक्त है।

"सात पाँच सहेलियाँ रे हिल मिल पाणीड़े जायँ।
ताली दिये खल खल हँसै, बाकी सुरत गगरुआ मायँ॥"

सहेलियाँ हिल-मिलकर पानी भरनेके लिए तालाब या कुएँपर जाती है। रास्तेमे ताली बजाती है और हँसती-खेलती भी है, किन्तु उनका ध्यान सिरके घड़ेपर ही लगा रहता है। ठीक इसी भाँति संसारके अन्य काम करते हुए भी हमारा मन भगवान्मे लगा रहना चाहिए।

"नटवा नाचै चौक में रे, लोक करै लख शोर।
बाँस ग्रही बरते चढ़ै, बाकी चित न चलै कहुँ ठोर॥"

नट बांस लेकर रस्सीपर चढता है और उसपर अपना उत्तम नृत्य दिखाता है, जिसकी कुशलता देखकर लोग शोर-गुल मचाते है। इधर-उधर देखते हुए भी

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पादटिप्पणी, पृ० ६१।
२. आचार्य क्षितिमोहन सेनका उपर्युक्त लेख, पृ० ४।
३. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, संख्या ३४४।१, पृ० ४२८-२९।
४. आनन्दघन पद संग्रह, श्रीमद् बुद्धिसागरकृत गुजराती भावार्थसहित, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, वि० स० १९६९, पद ९५, पृ० ४१३-४१५।

उसका ध्यान रस्सीपर ही रहता है। वैसे ही संसारके बीच यश-प्रशंसा सुनते हुए भी हमारा मन सदैव प्रभुमे ही तल्लीन रहना चाहिए।

भक्ति-साहित्यमे 'लघुता-प्रदर्शन' भक्तका मुख्य गुण माना जाता है। आनन्दघनकी लघुतामे हृदय रमा है और इसी कारण उसमे दूसरोको विभोर बना देनेकी शक्ति है। भक्त एक प्रेमिकाकी भाँति अपने आराध्यके आनेकी प्रतीक्षा करता है और बेचैन होकर पुकार उठता है, "मैं रात-दिन तुम्हारी प्रतीक्षा करता हूँ, पता नही तुम घर कब आओगे। तुम्हारे लिए मेरे समान लाखों हैं, किन्तु मेरे लिए तो तुम अकेले ही हो। जोहरी लालका मोल कर सकता है, किन्तु मेरा लाल तो अमूल्य है। जिसके समान कोई नही, भला उसका क्या मूल्य हो सकता है ? इस भावके दो पद्य देखिए,

"निशदिन जोउँ तारी वाटड़ी, घरे आवो रे ढोला।
मुज सरिखा तुज लाल है, मेरे तुहीं अमोला ॥ निश० ॥१॥
जव्हरी मोल करे लाल का, मेरा लाल अमोला।
ज्या के पटन्तर को नहीं, उसका क्या मोला ॥ निश० ॥२॥"

आनन्दघनका उदार भाव था। वे एक अखण्ड सत्यके पुजारी थे। उसको कोई राम, रहीम, महादेव और पारसनाथ कुछ भी कहे, आनन्दघनको इसमे कोई आपत्ति नही थी। उनका कथन था कि जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेदसे अनेक नामो-द्वारा कही जाती है, उसी प्रकार एक अखण्ड-रूप आत्मामें विभिन्न कल्पनाओंके कारण अनेक नामोकी कल्पना कर ली जाती है। उन्होने अपने इस कथनको राम, रहीम, कृष्ण, महादेव, ब्रह्म और पार्श्वनाथके नामोकी व्युत्पत्तियोसे सार्थक बनाया है। वह पद्य इस प्रकार है,

"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री ॥
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री ॥ राम० ॥
निजपद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री ॥ राम० ॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिह्ने सो ब्रह्म री।
इहविधि साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री ॥ राम० ॥"

आत्माका अनुभव एक फूलकी तरहसे है, जिसमे-से वास तो उठती है, किन्तु उसे नाक ग्रहण नही कर पाती। नाक स्थूल है और वह सुगन्धित दिव्य तथा

अलौकिक है, अत उसे सूँघनेकी सामर्थ्य नाकमें नहीं है। और यदि कोई भुक्त-भोगी उसका वर्णन करे तो उसपर कान विश्वास नही करते।

"आतम अनुभव फूल की, कोउ नवेली रीति।
नाक न पकरै वासना, कान गहै न प्रतीति॥"

भक्त वही जो भगवान्का होकर रहे। यहाँ आनन्दघन भी अपने आराध्यदेव व्रजनाथके हाथों बिक गये है। उनको व्रजनाथके अतिरिक्त और कोई ऐसा देव दृष्टिगोचर नही हुआ, जिसकी शरणमे वे जा सकें,

"व्रजनाथ से सुनाथविण, हाथो हाथ बिकायो।
विचको कोउ जन कृपाल, सरन नजर न आयो॥ व्रज० ॥१॥"

भक्त प्रेमिका बनकर भगवान्की शरणमे आया है। उसे इस प्रकार आनेमे किसीका कोई भय नही है। वह भगवान्से प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! यह निश्चय जानो कि यद्यपि मैंने करोडो अपराध किये है, किन्तु यह जन आपका ही है, अतः उसपर कृपा करो,

"मै आयी प्रभु सरन तुम्हारी, लागत नाहिं धको।
भुजन उठाय कहुं औरन सूं, करहुंज कर ही सको॥
अपराधि चित्त ठान जगत जन, कोरिक भांति चको।
आनन्दघनप्रभु निहचै मानो, इह जन रावरौथ को॥"

५८. जगजीवन (वि० सं० १७०१)

जगजीवनके पिताका नाम सन्घवी अभयराज था। वे आगरेके प्रसिद्ध धनी व्यक्ति थे। अहकार नाम-मात्रको भी न था। दानादि होता ही रहता था। कोई भी साधु-सन्यासी, किसी भी सम्प्रदायका हो, उनके द्वारसे खाली हाथ नही लौटा। उनके पास वैभव था और उदारता भी। उनकी अनेक स्त्रियोमे 'मोहन दे संघइन' अधिक प्रसिद्ध थी, उसको जैसा रूप मिला था वैसे ही गुण भी। भगवान् जिनेन्द्रके मार्गमे उसकी श्रद्धा बहुत अधिक थी।[1] उसीके गर्भसे जगजीवन-

---

१. नगर आगरे मे अगरवाल आगरी,
गरगगोत आगरे मे नागर नवलसा।
सगही प्रसिद्ध अभैराज राजमान नीके,
पंच बाला नलिनि मे भयो है कंवल सा॥

का जन्म हुआ। वह सम्राट् जहाँगीरका शासनकाल था। चारों ओर सुख-शान्ति विराजमान थी। जगजीवनका कुल अग्रवाल और गोत्र गर्ग कहलाता है। श्रेष्ठ शिक्षा और माँके प्रभावसे जगजीवन जिन-मार्गमें सुदृढ तो हुए ही, विद्वान् भी बन गये। चारों ओर उनकी यश-सुगन्धि विकीर्णित होने लगी। उन्होंने स्वयं लिखा है, "समै जोग पाइ जगजीवन विख्यात भयौ, ज्ञानिनकी मण्डलीमें जिसकौ विकास है।" उस समय आगरेकी ज्ञानियोंको मण्डलीमें जगजीवन प्रमुख व्यक्ति थे। दूसरी ओर वे राजनीतिमें भी दक्ष थे। जाफ़रखाँ नामके किसी प्रसिद्ध उमरावने उन्हें अपना मन्त्री नियुक्त किया था।[1]

वे बनारसीदासके परमभक्त थे। उनकी बिखरी रचनाओंको बनारसी-बिलासमें संकलित करनेका महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने ही किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने बनारसीदासके 'नाटक समयसार'की टीका भी लिखी थी। इस भाँति 'बनारसी-साहित्य' को अमर और लोक-प्रिय बनानेमें जगजीवनका बहुत बड़ा हाथ रहा है। उनकी मौलिक रचनाओंमें उनके अनेकों पद लिये जा सकते हैं, जो सरस हैं तथा भाव-प्रवण भी। उन्होंने 'एकीभाव स्तोत्र' की भी रचना की थी।

पद

इनके रचे हुए पद जयपुर बधीचन्दजीके मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० २९में संकलित हैं। इस गुटकेका लेखनकाल सं० १८४१ है। इस गुटकेकी प्रतिलिपि सागानेरके सन्तोषराम अजमेराने की थी।[2]

एकीभाव स्तोत्र

इसकी एक प्रति जयपुरके ठोलियोंके दि० जैन मन्दिरके गुटका नं० १११में निबद्ध है। वादिराजके संस्कृत एकीभाव स्तोत्रको आधार मानकर इसका निर्माण हुआ है। रचनामें सरसता है।

ताके परसिद्ध लघु मोहनदे संघइनि,
जाके जिन-मार्ग विराजत धवल-सा।
ताही को सुपूत जगजीवन सुदिढ जैन,
बनारसी बैन जाके हिय में सबल सा॥
बनारसी बिलास, संग्रहकर्ता परिचय, पृ० २४१, जयपुर, १९५४ ई०।

१. ताको पूत भयो जगमानी, जगजीवन जिनमारगमानी।
जाफरखाँ के काज सँभारे, भया दिवान उजागर सारे॥५॥
पं० हीरानन्द, पचास्तिकाय टीका।

२. राजस्थानके जैन शास्त्र-भण्डारोंकी ग्रन्थ सूची, भाग ३, पृष्ठ १२०।

उनका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दीका प्रथम पाद मानना चाहिए। उन्होंने संवत् १७०१ मे 'बनारसी विलास' का संग्रह किया था। जगजीवनका व्यक्तित्व असाधारण था। उनकी प्रेरणासे ही अनेकानेक कवियोंने अनुपम साहित्य-का सृजन किया। उनकी प्रेरणामे एक जादू-सा होता था। पण्डित हीरानन्दजी केवल दो माहमे पंचास्तिकायका अनुवाद कर सके, वह केवल इन्हीकी प्रेरणाका फल था। उस समय श्री जगजीवन आगरेको साहित्यिक गतिविधियोंके केन्द्रसे हो रहे थे। वे रूपवान्, पवित्र और धन-धान्यसे युक्त थे। समय पाकर उनके हृदयमे यथार्थ धर्मका भाव उदित हुआ। फिर तो उन्हे रात और दिन ज्ञान-मण्डलीमे ही चैन मिलने लगा।[1] इस मण्डलीका प्रधान उन्हीको कहना चाहिए।

'एकीभाव स्तोत्र'मे भगवान्की भक्तिका स्वर ही प्रबल है। कविने एक पद्यमे लिखा है कि जिनेन्द्रदेव सकल लोकके भगवान् है और बिना प्रयोजनके बन्धु है। उनमे सब पदार्थ आभासित होते रहते है और विलास अबन्ध रूपसे वास करते हैं,

> "सकल लोक का तूं भगवान, बिना प्रयोजन बन्धु समान।
> सकल पदारथ भासक भास, तो मैं वसै अबन्ध विलास॥"

कविका कथन है कि जिसके हृदयमे भगवान् जिनेन्द्र देव विराजमान है, उसके लिए अब किसी उपकारकी आवश्यकता नही है। उसने आत्मारूपी निधि प्राप्त कर ली है, जिसकी तुलनामे अन्य कोई निधि आ ही नहीं सकती। वह अनुपम और अतुल है,

> "जाके हिये कमल जिनदेव, ध्यानाहूत विराजित एव।
> ताकै कौन रह्यो उपगार, निज आतम निधि पाई सार॥"

पद

जगजीवनके पद अनेक शास्त्र-भण्डारोंकी हस्तलिखित प्रतियोमे बिखरे पडे है। जयपुरके तेरहपन्थी मन्दिरमे सबसे अधिक है। मैने महावीरजी (अतिशय क्षेत्र), अजमेर और बडौतके शास्त्र-भण्डारोमे भी उनके पद देखे हैं। उनके पदोमे भक्ति और आध्यात्मिकताका समन्वय हुआ है। भक्तके नैनोमे बसे भगवान्-के रूपकी एक झलक देखिए,

---

१ सुन्दर सुभग रूप अभिराम, परम पुनीत धरम धन धाम॥
काल-लबधि कारन रस पाइ, जग्यौ जथारथ अनुभौ आइ।
ग्यान मण्डलो कहिए कौन, जामै ग्यानी जन परनौन॥
एकीभाव स्तोत्र, पद्य ८१-८२।

"मूरति श्री जिनदेव की मेरे नैनन मांझ बसी जी।
अद्भुत रूप अनोपम है छवि राग दोष न तनक सी ॥१॥
कोटि मदन वारूं या छवि पर निरखि निरखि आनन्द झर बरसी।
जगजीवन प्रभुकी सुनि वाणी सुरति मुकति मगदरसी ॥२॥"[1]

भगवान्‌की 'समतारस भीनी छवि' देखकर भक्तको परम आनन्द मिला। उसके भव-भवके पाप कट गये और ज्ञान-भानुका प्रकाश प्राप्त हो गया। वह पद इस भाँति है,

"प्रभु जो आजि मैं सुख पायो ॥
अघनाशन छवि समतारस भीनी सो लखि मैं हरषायो ॥प्रभुजी०॥१॥
भव-भवके मुझि पाप कटे है, ज्ञान भान दरसायो ॥प्रभुजी०॥२॥
जगजीवन के भाग जगे हैं, तुम पद सीस नवायो ॥प्रभुजी०॥३॥"[2]

भगवान्‌का विरद है 'दीनबन्धु' और दीनबन्धु भी बिना प्रयोजनके। भक्तका निवेदन है कि उस विरदका निर्वाह करो,

"जामण मरण मिटावो जी, महाराज म्हारो जामण मरण ॥टेक॥
भ्रमत फिर्यो चहुँगति दुख पायो सो ही चाल छुड़ावो जी॥जामण०१॥
बिनही प्रयोजन दीनबन्धु तुम सो ही विरद निवाहो जी ॥जामण०॥२॥
जगजीवन प्रभु तुम सुखदायक, मोकूं शिवसुख द्यावो जी॥जामण०॥३॥"[3]

भक्त ऐसे सतगुरुकी बलिहारी जाता है, जो ध्यानस्थ होकर अलखसे लौ लगाये रहता है।

"ऐसा सतगुरु की बलिहारी ॥टेक॥
बड़ उजाड़ में बैठक जिनकी पलक न एक बिडारी।
मोह महा अरि जीते पल मे लागी अलख सू तारी॥ऐसा०॥१॥"[4]

५९. पाण्डे हेमराज (वि० सं० १७०३-१७३०)

पाण्डे हेमराज जयपुर राज्यान्तर्गत सागानेरमे उत्पन्न हुए थे, किन्तु किसी कारणवश कामागढ़ जाकर रहने लगे थे। वहाँ कीर्तिसिंह नामका राजा राज्य

१. तेरहपन्थी मन्दिर, जयपुर, पदसंग्रह ९४६, पत्र ६१।
२. मन्दिर तेरहपन्थी, जयपुर, पदसंग्रह ९४६, पत्र ६३-६४।
३. वही, पत्र ६०।
४. वही, पत्र ६२।

करता था। उसके खड्गकी पैनी धारसे दुर्जनोके सिर कट-कटकर गिर जाते थे।[1] पाण्डे हेमराज पण्डित रूपचन्दजीके शिष्य थे, जैसा कि उनकी 'पंचास्तिकाय भाषा वचनिका'के अन्तिम अशसे स्पष्ट है।[2] उन्होने अपने गुरुके पास रहकर, जैन सिद्धान्त-शास्त्रोंका सूक्ष्म अध्ययन किया और थोडे ही समयमे अगाध विद्वत्ता प्राप्त कर ली।

संस्कृत और प्राकृतके विद्वान् होते हुए भी, उन्होने जो कुछ लिखा हिन्दीमे ही लिखा। हिन्दी गद्य-लेखक और कवि दोनो ही रूपोमे उनकी प्रतिष्ठा थी। उन्होने 'प्रवचनसार'की भाषा टीका वि० सं० १७०९ मे, 'परमात्म प्रकाश'की वि० सं० १७१६ मे, 'गोम्मटसार कर्मकाण्ड'की वि० सं० १७१७ मे, 'पंचास्तिकाय'की १७२१ मे और 'नयचक्र'की भाषा टीका वि० सं० १७२६ मे लिखी। इन सभीमे हेमराजके स्वस्थ गद्यके दर्शन होते है।

पाण्डे हेमराज कवि भी उत्तम कोटिके थे। उन्होंने 'प्रवचनसार'का पद्यानुवाद भी किया है।[3] इसके अतिरिक्त उन्होने 'सितपट चौरासी बोल' की रचना कुँअरपालजीकी प्रेरणासे की थी। इसीके उत्तरमे यशोविजयजीने 'दिक्पट चौरासी बोल' लिखा था।[4] मानतुंगके 'भक्तामर स्तोत्र'का सुन्दर पद्यानुवाद इन्हीका किया हुआ है। अनुवाद होते हुए भी उसमे 'मौलिक काव्य' की सरसता है। 'हितोपदेश बावनी', 'उपदेश दोहा शतक' और 'गुरु-पूजा' भी उन्हीकी कृतियाँ हैं। इससे प्रमाणित है कि वे अपने समयमें विद्वान् और कवि दोनो ही रूपोमे प्रसिद्ध थे। उनकी कविताओपर स्पष्ट रूपसे 'वाणारसिया सम्प्रदाय' का प्रभाव था।

---

१. उपजौ मागानेरि कौ, अब कामागढ वास।
   वहाँ हेम दोहा रचे, स्व-पर बुद्धि परकास॥
   कामागढ सूबस जहाँ, कीरतिसिंह नरेस।
   अपने खड्ग बल बसि किये, दुर्जन जितके देस॥
   उपदेश दोहा शतक, दोहा ९८-९९, दीवान बधीचन्दजीका मन्दिर, गुटका नं० १७, वेष्टन न० ६३६।

२. "यह श्री रूपचन्द्र गुरुके प्रसाद श्री पाण्डे श्री हेमराजने अपनी बुद्धि माफिक लिखत कीना।"
   पंचास्तिकाय भाषा टीका, अन्तिम प्रशस्ति।

३. इसमें पद्य संख्या ४३८ है। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिर-में, वेष्टन न० ७१८ में निबद्ध है।

४. हेमराज पाण्डे किये, बोल चुरासी फेर।
   या बिध हम भाषा वचन, ताको मत किय जेर॥
   यशोविजयजी, दिक्पट चौरासी बोल, १५९वाँ पद्य।

कवि बुलाकीदासके 'पाण्डव पुराण' वि० स० १७५४ से स्पष्ट है कि बुलाकीदासकी माता 'जैनुलदे' अथवा 'जैनी', पाण्डे हेमराजकी पुत्री थी। उन्होंके अनुसार पाण्डे हेमराजका गोत्र गर्ग और जाति अग्रवाल थी।[1]

सितपट चौरासी बोल

यह अभीतक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुरके पं० लूंणकरजीके मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० १५१मे निबद्ध है। इस गुटकेका लेखनकाल वि० स० १७८४ है। इसकी एक अन्य प्रति इसी मन्दिरके वेष्टन नं० ४४१ मे पृथक्से बँधी रखी है। इस प्रतिका लेखन काल पौष सुदी ५ वि० सं० १७२३ दिया है।

'सितपट चौरासी बोल' से विदित है कि उसकी कविता उत्कृष्ट कोटिकी थी। एक पद्य देखिए,

> "सुनयपोष हतदोष, मोषमुख सिवपददायक,
> गुनमनिकोष सुघोष, रोषहर तोषविधायक।
> एक अनन्त सरूप सन्तवन्दित अभिनन्दित,
> निज सुभाव पर भाव भावि भासेइ अमंदित
> अविदितचरित्र विकमित अमित, सर्व मिलित अविलिप्त तन,
> अविचलित कलित निजरस ललित, जय जिन दलित सु कलिल घन॥"

उपदेश दोहा शतक

'उपदेश दोहा शतक'की रचना वि० स०१७२५ मे कार्तिक सुदी पचमीको हुई थी। इस काव्यकी हस्तलिखित प्रति दीवान बधीचन्दजीके मन्दिर जयपुरके गुटका न० १७ और वेष्टन नं० ६३६में निबद्ध है। इसकी भावधारा सन्तकवियोसे मिलती-जुलती है।

बाह्य संसारमे ईश्वरको ढूँढनेवाले जीवको फटकारते हुए कविने एक स्थानपर लिखा है कि अरे ओ जीव! तू अन्धेकी भाँति उसको स्थान-स्थानपर क्यों खोजता-फिरता है। वह निरंजन देव तो तेरे घटमे ही बसा है, वहाँ क्यो नही खोजता,

१. हेमराज पण्डित बसे, तिसी आगरे ठाँइ।
गरग गोत गुन आगरौ, सब पूजें जिम पाँइ॥
बुलाकीदास, पाण्डवपुराण भाषा, अन्तिम प्रशस्ति।

२. अर्धकथानक, पृ० १०७।

"ठौर ठौर सोधत फिरत, काहे अंध अवेव ।
तेरे ही घट में बसो, सदा निरंजन देव ॥"[1]

कविने सन्त कवियोंकी भाँति ही कहा कि – शुद्धातमके अनुभवके बिना तीर्थ क्षेत्रोंमें स्नान करना, मूँड मुँडाना और तप तपना सभी कुछ व्यर्थ है ।

"सिव साधन कौं जानियै अनुभौ बड़ो इलाज ।
मूढ सलिल मंजन करत सरत न एको काम ॥ ५ ॥
कोटि बरस लौं धोइये अठसठ तीरथ नीर ।
सदा अपावन ही रहै मदिरा कुम्भ सरीर ॥ १० ॥
तज्यौ न परिगह सौं ममत मिट्यौ न विषै विलास ।
अरे मूंढ सिर मूंडि कैं क्यों न छाड्यो घरवास ॥ ९ ॥
कोटि जनम लौं तप तपै मन वच काय समेत ।
सुद्धातम अनुभौ बिना क्यों पावै सिवखेत ॥ १८ ॥"

हितोपदेश बावनी

इसे 'अक्षर बावनी' भी कहते हैं । इसमें हिन्दी वर्णमालाके ५२ अक्षरोंमें-से प्रत्येकपर एक-एक पद्यकी रचना की गयी है । इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुरके बड़े मन्दिरके वेष्टन नं० २२२२ मे निबद्ध है । उसपर लेखनकाल सं० १७५७ पडा है । यह प्रति विनयसागर गणिके शिष्य पं० विनोदसागरने यशरूप देवीके पढ़नेके लिए रूपनगरमें लिखी थी ।[2] बावनीका भक्ति-भावसे भरा एक सवैया देखिए,

"मन मेरो उमग्यौ जिन गुण गायबो, टालत है गर्भवास सिवपुर दीयै
वास छाँडिकै जिणंददेव और कहा ध्यायबो। तन मन लागो तोय कछु न सुहावै
मोय सब दुंद दूरि करि तोसुं चित लायबो । सकल साहिब मेरो
प्रगट प्रताप तेरो दीन को दयाल पायो सब सुख पायबो । हेमराज भणई
मुनि सुरागें सजन जन मन मेरो उमग्यौ है जिण गुण गायबो ॥ ३ ॥"

हिन्दी-भक्तामर

आजसे २५ वर्ष पूर्व यह स्तोत्र, पं० पन्नालालजी बाकलीवाल-द्वारा सम्पादित 'बृहज्जिनवाणी संग्रह' में छपा था । अभी 'ज्ञानपीठपूजांजलि' मे भी प्रकाशित हुआ

१. वही, २५वाँ दोहा ।

२. सवत् १७५७ मिती वैशाख सुदी ११ दिने गुरुवासरे लेखयोस्तु: ॥ श्री विनयसागर गणि शिष्य पं० विनोदसागरेण लेखयोस्तु:, रूपनगरमध्ये, बहूजी यशरूपदेवी वाचनार्थं – लेखयामि ॥ प्रशस्ति, पृ० १२ ।

है। इस भक्तामरकी प्रशंसा करते हुए पं० नाथूरामजी प्रेमीने लिखा है, अनुवाद सुन्दर है और इसका खूब ही प्रचार है। इससे मालूम होता है कि हेमराजजी कवि भी अच्छे थे[१]।"

मूल संस्कृतका भक्तामर शार्दूलविक्रीडित छन्दोंमें लिखा गया है, किन्तु पाण्डे हेमराजने चौपाई, छप्पय, नाराच और दोहोंका प्रयोग किया है। चौपाईमें कुछ क्लिष्टता तो है, किन्तु उससे सुन्दरतामें कोई विघात नहीं आ पाया है।

एक स्थानपर कविने लिखा है कि भगवान्‌के नाममें असीम बल है। जिन शत्रुओंके प्रचण्ड बलको देखकर धैर्य विलुप्त हो जाता है, वे भगवान्‌का नाम लेने मात्रसे ही ऐसे भाग जाते हैं, जैसे दिनकरके उदयसे अन्धकार विलुप्त हो जाता है,

"राजन को परचंड देख बल धीरज छीजै ॥
नाथ तिहारे नाम तें सो छिनमाहिं पलाय।
ज्यों दिनकर परकाश तें अंधकार विनशाय ॥"[२]

आराध्यके सम्मुख अपनी लघुताका प्रदर्शन भक्तिका मुख्य अंग है। एक स्थानपर भक्त हाथ जोड़कर कहता है कि हे भगवन्! शक्ति-हीन होते हुए भी, भक्ति-भावके कारण आपकी स्तुति कर रहा हूँ, ठीक वैसे ही जैसे कोई मृगी बल-हीन होते हुए भी, अपने पुत्रकी रक्षाके लिए मृगपतिके सम्मुख चली जाती है,

"सो मैं शक्ति हीन थुति करूँ, भक्ति भाव वश कछु नहिं डरूँ।
ज्यो मृगि निज-सुत पालन हेत, मृगपति सन्मुख जाय अचेत ॥"

भक्तको यह पूरा विश्वास है कि भगवान्‌की शरणमें जानेसे जन्म-जन्मके पाप क्षण-मात्रमें नष्ट हो जाते हैं,

"तुम जस जपत जन छिनमांहिं, जनम-जनम के पाप नशांहिं।
ज्यौं रवि उगै फटै ततकाल, अलि वत नील निशा-तम-जाल ॥"

गुरु-पूजा

पाण्डे हेमराजकी लिखी हुई 'गुरु-पूजा' जैन-परम्पराके अनुसार ही रची गयी है। अर्थात् पहले अष्ट द्रव्यपूजा है और फिर जयमाला। यह पं० पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा सम्पादित 'बृहज्जिनवाणी संग्रह'में संकलित है।

दीपकसे पूजा करते हुए पूजक कहता है कि मैं जगमगाते दीपकसे सुगुरुके चरणोंकी सदैव पूजा करता हूँ। इससे अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जायेगा, और

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ५२।

२. पाण्डे हेमराज, भक्तामर भाषा, ४२वाँ षट्पद, बृहज्जिनवाणी संग्रह, मदनगंज, किशनगढ़, सितम्बर १९५६, पृ० २०१।

ज्ञानरूपी उजाला फैल जायेगा। इस भाँति मुझे कभी भी मोह मोहित न कर सकेगा। हमारे गुरु संसारके भोगोंसे विरक्त होकर मोक्षके लिए तपस्या कर रहे हैं। वे भी भगवान् जिनेन्द्रके गुणोंका नित्य प्रति जाप करते है,

"दीपक उदोत सजोत जगमग सुगुरुपद पूजों सदा।
तमनाश ज्ञान उजास स्वामी, मोहि मोह न हो कदा॥
भव भोग तन बैराग्यधार, निहार शिव पद तपत हैं।
तिहुँ जगतनाथ अधार साधु सु, पूज नित गुन जपत हैं॥"[1]

'पंचपरमेष्ठी' का साधु ही गुरु है। मुनि भी उसीका नाम है। वे राग-द्वेषको दूर कर दयाका पालन करते है। तीनो लोक उनके सामने प्रकट रहते है। वे चारो आराधनाओंके समूह है। वे दुर्द्धर्ष पच महाव्रतोंको धारण करते है और छहो द्रव्योंको जानते हैं। उनका मन सात भगोंके पालनमे लगा रहता है और उन्हें आठो कृतियाँ प्राप्त हो जाती है,

"एक दया पालें मुनिराजा, राग द्वेष द्वै हरनपरं।
तीनों लोक प्रगट सब देखें, चारों आराधन निकरं॥
पंच महाव्रत दुद्धर धारैं, छहों दरब जानें सुहितं।
सात भंगवानी मन लावैं, पावैं आठ ऋद्धि उचितं॥"[2]

नेमि राजमति जखड़ी

इसकी एक हस्तलिखित प्रति, जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमे, गुटका न० १२४ मे अकित है। इसका अन्तिम भाग इस प्रकार है,

"तीस दिन अरु, निराधार जी।
हेम भणे जीन जानिये। ते पावै भव पार जी॥"

रोहिणी व्रत कथा

इसकी हस्तलिखित प्रति, मसजिद खजूर देहलीके जैन मन्दिरमें मौजूद है।

६० पं० मनोहरदास (वि० सं० १७०५-१७२८)

इनका दूसरा नाम मनोहरलाल भी है। इन्होने कवितामे प्रायः 'मनोहर' का प्रयोग किया है। ये खण्डेलवाल जातिके सोनी गोत्रमे उत्पन्न हुए थे। कभी इनके पूर्वजोने जैन-संघ निकाला होगा, इस कारण उनको मूल-संघी भी कहा जाता है।

---

१. गुरु-पूजा, पद्य ६।
२. गुरु-पूजाकी जयमाला, पद्य ३।

ये सागानेरके रहनेवाले थे किन्तु 'कर्मके उदय तैं' धामपुरमे आकर रहने लगे थे।[1] धामपुर एक रमणीक स्थान था, जिसके चारो ओर बाग़-बगीचोंकी प्राकृतिक छटा बिखरी हुई थी। उनमें कोयल पचमरागसे कूकती ही रहती थी। कूप, बावली और पोखरी निर्मल जलसे भरी हुई थी। कमलिनी विकसित थी, जिनपर भ्रमर गुंजार करते थे।[2] वहाँ मनोहरदास सेठ, 'आसू' के आश्रयमे रहते थे। वह नगर-सेठ कहलाता था। लक्ष्मीकी उसपर अपार कृपा थी, वैसा ही उसे दान देनेका उदार हृदय भी मिला था।[3] एक बार बनारसका प्रसिद्ध सेठ प्रतिसागर पापके उदयसे दरिद्र हो गया। वह अयोध्या आया किन्तु अयोध्याके सेठने उसे 'आसू' के पास भेज दिया। उसने विपुल दान देकर प्रतिसागरको अपनी बराबरी-का करके पुन बनारस वापस भेज दिया।[4] ऐसे दानी और उदार सेठको पाकर मनोहरदास भी कृतकृत्य थे। किन्तु उनकी रचनाओपर सेठजीकी इच्छाकी कोई छाप नही है, वे सब स्वान्तःसुखाय ही लिखी गयी है। मनोहरदासमे विन-म्रताका भाव मुख्य था, उन्होने अपनी विद्या, बुद्धि और कवि-प्रतिभाका कभी अहंकार नही किया। उनकी कृतियोंसे प्रकट है कि वे उच्च कोटिके विद्वान् और अच्छे कवि थे। किन्तु उन्होने सदैव यह ही कहा, 'मैं व्याकरण, छन्द और अलंकार आदि कुछ भी नही जानता। मेरी बुद्धि तुच्छ है, और मुझे भले-बुरेका भी ज्ञान नही है। जिनेन्द्रकी दुहाई देकर कहता हूँ कि मुझे तो केवल भगवान्

---

१. कविता मनोहर खण्डेलवाल सोनी जाति,
मूल संघी मूल जाको सागानेर वास है।
कर्म के उदय तै धामपुर मे वसत भयौ,
सबसों मिलाप पुनि सज्जन को दास है॥
हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ६७।

२. धर्मपरीक्षा, प्रशस्ति, प्रशस्ति सग्रह, जयपुर, पृष्ठ २२५।

३. वही, पृ० २२५।

४ वाराणसी सेठ प्रतिसागर पृथ्वी प्रसिद्ध
कोटिक को धनी ताकै पाप उदै आयो थो।
सदन सौ निसि अजोध्या कौ गमन कीनी
अजोध्या के सेठ उह उद्धिम करावें थो॥
आनी बराबरि को करि नाना भांति सेती
देकर बडाई निज थांन कौ पठायौ थो।
जैसे हम आसू साह राखै निज बाह देक
कहै 'मनोहर' हम पुनि जोग्य पायौ थो॥
वही, पृष्ठ २२५-२६।

जिनकी ही आस है।[1] 'जिनकी दुहाई जाकै जिन ही की आस है' में कवित्व है, और भक्ति भी।

धर्म-परीक्षा

इसकी रचना सं० १७०५मे धामपुरमे हुई थी।[2] कविने आगरेके रावत सालिवाहण, हिसारके जगदत्त मिश्र और धामपुरके ही पण्डित गेगुराजसे प्रेरणा पाकर इसकी रचना की।[3] यह आचार्य अमितगतिकी 'धर्मपरीक्षा'का भाषानुवाद है।[4] इस ग्रन्थमे ३००० पद्य है। उनमे भक्तिका भाव ही मुख्य है। आचार्य अमितगतिके मूल ग्रन्थमे भी भक्ति ही प्रधान है। इसकी अनेक प्रतियाँ विविध भण्डारोमे सुरक्षित है।

उन्होने 'धर्म-परीक्षा'मे दोहा, सोरठा, सवैया और छप्पयका विशेष रूपसे प्रयोग किया है। आरम्भिक मगलाचरण देखिए,

"प्रमणु अरिहंतदेव गुरु निरग्रंथ दया धरम।
भवदधि तारन एव अवर सकल मिथ्यात मणि॥"

'धर्म-परीक्षा'की एक हस्तलिखित प्रति दि० जैन मन्दिर बडौतके वेष्टन नं० २७२ गुटका नं० ५७ मे सकलित है। यह प्रतिलिपि प्रेमचन्दने वि० सं० १८३२ मे की थी। कविने एक पद्यमे लिखा है कि परम ब्रह्मको छोड़कर अन्य मार्ग अपनाना व्यर्थ है। वह पद्य इस प्रकार है।

"सर्व देव नित नव, सर्व भिक्षक गुरु मानैं।
सर्व सासतरि पढ़ैं, धर्म ते धर्म न जानैं।
सर्व तीरथ फिर आवैं, परम ब्रह्म कौ छोड़ि आंन मारग कौं ध्यावैं।
इह प्रकार जो नर रहैं, इसी भाँति सोभा लहैं।
अचरिज पुत्र वेश्या तणौ, कहौ बाप कासौं कहैं॥१॥"

---

१. व्याकरण छंद अलंकार कछु पढ्यौ नाहि,
भाषा मै निपुन तुच्छ बुद्धि को प्रकास है।
बाईं दाहिनो कछू समझै सतोष लीयै
जिनकी दुहाई जाकै जिन ही की आस है॥
हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ६७।

२. वही, पृष्ठ ६७।

३. प्रशस्तिसग्रह, जयपुर, पृ० २२६।

४. सुमुनि अमितगति जान सहसकीत्ति पूर्व कही।
या मैं बुधि प्रमान भाषा कोनी जोरि कै॥
वही पृष्ठ २२५।

इसी भाँति कविने एक दूसरे पद्यमें लिखा है कि–यदि कोई दुर्जन इस भव-समुद्रसे पार उतरना चाहता है, तो उसके लिए सिवा जिनेन्द्रकी दुहाईके अन्य कोई आलम्बन नहीं है।

"बारिधि के तरिबे को बोहित विधान कियो,
सरता उतरने कौं नौका बनाई है।
तम के नसाबे कौं दीपकस्य भार धरौं,
रोग के नसावे कौं ऊषद बनाई है॥
धाराधर घूसबे कौ मंदर अटारी गोम,
असुम सो राषवे को किनि सुम षाई है।
ऐसि बिधि दुरजनकं उत बिहरबे कौं,
उदतगत भयौ जिनकी दुहाई है॥३॥"

ज्ञान चिन्तामणि

इस काव्यकी रचना सवत् १७२८ माह सुदी ७ भृगुवारको बुरहानपुरमे हुई थी। इसकी एक प्रति सं० १८२४, आषाढ़ बदी १० की लिखी हुई अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेरमे मौजूद है। इसकी प्रति गुटकाकार है और इसमें कुल बीस पन्ने हैं। उनपर १२९ पद्य अंकित है।[1] दूसरी प्रति पचायती मन्दिर देहलीके शास्त्रभण्डारमे रखी हुई है। इसमे कुल ८ पन्ने है। उसपर रचना सवत् १७२८ पड़ा हुआ है।[2] इसकी एक हस्तलिखित प्रति दीवान बधीचन्दके मन्दिर, जयपुरके वेष्टन नं० १०१७, गुटका न० ५१ मे निबद्ध है। उसमे १८ दोहरा, ५२ गाथाएँ और ५८ चौपाई है।

इसका विषय 'अध्यात्म'से सम्बन्धित है, किन्तु मानवको मूलवृत्तियोंके साहचर्यसे उसकी शुष्कताका परिहार हुआ है। ज्ञानकी प्रधानता होते हुए भी यह स्पष्ट कहा गया है कि ज्ञान भक्तिसे ही उपलब्ध हो सकता है। वह दोहा इस प्रकार है,

---

१ ऐसी जान ज्ञान मन धरो, निरमल मन परमारथ करो।
संवत् १७२८ माही सुदी सप्तमी भृगुवार कहाई ॥१२३॥
नगर बुरहानपुर थान देश माही, मुमारख पुरा बसे गुणग्राह।
घने श्रावक बसें विख्यात, सदा धरम करे दिन रात ॥१२४॥
बीकानेरवाली प्रतिका अन्त, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, चतुर्थ भाग, पृष्ठ १३१।

२. अनेकान्त वर्ष ४, किरण १०, पृष्ठ ५६२।

"श्री आदि जिन समरतां, हिरदै आयो ज्ञान।
ब्रह्म सुथानिक में कह्यौ, लिख्यौ धरम धरु ध्यान ॥१२६॥

जीवकी मूर्खताका वर्णन करते हुए कविने लिखा है कि यह जीव गुरुके वचनोंको तो सुनता नहीं, दिन और रात पाप करता है, विषय-विषमें संलग्न है। धर्मका मर्म भी नहीं जानता।

"गुरु का वचन सुणै नहिं कान, निसि दिन पाप करै अज्ञान।
विषया विष मूं रचि पचि रह्यौ, ध्यान धर्म को मरम न लह्यौ ॥३५॥"

यौवनके आनेपर यह जीव मदमत्त हाथीकी भाँति झूम उठता है, भगवान्का भजन नहीं करता। मस्तीमें ही उसका जीवन बीतता रहता है,

"भरि जोवन हूवो मैमंत, भजो नहीं केवल भगवंत।
केतायक दिन इ विधि गया, तीस बरस का जिव नर भया ॥३६॥"

चिन्तामणिमान बावनी

इसकी एक हस्तलिखित प्रति दीवान बधीचन्दजीका मन्दिर जयपुरके गुटका नं० ८मे निबद्ध है। यह गुटका वि० सं० १७२७, आसौज सुदी १४ का लिखा हुआ है। इस प्रतिमें कुल २० पद्य है। इसकी एक दूसरी प्रति इसी मन्दिरके गुटका नं० २७ मे संकलित है। इसमे ५३ पद्य है और वह एक पूर्ण प्रति है।

'चिन्तामणिमान बावनी' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके कतिपय पद्योंमें रहस्यवादी रूपकोंका निर्माण किया गया है। भक्तिका स्वर निर्गुणवादी सन्तोंसे मिलता-जुलता है। तनके मध्यमे रहनेवाले अलख निरंजनके ध्यानकी बात उन्होंने भी कही है,

"धर्म्मु धर्म्मु सब जुग कहै मर्म्म ण कोइ लहंत,
अलखु निरंजनु ज्ञानमय इहि तनु मध्य रहंत।
धर्म्मु धर्म्मु जग कहै मर्म्म नर थोड़ा बुझइ,
ब्रह्म बसै तनु मध्य मोहपटल हणवि सुष भय।
मकु गुरु केरा वचन एहु कज्जल करि मंजन,
हिदय कमल जे नय सुमति अंगुलि किण अंजन।
जिम मोह पटल फट्टइ सयल द्रिष्टि प्रकास फुरंत अति,
श्रीमानु कहै मति आगलौं हो धर्म्म पिछाण ण एहु गति ॥३५॥"

सुगुरुसीष

इसकी एक प्रति उसी मन्दिरके गुटका नं० १६१मे निबद्ध है। इस प्रतिलिपिको साह हरीदासने लिखा था। इसकी एक दूसरी प्रति वि० सं० १८३२

की लिखी हुई दि० जैन मन्दिर बडौतके गुटका नं० ५४, वेष्टन नं० २७२ में संकलित है। इसमे केवल ११ पद्य है। इसमे जीवको संसारसे विरक्त करनेकी प्रेरणा दी गयी है। कतिपय पद्य देखिए,

"दिन दिन आव घटै है रे लाल,
ज्यौं अंजली कौ नीर मन माहिं ला रे।
कीयो जाय ठोकर लै रे लाल,
थिरता नहीं संसार मन माहिं का रे॥
सीष सुगुरु की मानि लै रे लाल ॥६॥
बाल पणौं षोयो ष्याल मै रे लाल,
ज्वांण पणौं उनमांन मन माहिं ला रे।
बृध पणौं सकति घटी रे लाल,
करि करि नाना रंगि मन माहिं ला रे ॥सीष०॥६॥
समकित स्यौं परच्यौ करो रे लाल,
मिथ्या संगि निवारि मन माहिं ला रे।
ज्यौं सुष पावै अति घणां रे लाल,
मनोहर कहैय बिचारि मन माहिं ला रे ॥सीष०॥११॥"

गुण ठाणा गीत

यह गीत दीवान बधीचन्दजीके मन्दिर, जयपुरके गुटका न० २७ मे पृ० ३१४ पर निबद्ध है। इसमे १७ पद्य है, जो परम चिदानन्दकी भक्तिमे लिखे गये है। उनमे-से एक इस प्रकार है,

"परम चिदानन्द सम्पद पद धरा,
अनन्त गुणाकर शंकर शिवकरा।
शिवकराए श्री सिद्ध सुन्दर गाउं गुण गण ठाणए,
जिम मोक्ष सौख्ये सुखि साधु केवल णाण प्रमाण ए।
शुभचन्द्र सूरि पद कमल युगलई, मधुपव्रत मनोहर धरए,
भणइत श्री वर्धमान ब्रह्म एह बाणि भवीयण सुखकर ए॥"

लालचन्द लब्धोदय (वि० सं० १७०७)

इन्होंने अपनी रचनाओंमे प्राय· 'लब्धोदय'का प्रयोग किया है। यह इनका उपनाम प्रतीत होता है। वैसे लालचन्द नामके कई जैन कवि हो गये है, जिनमें-से

लालचन्द विनोदी और लालचन्द लाभवर्द्धन तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। इनमें-से प्रथमका उल्लेख हो चुका है, दूसरे खरतरगच्छीय जैन यति थे, जिनकी गणना लब्धप्रतिष्ठ विद्वानोंमे की जाती है। उनकी आठ प्रसिद्ध रचनाओंका विवेचन श्री अगरचन्दजी नाहटाने किया है।[1] इनका रचनाकाल सं० १७२३ से १७७० तक माना जाता है। लालचन्द लब्धोदय मेवाडके राजा जगतसिंहके आश्रयमे रहते थे। जगतसिंहका राज्यकाल सं० १६८५ से सं० १७०९ तक स्वीकार किया गया है।[2] लालचन्दकी प्रसिद्ध रचना 'पद्मिनी चरित' का निर्माण सं० १७०७ मे हुआ था। यह भी खरतरगच्छीय थे। इनकी गुरु-परम्परा जिनमाणिक्यसूरि, विनयसमुद्र, हर्षविलास, ज्ञानसमुद्र और ज्ञानराजमणिके रूपमें स्वीकार की गयी है।[3] इन्होंने अपने गुरु ज्ञानराजमणिका अत्यधिक श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। उनको 'साधुशिरोमणि' और 'सकल विद्या भूषित' कहा है।[4] लब्धोदयकी विद्वत्ताके विषयमें तो कुछ नही कहा जा सकता, किन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रबन्धकाव्योंकी रचनामें वे निपुण थे। यद्यपि 'मलयसुन्दरी चौपई' के अन्तमे इनको 'व्याकरण-तर्क साहित्य, छन्दकोविद, अलंकार रस जाण जो' कहा गया है, किन्तु एतत् सम्बन्धी उनकी कोई रचना उपलब्ध नहीं होती।

'पद्मिनी चरित्र', 'मलयसुन्दरी चौपई' और 'गुणावली चौपई' नामसे इनकी तीन रचनाएँ उपलब्ध हुई है। इनमे-से 'पद्मिनी चरित्र' प्रबन्ध-काव्य, 'मलयसुन्दरी चौपई' खण्ड-काव्य और 'गुणावली चौपई' एक छोटा-सा कथा-काव्य कहा जा सकता है। तीनोंमे सरसता है। अलंकार और छन्दोका भी समुचित प्रयोग हुआ है।

पद्मिनी चरित्र

खरतरगच्छके सूरीश्वर जिनरंगके प्रसिद्ध श्रावक हंसराजकी प्रेरणासे इस रचनाका निर्माण वि० सं० १७०७ चैत्र शुक्ला १५ शनिवारके दिन हुआ था।[5] इसकी चार प्रतियोका उल्लेख 'जैन गुर्जर कविओ'में हुआ है।[6] वे क्रमश. सं०

---

१. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, द्वितीय भाग, पृ० १५८।

२. का० ना० प्र० पत्रिकाका पन्द्रहवाँ त्रवार्षिक विवरण, संख्या १३१।

३. जैन गुर्जर कविओ भाग २, पृष्ठ १३४।

४. साधु सीरोमणी सकल विद्यागुण सोभतारे, वाचक श्रीज्ञानराज,
तास प्रसादई सीलतणा गुण मंथुण्यारे श्री लब्धोदय हितकाज।
वही, पृष्ठ १३७, १५वाँ पद्य।

५. वही, पृ० १३४।

६. वही, पृ० १३८।

१७६१, १७७१, १७७३ और १८३७ की लिखी हुई हैं। एक वह प्रति है जिसका संक्षिप्त परिचय काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरणमें संख्या १३१ पर अंकित है। यह प्रति गोकुल, ज़िला मथुराके पण्डित मयाशंकर अधिकारीके पास है। इसका लिपिकाल सं० १७५७ दिया हुआ है। इसमें राजा रतनसेन और पद्मावतीकी कथा है। कुछ घटनाक्रमके अतिरिक्त यह समूची कथा जायसीके पद्मावतसे मिलती-जुलती है। इसको भी काल्पनिक' और 'ऐतिहासिक' ऐसे दो भागोंमे बाँटा जा सकता है। 'काल्पनिक' कथानकमें हीरामन तोतेका प्रयोग नहीं हुआ है। रतनसेनने अन्य उपायोंसे पद्मिनीके सौन्दर्यको सुना है। रतनसेनकी रानीका नाम भी नागमती न होकर प्रभावती है। उसे रूपमें रम्भाके समान कहा गया है।[1] एक बार राजाने अच्छा भोजन न बननेकी शिकायत की, जिसपर प्रभावतीने क्रोधित होकर पद्मिनी नारीके साथ विवाह करनेकी बात कही, जो स्वादिष्ट भोजन बनानेमे निपुण हुआ करती है।[2] राजाने भी ऐसी नारीको प्राप्त कर प्रभावतीके गुमानको नष्ट करनेकी प्रतिज्ञा की।[3] वह औघडनाथ सिद्धकी कृपासे भयानक समुद्रोंको पार करता हुआ सिंहलमें पहुँचा, और वहाँके राजाको अपनी वीरतासे प्रसन्न कर उसकी पुत्री पद्मावतीके साथ विवाह कर, छह माह बाद चित्तौड़गढ़मे वापस आ गया। इस कथानकमें कल्पनाएँ तो है, किन्तु उनमे वैसी असम्भवनीयता नही आ पायी है जैसी कि 'पद्मावत' मे पायी जाती है। यह कथानक मानव जीवनके अधिक निकट है।

ऐतिहासिक भाग वैसा ही है, किन्तु यहाँ राघव और चेतन नामके दो पण्डित है, जो रतनसेनसे अप्रसन्न होकर अलाउद्दीनके दरबारमे रहने लगे। उन्होने स्वयं पद्मावतीके रूपका वर्णन बादशाहसे नही किया, अपितु एक तोतेके मुँहसे करवाया

---

१. पटराणी पद्मावती रूपै रम्भ समान।
   देखत सुरी न किन्नरी असी नारि न आन॥
   का० ना० प्र० प०, पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, संख्या १३१।

२ तब लडकी बोली तिसे जी, राणी मनकरि रास।
   नारी आणौ कान भोजी, दयौ मत झूठो दोस॥
   हने केलवी जाणा नही जी, किसु करीजै बाद।
   पद्माकी का परणरे नवीजी, जिम भोजन है स्वाद॥

३. राणे तो हूँ रतनमी परणु पदमनि नारि
   भो सातो बोले मुन्हें जे मै राषो भाज
   परणुं तुरणी पदमिनो गालुं तुझ गुमान।

है। कंकण दिखाकर कंकणवालीको अगाध रूप-राशिका अनुमान करवानेमे अधिक स्वाभाविकता नहीं है। अन्तमे अलाउद्दीनका आक्रमण, युद्ध और रतनसेनका बन्दी होना आदि सब कुछ वैसा ही वर्णन है।

इस कथाके प्रारम्भमे ही दिया हुआ मंगलाचरण है जिसमे भगवान् जिनेन्द्रकी भक्ति प्रबल है।

"श्री आदीसर प्रथम जिन, जगपति ज्योति सरूप।
निरमय पदवासी नमूं, अकल अनन्त अनूप॥
चरण कमल चितसुं नमूं, चौबीस मो जिण चन्द।
सुषदाइक सेवक भणी, सांचो सुरतरु कन्द॥
सुप्रसन्न सारद सामिणी, होज्यो मात हजूरि।
बुधि दीजो मु जन बहोत, प्रगट वचन पंडूर॥

कविने इस कथाको नौ रसोमे लिखा है, किन्तु उसमे वीर और शृंगार ही प्रधान है। इसीकी घोषणा करते हुए कविने कहा,

"सरस कथा नवरस सहित, वीर शृंगार विशेष।
कहिस्युं कवित कल्लोलसु, पूरब कथा संखेप॥"

उन रसोमे-से वीर-रसका एक दृष्टान्त देखिए,

"सूर कहावैं सुभट सहू अपणै अपणै मन्न,
दाउं पड़ै दुष उद्धरे तेह कहिई धन्न धन्न।
सामिधरम बादल समौ, हूओ न कोई होइ,
जुधि जीतो दिल्ली घणी, कुळ उजियाल्या दोय।
राणोजी छोडाविया, राणी पदमिणि राषी,
बीरुद बड़ो षाट्यो वसु, सुभटां राषि साषि।
चहूंन राज चित्रोड़को, कीधो बादल वीर,
नवखंडे यस विस्तर्यो, स्वामी धरमी रणधीर॥

गुरु-भक्तिका एक दोहा निम्न प्रकारसे है,

"ज्ञाता दाता ज्ञानघन, ज्ञानराज गुरु राज,
तास प्रसाद थकी कहु, सती चरित सिरताज।"

मलयसुन्दरी चौपई[1]

इसका उल्लेख श्री देसाईजीने 'जैन गुर्जरकविओ'मे किया है। इसका निर्माण स० १७४३ धनतेरसके दिन हुआ था।

१. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृष्ठ ११८५-८६।

गुणावली चौपई

इसमें ज्ञानपंचमीकी कथा है। इसका निर्माण सं० १७४५ कार्तिक शुक्ला १० को उदयपुरमें हुआ था। इनका उल्लेख नाहटाजीकृत 'जिनचन्द्र सूरि' के पृ० १६४ पर हुआ है।

सीमन्धर स्तवन

इसकी प्रति जयपुरके ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरके गुटका नं० ५७ में संकलित है। इस स्तवनकी रचना सीमन्धर भगवान्‌की भक्तिमें की गयी है।

६२. पं० हीरानन्द (वि० सं० १७११)

ये पण्डित तो थे ही, कवि भी अच्छे थे। इनका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दीका प्रथम पाद माना जाता है। पण्डित जगजीवनके समयमें ये शाहजहाँना-बादमें रहते थे। विद्वानोंमें उनकी गणना थी। जगजीवनके कहनेपर उन्होंने 'पंचास्तिकाय'का पद्यानुवाद केवल दो माहमें किया था।[1] 'पंचास्तिकाय' आचार्य कुन्दकुन्दकी रची हुई प्राकृत भाषाकी रचना है। इसमें उच्चस्तरके दार्शनिक सिद्धान्तोंका विवेचन है। उसका इतनी शीघ्रतासे हिन्दी-पद्यमें, वह ही अनुवाद कर सकता है, जो एक ओर तो प्राकृत और हिन्दीका समरूपसे जानकार हो, और दूसरी ओर दर्शन तथा कवित्वमें भी निष्णात हो। हीरानन्द दार्शनिक थे और कवि भी।

उस समय आगरेमें ज्ञाताओंकी एक मण्डली थी, जिसमें सघवी जगजीवन, पं० हेमराज, रामचन्द, संघी मथुरादास, भवालदास, और भगवतीदास शामिल थे। उसी मण्डलीमें पं० हीरानन्दका भी नाम आता है।[2]

उनकी रची हुई चार कृतियोंका परिचय निम्न प्रकारसे है,

पंचास्तिकाय भाषा

इसकी रचना वि० सं० १७११ में श्री जगजीवनकी प्रेरणासे की गयी थी। यह ग्रन्थ बहुत पहले छपा था, और सं० १९७२ में जैनमित्रके ग्राहकोंको उपहार-

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ६०।

२. पं० हीरानन्द, समवशरण स्तोत्र, अन्तिम पद्य, २८१–८६, लूणकरणजी पाण्ड्या मन्दिर, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति, गुटका नं० १४४, पृष्ठ ३११।

स्वरूप भेंट दिया गया था। इसमे काल-द्रव्यको छोडकर अवशिष्ट पाँच – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशका निश्चय नयसे वर्णन हुआ है। जहाँतक हिन्दी कविताका सम्बन्ध है, वह मध्यम कोटिकी है। श्री नाथूरामजी प्रेमीने लिखा है कि "कविता बनारसी भगवतीदास आदिके समान तो नही है, पर बुरी भी नहीं है।[1]" उन्होंने अपने इस कथनके समर्थनमे दो पद्य प्रस्तुत किये है, जो निम्न प्रकार हैं,

"सुख दुख दीसै भोगना, सुख दुख रूप न जीव।
सुख दुख जाननहार है, ज्ञान सुधारस पीव ॥ ३२१ ॥
संसारी संसार में, करनी करै असार।
सार रूप जानै नहीं, मिथ्यापन की टार ॥ ३२४ ॥"

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि कवितामे सादगी है, सरलता है और प्रवाह है।

द्रव्य संग्रह भाषा

यह प्राकृत भाषाके 'द्रव्य सग्रह'का हिन्दी पद्यानुवाद है। मूल ग्रन्थका निर्माण श्री नेमिचन्द्राचार्यने किया था, जो जैनोंके प्रसिद्ध ग्रन्थ जीवकाण्ड और कर्मकाण्डके रचयिता है। 'द्रव्य संग्रह'मे छह द्रव्योका वर्णन है। यह अनुवाद अप्रकाशित है। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुरके बडे मन्दिरके गुटका नं० ३२ में निबद्ध है। इस गुटकेका लेखनकाल सं० १७१८ माघ बदी ९ है। इससे स्पष्ट है कि यह कृति इसके पूर्व ही रची गयी होगी।

समवशरण स्तोत्र

इसकी रचना वि० सं० १७०१, सावन सुदी ७, बुधवारके दिन हुई थी।[2] सघवी जगजीवनने 'संस्कृतका आदिपुराण' पं० हीरानन्दको पढनेके लिए दिया था, उसकी सहायतासे उन्होंने हिन्दीके 'समवशरण-स्तोत्र'की रचना की। इस भाँति यह स्तोत्र 'निकलक' और 'पुराण-सम्मत' है।[3]

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ६०।

२ एक अधिक सत्रह सौ समे, सावन सुदि सातमि बुध रमे।
ता दिन सब संपूरन भया, समवसरन कहवत परिनया ।।
पं० हीरानन्द, समवशरण स्तोत्र, २६२वाँ पद्य, लूणकरणजी पाण्ड्या मन्दिर, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति, गुटका न० १४४, पृ० ३११।

३. इतनी सुनि जगजीवन जबै, आदिपुरान मंगाया तबै।
इस देखि तुम कहौ निसंक, हम जानै हुं है निकलंक ।।२९०।।

इसमे ३०१ पद्य है। इसकी प्रतिलिपि लाभपुर नामके नगरमे श्री विजय सूरिने वि सं० १७०४ मे करवायी थी। यह प्रति जयपुरके बड़े मन्दिरमे, वेष्टन नं० १८९९ मे निबद्ध है। एक दूसरी प्रति लूणकरणजी पाण्ड्याके मन्दिर, जयपुरके गुटका नं० १४४ मे पत्र २९३ से ३११ तक संकलित है। इसमे समवसरणकी शोभाका वर्णन करते हुए लिखा है।

"रतन सिषर नभ मै छवि देत, देव देखि उपजावत हेत।
रंगभूमि तिनि साका माहिं, एसी सोभ और कहुं नाहिं ॥६७॥
तिनमैं नर्त्तत अमरांगना, हाव भाव विधि नाटक घना।
चचल चपल सोभ बीजुली, जनु सोभा घन बिचि ऊछली ॥६८॥
किंनर सुरकर वींणा लिये, गावत मधुर मधुर इक हिये।
सुणि सुनि मांहैं कौतूहली, साता जिन सुमरं भूत्रली ॥७१॥"

एकीभाव-स्तोत्र

यह वादिराजसूरिके संस्कृत 'एकीभाव स्तोत्र'का आलम्बन लेकर लिखा गया है। इसकी प्रतियां जयपुरके बड़े मन्दिरके गुटका नं० ९५, २१५ और ३२० मे निबद्ध है। नं० ९५ वाले गुटकेकी प्रतिलिपि सं० १८१० की की हुई है। इससे स्पष्ट है कि इसकी रचना सं० १८१० से पूर्व ही हुई होगी। भूधरदासने भी एक 'एकीभाव स्तोत्र' बनाया था, किन्तु हीरानन्दका यह स्तोत्र उससे अधिक सरल, सरस और प्रवाहपूर्ण है।

६३. रायचन्द (वि० सं० १७१३)

रायचन्द नामके अनेकों कवि हुए है। मिश्रबन्धुओने एक रायचन्द नागरका उल्लेख किया है, जिन्होने 'गीतगोविन्दादर्श' और 'लीलावती' की रचना की थी। इनका रचनाकाल १७०० के लगभग था।[1] गुजरातीमे तीन रायचन्द हुए है, जिनमे-से 'रायचन्द पहेला' गुणसागरके शिष्य थे। इन्होने 'विजय सेठ विजयासती रास' नामका ग्रन्थ स० १६८२ मे लिखा था।[2] दूसरे रायचन्द १९वी शताब्दीके

इतना कारन लहि करि हीर, मनमे उद्दिम धरै गहीर।
समोसरन कृत रचना भेद, जथा पुरान समस्त निवेद ॥२९१॥
वही, पृ० ३११।

१. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ४२५।

२. गुर्जरकविओ, प्रथम भाग, पृ० ५१४।

पूर्वार्धमे हुए थे। उन्होने 'समाधिपचबीसी', 'गौतमस्वामी रास', 'कलावती चौपई', 'मृगलेखनी चौपई', 'ऋषभ चरित' आदि अनेक सुन्दर गुजराती काव्यों-की रचना की।[1] तीसरे रायचन्द वे थे, गान्धीजी जिन्हे अपने गुरुके समान पूज्य समझते थे। उन्होंने 'अध्यात्मसिद्धि'की रचना की थी।[2] इनमे-से दूसरे रायचन्दका उल्लेख अगरचन्दजी नाहटाने 'राजस्थानमे हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज' द्वितीय भागमे भी किया है। उनकी दृष्टिमे इन्ही रायचन्दने कल्पसूत्रका हिन्दी पद्यानुवाद किया था। प्रकृत रायचन्द इन सभीसे भिन्न है। वे हिन्दीके एक उच्चकोटिके कवि थे। उन्होंने 'सीताचरित'की रचना वि० सं० १७१३ मे की थी।[3] यद्यपि इस ग्रन्थका आधार आचार्य रविषेणका पद्मपुराण था[4], किन्तु फिर भी उसमे अनेको स्थल ऐसे हैं, जो मौलिक हैं। भाषामे जीवन है। सीताके चरित्रको प्रमुखता दी गयी है, और उसमे नारीगत भावोंका चित्रण उत्तम रीतिसे अंकित हुआ है। वैसे भी कविमें दृश्योंको उपस्थित करनेकी सामर्थ्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि कविको बाह्य और अन्त: दोनो ही प्रकृतियोंका सूक्ष्म ज्ञान था। उसने एक ओर तो मानवके मर्मको पहचाना है और दूसरी ओर प्रकृतिकी रमणीयताको अंकित किया है। यद्यपि इसमे तुलसी-जैसी भावुकता तो नही थी, किन्तु गम्भीरता वैसी ही थी।

इस महाकाव्यमे ३६०० पद्य हैं। इसकी एक प्रति श्री नया मन्दिरजी धर्मपुरा दिल्लीके शास्त्रभण्डारमे 'अ ३२ ग' पर मौजूद है। एक दूसरी प्रति जयपुरके बडे मन्दिरजीके वेष्टन नं० २०९५ मे निबद्ध है। यह प्रति सं० १७७८ की लिखी हुई है। उपलब्ध प्रतियोंमे सबसे अधिक प्राचीन है। इसमे १९६ पृष्ठ है। इसकी दशा पूर्ण एवं शुद्ध है। एक तीसरी प्रति इसी मन्दिरके गुटका नं० २१९ मे संकलित है। इसका रचनाकाल संवत् १७१३ दिया हुआ है। इसमे कुल २५४९ पद्य हैं। एक चौथी प्रति वह है जिसका उल्लेख 'मिश्रबन्धु विनोद', भाग २ की सख्या ३८९।२ पर हुआ।[5] इसमें भी रचनाकाल वह ही दिया हुआ है। इस

---

१. गुर्जरकविओ, भाग ३, पृ० १४२।

२. यह कृति 'श्रीमद् राजचन्द्र' नामके ग्रन्थमें छप चुकी है।

३. संवत सतरह तेरोतरे, मगिसर ग्रंथ समापति करे।
नया मन्दिर, देहलीवाली प्रति।

४. कीयो ग्रन्थ रविषेण नै रघुपुराण जिय जाण।
वहै अरथ इण मे कह्यो, रायचंद उर आण ॥२७।

५. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ४६१।

प्रतिसे यह स्पष्ट है कि कविका उपनाम 'चन्द्र' था। इतने विवरणोंसे कविका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दीका प्रथम पाद प्रमाणित होता है। ग्रन्थके एक-दो स्थल देखिए,

राम और जानकीमें अपरिमित गुण हैं, भला इतनी सामर्थ्य किस कविमें है, जो अपनी वाणीसे उनका वर्णन कर सके। किन्तु कवि 'चन्द' ने अपने देव, गुरु और धर्मको सिर झुकाकर यत्किंचित् कहनेका प्रयास किया है,

"राम जानकी गुन विस्तार, कहै कौन कवि वचन विचार।
देव धरम गुरु कु सिर नाय, कहै चंद उत्तिम जग माय॥"

रावणको जीतकर राम सीताको लेकर अयोध्यापुरीमें आ गये हैं। राजा रामके शासनमें सभी सुखी है, निहाल है। स्वर्गके समान मनमाने सुखोंका उपभोग करते है, किन्तु कोई उच्छृंखल और पापी नही है। रामका राज्य न्याय-पर आधारित है। धार्मिकजन सदैव रामके गुणोंको गाते है।

"रावन कौं जीत राम सीता विनीता आये,
वरतै सुनीत राज वलक सुहावनौ।
सुष में विनीत काल दुष कौ वियोग हाल,
सब ही निहाल पाप पंथ मैं न आवतौ॥
वाही वर्त्तमान दीसै सब ही सुबुध लोक,
सुरग समान सुष भोग मनभावनौ।
कोऊ दुषदाई नांहि सज्जन मिलायो मांहि,
सब ही सुधर्मी लोक राम गुन गावनौ॥"

एक महत्त्वपूर्ण प्रतिका उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी-पत्रिकाके बारहवें खोज विवरणमें हुआ है।[1] यह प्रति बाराबंकीके जैन मन्दिरसे उपलब्ध हुई थी। इसका लिपि-काल सं० १८६२ दिया हुआ है। इसपर भी रचना संवत् १७१३ ही पड़ा है। इस प्रतिमें कुल ३०० पृष्ठ है। इस प्रतिमें दिये हुए कुछ प्रारम्भिक दोहे और चौपाइयाँ देखिए,

दोहरा

"प्रनमो परम पुनीत नर, वरधमान जिनदेव।
लोकालोक प्रकास तस, करै समकिती सेव॥ १॥
तस ग.धर गौतम प्रमुख, धर्मवन्त धनपाल।
जिनसेवत भवि जन सदा, विलै मोहतम रालि॥ २॥"

१. का० ना० प्र० पत्रिकाका बारहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, एपेन्डिक्स २, पृ० १२६१।

चौपाई

"कवि बालक यह कीन्हो ख्याल । हसौ माती बुधिवंत विसाल ॥
राम जानकी गुन विस्तार । कहै कौन कवि वचन विचार ॥३॥
देव धर्म गुरु कू सिरनाइ । कहै चंद उत्तम जग मांह ॥
पर उपकारी परम पवित्त । सज्जन भाव भगत के चित्त ॥४॥
पंचपरमगुरु प्रधान । ए सुमिरौ उर लक्षन आन ॥
जिनि कै भव अति ही तुच्छ रहै, गुरु के बैन हिये जिन ग्रहै ॥७॥"

दोहा

"पंच परमगुरु कौ नमी मंगलीक सिवलोक ।
आप समान भगत कौं करै तुरन्त तहकीक ॥"

अन्तिम दोहा

"जो जाणौं निज जाणंतों वहै जात परवांण ।
जाण पणस्यौं जाणियै जाण पणौ परधान ॥"

६४. जिनहर्ष (वि० सं० १७१३–१७३८)

बोहरागोत्रीय जिनहर्षसूरि और आद्यपक्षीय जिनहर्षसूरिसे कविवर जिनहर्ष पृथक् है । ये खरतरगच्छके प्रसिद्ध आचार्य जिनचन्द्रसूरिकी परम्परामे हुए थे । इनके गुरुका नाम वाचक शान्तिहर्ष था, जो एक मॅंजे हुए विद्वान् थे ।[1] जिनहर्षने उन्हीसे शिक्षा प्राप्त की थी । जिनहर्षने जन्मसे ही कविका हृदय पाया था । उन्होने पचासो स्तुति-स्तवन, रास और छप्पयोंकी रचना की है । उनकी कृतियोमे रस है । शायद इसी कारण उनको अपने समयमे ही कविवर कहा जाने लगा था । उनको 'जसराज' भी कहते हैं । उन्होने इस नामके आधारपर ही 'जसराज-बावनी'-की रचना की थी । उनका गुजराती और हिन्दी दोनों भाषाओंपर समानाधिकार था । आज उनकी अनेकों हिन्दी रचनाएँ भी उपलब्ध हैं । वे साधु थे और घूमते

१. श्री गच्छ खरतर दीपतो, गच्छराज श्री जिनचन्द,
सूरिस सूरि-सिरोमणी, वदै तास नरिंद ।
वाचनाचारिज वदन वारिज, आर्य वचन विलास,
श्री शान्तिहरष वाचक तेणं, जिनहर्षे कीयो रास ॥
रत्नशेखर रत्नवती रास, प्रशस्ति, जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० ११७० ।

रहना ही उनका काम था, किन्तु फिर भी वे पाटणमें अधिक रहे। उनका अन्तिम काल तो विशेष रूपसे वहांपर ही बीता।

कविवरका व्यक्तित्व मोहक और आकर्षक था। उनमे अनेको ऐसे सद्गुण थे, जिनके कारण उनकी लोक-प्रियता बहुत अधिक बढ गयी थी। जैनधर्म-सम्बन्धी शुद्ध क्रियाओं और नियम-उपनियमोंका वे कठोरतासे पालन करते थे। क्रोध तो उन्होंने अपने जीवनमें कभी किसीपर नही किया। सरलता ही उनका जीवन था। उनके हृदयमे किसीके प्रति राग-द्वेषका भाव नहीं था। धैर्य और साहसके साथ उन्होने पंच महाव्रतोका पालन किया था। साधु वही है जिसके हृदयमे समता-रस उत्पन्न हो गया हो। जिनहर्षके समता-भावकी कहानियाँ उस युगमे ही चलने लगी थी। उनका सबसे बड़ा काम गच्छ ममत्वका त्याग था, जिसके आधार रूपमे उन्होने 'सत्यविजयपन्यास रास' की रचना की, जो अब प्रकाशित हो चुका है। उनके इस सद्गुणसे तपागच्छीय वृद्धिविजयजी बहुत अधिक प्रभावित थे। अन्तिम समयमे जब कि कविवरको व्याधि उत्पन्न हुई, तो वृद्धिविजयने ही उनकी अधिकसे अधिक सेवा की थी। अन्तिम आराधना भी उन्होने करवायी। कविवरके भक्तोने भी उनकी अन्तिम क्रिया (माण्डवी रचनादि) भक्ति-पूर्वक ही सम्पन्न की। कविकी भी अन्तिम श्वास पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए ही निकली।[1]

जिनहर्षकी रचनाओका संक्षिप्त परिचय 'जैन गुर्जरकविओ'में प्रकाशित हो चुका है।[2] इसके अतिरिक्त और भी कई कृतियाँ श्री नाहटाजीको प्राप्त हुई हैं।[3] राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंको ग्रन्थ-सूचियोसे भी इनकी कतिपय हिन्दी रचनाओंका पता लगा है। 'राजस्थानमे हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज' भाग ४ मे भी इनकी कुछ कृतियोका विवरण छपा है। कविवर जिनहर्षकी स्वयंकी हस्तलिपिका एक चित्र 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित हुआ है।[4]

जसराज बावनी

इसकी रचना स० १७३८ फाल्गुन बदी ७ गुरुवारके दिन हुई थी।[5] इसकी

१. कविवरके इन गुणोंका विवेचन 'कवीयण' के 'कविवर जिनहर्षगीतम्'में हुआ है। उनके दो गीत 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह'में पृ० २६१–६३ पर निबद्ध हैं।

२. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृष्ठ ११४४–११८० और भाग २, पृष्ठ ८१–११६।

३. ऐतिहासिक जैन काव्य सग्रह, पृ० ५२।

४. वही, पृ० २६० और २६१ के बीचमें।

५. जसराज बावनी, अन्त, ५७वाँ पद्य, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० ८५।

एक प्रति संवत् १८५९ की लिखी हुई अभय जैनग्रन्थालय बीकानेरमें मौजूद है। यह प्रति श्री प्रतापसागरके पढ़नेके लिए कोटड़ीमे लिखी गयी थी। इसमे १३ पन्ने हैं, किन्तु बावनी केवल अन्तिम तीन पत्रोंपर ही अंकित है। इसमे कुल ५७ सबैया है। एक दूसरी प्रतिका उल्लेख 'जैन गुर्जरकविओ'मे हुआ है। यह प्रति पण्डित जीवविजयके शिष्य जसविजयकी लिखी हुई है।[1] प्रारम्भमें ही 'ऊंकार' का माहात्म्य बताते हुए कवि कहता है,

"ऊंकार अपार जात आधार, सबै नर नारी संसार जपे है।
बावन अक्षर मांहि धुरक्षर, ज्योति प्रद्योतन कोटि तपे है।
सिद्ध निरंजन भेख अलेख सरूप न रूप जोगेन्द्र थपे है।
ऐसो महातम है ऊँकार को, पाप जसा जाके नाम खपे है ॥ १ ॥"

कविकी अपने धर्ममें अटल श्रद्धा है। वह धर्मको छोड़कर अधर्मको स्वीकार करनेके लिए तैयार नही है। धर्मको त्याग कर अधर्मको लेना ऐसे ही है, जैसे चिन्तामणिको छोड़कर पत्थर ग्रहण करना और कामधेनुको छोडकर बकरी स्वीकार करना।

"नग चिन्तामणि डारिकें पत्थर जोउ, ग्रहें नर मूरख सोई।
सुंदर पाट पटंबर अंबर छोरिकें ओढंण लेत है लोई॥
कामदुधा घरतें जूं विडार कें छेरि गहें मतिमंद जि कोई।
धम्मं कूं छोर अधम्मं कों जसराज उणें निज बुद्धि विगोई ॥ २ ॥"

सन्त-परम्पराकी भाँति कवि भी बाह्याडम्बरोंके विरोधमे है। उसकी दृष्टिमें सिर मुँडाना, जटा धारण करना, हाथसे केशलोच करना, दिगम्बर रहना, शरीर-पर भस्म रमाना और पंचाग्नि तप तपना सब कुछ व्यर्थ है। ऐसा करने-मात्रसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्षके लिए ज्ञान अनिवार्य है,

"और सुसीस मुँडावत हैं केइ लंब जटा सिर केई रहावें।
लुंचन हाथ सूं केई करे रहै मून दिगम्बर केइ कहावें॥
राषसूं केई लपेट रहें केइ अग पंचागनि माहें तपावें।
कष्ट करे जसराज बहुत पे ग्यान बिना शिव पंथ न पावें ॥ ५६ ॥"

उपदेश-छत्तीसी

इसकी रचना संवत् १७१३ मे हुई थी। इसकी एक प्रति अभय जैन ग्रन्था-लय बीकानेरमें मौजूद है।[2] एक दूसरी प्रति वह है जिसका उल्लेख 'जैन गुर्जर-

१. जैन गुर्जरकविओ, भाग २, पृष्ठ ११६।
२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० १०१।

कविओंमे हुआ है।[1] इसमे केवल ३६ पद्य हैं। इसका प्रारम्भ ही भगवान् जिनेन्द्र-की स्तुतिसे किया गया है। संसारके माया-मोहसे मनको हटाकर भगवान् जिनेन्द्र-के चरणोंमें समर्पित कर देनेका उपदेश इस काव्यमे दिया गया है। ऐसा अनेक भक्त कवियोने किया है। स्पष्ट रूपसे ही यह उपदेश दर्शन और सिद्धान्तजन्य उपदेशसे पृथक् माना जायेगा। इसका आरम्भिक पद्य देखिए,

"सकल सरूप यामें प्रभुता अनूप भूप,
धूप छाया माया है न जैन जगदीश जू।
पुण्य है न पाप है न शीक है न ताप है,
जाप के प्रज्ञा प्रगटैं करम अतीस जू॥
ज्ञान को अंगज पुंज सुख वृक्ष को निकुंज,
अतिशय चौंतीस अरु वचन पैंतीस जू।
ऐसो जिनराज जिनहरस प्रणमि,
उपदेश की छतीसी कहूं सवइये छतीस जू॥"

चौबीसी

इसमे चौबीस तीर्थंकरोकी स्तुति है। कुल २५ पद्य है। पद्य रागोमे लिखे गये है। अर्थात् उनका स्वर संगीतात्मक है। इसकी एक प्रति सं० १७९९ माघ बदी १० की लिखी हुई अभय जैन ग्रन्थालयमें मौजूद है। इस प्रतिको पण्डित भुवनविशाल मुनिने मारोटमे लिखा था।[2] प्रारम्भमे ही भगवान् आदिनाथकी भक्तिमे लिखा गया एक पद देखिए जो कि 'राग ललित'में निबद्ध हुआ है,

"देख्यौ ऋषभ जिनंद तब तेरे पातिक दूरि गयौ,
प्रथम जिनंद चंद कलि सुर-तरु कंद। सेवे सुर नर इंद आनंद भयौ॥१॥दे०॥
जाके महिमा कीरति सार प्रसिद्ध बड़ी संसार, कोऊ न लहत पार जगत्र नयौ।
पंचम आरै में आज जागै ज्योति जिनराज, भव सिंधुको जिहाज आणि कै ठयौ॥२॥दे०
बण्या अद्भुत रूप, मोहिनी छबि अनूप, धरम कौ साचौ भूप, प्रभु जी जयौ।
कहै जिन हरषित नयण भारे निरखित, सुख धन बरसत, हृति उदयौ॥३॥दे०॥

कविका यह दृढ विश्वास है कि जो भक्ति-भावपूर्वक चौबीसो तीर्थंकरोकी कीर्तिका गान करता है, उसे नौ प्रकारकी निधियाँ उपलब्ध हो जाती है। भगवान् कल्पवृक्षके समान हैं। उनके सामने की गयी प्रत्येक याचना फलीभूत होती है। चौबीसों भगवान् सुख प्रदान करनेवाले हैं,

१. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० ११७७।
२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० १२३।

"जिनवर चउवीसे सुखदाई
भाव भगति धरि निज मनि थिरकरि, कीरति मन सुध गाई ॥१॥जि०॥
जाके नाम कलपतरु समवर, प्रणमति नव निधि पाई।
चौबीसे पद चतुर गाईओ, राग बंध चतुराई ॥२॥जि०॥
श्री सोमगणि सुपसाउ पाइकै, निरमल मति उर आई,
शान्ति हरष जिन हरष नाम तैं, होवत प्रभुवर दाई ॥३॥जि०॥"

नेमि-राजीमती बारहमास सवैया

इसके सभी पदोमे 'जिनहर्ष'के स्थानपर 'जसराज'का प्रयोग किया गया है। इसमे भगवान् नेमिनाथ और राजीमतीका प्रसिद्ध कथानक है।

यह एक छोटा-सा विरह काव्य है। इसमे लौकिक रामके सहारे अलौकिक रामका विवेचन हुआ है। इसे हम रामानुगा भक्तिका ही दृष्टान्त कह सकते हैं। इसमे कुल १३ पद्य है। इसकी एक प्रति अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेरमें मौजूद है।[1] दूसरी प्रति वह है जिसका उल्लेख देसाईजीने किया है। उसे किन्हीं पण्डित विनयचन्दने सं० १७६३ आषाढ सुदी १ को जैसलमेरमे लिखा था।[2] इसका आदि और अन्त देखिए,

"सावन मास घना घन बास, आवास में केलि करे नर नारी।
दादुर मोर पपीहा रटे, कहो कैसे कटे निशि घोर अंधारी॥
बीज झिलामल होई रही, कैसे जात सही समसेर समारी।
आइ मिल्यौ जसराज कहे, नेम राजुल कुं रति लागें दुखारी ॥१॥"

अन्त

"राजुल राजकुमारी विचारि के संयम नाथ के हाथ गह्यो है।
पंच समिति तीन गुपति धरी निज, चित्त में कर्म समूह दह्यो है॥
राग द्वेष मोह माया नहैं, उज्ज्वल केवल ज्ञान लह्यो है।
दम्पति जाइ बसें शिव गेह में, नेह खरो जसराज कह्यो है ॥१३॥"

नेमि-बारहमासा

यह एक दूसरा बारहमासा है, जिसका विषय भी वही है। इसको एक प्रति जिनदत्त सरस्वतीभण्डार बम्बईमे मौजूद है। इसको किन्हीं मुनि उदयसूरिने

१. वही पृ० १६१।
२. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० ११८०।

लिखा था।[1] दूसरी प्रति अभय जैनग्रन्थालयमे है। दोनोंमें ही १२ सवैया हैं।[2] पद्योंमे लोच है और आकर्षण। इसके दो पद्योंको देखिए,

"घन की घनघोर घटा उमही, बिजुरी चमकंति झलाहलि-सी।
विचि गाज अगाज अवाज करंत सु, लागत मो विषवेलि जिसी॥
पपीया पीउ पीउ रटत रयण जु, दादुर मोर वदै ऊलिसी।
ऐसे श्रावण में यदु नेमि मिलै, सुख होत कहै जसराज रिसी॥१॥"

अन्त

"प्रगटे नम बादर आदर होत, घना घन आगम आली भयो है।
काम की वेदन मोहि सतावै, आषाढ़ में नेमि वियोग दयो है।
राजुल संयम ले कै सुगति, गई निज कन्त मनाय लयो है।
जोरि कै हाथ कहै जसराज, नेमीसर साहिब सिद्ध जयौ है॥१२॥"

सिद्धचक्र स्तवन

इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० ११६, वेष्टन न० ११५५ मे निबद्ध है। कृति सिद्धचक्रकी भक्तिसे सम्बन्धित है। कतिपय पद्य देखिए,

"सूरव्वहराय तम तिमर देव, देवासुर खेयर विहिय सेव।
सेवाग्गय मय राय पाय, पायमिय पणामहकय पसाय॥२॥
सायर सम समया मय निवास, वासव गुण गोयर गुण निकास।
कासुअक संजक सील कील, कीलाय विहिय मोहावहील॥३॥"

पार्श्वनाथ नीसाणी

यह स्तुति महावीरजी अतिशय क्षेत्रके शास्त्रभण्डारमे, एक प्राचीन गुटके-मे पृ० १३४ पर लिखी हुई है। इसमे २६ पद्य है। पद्योमे सरसता और गति-शीलता है। प्रारम्भके दो पद्य इस प्रकार हैं,

"सुख संपति दायक सुरनरनायक परतष्य पाप निकंदा है।
जाकी छवि क्रांति अनोपम उपम दीपत जाणि जिणंदा है॥
मुख जोति झिगामग झिगमग पूनिम पूरण चंदा है।
सब रूप सरूप बणाणै भूप सो तूं ही त्रिभुवन नंदा है॥१॥

---

१. वही, पृ० ११७९।
२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० १६२।

करुणा रस सागर नागर लोक सबै मिलि अस्म पुणंदा है,
तोरि विभ्रमति करै इकचित्त सुसेवक तो धरणिंदा है।
तै अकती आगि निकाल्या नाग किया वम्माग सुरंदा है,
तो चरणां आय रक्षा कपटां इकका अति केलि करंदा है ॥२॥"

श्रेणिक चरित्र

महाराजा श्रेणिक भगवान् महावीरके परम भक्त थे। जैनोंके अनेकों ग्रन्थ श्रेणिकके प्रश्नसे आरम्भ हुए हैं। उन्हीका चरित्र इस काव्यमे अंकित है। इसकी सूचना 'हिन्दी जैन साहित्यके इतिहास'में अंकित है। इसकी रचना सं० १७२४ मे हुई थी।

ऋषिदत्ता चौपई

यह चौपई बाबू कामताप्रसादजी जैनके संग्रहमें मौजूद है।[1] इसमें कुल ३२ पद्य हैं। इसका आदि और अन्त देखिए,

"अष्टापद श्री आदि जिनंद, चंपा वासुपूज्य जिनचंद।
पावा मुगति गया महावीर, अवर नेमि गिरनार सधीर ॥१॥"

अन्त

"उत्तम नमतां कहीये पार, गुण गृहतां कहीए विस्तार।
आइनें दूर कर्मनीं कोड़, कहै जिनहर्ष नमूं कर जोर ॥३२॥"

मंगल गीत

इसकी एक प्रति जयपुरके लूंणकरजीके मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० ८१ में संकलित है। यह गुटका सं० १८०० का लिखा हुआ है।

६५. अचलकीर्त्ति (वि० सं० १७१५)

अचलकीर्त्तिके पारिवारिक जीवन और गुरु-परम्परा आदिके विषयमें कुछ भी विदित नही है। उनको 'अठारहनाते' नामक पुस्तकसे केवल इतना ही मालूम हो सका है कि वे फिरोजाबादके रहनेवाले थे।[2] वे भट्टारक थे और भट्टारकीय

१. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६० ।
२. सहर फिरोजाबाद मे हीं, नाना की चौढाल ।
बार बार सबसौं कहो हो, सीधौ धर्म विचार ॥

परम्परामें ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। उनका 'विषापहार स्तोत्र' जैन समाज-में बहुत ही प्रसिद्ध है। अभी उनकी एक और रचना 'कर्मबत्तीसी' भी प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त उनकी रची हुई 'रविव्रतकथा' दिल्लीके पंचायती मन्दिरके भण्डारमें सुरक्षित है। यह सुनिश्चित है कि अचलकीर्त्ति अठारहवी शताब्दीके कवि थे। उनकी एक-दो रचनाओंके काल-संवत्से ऐसा स्पष्ट भी है। वे एक अच्छे कवि थे। उनकी कविता उनके अन्तर्हृदयका निदर्शन है। भाषामें सरलता और प्रवाह है। 'विषापहार स्तोत्र' तो भक्ति-रसका प्रधान काव्य माना जाता है। 'धर्मरासो' भी उन्हींकी कृति है।

विषापहार स्तोत्र

इस स्तोत्रकी रचना नारनौलमें वि० सं० १७१५ में हुई थी। पैड़थ, जिला-मैनपुरीकी एक प्रतिमें इसका निर्माण-संवत् 'पन्द्रासैं सत्रा शुभ थान। बरनौ फागुन सुदी चौदस जान।' दिया हुआ है, जो कि अशुद्ध है। काशी नागरी प्रचा-रिणी पत्रिकाके सन् १९०० के विवरणमें इसके रचना संवत्का उल्लेख 'सत्रहसे पन्द्रह सुभथान। नारनौल तिथि चौदसि जान' रूपमें हुआ है। जयपुरके सेठ बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरमें[1] स्थित इसकी एक प्रतिपर भी रचना-संवत् १७१५ ही दिया हुआ है। दि० जैन मन्दिर, बड़ौतके वेष्टन नं० २७२, गुटका नं० ५७ में भी पृ० ३२ पर एक हस्तलिखित प्रति निबद्ध है। उसमें रचना सं० १७१५ दिया हुआ है।

संस्कृतमें महाकवि धनंजयने 'विषापहार स्तोत्र' की रचना की थी। वह एक प्रौढ़ रचना थी और आज भी उसकी ख्याति है। हिन्दीमें उसके अनुकरणपर अनेकानेक विषापहारोंकी रचना हुई, किन्तु वैसी सरसता कोई न ला सका। कवि शान्तिदास और अखैरामके 'विषापहार स्तोत्र' तो जूठन-जाठन-से प्रतीत होते हैं। उनमें कविका हृदय नहीं रम पाया है। यदि हृदय रमे तो पुराना भाव भी वसन्तकी भाँति नये रूपमें लहलहा उठता है। परम्परा-पालनके लिए किया गया कोई भी काम स्वाभाविक नहीं हो सकता।

अचलकीर्त्तिका 'विषापहार स्तोत्र' भी धनंजयसे अनुप्राणित है, किन्तु हम उसको 'नकल-भर' नहीं कह सकते। भक्तकी भाव-मग्नता और अभिव्यंजनाकी

काम महाबली जी, सुन पिय चतुर सुजान ॥५८॥

दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति।

१. सेठ बधीचन्दजीका दि० जैन मन्दिर, जयपुरके गुटका नं० ३८ और वेष्टन नं० १००२। इस गुटकेका लेखनकाल सं० १८२३ दिया हुआ है।

नवीनताने उसे सरस और मौलिक बना दिया है। आराध्यकी महिमासे सम्बन्धित कतिपय पद्य देखिए,[1]

"प्रभुजी पतित उधारन आउ, बाहं गहे की लाज निबाहु।
जहां देषो तहां तुमही आव, घट घट जोति रही ठहराव ॥१६॥
मसम व्याध ममन्तमद्र की मई, संभौ स्तुत जिण अस्तुति ठई।
गई व्याधि विमल मति मई, तहां प्राणपत तुम सुध लई ॥१८॥"

कर्म-बत्तीसी[2]

इसकी रचना पावानगरमें संवत् १७७७ में हुई थी। इसमें पावानगर और वीरसंघका भी वर्णन है। इसमें बड़े ही सरस ढंगसे कर्मोंके प्रभावकी बात कही गयी है। कुल ३५ पद्य हैं। भाषामें प्रवाह और सरलता है।

अठारह नाते

इसका निर्माण फिरोजाबादमें किया गया था। हो सकता है कि भट्टारकीय पदपर प्रतिष्ठित होनेके पूर्व ही अचलकीर्त्तिने इसको बनाया हो। उसमें वह प्रौढता नही है जो उनकी अन्य रचनाओंमे पायी जाती है। इसकी एक प्रति श्री जैन पंचायती मन्दिर दिल्लीमें सुरक्षित है। जैन-परम्परामें अठारह नातोंकी कथाका प्रचलन बहुत पुराना है। अचलकीर्त्तिने भी किसी संस्कृत कथासे ही इसका कथानक लिया था।

रवि-व्रत कथा

इनकी बनायी हुई 'रवि-व्रतकथा' भी उपर्युक्त मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें ही सुरक्षित है। उसपर रचना-संवत् १७१७ दिया हुआ है।

धर्म रासौ

इसकी रचना वि० सं० १७२३ में हुई थी। वि० सं० १७२६ की लिखी हुई एक प्रति, महावीरजी अतिशय क्षेत्रके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है।

पद

अचलकीर्त्तिने अनेक भक्ति-परक पदोंका निर्माण किया था। एक सरस पद लूणकरणजी पाण्डया मन्दिर जयपुरके गुटका नं० ११४, पत्र १७२-७३ पर अंकित है। कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

---

१. दि० जैन मन्दिर, बड़ौतकी हस्तलिखित प्रति।

२. गुटका नं० १८, वेष्टन नं० ६३७, बधीचन्द्रजीका मन्दिर, जयपुर।

परम्परामें ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। उनका 'विषापहार स्तोत्र' जैन समाज-में बहुत ही प्रसिद्ध है। अभी उनको एक और रचना 'कर्मबत्तीसी' भी प्राप्त हुई है। इसके अतिरिक्त उनकी रची हुई 'रविव्रतकथा' दिल्लीके पंचायती मन्दिरके भण्डारमें सुरक्षित है। यह सुनिश्चित है कि अचलकीर्ति अठारहवीं शताब्दीके कवि थे। उनकी एक-दो रचनाओंके काल-संवत्से ऐसा स्पष्ट भी है। वे एक अच्छे कवि थे। उनकी कविता उनके अन्तर्हृदयका निदर्शन है। भाषामें सरलता और प्रवाह है। 'विषापहार स्तोत्र' तो भक्ति-रसका प्रधान काव्य माना जाता है। 'धर्मरासो' भी उन्हींकी कृति है।

विषापहार स्तोत्र

इस स्तोत्रकी रचना नारनौलमें वि० सं० १७१५ में हुई थी। पैंड़थ, ज़िला-मैनपुरीकी एक प्रतिमें इसका निर्माण-संवत् 'पन्द्रासै सत्रा शुभ थान। बरनौ फागुन सुदी चौदस जान।' दिया हुआ है, जो कि अशुद्ध है। काशी नागरी प्रचा-रिणी पत्रिकाके सन् १९०० के विवरणमें इसके रचना संवत्का उल्लेख 'सत्रहसे पन्द्रह सुभथान। नारनौल तिथि चौदसि जान' रूपमें हुआ है। जयपुरके सेठ बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरमें[1] स्थित इसकी एक प्रतिपर भी रचना-संवत् १७१५ ही दिया हुआ है। दि० जैन मन्दिर, बड़ौतके वेष्टन नं० २७२, गुटका नं० ५७ में भी पृ० ३२ पर एक हस्तलिखित प्रति निबद्ध है। उसमें रचना सं० १७१५ दिया हुआ है।

संस्कृतमें महाकवि धनंजयने 'विषापहार स्तोत्र' की रचना की थी। वह एक प्रौढ़ रचना थी और आज भी उसकी ख्याति है। हिन्दीमें उसके अनुकरणपर अनेकानेक विषापहारोंकी रचना हुई, किन्तु वैसी सरसता कोई न ला सका। कवि शान्तिदास और अखैरामके 'विषापहार स्तोत्र' तो जूठन-जाठन-से प्रतीत होते है। उनमें कविका हृदय नही रम पाया है। यदि हृदय रमे तो पुराना भाव भी वसन्तकी भाँति नये रूपमें लहलहा उठता है। परम्परा-पालनके लिए किया गया कोई भी काम स्वाभाविक नहीं हो सकता।

अचलकीर्तिका 'विषापहार स्तोत्र' भी धनंजयसे अनुप्राणित है, किन्तु हम उसको 'नकल-भर' नहीं कह सकते। भक्तकी भाव-मग्नता और अभिव्यंजनाकी

काम महाबली जी, सुन पिय चतुर सुजान ॥५८॥

दिगम्बर जैन पचायती मन्दिर दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति।

१. सेठ बधीचन्दजीका दि० जैन मन्दिर, जयपुरके गुटका नं० ३८ और वेष्टन नं० १००२। इस गुटकेका लेखनकाल सं० १८२३ दिया हुआ है।

नवीनताने उसे सरस और मौलिक बना दिया है। आराध्यकी महिमासे सम्बन्धित कतिपय पद्य देखिए,[1]

> "प्रभुजी पतित उधारन आउ, बाहं गहे की लाज निबाहु।
> जहां देषो तहां तुमही भाव, घट घट जोति रही ठहराय ॥१६॥
> भसम व्याध समन्तभद्र कौ भई, संभौ स्तुत जिण अस्तुति ठई।
> गई व्याधि विमल मति भई, तहां प्राणपत तुम सुध लई ॥१८॥"

कर्म-बत्तीसी[2]

इसकी रचना पावानगरमे संवत् १७७७ मे हुई थी। इसमे पावानगर और वीरसंघका भी वर्णन है। इसमे बडे ही सरस ढंगसे कर्मोंके प्रभावकी बात कही गयी है। कुल ३५ पद्य है। भाषामे प्रवाह और सरलता है।

अठारह नाते

इसका निर्माण फिरोजाबादमे किया गया था। हो सकता है कि भट्टारकीय पदपर प्रतिष्ठित होनेके पूर्व ही अचलकीर्त्तिने इसको बनाया हो। उसमे वह प्रौढ़ता नही है जो उनकी अन्य रचनाओंमे पायी जाती है। इसकी एक प्रति श्री जैन पंचायती मन्दिर दिल्लीमे सुरक्षित है। जैन-परम्परामे अठारह नातोंकी कथाका प्रचलन बहुत पुराना है। अचलकीर्त्तिने भी किसी संस्कृत कथासे ही इसका कथानक लिया था।

रवि-व्रत कथा

इनकी बनायी हुई 'रवि-व्रतकथा' भी उपर्युक्त मन्दिरके शास्त्रभण्डारमें ही सुरक्षित है। उसपर रचना-संवत् १७१७ दिया हुआ है।

धर्म रासौ

इसकी रचना वि० सं० १७२३ में हुई थी। वि० सं० १७२६ की लिखी हुई एक प्रति, महावीरजी अतिशय क्षेत्रके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है।

पद

अचलकीर्त्तिने अनेक भक्ति-परक पदोंका निर्माण किया था। एक सरस पद लूणकरणजी पाण्ड्या मन्दिर जयपुरके गुटका नं० ११४, पत्र १७२-७३ पर अंकित है। कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार है,

---

१. दि० जैन मन्दिर, बड़ौतकी हस्तलिखित प्रति।

२. गुटका नं० १८, वेष्टन नं० ६३७, बधीचन्द्रजीका मन्दिर, जयपुर।

"काहा करूं कैसे तिरूं भवसागर भारी ॥ टेक ॥
माया मोह मगन भयो महा विकल विकारी ॥ काहा० ॥१॥
मन हस्ती मद आठ, सुमन-सा मंजारी।
चित चीता सिंघ सांप ज्युं अतिबल अहंकारी ॥ काहा० ॥२॥
बाला तन षेलत गयो, सुधि बुधि न चितारी।
चेतन चिति नहिं चेतना, सुचि नहीं सु विचारी ॥३॥
अब क्या गति या जीव की, तीन्हौं पण हारी।
अचलकीरति आधार है, प्रभु सरन तुम्हारी ॥६॥"

अचलकीत्तिका एक 'फागु' दि० जैन मन्दिर बड़ौतके एक पदसंग्रहमे, जो वेष्टन नं० ४०५ मे निबद्ध है, पृ० ३२ पर अंकित है।

"डफ बाजन लागे हो, हो होरी सब मिलि फाग सुहावनी
हो षेलत हैं नर नारि ॥टेक॥
छाँडि गयो महा सांवरो प्यारो, जाय चढ्यो गिर नारि ॥डफ०॥१॥
हाँ षिन बाहिर भीतरि षडी हो, बिस सम है गृह बास।
पिय दुख कदे न वीसरूं हो अब मन भयो है उदास ॥डफ०॥२॥
हां जुगल जुगल मिलि षेल ही हो, अबीर गुलाल उड़ाइ।
नेमिकंवर दरसन करि प्यारे पावोगे उत्तम वास ॥डफ०॥३॥
हां सषी सहित राजमती चाली, छोडि सकल सिंगार।
नेमि कंवर चित लायकैं हो, लियो है संजम भार ॥डफ०॥५॥
जनम मरन भय जीति कै हो, षेलत मुकति मंझारि।
अचलकीर्ति जी यौ कहै हौ, मेरौ आवागमन निवारि ॥डफ०॥६॥"

६६. रामचन्द्र (वि० सं० १७२०-१७५०)

ये खरतरगच्छके प्रधान श्री जिनसिंहसूरिराजकी शिष्य-परम्परामे थे। श्री जिनसिंहसूरिके शिष्य पद्मकीर्ति चौदह विद्याओंमे पारगत और चारों वेदोंमें निष्णात थे। उनके भी शिष्य पद्मरंगकी विद्वत्ता और सुजनताका चारो ओर यश फैला हुआ था। लोग उनकी महिमाके गीत गाते फिरते थे। उन्हीके शिष्य श्री रामचन्द्र थे।[1]

१. श्री जिनसिंह सूरि सुखकारी, नाम जपै सब सुर नर नारी।
जाकै शिष्य सिरोमण कहियै, पद्मकीर्ति गुरुवर जसु लहियै ॥९२॥

'मिश्रबन्धुविनोद'में उनका उल्लेख 'रामचन्द्र साकी बनारसवाले' कहकर हुआ है,[1] किन्तु न तो ये बनारसके रहनेवाले थे और न इनका उपनाम ही 'साकी' था। ये साधु थे, अतः घूमते ही रहते थे। हो सकता है कि कभी बनारस भी गये हो। 'साकी' 'सक्की' का बिगड़ा हुआ रूप है। इन्होंने 'रामविनोद' की अन्तिम प्रशस्तिमें लिखा है, "उत्तर दिसि खुरसांन मैं, बानु देस प्रधान। सजल भूमि है सर्वदा, सबकी सहर सुभ थान।"[2] इसका अर्थ है कि उत्तर दिशामे खुरासान देशके अन्तर्गत 'बानू' नामका प्रदेश था, जिसका 'सक्की' प्रसिद्ध नगर था। वहाँ पानीकी कोई कमी नहीं थी, भूमि हरी-भरी थी। स्थान शुभ माना जाता था। कविने लिखा है कि उस समय वहाँ औरंगजेबका राज्य था। उसने शासनकी प्रशंसा की है। वहाँ सुख और शान्ति थी। रामचन्द्रने उसी नगरमे 'रामविनोद'-का निर्माण किया था।[3] यहाँ भी ये घूमते-घूमते ही पहुँचे होंगे। इनके मूल निवास-स्थानके विषयमे निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। रायबहादुर बाबू हीरालाल बी० ए० कटनीने इनकी भाषापर राजस्थानीके विशेष प्रभावको देखकर इनको राजपूतानेका रहनेवाला घोषित किया है।[4] श्री अगरचन्दजी नाहटाने भी इनके ग्रन्थोपर राजस्थानीके प्रभावकी बात स्वीकार की है।[5]

ये जिस शाखाके साधु थे, वह विद्वत्ता, साधुता और कविता तीनों ही के लिए प्रसिद्ध रही है। जिनसिंहसूरिका तो अकबर और सलीम दोनों ही ने सम्मान किया

विद्या च्यार दस कंठ बखाणें, वेद च्यार को अरथ पिछानै,
पद्मरंग मुनिवर सुखदाई, महिमा जाकी कही न जाई ॥९३॥
रामचन्द मुनि इन परिभाख्यौ, सामुद्रिक भाषा करि दाख्यौ।
जा लगि रहिज्यो सूरि जी चंदा, पढहु पंडित लहु आणंदा ॥९४॥
सामुद्रिक भाषा, प्रशस्ति, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग २, पृ० १२४-२५।

१. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ४६६, सख्या ४२३।

२. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, सख्या १८०४ पर रामविनोदकी प्रशस्ति, पृ० १२६७।

३. मरदानौ अरु महाबली, अवरंग साहि नरंद,
तास राजमै हर्षसुं, रच्यो शास्त्र आनंद ॥ ३०० ॥
वही।

४. का० ना० प्र० पत्रिका, नवीन सस्करण, भाग ८, पृ० ४६७।

५. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग २, पृ० १५६।

था।[1] रामचन्द्र भी एक यशस्वी व्यक्ति थे। वैद्यक और ज्योतिषपर तो उनका एकाधिकार था। उनके द्वारा रचे गये स्तवनोंसे स्पष्ट है कि कवितामें भी उनका असाधारण प्रवेश था। दार्शनिक विद्वत्तासे सम्बन्धित उनका कोई ग्रन्थ देखनेको नही मिलता। इन साधुओंका सम्मान वैद्यक और ज्योतिषके अगाध ज्ञानपर ही टिका था। बड़े-बड़े सम्राट् भी इनकी भविष्य-वाणियाँ सुननेके लिए तरसा करते थे।[2] जहाँतक कविताका सम्बन्ध है, भक्तिपूर्ण ही होती थी। उनके द्वारा लिखे गये सैकड़ों स्तुति-स्तोत्र प्राप्त होते हैं।

काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके १९०९ और १९११ के खोज विवरणके लिखनेवालेने रामचन्द्रको जैन नही माना है।[3] उनका कथन है कि 'रामचन्द्र' नाम किसी जैनका नहीं हो सकता। शायद उनकी दृष्टिमे हिन्दू ही रामचन्द्रको भगवान् मानते है, जैनोंके भगवान् तो महावीर हैं। किन्तु 'रामचन्द्रजी' के आदर्श चरित्रको लेकर विपुल जैन साहित्यकी रचना हुई है।

विवरण-लेखकका दूसरा तर्क है कि श्री रामचन्द्रके 'रामविनोद' के प्रारम्भ-मे गणेशकी वन्दना की गयी है, जो कि हिन्दुओंका देवता है, जैनोंका नहीं। किन्तु गणेश तो विद्याका अधिष्ठातृ देव है, और उसकी आराधना हिन्दू तथा जैनोंने ही नहीं, अपितु मुसलमानो तकने की है। जैनोंके तो अनेक महत्त्वपूर्ण कवियोंके साहित्यका प्रारम्भ गणेश-वन्दनासे ही हुआ है। अतः इस आधारपर रामचन्द्रको जैन होनेसे इनकार नहीं किया जा सकता।

तीसरा तर्क यह है कि ग्रन्थमे कहींपर भी जैन-मतका उल्लेख नही है। किन्तु वैद्यकसम्बन्धी ग्रन्थमें सैद्धान्तिक विषयके निरूपणको अवसर ही कहाँ था। इसके अतिरिक्त रामचन्द्रने स्वयं अपने पूर्वगुरुओंके वैद्यक ज्ञानको स्वीकार किया है। वे गुरु जैन थे। जैन होते हुए भी वैद्यकके ग्रन्थमे जैन-तत्त्वोंकी बात न कहना अजैनत्वकी निशानी नहीं है।

जैन अथवा अजैनके पास मिलनेसे किसी भी ग्रन्थके रचयिताकी जातिका अनुमान लगाना भी ठीक नही है।

---

१. भानुचन्द्र गणिचरितकी भूमिकामें निबद्ध, "Jain priests at the court of Akbar" और "Jain Teachers at the Court of Jahangir" पृ० १०, २०।

२. अकबरने हीरविजयसूरिसे अपना भविष्य जाननेकी प्रार्थना की थी, किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूपसे इनकार कर दिया था। वही, पृ० ७।

३. का० ना० प्र० पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग ८, पृ० ४६५।

रचनाएँ

उन्होंने वैद्यकपर 'रामविनोद' और 'वैद्यविनोद' तथा ज्योतिषपर 'सामुद्रिक-भाषा' का निर्माण किया था। 'रामविनोद'की रचना वि० सं० १७२० मगसिर सुदी १३ बुधवारको सक्कीनगरमे हुई थी। यह ग्रन्थ लखनऊसे छप चुका है। 'वैद्यविनोद'का निर्माण वि० सं० १७२६ वैशाख शुक्ला १५ को मारोटमे हुआ था। यह सारंगधरका भाषानुवाद है। इस ग्रन्थके अन्तमे 'कविकुल वर्णन चौपाई' दी हुई है।[1] किन्तु उससे पारिवारिक जीवनका कुछ भी पता नही चलता, उसका सम्बन्ध पूर्व गुरुओकी प्रशस्तिसे है। 'सामुद्रिक-भाषा'की रचना वि० सं० १७२२ माघ कृष्ण पक्ष ६ को मेहरामें हुई थी। मेहरा पंजाबमें वितस्था नदीके किनारे बसा हुआ सुन्दर स्थान था। उसमे चारो वर्ण सुखपूर्वक रहते थे। वहाँ उस औरंगजेबका राज्य था, जिसकी बडे-बडे बादशाह सेवा किया करते थे।[2] इसकी प्रति जिनहर्षसूरिभण्डारमे मौजूद है, जिसका उल्लेख श्री अगरचन्दजी नाहटाने किया है।[3]

रामचन्द्रने काव्यसम्बन्धी चार ग्रन्थोकी रचना की थी, जिनमे तीन स्तवन और एक चरित्रसम्बन्धी चौपई हैं। कतिपय पद भी प्राप्त होते हैं। 'सम्मेदशिखर स्तवन' सं० १७५० मे बना था। इसमे जैनोके प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र सम्मेदशिखरकी स्तुति की गयी है। सम्मेदशिखरसे जैनोके २० तीर्थंकरोका निर्वाण हुआ है। उसकी पवित्रताको सभीने मुक्त-कण्ठसे स्वीकार किया है।

'बीकानेर आदिनाथ स्तवन'की रचना वि० सं० १७३० जेठ सुदी १३ को हुई थी। इसमे बीकानेरस्थ आदिनाथ प्रभुकी मूर्तिको लक्ष्य बनाकर हृदयके कतिपय उद्गारोका स्पष्टीकरण हुआ है। आदिनाथ, जैनोके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको कहते हैं।

'दशपचक्खाण' का निर्माण वि० सं० १७२१ पौष सुदी १० को हुआ था।

---

१. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग २, पृ० ५१, ५२।

२. बनवारी बहु बाग प्रधान, बहे वितस्था नदी सुथान।
च्यार वर्ण तिहाँ चतुर सुजान, नगर मेहरा श्री युग प्रधान ॥
बड़े बडे पातिसाह नरिंदा, जाको सेव करे जन कन्दा।
पातिसाह श्री ओरंग गाजी, गयं गनीम दसो दिस भास जी ॥८९॥
सामुद्रिकभाषा, प्रशस्ति, देखिए वही, पृ० १२४।

३. वही, पृ० १२५।

इसकी एक प्रतिका उल्लेख 'जैन गुर्जरकविओ' मे भी हुआ है।[1] यह प्रति श्राविका मनमांके पढ़नेके लिए की गयी थी। इसमे कुल ३३ पद्य है।

'मूलदेव चौपई' की रचना सं० १७११ फाल्गुनमे, नवहटमे हुई थी। यह एक ऐतिहासिक काव्य है। इसमे किन्ही मूलदेवका वर्णन है। इसकी एक प्रतिका उल्लेख श्री देसाईजीने किया है।[2] 'मिश्रबन्धु-विनोद'मे इनके द्वारा रचित 'जम्बू-चरित्र' की भी बात कही गयी है।[3]

रामचन्द्रके कतिपय पद दि० जैन मन्दिर बड़ौतके पदसंग्रह ५८ मे निबद्ध है। उनमे भक्त हृदयका प्रस्फुटन तो है ही, लालित्य और कल्पना भी है। यदि कोई भक्त आराध्यके चरण-कमलोके प्रतापसे स्वयंको जान सके, अपूर्व ज्ञान तथा परम सुख प्राप्त कर ले, तो अत्युक्ति क्या है। जबतक उसका इष्टदेव मिला नही था, वह भव-भवमे भटकता फिरा, अब भटकनेकी क्या आवश्यकता है,

"अब जिनराज मिलिया, गुणगणधर सुन्दर अनूप।
जबलौं भेद लह्यौ नहि प्रभु कौ, गति गति में अति रुलिया।
निद्रा मोह गई अब ही मम, ग्यान अपूरब पुलिया॥
दरसन करि निज दरसन पायो, सुख सत्तादिक मिलिया।
चरन कमल पूजत थिरता लहि, एक अहं सुधि झिलिया।
रामचन्द्र गुन बरनत ही सकल पाप टलि चलिया।"[4]

आदि प्रभु ऋषभदेव वनमे खडे होकर तप साध रहे है। उनका एकाग्र मन, शान्त दृष्टि, अलौकिक मुसकान, अपूर्व छटा बिखेर रही है। वह भक्त ही क्या, जो ऐसे रूपके दर्शन और वर्णनमे खप न सके,

"चलि जिन आदि देखैं, सुर नर खग वंदित सभूप।
सकल संग तजि त्रणवत् वन में नगन चिदातम पेषै।
नासा ध्यान खड़े कर लंबे अनसन ऐन विसेषै॥
अन्त अकाम मास षट भोजन धीर चलत भू लेषै।
धर्म तीर्थंकर का कर ऊपरि दानी कौ कर पेषै।
रामचन्द्र धनि दानी कहै सुररतन वृष्टि करि पेषै।"[5]

१. जैन गुर्जरकविओ, भाग २, पृ० ३०७-८।
२. वही, खण्ड २, भाग ३, पृ० १२९६।
३. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ४६६।
४. पदसंग्रह ५८, पत्र २५, दि० जैन मन्दिर, बड़ौत।
५. वही।

रामचन्द्रने सतगुरुकी भक्तिमें भी अनेक पदोंका निर्माण किया। वे सभी सरस है। उनमे प्रसाद गुण है। उपर्युक्त 'पद संग्रह'में उनका भी संकलन है।

६७. जोधराज गोधीका (वि० सं० १७२१)

गोधीका ढूंढाहड देशके मुख्य नगर सागानेरके निवासी थे। उन्होने लिखा है कि "मैंने सहस्रो नगरोंको देखा है, किन्तु उसके समान और कोई नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सागानेर वास्तवमे एक प्रसिद्ध स्थान था, वहाँपर ही अनेकों जैन-कवि उत्पन्न हुए थे। वह एक साहित्यिक केन्द्र था। जोधराजके पिताका नाम अमरराज अथवा अमरसिंह था। वे जातिसे बनिया थे। जैन धर्ममें उनकी अटूट श्रद्धा थी। पिताका प्रभाव पुत्रपर भी पड़ा और जोधराज भगवान् जिनेन्द्रके भक्त बने।[1] उनकी सब साहित्यिक रचनाएँ जिनेन्द्रकी भक्तिसे ही सम्बन्धित हैं।

जोधराजकी शिक्षा एक प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान्के द्वारा सम्पन्न हुई। उनका नाम हरिनाम मिश्र था। मिश्रजी अनेकों विद्याओंमे पारंगत थे। जोधराजने उन्हीसे छन्द, व्याकरण और ज्योतिष आदि ग्रन्थोंका पारायण किया।[2] संस्कृतमें व्युत्पन्न हो जानेपर उन्होंने हिन्दी काव्योंका निर्माण किया। जोधराजके कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्रजीने उनको जैन-शास्त्र भी मूल भाषामें पढाया था।

उस समय सांगानेरमें राजा अमरसिंहका राज्य था। उसकी प्रशंसा करते

---

१. सागानेर सुथान मे देश ढूंढाहडि सार।
तामम नहि को और पुर, देखे सहर हजार॥
अमरपूत जिनवर भगत, जोधराज कविनाम।
वासी सागानेर को, करी कथा सुखधाम॥
सम्यक्त्वकौमुदी, आमेर भण्डारकी प्रति, अन्तिम प्रशस्ति।

२. मिश्र एक हरिनाम सुनी, पढ्यो छन्द व्याकरण प्रमानि।
ज्योतिष ग्रन्थ पढ्यौ बहु भाय, मिश्र जोध कहै सुखदाय॥
तिनहिं पढायो जोध को, मूल ग्रन्थ परवान।
तापर भाषा गुन कीयो, जोधराज सुखथान॥
पंडित चतुर सुजान है, इह जोध हरनाम है।
ताको संगति जोध को, भयौ सासतर लाभ॥
वही, अन्तिम प्रशस्ति।

हुए कविने लिखा है, 'वह भूपोंमें सिरमौर है, और प्रजाका सुष्ठु प्रकारसे पालन-पोषण करता है। उसके समान और कोई राजा नही है। सब जगह चैन छाया हुआ है।[1] शान्ति और सुव्यवस्थाके होनेके कारण ही जोधराज अनेक ग्रन्थोका निर्माण कर सके।

बाबू ज्ञानचन्दजीने अपनी 'दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थनाम सूची'के पृष्ठ ४–५ पर जोधराजकी सात रचनाओंका उल्लेख किया है। उनमे केवल 'भाव-दीपिका' हिन्दी गद्यका ग्रन्थ है, अवशिष्ट सब कृतियाँ पद्यमे लिखी गयी है। इनके अतिरिक्त कुछ पद भी मिले है। उनमे भगवान् जिनेन्द्रकी भक्ति प्रधान है। भाव उत्तम है और भाषा प्रौढ। 'चित्रबन्ध दोहा' और 'पद्मनन्दिपंचविशतिका–भाषा' भी उन्हींकी कृतियाँ हैं। ये अभीकी खोजोंमे उपलब्ध हुई हैं। उनकी रचनाओंका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकारसे है :

सम्यक्त्व कौमुदी

इसकी रचना वि० सं० १७२४ फाल्गुन बदी १३ शुक्रवारको पूर्ण हुई थी।[2] संवत् १७८४ की लिखी हुई एक प्रति नया मन्दिर दिल्लीके शास्त्रभण्डारमे मौजूद है। इसमे ६८ पृष्ठ है।[3] दूसरी प्रति संवत् १७९३ की लिखी हुई आमेरके शास्त्रभण्डारमे रखी हुई है। इसमें कुल ६१ पृष्ठ है। तीसरी प्रति जयपुरके ही बधीचन्दजीके मन्दिरके शास्त्रभण्डारके वेष्टन नं० ५८२ मे निबद्ध है। यह प्रति स० १८३० कार्तिक बदी १३ की लिखी हुई है। इसमे कुल ५६ पन्ने है। रचनाकाल स० १७२४ फाल्गुन बदी १३ दिया हुआ है। यह प्रति-लिपि हरीसिंह टोग्याने चन्द्रावतीके रामपुरामे की थी।

कविने यह रचना अपने मामा कल्याणके लिए की थी। कल्याण लुहाडी

---

१. परम प्रजा पालै सदा, सब भूपनि सिरमौर।
   रामसिंह राजा प्रगट, ता सम नाही और॥
   ताकै राज सुचैन स्यों, कियो ग्रन्थ इह जोध।
   वही।

२ संवत् सत्रहसौ चोईस, फागुन बदि तेरस सुभदीस।
   सुकरवार संपूरन भई, यहै कथा समकित गुन ठई॥
   सम्यक्त्व कौमुदी, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, १९१७, पृ० ६७।

३. नया मन्दिर, दिल्लीके शास्त्रभण्डारकी ब ५२ (ग) प्रति।

जातिके धर्मदासका छोटा पुत्र था।[1] लुहाडी बनियोंकी एक उपजाति है, जो राजस्थानकी तरफ़ अब भी पायी जाती है।

यह रचना मौलिक कृति नहीं है। कविने उसको मूल संस्कृतमें पढ़ा था। उसका यह भाषानुवाद है। इसमें जैन-भक्तोंकी कहानियाँ हैं, जो ११७८ दोहे-चौपाइयोंमें निबद्ध की गयी हैं।[2] अनुवाद होते हुए भी भाषा और शैलीकी दृष्टिसे नवीन कृति है। आदि और अन्त देखिए,[3]

"परम पुरुष आनंदमय, चेतन रूप सुजान।
नमूं शुद्ध परमात्मा, जग परकासक मान॥
परम जोति आनंदमय, सुमति होइ आनंद।
नाभिराज सुत आदि जिन, बंदौ पूरण चंद॥"

अन्त

"बंदौ सिव अवगाहना, अर वंदौ सिव पंथ।
असह देव वंदौ विमल, वंदौ गुरु निरगंथ॥
जिनवांणी पूजौ सही, ताते सब सुख होय।
कविता दुखन नहीं लगौ, सुख से पूरण होय॥
चंद सूर पानी अवनि, पवन अरु आकास।
मेरादिक जब लग अटल, तब लग जैन प्रकास॥"

धर्म सरोवर

इसकी रचना वि० सं० १७२४ आषाढ सुदी पूर्णिमाको हुई थी।[4] अर्थात् 'सम्यक्त्व कौमुदी'से आठ माह पूर्व। इसकी एक प्रति 'जैन मन्दिर सेठका कूँचा

१. धर्मदास को पूत लघु, जाति लुहाड्यो जोय।
नाम कल्याण सुजानिये, कवि कौ मामो सोय॥
नया मन्दिर दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति, प्रशस्ति।

२. ग्यारासै अठहत्तरि हहै छंद चौपई जान।
कह्यौ कौमुदी ग्रन्थ को जोध सुमति अनुमान॥
वही।

३. वही, पृ० २६१-२६२।

४. संवत सत्रह सै अधिक, है चौईस सुजानि।
सुदि पून्यौ आषाढ कौ, कियो ग्रंथ सुपदानि॥
जोधराज गोधीका, धर्मसरोवर, पद्य ३८५, सेठ कूँचा दिल्लीकी प्रति, नं० ३६३ पर निबद्ध।

दिल्ली' मे मौजूद है। इसमे कुल २३ पत्र हैं। इसपर रचना संवत् १७२४ दिया हुआ है। यह प्रति नवीन है और सं० १९८४ की लिखी हुई है।

यह एक मौलिक कृति है। इसमे विविध सुभाषित और स्तुतियोके द्वारा जैन धर्मका निरूपण किया गया है। एक स्तुति देखिए,

"शीतलनाथ भजो परमेश्वर अमृत मूरति जोति वरी।
भोग संजोग सुत्याग सबै सुषदायक संजम लाभ करी॥
क्रोध नहीं जहां लोभ नही कछू मान नहीं नहिं है कुटिलाई।
हरि ध्यान सम्हारि सजो सुभ केवल जोध कहै वह बात खरी॥"

प्रीतंकर चरित्र

इसकी रचना संवत् १७२१ में हुई थी। उसकी एक प्रति जयपुरके बडे मन्दिरके गुटका न० ११२ मे निबद्ध है। यह गुटका सं० १७२४ फाल्गुन सुदी १० का लिखा हुआ है। इसका उल्लेख ज्ञानचन्दजीकी सूचीमे भी किया गया है। इसमे महाराजा प्रीतंकरका चरित्र है, जो भगवान् जिनेन्द्रके परम-भक्त थे।

कथा-कोश

इसकी रचना सं० १७२२ मे की गयी थी। इसका उल्लेख पण्डित नाथूराम-जी प्रेमी[1] और श्री कामताप्रसादजी[2] जैनने किया है। उनका आधार श्री ज्ञानचन्द-जीवाली सूची है।

ज्ञान समुद्र

इसका निर्माण सं० १७२२ चैत्र सुदी १० को हुआ था। इसकी एक प्रति इसी संवत्की लिखी हुई जयपुरके बड़े मन्दिरमे वेष्टन नं० ५३३ मे निबद्ध है। इस प्रतिको स्वयं जोधराज गोधीकाने सागानेरमे लिखा था। इसमें ३३ पृष्ठ है। इसकी एक प्रतिका उल्लेख बाबू ज्ञानचन्दजीवाली सूचीमें भी हुआ है।

प्रवचन सार

इसकी रचना संवत् १७२६ मे हुई थी। इसकी एक प्रति जयपुरके बड़े मन्दिरके वेष्टन नं० ११९४ मे बँधी रखी है। इसपर रचनाकाल सं० १७२६ पड़ा हुआ है। यह प्रति सं० १७२९ कार्तिक बदी १ भृगुवारकी लिखी हुई है। इसमें ६४ पन्ने है। यह आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारका भाषानुवाद है।

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, १९१७, पृ० ६८।

२. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० १५६।

चित्रबन्ध-दोहा

इसका रचनाकाल तो मालूम नही है, किन्तु इसकी प्रति जिस गुटकेमे संकलित है, वह सं० १७२६ का लिखा हुआ है, अत. यह स्पष्ट है कि इसकी रचना उससे पूर्व ही हुई होगी। यह एक नयी रचना है। इसकी प्रति जयपुरके लूणकरजीके मन्दिरमे स्थित गुटका नं० १७६ मे निबद्ध है। जैनोमे चित्रबन्ध काव्यकी परम्परा बहुत पुरानी है।

पद्मनन्दि पंचविंशतिका भाषा

इसका निर्माण सं० १७२४ मे हुआ था। यह भी एक नयी खोज है। इसकी प्रति जयपुरके बड़े मन्दिरके वेष्टन न० ९७१ मे बँधी रखी है। यह प्रति स० १७२४ की ही लिखी हुई है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह जोधराजके हाथकी ही लिखी हुई है। इसमे १५७ पन्ने है। अन्तिम ३९ पत्र नही है।[1] यह भी पद्मनन्दि पंचविशतिकाका भाषानुवाद है।

जोधराजके पद

जोधराजके रचे हुए पद नयी खोजमे उपलब्ध हुए है। जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमे स्थित गुटका नं० ८० और १२८ मे इनके कतिपय पद सकलित है। बडौतके दि० जैन मन्दिरके गुटका न० ५५, बेष्टन नं० १७२ मे जोधराजकी एक विनती पृ० ९९-१०५ पर अंकित है। इसमे २४ पद्य है। विनतीमे पर्याप्त सरसता है,[2]

> "जै जै येक अनेक सरूप, जै जै धर्म प्रकासक रूप।
> वरन रहित रस रहित सुभाव, जै जै सुध आतम दरसाव ॥१२॥
> जै जै देव जगत गुरु राज, जै जै देव सकल संवारन काज।
> जै जै केवल ग्यान सरूप, मोह तिमिर षंडन रवी रूप ॥१४॥
> जब लग जीव भ्रमौ संसार, पाय सरूप लयौ अधिकार।
> जब लग मन वच काय करेय, जिनवर भगति हीय न धरेय ॥१५॥"

६८. जगतराम (वि० सं० १७२२–१७३०)

इनके पितामहका नाम भाईदास था, जो श्रावकोमे उत्तम और धार्मिक कार्यो-

१ राजस्थानके जैन शास्त्र भण्डारोंकी ग्रन्थ सूची, जयपुर, भा० २, पृ० १५६।
२ वही, भाग ३, पृष्ठ क्रमशः १३७, १५३।

के निष्पन्न करने और करवानेमे प्रसिद्ध थे। वैसी ही उनकी पत्नी थी। वह कमलाकी भाँति सुन्दरी और गुणवती थी। उसके गर्भसे दो पुत्र उत्पन्न हुए, एकका नाम था रामचन्द्र और दूसरेका नन्दलाल। दोनो ही माँ-बापके अनुरूप स्वस्थ, रूपवान् और गुण-सम्पन्न थे।[1] जगतराम इन दोमे-से किसी एकके पुत्र थे। कवि काशीदासने अपनी 'सम्यक्त्व-कौमुदी'मे उनको रामचन्द्रका सुत कहा है।[2] 'पद्मनन्दि पंचविंशतिका'की प्रशस्तिमे उनको स्पष्ट रूपसे नन्दलालका पुत्र स्वीकार किया गया है।[3] श्री अगरचन्दजी नाहटाने उनको रामचन्द्रका पुत्र माना है।[4]

इनके पितामह शहर गुहानाके रहनेवाले थे, किन्तु उनके दोनो पुत्र पानीपतमे आकर रहने लगे थे।[5] जगतरामकी रचनाओ और उनके आश्रित कवियोके कथनसे

---

१ भाईदास महीं मे जानिये, ता तिय कमला सम मानिये।
ता सुत अति सुन्दर वरवीर, उपजे दोऊ गुण सायर धीर ॥
दाता भुगता दीनदयाल, श्री जिनधर्म सदा प्रतिपाल।
रामचद नन्दलाल प्रवीन, सब गुण ग्यायक समकित लीन ॥
कवि काशीदास, सम्यक्त्व-कौमुदी, डॉ० ज्योतिप्रसाद, हिन्दी जैन साहित्यके कुछ अज्ञात कवि, अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०।

तथा

भाईदास श्रावक परसिद्ध, उत्तम करणी कर जस लिद्ध।
नन्दन दोइ भये तसु धीर, रामचद नन्दलाल सुवीर ॥
सालिभद्र कलियुग मे एह, भाग्यवन सब गुण को गेह।
पुण्यहर्ष, पद्मनन्दि पंचविंशतिका, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, अगस्त १९५०, पृ० २३३।

२. रामचंद सुत जगत अनूप, जगतराय गुण ग्यायक भूप।
काशीदास, सम्यक्त्वकौमुदी, प्रशस्ति, अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०।

३. सुजानसिंघ नन्दलाल सुनन्द, जगतराय सुत है टेकचंद।
जो लौ सागर ससि दिनकार, तो लौ अविचल ए परिवार ॥
पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, प्रशस्ति, प्रशस्ति सग्रह, पृ० २३४।

४. अगरचन्द नाहटा, 'आगरेके साहित्य प्रेमी जगतराय और उनका छन्द रत्नावली ग्रन्थ', भारतीय साहित्य, वर्ष २, अक २, अप्रैल १९५७, आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा, पृ० १८१।

५. सहर गुहाणावासी जोइ, पाणीपंथ आई है सोइ।
रामचंद सुत जगत अनूप, जगतराय गुण ग्यायकभूप ॥
सम्यक्त्व-कौमुदी, प्रशस्ति, अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०।

ऐसा प्रतीत होता है कि जगतराम स्वयं अपने परिवारसहित आगरेमे आकर बस गये थे।[1] वे औरंगजेबके दरबारमे किसी उच्च पदपर प्रतिष्ठित थे। उन्हे राजाकी पदवी मिली हुई थी।[2] शायद इसी कारण लोग उन्हे जगतरामके स्थानपर जगतराय कहने लगे थे। काशीदासने उन्हे 'भूप' और 'महाराज'-जैसे विशेषणोसे युक्त किया है।[3] उनकी जाति अग्रवाल और गोत्र सिघल था।[4]

वे स्वयं राजा थे किन्तु अहंकार नाम-मात्रको भी नही था। उन्होंने अनेक कवियोंको उदारतापूर्वक आश्रय दिया, उनमे एक काशीदास भी थे। डॉ० ज्योतिप्रसाद जैनके कथनानुसार यह सम्भव है कि वे जगतरायके पुत्र टेकचन्दके शिक्षक भी हो। श्री अगरचन्द नाहटाने लिखा है, "जगतराय एक प्रभावशाली धर्म-प्रेमी और कवि-आश्रयदाता तथा दानवीर सिद्ध होते है।[5]"

रचनाएँ

जगतरामकी रचनाओंके विषयमे विवाद है। पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ' मे जगतरायकी तीन छन्दोबद्ध रचनाओका उल्लेख किया है:[6] 'आगम विलास', 'सम्यक्त्व-कौमुदी' और 'पद्मनन्दी पचविंशतिका'। अनेकान्त वर्ष ४, अंक ६, ७, ८ मे प्रकाशित दिल्लीके नये मन्दिर और सेठके कूँचेके मन्दिरकी ग्रन्थ सूचीके अनुसार जगतराय 'छन्द रत्नावली' और 'ज्ञानानन्द श्रावकाचार'के भी रचयिता थे। इनमे 'श्रावकाचार' गद्यका ग्रन्थ है।

दिल्लीकी ग्रन्थ सूचीके अनुसार 'आगमविलास' एक सग्रह-काव्य है। यह संग्रह वि० स० १७८४ माघ सुदी १४ को मैनपुरीमे किया गया था। उसकी प्रशस्तिमे लिखा है कि द्यानतरायके सं० १७१३ मे स्वर्गवास हो जानेपर उनके

---

१ सहर आगरो है सुख थान, परतपि दीसै स्वर्ग विमान।
चारो वरन रहै सुख पाइ, तहाँ बहु शास्त्र रच्यो सुखदाइ।
पद्मनन्दिपचविंशतिका, प्रशस्ति सग्रह, पृ० २३४।

२. अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०, पृ० ३७५।

३. काशीदास, सम्यक्त्व-कौमुदी, प्रशस्ति और पुष्पिका, अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०।

४. अग्रवाल है उमग्यानि, सिघल गोत्र वसुधा विख्यात।
पुण्यहर्ष, पद्मनन्दिपचविंशतिका, प्रशस्ति सग्रह, पृ० २३३।

५. भारतीय साहित्य, वर्ष २, अंक २, आगरा, पृ० १८१।

६. प० नाथूराम प्रेमी, दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्ता और उनके ग्रन्थ, जैन-हितैषी, १९११ ई०, पृ० ४२।

पुत्र लालजीने आलमगंजके झाँझूको यह संग्रह दे दिया। जगतरायने उससे लेकर संकलनका नाम 'आगम विलास' रख दिया।

सम्यक्त्व-कौमुदीको पं० नाथूराम प्रेमीने जगतरायकी कृति कहा है। उन्होंने उसका रचनाकाल वि० स० १७२१ माना है।[1] श्री अगरचन्दजी नाहटाका कथन है, "प्रेमीजी और कामताप्रसादजीने तो इस ग्रन्थको जगतरायका ही बतलाया है क्योंकि उन्होंने प्रति व प्रशस्ति नही देखी।[2]" प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि इसकी रचना वि० सं० १७२२ वैशाख सुदो १३ को हुई थी।[3] इसमे ४३३६ पद्य है। इसके रचयिता कवि काशीदास थे। किन्तु इस प्रशस्तिके अन्तमे लिखा है, "इति श्रीमन् महाराज श्री जगतरायजी विरचिताया सम्यक्त्व कौमुदी-कथाया अष्टम् कथानकम् सम्पूर्णम्।" इसका अर्थ है कि जगतरायके द्वारा विरचित सम्यक्त्व-कौमुदीमे आठवाँ कथानक पूरा हुआ। डॉ० ज्योतिप्रसादने 'विरचित' शब्दको दूसरोंके द्वारा रचवानेके अर्थमे लिया है,[4] किन्तु विरचित शब्द स्वय रचनेके अर्थमे ही आता है। इसके अतिरिक्त प्रशस्तिमे यह भी लिखा हुआ है,

"रामचंद सुत जगत अनूप, जगतराय गुण ज्ञायक भूप।
तिन यह कथा ज्ञान के काज, वरणी आठों समकित साज॥"[5]

ऐसा प्रतीत होता है कि जगतरायने वि० स० १७२१ मे इसकी रचना की, और काशीदासने वि० सं० १७२२ में उसकी प्रतिलिपि, उनके पुत्र टेकचन्दके पढानेके लिए की। इस कथामे अनेकानेक जिनेन्द्र भक्तोकी कथाएँ है।

'पद्मनन्दी पचविंशतिका' ज्ञानचन्द जैनीकी 'दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली' के अनुसार जगतरायकी कृति है।[6] किन्तु उसकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि

१. वही, पृ० ४२।
२. भारतीय साहित्य, वर्ष २, अक २, आगरा, पृ० १८०।
३. विक्रम संवत् तै जानि, सत्रह मै बाईस बखान।
माधवमास उजियारो सही, तिथि तेरस भुगत सो लही॥
ता दिन ग्रथ सम्पूर्ण भयो, समकित ज्ञान सकल तरु बयो।
काशीदास, सम्यक्त्व कौमुदी, प्रशस्ति, भारतीय साहित्य, पृ० १८०।
४. पुष्पिकामें भी जगतरायके प्रसंगमे 'विरचिताया' पदका प्रयोग करना इस बातको निर्विवाद सूचित करता है कि जगतरायने इस ग्रन्थको रचा नहीं था, रचवाया था। डॉ० ज्योतिप्रसाद, हिन्दी जैन साहित्यके कुछ अज्ञात कवि, अनेकान्त वर्ष १०, किरण १०, पृ० ३७६।
५. कवि काशीदास, सम्यक्त्वकौमुदी, प्रशस्ति, भारतीय साहित्य, पृ० १८०।
६. बाबू ज्ञानचन्द जैनी, दिगम्बर जैन भाषा ग्रन्थ नामावली, लाहौर, सन् १९०१ ई०, पृ० ४, नम्बर ८।

पुण्यहर्ष और उनके शिष्य अभयकुशलने, इसकी रचना वि० सं० १७२२ फाल्गुन सुदी १० मंगलवारको आगरेमें जगतरायके लिए की थी। प्रशस्तिके "कीनी भाषा एह, जगतराय जिहि विधि भाषो" से सिद्ध है कि जगतरायने जैसे कहा, वैसे ही इसका निर्माण हुआ।[1]

आगरेके नवाब हिम्मतखानके कहनेसे जगतरायने 'छन्द रत्नावली'की रचना वि० सं० १७३० कार्तिक सुदीमें, आगरेमें की थी। यह हिन्दी साहित्यका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें विविध प्रकारके छन्दोंका विवेचन हुआ है। इसमें सात अध्याय हैं। छठे अध्यायमें फारसीके छन्दोंका और सातवेंमें तुकोंके भेदोंका विशद वर्णन है। जगतरायने उस समयके उपलब्ध सभी छन्द-शास्त्रोंका अध्ययन करके, और उनका सार लेकर इस ग्रन्थकी रचना की थी।[2] इस ग्रन्थकी एक हस्त-लिखित प्रति नया मन्दिर धर्मपुराके दिगम्बर जैन सरस्वती भण्डारमें मौजूद है, इस प्रतिमें पत्रसंख्या १००, श्लोकसंख्या २८०० और निर्माणकाल १७३७ दिया हुआ है। उसके प्रारम्भिक दो पद्योंमें हिम्मतखानका यशोल्लेख है।[3] कहीं-कहीं जैन पारिभाषिक शब्द भी आये हैं।

नवीन खोजोंमें जगतरामके बनाये हुए कुछ पद भी प्राप्त हुए हैं। जगतराम-की 'जैन पदावली' का उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके एक खोज-विव-रणमें हुआ है। इसके अतिरिक्त उनकी रची हुई विनतियाँ भी उपलब्ध हुई है।

जैन-पदावली

इसकी सूचना काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरणमें संख्या ९४ पर अंकित है। सम्पादकोंने इसकी प्रति किरावली जिला आगराके

---

१ पद्मनन्दिप ञ्चविंशतिका, प्रशस्ति, भारतीय साहित्य, पृ० १८१।

२. जुगतराई सों यों कह्यो, हिम्मतखान बुलाई।
पिंगल प्राकृत कठिन है, भाषा ताहि बनाई ॥३॥
छंदो ग्रन्थ जितेक है, करि इक ठौरे आनि।
समुझि सबको सार ले, रतनावली बखानि ॥४॥
छन्द रत्नावली, नया मन्दिर, धर्मपुरा दिल्लीकी प्रति, नम्बर ८१।

३. उज्जल जस अबर कर्‌यो दस दिस हिमतखान।
मुकता तजि सुर सुन्दरिन, भूषन कियो कान।
हिम्मतखां सों अरि कपत, भाजत लै लै जीय।
अरि रि हमें हूँ सँग लै, बोलत तिनकी तीअ ॥
वही, पृ० १८३।

जैन मन्दिरसे उपलब्ध की थी। इसमें श्री जगतरामके रचे हुए २३३ पद हैं। उसपर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखते हुए सम्पादकोंने कहा है, "इन्होंने अष्टछाप कवियोंकी शैलीपर पदोंकी रचनाएँ की, जिनका एक संग्रह प्रथम खोजमें प्रथम बार उपलब्ध हुआ है। इसमें तीर्थंकरोंकी स्तुतियाँ सुन्दर पदोंमें वर्णन की गयी हैं।[1]" जगतरामके पद छोटी-छोटी रसकी पिचकारियों-से मालूम होते हैं। उनके पदोंमें कविका उद्दाम आवेग जैसे फूटा हो पड रहा है।

एक स्थानपर कवि अपनी भूलको स्वीकार करते हुए कहता है, "हे प्रभु! हमने विषयकषायोंका खूब सेवन किया और तुम्हारी सुध बिसरा दी। उन्होंने मुझे विषधर नागकी भाँति डँस लिया। अब मैं मोहरूपी जहरकी लहरसे आक्रान्त हो उठा हूँ। अब उसके उपशमनका एकमात्र उपाय भक्तिरूपी गारुड-जड़ी है। अतः हे भगवन्! हम आपके चरणोंकी शरणमें आये हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि आपकी उदारतापूर्ण कृपा उपलब्ध होगी। आपके बिना हमारा कोई सहायक नहीं। और सब देवता स्वार्थके साथी हैं",

"प्रभु बिन कौन हमारौ सहाई।
और सबै स्वारथ के साथी, तुम परमारथ भाई॥
भूल हमारी ही हमको इह, भयो महा दुखदाई।
विषय कषाय सस्य संग सेयो, तुम्हरी सुध विसराई॥
उन डसियो विष जोर भयो तब, मोह लहरि चढ़ि आई।
भक्ति जड़ी ताके हरिबे कूं, गुर गारुड़ बताई॥
याते चरन सरन आये हैं, मन परतीति उपाई।
अब जगराम सहाय की येही, साहिब सेवगताई॥"

जगतरामके पदोंमें आध्यात्मिक फागुओंकी अनोखी छटा विद्यमान है। ये फागु छोटे-छोटे रूपकोंमें निबद्ध हैं। एक फागु इस प्रकार है,[2]

"सुध बुधि [illegible]गोरी संग लेय कर,
सुरुचि गु[illegible]ल लगा रे तेरे।
समता [illegible]ल पिचकारी
करुणा केसर [illegible] छिरकाय रे तेरे॥
अनुभव पानि[illegible] सुपारी चरचानि
सरस रंग [illegible]गाय रे तेरे।

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाका पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, सख्या ६४।
२. महावीरजी अतिशयक्षेत्रका एक प्राचीन गुटका, साइज ८×६, पृ० १६०।

राम कहे जे इह विधि षेले
मोक्ष महल में जाय रे ॥ सु० ॥"

पद-संग्रह

जैन पदावलीके अतिरिक्त और भी अनेक पदोंका निर्माण जगतरामने किया था। बडौतके दि० जैन मन्दिरके शास्त्र भण्डारके एक पद-संग्रहमें जगतरामके शतश. पद अंकित हैं। उनके पद जयपुरके बधीचन्दजीके शास्त्र भण्डारके गुटका नं० १३४ में भी निबद्ध हैं। जगतरामने अपने नामके स्थानपर कहीं 'राम' और कहीं 'जगराम' भी लिखा है। उनके पद अध्यात्ममूला भक्तिके प्रतीक हैं। एक पदमें कविके 'आनन्दघन बरसन' की चाहना और 'सेवा पद परसन' की लालसा देखिए,[1]

"मोहि लगनि लागी हो जिन जी तुम दरसन की ॥ टेक ॥
सुमति चातकी की प्यारी जो पावस ऋतु सम आनंदघन बरसन की ॥
बार बार तुमकों कहा कहिये तुम सब लायक हो मेटो विथा तरसन की।
त्रिभुवनपति जगराम प्रभु, अब सेवक कौं द्यौ सेवा पद परसन की ॥"

भक्त कविको प्रभुकी छवि अनुपम लगती है। उसे पूर्ण विश्वास है कि यदि ऐसे प्रभुका, 'सुमरन' किया जाये तो अवश्य ही मोक्ष प्राप्त होगा।

"अद्भुत रूप अनूपम महिमा तीन लोक में छाजै।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक चन्द्र सूर्य गण लाजैं ॥
धरि अनुराग विलोकत जाकौं अशुभ करम तजि भाजै।
जो जगराम बनै सुमरन तौ अनहद बाजा बाजै ॥"

लघुमंगल

इसमें केवल १३ पद्य हैं। इसकी हस्तलिखित प्रति दि० जैन मन्दिर बड़ौतके गुटका नं० ५४ पत्र ९९-१०२ पर अंकित है। तीर्थंकरकी माँके गर्भवती होनेपर इन्द्रने कुबेरको नगरकी नयी रचना करनेके लिए भेजा। उसने उसे नौ योजनमें विस्तृत बनाया। उसे स्वर्ण और रत्नसे जड़ दिया। देवकुमारियाँ माताकी सेवाके लिए रख दी गयी। छह माह तक रत्नोंकी बर्षा होती रही,

"सुरपति धनिन्द्र पठाइयो, नगर रच्यौ बिसतारौ जी।
नौ बारा जोजन तणौं, कनक रतन मई सारो जी ॥

१. मन्दिर बधीचन्दजी, जयपुर, पद-संग्रह नं० ४९२, पत्र ७८।७४।
२. बड़ौतके दि० जैन मन्दिरका पदसंग्रह, पृ० १०।

देवकुमारी मात पै, सेवा काज रचाई जी।
तातै गहे षट मास लौं, रतनावृष्टि बरषाई जी॥"

६९. विश्वभूषण (वि० सं० १७२९)

विश्वभूषण एक प्रसिद्ध भट्टारक थे। उनका सम्बन्ध बलात्कारगणकी अटेर-शाखासे था। उनकी गुरु-परम्परा इस प्रकार थी शीलभूषण, ज्ञानभूषण और जगद्भूषण।[१] विश्वभूषणने वि० स० १७२२ माघ कृष्ण ५ को एक सम्यग्दर्शन-यन्त्र स्थापित किया था।[२] उन्होने शौरीपुरमे वि० सं० १७२४ वैशाख कृष्ण १३ को एक मन्दिरका भी निर्माण करवाया था।[३] 'ज्योति प्रकाश' नामके ग्रन्थमे इनकी और इनके कार्योकी प्रशंसा की गयी है।[४] इनके उपदेशसे ही पं० हेमराजने शहर गहेलीमे सुगन्धदशमीकथा लिखी थी।[५] इस शहरको विश्वभूषणका जन्म-स्थान माननेका कोई आधार नही है।[६]

उनकी भट्टारकीय गद्दी हथिकान्तमे थी। उस समय यह जिला आगरेका प्रसिद्ध नगर था। वहाँ बडे-बडे धार्मिक श्रावक रहते थे।[७] उनमे विश्वभूषणका

१. भट्टारक सम्प्रदाय, विद्याधर जोहरापुरकर सम्पादित, शोलापुर, पृ० १३२।

२. "सं० १७२२ वर्षे माघवदि ५ सोमे श्रीमूलसघे भ० जगद्भूषण तत्पट्टे भ० श्री विश्वभूषण तदाम्नाये यदुवंशे लंबकचुक पचोलने गोत्रे सा भावते हीरामणि।"
जैनसिद्धान्तभास्कर, प्रतिमालेख संग्रह, पृ० १८, भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० १२८।

३ श्रीमूलसघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये श्रीजगत्भूषण श्री भ० विश्वभूषणदेवा स्वरीपुरमे जिनमदिर प्रतिष्ठा सं० १७२४ वैशाख-वदि १३ को कारापिता।"
जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १८, पृ० ६४, भट्टारकसम्प्रदाय, पृ० १२८।

४. "ज्ञानभूषण जगदिभूषण विश्वभूषण गणाग्रणो त्रयी चिन्मयी स्वविनयी हिताश्रयो स्ताद् यतो भवति मे विधिर्जयी।"
वही, पृ० १३, वही, पृ० १२८।

५. सुगधदशमीकथा, दिल्ली, सन् १९२१, पद्य ३७-३९।

६. का० ना० प्र० पत्रिकाके १५वें त्रैवार्षिक विवरणमें, इन्हें शहर गहेलीका निवासी लिखा है।

७. "नगर बडो हथिकत, अहो हथिकंत प्रसिद्ध, धर्मभाव श्रावग ता है।"
जिनमतखिचरी, हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६६।

बहुत सम्मान था। वे विद्वान् थे और धार्मिक भी। उनके अनेकों शिष्य थे, जिनमें भट्टारक ललितकीर्तिका विशेष नाम है। विश्वभूषणके अलौकिक व्यक्तित्व और असाधारण गुणोंसे केवल जनसाधारण ही नही, अपितु विद्वान् भी आते थे। वे हिन्दीके अच्छे कवि थे। उन्होने पूजाओ, कथाओ और अनेकानेक पदोकी रचना की। 'जिनदत्तचरित्त','जिनमतखिचरी' और 'निर्वाण मंगल' इन्हीकी कृतियाँ है। इन्होंने एक 'ढाईद्वीप' भी रचा था, जिसकी कई जयमालाएँ हिन्दीमें है। विश्वभूषणका रचना संवत् अठारहवी शताब्दीका पूर्वार्द्ध ठहरता है। ऐसा इनकी कई कृतियोके रचनाकालसे स्पष्ट है।

निर्वाण मंगल

इसका सम्बन्ध निर्वाण-भक्तिसे है। यह हिन्दी-पद्यमे लिखा गया है। इसकी एक प्रति जयपुरके लूणकरजीके मन्दिरमे स्थित गुटका नं० १६१मे निबद्ध है। इसकी रचना वि० सं० १७२९मे हुई थी।[1] यह एक छोटा-सा गीति-काव्य है, जिसमे निर्वाण-सम्बन्धी भावोंको व्यक्त किया गया है।

अष्टाह्निका-कथा

इस कथाका निर्माण वि० सं० १७३८मे हुआ। इसका उल्लेख श्री कामताप्रसादजी जैनने अपने 'हिन्दी जैन साहित्यके संक्षिप्त इतिहास' पृ० १६६ पर किया है। इसमे नन्दीश्वरकी भक्तिको प्रकट करनेवाली कथा है। आषाढ, कार्तिक और फाल्गुनके अन्तिम आठ दिनोमे अष्टाह्निका-पर्व मनाया जाता है। इन दिनो नन्दीश्वर द्वीपकी पूजा-भक्ति की जाती है। एतद्सम्बन्धी भाव ही इस कथामे प्रकट हुए है।

आरती

इसकी हस्तलिखित प्रति मन्दिर ठोलियान, जयपुरके गुटका नं०१३१मे निबद्ध है। यह गुटका वि० सं० १७७९ मगसिर बदी ३का लिखा हुआ है। इस कृतिमे ९ पद्य है। कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार है,

> "पहली आरति प्रभुजी की पूजा।
> देवनिरंजन और न दूजा॥
> दुसरी आरति सिवदेवी नंदन।
> भक्ति उधारण करमनि कंदन॥

१. राजस्थानके जैन शास्त्र भण्डारोंकी ग्रन्थसूची, भाग २, पृ० ११२।

आठई॑ आरति सिव सुष पावै ।
नेमजी के गुण विश्वभूषण गावै ॥"

नेमिजीका मंगल

इसकी हस्तलिखित प्रति दि० जैन मन्दिर पाटौडी, जयपुरके गुटका नं० १२ मे, पत्ता १६-१७ पर निबद्ध है। कविने इसकी रचना सिकन्दराबादके 'पार्श्व जिन देहुरे'मे की थी। इसका रचनाकाल वि० सं० १६९८ श्रावण शुक्ला ८ दिया हुआ है। अवश्य ही उस समय विश्वभूषण केवल मुनि होंगे, भट्टारक नही। उस समयके सिकन्दराबादमे धार्मिक श्रावक रहते थे। उनकी दानमे प्रवृत्ति थी। प्रारम्भिक पंक्तियाँ है,

"प्रथम जपौ परमेष्ठि तौ हीयौ धरौ
सरस्वती करहुं प्रणाम कवित्त जिन उच्चरौं।
सोरठि देस प्रसिद्ध द्वारिका अति बनी
रची इन्द्र नै आइ सुरनि मनि बहुकनी ॥"

पार्श्वनाथका चरित्त

इसकी हस्तलिखित प्रति भी उपर्युक्त गुटकेमे ही संकलित है। इसका रचनाकाल नहीं दिया है। कविने अन्तिम पद्यमे स्वीकार किया है कि इसकी रचना आचार्य गुणभद्रके उत्तरपुराणको आधार मानकर की गयी है। रचनामे प्रवाह है। प्रारम्भिक पद्य देखिए,

"मनउ सारदा माई, मजौ गनधर चितु लाई।
पारस कथा सम्बन्ध, कहौं भाषा सुखदाई ॥
जम्बू दखिम भरथ मैं, नगर पोदना मांझ।
राजा श्री अरविन्दजू, भुगतै सुख अवाझ ॥
विप्र तहाँ एकु वसै, पुत्र द्वौ राज सुचारा।
कमठु बड़ौ विपरीत, विसन सेवै जु अपारा ॥
लघु भैया मरुभूति सौ वसुधरि दई ता नाम।
रति क्रीड़ा सेज्या रच्यौ हो कमठ भाव के धाम ॥"

पंचमेरु-पूजा

इस पूजाकी प्रति बधीचन्दजीके मन्दिर जयपुरमे स्थित गुटका नं० १२५मे निबद्ध है। तीर्थंकरोके अभिषेक-जलसे पंचमेरु तीर्थक्षेत्र कहे जाते है। सुदर्शन, विजय, अचल, मन्दिर और विद्युन्माली, पंचमेरुओंके नाम है। इनपर अस्सी जिन-

चैत्यालय बने हुए हैं। सुर-गण भी इनको प्रदक्षिणा दिया करते हैं।

जिनदत्त-चरित्त

इसका निर्माण वि० सं० १७३८मे हुआ था। सबसे पहले इसका उल्लेख पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने किया।[१] 'मिश्रबन्धु-विनोद'में भी इसकी सूचना निबद्ध है।[२] बाबू कामताप्रसादजीने श्री प्रेमीजीके आधारपर ही इसका उल्लेख किया है।[३] जिनदत्तकी भक्तिमे इस चरितकी रचना हुई थी।

जिनमत-खिचरी[४]

यह एक छोटा-सा मुक्तक काव्य है। इसमे १४ पद्य है। जीवात्माको परमात्माके दर्शनकी प्यास लग रही है। क्यो न लगे, परमात्मा उसका पति है। पति अभीतक नहीं आया। अवश्य ही वह मोहमहामद पीकर किसी भ्रम-जालमे फँस गया है,

> "लगु रही मो हिय हो दरसन की, पिया दरसन की आस
> दरसनु कहि न दीजिये ॥१॥
> काहे हो भूले भ्रम पीया, भूले भ्रम जाल, मोह महामद
> पीजिये ॥२॥"

अन्तमे कविने लिखा है कि इसके पढनेसे मंगल होता है। मगल इसीलिए होता है कि इसमे भगवान् जिनेन्द्रकी शरणमे जानेका भाव ही प्रधान है। वह पद्य देखिए,

> "सुनियो हो भवि मनु दे, अहो भवि मनु दे याहि
> मंगल होहि शरणा तनै।
> कीनी हों परमारथ, अहो परमारथ हेत,
> विश्वभूषन मुनिराजनै ॥१४॥"

पद

इनके द्वारा रचा हुआ एक पद जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमे विराजमान गुटका नं० ५१में संकलित है। यह गुटका स० १८२३ कार्तिक बदी ७का लिखा हुआ है। इस पदकी आरम्भिक पंक्ति 'जिण जपि जिण जपि जीयडा' है। उसमें

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृष्ठ ७०।
२. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृष्ठ ५०६।
३. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १६६।
४. वही, पृष्ठ १६६।

भगवान् जिनेन्द्रको जपनेका ही भाव प्रधान है। एक दूसरे पदमे अपनी निन्दा कर यह बताया गया है कि "मैने स्वयं अपनेको कर्मोंमें बाँधा है फिर मैं उनको तोड कैसे सकता हूँ। मैंने देव-शास्त्र गुरुकी निन्दा कर मिथ्यात्वको स्वीकार किया है। रात-दिन विषय-चर्चा करके संयमको डुबा दिया है। तब तो हँस-हँसके कर्मोंको बाँध लिया, अब उनको भुगतते हुए रोना आता है। अब तो सम्यक्त्वसे रुचि करनेसे ही कर्म दूर हो सकते हैं।" देखिए,

"कैसे देहुं कर्मनि षोरि !
आप ही मैं कर्म बांधो, क्यों करि डारौं तोरि ॥१॥
देव गुरु श्रुत करी निन्दा, गह्यो मिथ्या डोरि।
कर निसु दिन विष चरचा, रह्यौ संजमु बोरि ॥२॥
हांसी करि करि कर्म बांधे, तबहि जानी थोरि।
अबहि भुगतत रुदनु आवै, जैसे वन घन मोरि ॥३॥
चतुर रुचि सम्यक्त सौं करि, तत्व सौं रुचि जोरि।
विश्वभूषन ! जोति जो जोवत, सकल कर्मनु फोरि ॥४॥"[1]

विश्वभूषणके अनेक 'पद' दि० जैन मन्दिर बडौतके पद-सग्रह ५८मे संकलित है। वे उत्तम काव्यके निदर्शन है। विश्वभूषण भक्त थे और कवि भी, यह उनके पदोसे स्पष्ट ही है। उनकी दृष्टिमे इस 'बौरे' जीवको सदैव जिनेन्द्रका नाम लेना चाहिए। यदि यह 'परम तत्त्व' प्राप्त करना चाहता है, तो तनकी ओरसे उदासीन हो जाये। यदि ऐसा नही करेगा तो भव-समुद्रमे गिर जायेगा और चहुँगतिमे घूमना होगा। विश्वभूषण भगवान्के 'पद-पंकज' मे इस भाँति रॉच गया है, जैसे कमलोमे भौरा[2]

"जिन नाम लैरे बौरा, तू जिन नाम लैरे बौरा।
जै तू परम तत्व कौं चाहै तौ तन कौ लगै न जौरा ॥
नातरकै भवदधि में परिहै भयौ चहूंगति दौरा।
विसभूषण पदपंकज राच्यौ ज्यौं कमलन विचि भौंरा ॥"

अनेकान्तरूपी लहरके जागृत होते ही ममता भाग जाती है। कविने उसे नागिन कहा है। यह वह नागिन है, जिसके रूप नही, रेखा नही, वर्ण नही, शोभा नही। यह अमृत-रसमे पगी रहती है। इसके डसनेसे अमरपद मिलता है। इसके फणाटोपमे ऐसी ज्वाला उत्पन्न होती है, जो योग-रसायनका काम

१. कामताप्रसाद जैन, हिन्दी साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६६।
२. पदसंग्रह नं० ५८, दि० जैन मन्दिर, बड़ौत, पत्रा ४८।

करती है। जो इसको समझ लेता है, उसे अवश्य ही मोक्ष-सुख उपलब्ध होता है,[१]

"साधो नागनि जागी।
जाके जागत ममता भागी, साधो नागनि जागी ।।
स्याद सुथान मोमिकावासी वसै तहीं अनुरागी।
रूप न रेख वरन नहिं सोमा अमृत रस सौं पागी ।।
जाके डसैं लहै अमरापद भई अवस्था नांगी।
फणाटोपमें ज्वाला जागी जोग रसायण लागी ।।
वाद विवाद दोष सब छांडे लोक त्रिभाषा दागी।
विसभूषण जो याकौं समझे होय मुकति सुख आगी।"

कवि उस योगीमें चित्त लगाना चाहता है, जिसने सम्यक्त्वकी डोरी कसके शीलका कछोटा पहना है। ज्ञानरूपी गूदड़ी गलेमें लपेट रखी है। योगरूपी आसनपर बैठा है। वह आदिगुरुका चेला है। उसने मोहरूपी कान फड़वाये है, उनमें शुक्लध्यानकी बनी मुद्रा पहनी है, उनकी शोभा कहते नहीं बनती। क्षायक-रूपी सिगी उसके पास है, जिसमें-से करणानुयोगका नाद निकलता है। वह तत्त्व गुफामें बैठकर दीपक जलाता है और चेतनरूपी रत्नको प्राप्त कर लेता है। वह अष्टकर्मके कण्डोकी धूनी रमाता है, ज्ञानकी अग्नि जलाता है। उपशमके छन्नेसे छानकर सम्यक्त्वरूपी जलसे मल-मलकर नहाता है। इस प्रकार वह योगरूपी सिंहासनपर बैठकर मोक्षपुरी जाता है। उसने ऐसे गुरुकी सेवा की है, जिससे उसे फिर कलियुगमें नही आना होगा,[२]

"ता जोगी चित लाऊँ।
सम्यक् डोरी सील कछोटा घुलि घुलि गाँठि लगाऊँ।
ग्यान गूदरी गल में मेलौं जोग आसन ठहराऊँ ॥
आदि गुरु का चेला होकै मोह का कान फराऊँ।
शुक्लध्यान मुद्रा दोउ सोहै ताकी सोभा कहत न पाऊँ ।।
ष्यायक सींगी गलमें मेलूँ करणा नाद सुनाऊँ।
तत्त्वगुफा में दीपक जोऊँ चेतन रतनहिं पाऊँ ।।
अष्ट करम काण्डे की धूनी ग्याना अगनि जराऊँ।
उपसम छन नाम सम छानिकै मलि मलि अंग लगाऊँ ॥
इह विधि जोग सिंहासन बैठो मुकतिपुरी कौं जाऊँ।
विसभूषण ऐसे गुरु सेवै बहुरि न कलि में आऊँ।"

१. वही, पन्ना ४६।
२. वही, पन्ना ४६।

ढाईद्वीप-पाठ

वैसे तो इसकी रचना संस्कृतमें की गयी है, किन्तु इसकी कई जयमालाएँ हिन्दीमें है। उनमें काव्यत्व है और भक्ति भी।[१]

७०. जिनरंगसूरि (वि० सं० १७३१)

आपका जन्म श्रीमाल जातिके 'सिन्धूड़' वंशमें हुआ था। उनके पिताका नाम साँकरसिंह और माँका नाम 'सिन्दूरदे' था।[२] उन्होंने अनुपम रूप पाया था। प्रतिभा भी असाधारण थी। जैसलमेरमें सं० १६७८ फाल्गुन कृष्णा ७ को उन्होंने श्री जिनराजसूरिसे दीक्षा ली थी।[३] श्री सूरिजी खरतरगच्छ शाखाके पट्टधर सूरि थे। उनमें पूर्वाचार्य जिनचन्द और जिनसिंह सूरि थे, जिनको सम्राट् अकबर और जहाँगीरने अनेकों बार सम्मानित किया था।[४] श्री जिनराजसूरि भी एक प्रसिद्ध आचार्य थे। उनकी विशेष ख्याति थी। उन्होंने खरतरगच्छके कल्याणको दृष्टिमें रखकर ही जिनरंगको उपाध्याय पदसे विभूषित किया।[५] उनमें 'उपाध्याय'के योग्य योग्यता थी और व्यक्तित्व भी।

---

१. कामताप्रसाद जैन, हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६६।

२. सिधुड वश दिनेसरु, सांकरसाह मल्हार न रे।
'सिन्दूरदे' उर हंसलउ, खरतरगच्छ सिणगार न ॥
मनमोहन महिमा मिलउ, श्रीरंगविजय उवझाय न रे।
सेवत सुरतरु मम बडइ, सबहि कइ मनि भाय न रे ॥६॥
राजहसकृत, जिनरंगसूरि गीत, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ० २३१।

३. संवत् सोल अठहतरइ, जैसलमेरु मझारि तरे।
फागुण बदि सत्तमि दिनइ, संयमल्यइ शुभ वार न रे ॥ मनमोहन० ॥२॥
वही, पृ० २३१।

४. भानुचन्द्र गणि चरित्रकी भूमिकामें श्री मोहनलाल दुलीचन्द देसाईकृत Jain Priests at the court of Akabar और Jain Teachers at the court of Jahangir, पृष्ठ क्रमशः १०, २०।

५. निज गच्छ उन्नति कारणइ, श्री जिनराज सुरिन्द न रे।
पाठक पद दीधउ विधइ, प्रणमइ मुनि ना वृन्द न रे ॥
मनमोहन० ॥४॥
राजहसकृत जिनरंगसूरि गीत, ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह, पृ० २३१।

उनकी सरस और सुकोमल 'देसना' से समूचा संसार विमोहित हो जाता था।[1] उनका हृदय भी छल-कपटसे रहित था।[1] वे चौदह विद्याओंमे पारंगत थे।[2] दीक्षा-समयका उनका नाम रंगविजय था। ज्ञानकुशलके 'जिनरंगसूरि गीत'[3] मे और सुमतिविजयके 'जिनराज सूरिगीत नं० ६'मे[4] उनको 'युवराज' पदसे सम्बोधित किया गया है। यह उनकी महत्ताका ही सूचक है।

रंगविजइकी ख्यातिको सम्राट् शाहजहाँने भी सुना। आमन्त्रण देकर बुलाया और इतना अधिक प्रभावित हुआ कि सात सूबोंमे उनके वचन-प्रमाण करनेका आदेश फरमानके द्वारा दिया। शाहजहाँके पुत्र दाराने उनको 'युगप्रधान' के पदमे विभूषित किया था। सं० १७१० मे मालपुरेमे उनको 'युगप्रधान'का पद दिया गया। इस अवसरपर नेमिदास सिन्धुडने एक शानदार महोत्सव मनाया, जिसमे अन्य आयोजनोंके साथ-साथ महाजन संघको नालेरकी प्रभावना भी दी गयी। नाम भी 'रंगविजइ' से जिनरंगसूरि' हो गया।[5] और वह अन्त तक इसी नामसे प्रतिष्ठित रहे। जिनरंगसूरिकी महिमाका बखान करनेवाले तीन गीतोंका संकलन, 'ऐतिहासिक जैन-काव्य संग्रह'मे हुआ है। तीनोके निर्माता क्रमशः राजहंस, ज्ञानकुशल और कमलरत्न है।

१. सरस सुकोमल देसना, मोहइ सहुय संसार न रे।
कूड़ कपट हीयइ नही, सहु को नइ हितकार न रे ॥३॥
भवियण वादउ भावस्यूं, जिम पायउ सुख सार न रे।
रूप कला गुण आगलउ, निर्मल सुजस भंडार न रे ॥२॥
ज्ञानकुशलकृत जिनरंगसूरि गीत, ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह, पृ० २३२।

२. जिनराजसूरि पाटोधरू, दस च्यार विद्या जाण।
वचन सुधारस वरसतौ, मानै सहु को आण ॥१॥
कमलरत्नकृत युगप्रधान पदगीतम्, वही, पृष्ठ २३२।

३. खरतरगच्छ युवराजियउ, थाप्यउ श्री जिनराज न रे।
पाठक रंगविजय जयउ, सब गच्छपति सिरताज न रे ॥१॥
ज्ञानकुशलका गीत, वही, पृष्ठ २३२।

४. तीन प्रदिक्षण तूं देइ करीरे, श्री जी रे तु लागे पाय रे।
वलि युवराजा 'रंगविजइ' भणीरे, इनरउ करिजे वीर पसाय रे ॥२॥
आ०॥

सुमतिविजयकृत जिनराजसूरि गीत, वही, पृष्ठ १७७।

५. कमलरत्नकृत युगप्रधान पदगीतम् पद्य २–८, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ २३२–३३।

जिनरंगसूरि विद्वान् तो थे ही, काव्यरचनामें भी निपुण थे। उन्होंने अनेक स्तवनोंका निर्माण किया, जिनमें-से कुछका प्रकाशन दिल्लीके यति रामपालजीने किया है। उनकी रचनाओंमें 'सौभाग्यपंचमी चौपई', 'प्रबोध बावनी', 'रंग बहत्तरी', 'चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र', 'चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तवन', 'प्रास्ताविक दोहा' और नवतत्त्वबालास्तवन' मुख्य हैं। उनका परिचय निम्न प्रकारसे है,

सौभाग्यपंचमी चौपई

इसकी रचना सं० १७४१ में हुई थी। उसकी सूचना 'मिश्रबन्धुविनोद',[1] 'हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास'[2] और 'ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह'की भूमिकामें दी गयी है।[3] इसके अतिरिक्त उसका और कुछ परिचय आदि वहाँ अंकित नहीं है। 'जैन गुर्जरकविओ'में भी इसकी सूचना-भर ही दी है।[4] अब यह चौपई दिल्लीसे प्रकाशित हो चुकी है।

प्रबोध-बावनी

इसको 'अध्यात्म बावनी' भी कहते हैं। इसमें आत्माको सम्बोधन कर-करके भ्रमाकुलित संसारसे उन्मुक्त होनेकी बात कही गयी है। इसकी रचना संवत् १७३१ मगसिर सुदी २ गुरुवारको हुई थी।[5] इसकी एक प्रति संवत् १८०० आषाढ सुदी २ की लिखी हुई अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेरमें मौजूद है।[6] दूसरी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० ९२ में निबद्ध है। इस रचनाके आगे निर्माण संवत् १७३१ दिया हुआ है। इसमें ५४ पद्य हैं[7]।

'प्रबोध बावनी' उत्तम काव्यका निदर्शन है। उसका प्रत्येक पद्य एक गुलदस्तेकी भाँति है। एक पद्यमें ऊंकार मन्त्रकी महिमाका बखान है,

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ५१३।

२. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ७१।

३. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ० ६२, प्रारम्भमें ही निबद्ध काव्योंका ऐतिहासिक सार।

४ जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० १२७७।

५. शशि[1] गुन[3] मुनि[7] शशि[1] संवत् शुक्ल पक्ष, मगसर बीज गुरुवार अवतारी है।
खल दुरबुद्धि कौ अगम भाँति भाँति करि, सज्जन सुबुद्धि को सुगम सुख-
कारी है ॥५४॥

प्रबोधबावनी, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० ८८।

६ वही, पृ० ८७-८८।

७. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूची, भाग ३, पृ० १४१।

"ऊंकार नमामि सोहै अगम अपार,
 श्रुति यहै ततसार मंत्रन को मुख्य मान्यो है ।
इनहीं तें जोग सिद्धि साधबै की सिद्धि जान,
 साधु भये सिद्ध तिन धुर उर धार्यो है ।
पूरन परम परसिद्ध परसिद्ध रूप,
 बुद्धि अनुमान याको विबुध बखान्यो है ।
जपै जिनरंग ऐसो अक्षर अनादि आदि,
 जाको हेय सुद्धि तिन याको भेद जान्यो है ॥१॥"

रंग-बहत्तरी

इसको 'प्रास्ताविक दोहा' और 'दूहाबन्ध बहत्तरी'के नामसे भी पुकारा जाता है। इसमे ७२ दोहे है। उनका विषय नीति, अध्यात्म और भक्तिसे सम्बन्धित है। बहुत पहले इसका प्रकाशन दिल्लीसे हुआ था। अब उसका पुन प्रकाशन 'वीरवाणी' मे हुआ है। अगरचन्द नाहटाका सम्पादन है। अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेरवाली प्रति उसका मूलाधार है। इस प्रतिमे ७१ दोहे है। बाह्य और अन्त दोनो ही दृष्टियोसे काव्य उत्तम कोटिका है। एक दोहेमे यमक अलकारको छटाके साथ भक्तिका रग है,

"धरम ध्यान ध्यावै नहीं, रहे जु आरत माहिं ।
जिनरंग वे कैसे भरै, जिन रंग रत्ता नाहिं ॥२५॥"

यह मनुष्य अपने जीवनका बोझ नही उठा पाता, इसपर भी अन्य बोझ स्वीकार करता जाता है, फिर भला वह अपने लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकेगा ? एक उपाय है। जगदीशको जपे, ध्यान करे, पूजा करे,

"अपना भार न उठ सकै, और लेत पुनि सीस ।
सो पैंडै क्यो पहुँच है, जपि जिनरंग जगदीश ॥५०॥"

एक पक्षी ऐसे पिंजडेमे बन्द है, जिसके दस दरवाजे है। उन दरवाजोके होते हुए भी यदि पक्षी उडता नही, तो आश्चर्य है, यदि उड़ जाता है, तो आश्चर्य क्या है। उसे उड ही जाना चाहिए। यहाँ शरीरको पिंजडा बनाया है और दस इन्द्रियोको दस दरवाजे। आत्मारूपी पक्षी उसमे कैद है। मौतके समय वह उसमे-से निकल जाता है। कविकी दृष्टिमे यह स्वाभाविक है। कविने इस स्वाभाविकताका उत्तम ढंगसे निरूपण किया है। रूपकको शान निराली है,

"दसू द्वार का पिंजरा, आतम पंछी माँहि ।
जिनरंग अचरिज रहतु है, गये अचम्भौ नाहिं ॥१८॥"

जिनरंग एक उदार कवि थे। उन्होने धर्मके नामपर कौमियतको प्रश्रय नही दिया। उनका अभिमत था कि धर्म अविरोधी होता है। यदि उसमें दूसरे धर्मसे विरोध है, तो कही-न-कही कमी अवश्य है। शैव जैन और मुसलिम धर्मोमें विरोध नही है। तीनोके मिलनेसे ही यह जीव भवसमुद्रके पार उतर सकता है,

"शैवगति जैनी दया, मुसलमान इकतार।
जिनरंग जौ तीनों मिलै, तो जीउ उतरै पार ॥३७॥"

चतुर्विंशति जिनस्तोत्र

चौबीस तीर्थंकरोकी भक्तिमे इसका निर्माण हुआ है। इसकी प्रति जयपुरके श्री बधीचन्दजीके मन्दिरमे स्थित गुटका नं० ९२ में सकलित है। उसपर रचना और लेखनकाल आदि कुछ भी दिया हुआ नही है।

चिन्तामणि पार्श्वनाथ स्तवन

इसमे यह बताया गया है कि भगवान् पार्श्वनाथकी भक्तिमे सब मनोकामनाएँ पूरी हो जाती है। उनका स्तवन 'चिन्तामणि' के समान फलदायी होता है। इसकी भी एक प्रति जयपुरके श्री बधीचन्दजीके मन्दिरमे रखे हुए गुटका नं० ९२ मे लिपिबद्ध है। इसमे कुल १५ पद्य है।

नवतत्त्व बाला स्तवन

यह श्राविका कनकादेवीके लिए रचा गया था। इसमे नवतत्त्वोका विवेचन है। इसका प्रकाशन दिल्लीसे हो चुका है।

७१. भैया भगवतीदास – (वि० सं० १७३१-१७५५)

जैन साहित्यमे भगवतीदास नामके चार विद्वान् हुए हैं[1], जिनमे पहले ब्रह्मचारी भगवतीदास थे। उनका उल्लेख पाण्डे जिनदासने 'जम्बूस्वामीचरित्र' मे किया है। ये पाण्डे जिनदासके गुरु थे। दूसरे 'भगौतीदास' बनारसीदासजीके पंच महापुरुषोमे-से एक थे, जिनकी प्रेरणासे 'नाटक समयसार'की रचना हुई। तीसरे भगवतीदास भट्टारक महेन्द्रसेनके शिष्य थे, किन्तु वे भट्टारक न होकर 'पण्डित' विशेषणसे विख्यात थे। उनका जन्म अम्बाला जिलेके बूढिया गाँवमे हुआ था। उनका कुल अग्रवाल और गोत्र बंसल था। वे दिल्लीमे आकर रहने लगे

१. अनेकान्त, वर्ष ७, किरण ५–६, पृष्ठ ५४–५५।

थे। उनके लिखे हुए लगभग २५ काव्य-ग्रन्थोंका पता चला है, उनमें 'लघु सीता सतु', 'अनेकार्थ नाममाला' और 'मृगाकलेखा-चरित'में अधिकांश विद्वान् परिचित हैं। 'मृगांकलेखाचरित' अपभ्रंशकी रचना है। चौथे भगवतीदास वे हैं, जिनका उल्लेख पं० हीरानन्दजीने अपने 'पंचास्तिकाय'के हिन्दी अनुवादमें किया है। श्री नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है कि ये ही 'ब्रह्म-विलास'के कर्त्ता भैया भगवतीदास हैं।[1] उनका साहित्यिक काल सवत् १७३७ से १७५५ माना जाता है।[2]

भैया भगवतीदास आगराके रहनेवाले थे। उस समय औरंगजेबका राज्य था, जिसकी आज्ञा अभग रूपसे बहती थी। नृपतिकी उपकार दृष्टिके कारण ईति-भीति कहींपर भी व्याप्त नहीं थी।[3] भगवतीदासका जन्म ओसवाल कुलमें हुआ था। उनका गोत्र 'कटारिया' कहा जाता है। उनके पितामहका नाम दशरथ साहु था, जो आगरेके वैभव-सम्पन्न पुरुषोंमें-से एक थे।[4] वे धर्मात्मा और पुण्यवन्त भी थे। उनके पुत्रका नाम लालजी था। ये ही भैया भगवतीदासके पिता थे।[5] भैयाको धार्मिकता, भक्ति और लक्ष्मी जन्मसे ही मिली थी। उन्होंने भी इस परम्परागत देनको भलीभाँति निभाया। उनका समय आध्यात्मिक ग्रन्थोंके पठन-पाठन और गृहस्थोचित षट्कर्मोंके पालनमें व्यतीत होता था। 'भैया' उनका उपनाम था। प्रायः उसीका प्रयोग है। कहीं-कहीं 'भविक' और 'दासकिशोर' का भी प्रयोग हुआ है।

भैया एक विद्वान् व्यक्ति थे। प्राकृत और संस्कृतपर तो उनका अटूट अधिकार था। हिन्दी, गुजराती और बँगलामें भी विशेष गति थी। इसके साथ-साथ उन्हें उर्दू और फारसीका ज्ञान था। उनकी कविताएँ इस तथ्यका निदर्शन हैं। मारवाड़ी शब्दोंका प्रयोग भी अधिक हुआ है। ओसवाल जाति मारवाड़ देशमें उत्पन्न हुई, अतः उसका प्रभाव स्वाभाविक ही है। सबसे बड़ी विशेषता है कि उनकी भाषा

---

१. पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, पृष्ठ ५३।

२. ब्रह्मविलासमें वि० स० १७३१ से १७५५ तककी ही रचनाएँ संगृहीत हैं।

३. जम्बूद्वीप सु भारतवर्ष। तामें आर्य क्षेत्र उत्कर्ष।
तहाँ उग्रसेनपुर थान, नगर आगरा नाम प्रधान॥
नृपति तहाँ राजै औरंग। जाकी आज्ञा बहै अभंग।
ईति-भीति व्यापै नहि कोय, यह उपकार नृपति को होय॥
भैया भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वितीय संस्करण, सन् १९२६ ई०, ग्रन्थकर्त्तापरिचय, पृष्ठ ३०५, पद्य १, ३।

४. वही, पद्य, ४, ५, पृष्ठ ३०५।

५. वही, पद्य ६, पृष्ठ ३०५।

प्रांजल तथा अर्थबोधक है। कठिन रूपक भी आसान प्रतीत होते है।

भैयामे आध्यात्मिकता और भक्तिका समन्वय था। वे आध्यात्मिकताके शिखर-पर चढ़े थे। उन्होने भक्ति-सरोवरमे स्नान भी किया था। अध्यात्ममूला भक्तिके जैसे दृष्टान्त भैयाकी रचनाओंमे उपलब्ध होते है, अन्य किसीमे नही। कवि बनारसीदासकी भक्ति भी ऐसी ही थी। 'नाटक समयसार' और 'विलास'की अनेक रचनाएँ इसका निदर्शन है। किन्तु बनारसी-काव्य अथसे इति तक प्रसाद गुणको ही लेकर चला है, जब कि भैयामे ओज अधिक है। उनका 'ब्रह्मविलास' ओजसे भरा सिन्दूर-घट है। बनारसीका 'शान्तरस' शान्तिकी गोदमे पनपा, जब कि भैयाका वीरताके प्रभंजनमे जनमा, पला और पुष्ट हुआ। अध्यात्म और भक्तिके क्षेत्रमे वीररसका प्रयोग भैयाकी अपनी विशेषता थी।

ब्रह्म-विलास

'ब्रह्म-विलास'की रचना वि०सं० १७५५ वैशाख शुक्ला तृतीया रविवारके दिन समाप्त हुई थी।[1] इसका नाम 'ब्रह्म-विलास' स्वयं भैया भगवतीदासका ही दिया हुआ है।[2] इसका प्रकाशन बहुत पहले सन् १९०३ मे जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बईमे हुआ था। इसका द्वितीय संस्करण भी वहींसे ही सन् १९२६ मे निकल चुका है।

इसमे 'भैया'की रची हुई ६७ रचनाओंका संकलन है। 'द्रव्य संग्रह' नामकी रचना 'भैया'के मित्र मानसिंहकी रची हुई है। 'चेतनकर्मचरित्र', 'बावीस परीषह', 'मूढाष्टक', 'वैराग्यपचीसिका', 'पंचेन्द्रिय संवाद', 'मनबत्तीसी', 'स्वप्न-बत्तीसी' और 'परमात्मशतक' तथा फुटकल कवित्तोंमे, आध्यात्मिक विचारोंका सरस ढंगसे भावोन्मेष हुआ है। 'जिनपूजाष्टक', 'चतुर्विंशति जिन स्तुति', 'परमात्मा-की जयमाल', 'तीर्थंकर-जयमाला', 'मुनिराजजयमाला', 'अहिक्षिति पार्श्वनाथ स्तुति', 'जिनगुणमाला', 'सिज्झाय और परमेष्ठी नमस्कार', 'निर्वाण काण्ड भाषा', 'नन्दी-श्वरकी जयमाला', 'सुबुद्धि-चौबीसी', 'अकृत्रिम चैत्यालयकी जयमाला', 'परमात्म-छत्तीसी,' 'चतुर्विंशति जयमाला', और फुटकल विषय भक्तिरससे सम्बन्धित है।

१. संवत सत्रह पंच पचास। ऋतु बसंत वैशाख सुमास।
शुक्ल पक्ष तृतिया रविवार। सब चतुर्विध का जयकार॥
वही, पृष्ठ ३०५।

२. तिहूँ काल के जिन भगवान। वंदन करो जोरि जुग पान।
भैया नाम भगवतीदास। प्रगट होहु तसु ब्रह्म विलास॥१०॥
वही, पृष्ठ ३०५।

भैयाके पदोमें कुछ ऐसा आकर्षण है, जिससे पाठक बच नहीं पाता ।

एक भक्त भगवान् जिनेन्द्रकी पुष्पोसे पूजा करता हुआ कहता है कि हे भगवन् ! इस कामदेवने समूचे विश्वको जीत लिया है, इसी कारण इसको घमण्ड भी बहुत अधिक हो गया है । मुझे पूरा विश्वास है कि आपके चरणोंकी शरणमे जानेसे प्रबल कामदेवकी निर्दयताका मै शिकार न हो पाऊँगा । देखिए,

"जगत के जीव जिन्हें जीत के गुमानी भयौ,
ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है ।
ताके शर जानियत फलनि के वृन्द बहु,
केतकी कमल कुंद केवरा सुहायो है ॥
मालती सुगंध चारु बेलि की अनेक जाति,
चंपक गुलाब जिन चरण चढ़ायो है ।
तेरी ही शरण जिन जोरे न बसाय याको,
सुमत सों पूजे तोहि मोहि ऐसो भायो है ॥५॥"

यह मन ससारके विभिन्न रसामे भटकता फिर रहा है । उसको सम्बोधन करते हुए कवि कहता है कि हे मन ! तू कहाँ दौडा हुआ चला जा रहा है, इस देह-रूपी देवालयमें भगवान् केवली रहता है, तू उसकी सेवा क्यो नही करता ?

"आंख देखै रूप जहां दौड़ तू ही लागे तहां,
सुने जहां कान तहां तू ही सुने बात है ।
जीभ रस स्वाद धरै ताको तू विचार करै,
नाक सूंघै बास तहां तू ही विरमात है ॥
फर्स की जु आठ जाति तहां कहो कौन भांति,
जहां तहां तेरो नांव प्रकट विख्यात है ।
याही देह देवल में केवलि स्वरूप देव,
ताकी कर सेव मन कहां दौड़ जात है ॥१७॥"[1]

भक्त जबतक अपने आराध्यको सर्वोत्कृष्ट न समझेगा, उसमे एकतानता नही आ सकती । भगवान् जिनेन्द्र ऐसे है जिनके यशको तीनो लोक गाते है । वे सुख-दायक और शिवनायक है । उनके दर्शन मात्रसे ही पातक कॉप उठते है और अनन्त प्रकारके गुण तथा ऋद्धियाँ प्रकट हो जाती है,

"देव एक जिनचंद नाव, त्रिभुवन जस जंपै ।
देव एक जिनचंद, दरश जिह पातक कंपै ॥

१. जिनधर्म पचीसिका, ब्रह्मविलास, पृ० २१५ ।

देव एक जिनचन्द, सर्व जीवन सुखदायक।
देव एक जिनचन्द, प्रकट कहिये शिवनायक॥
देव एक त्रिभुवन मुकुट, तास चरण नित वंदिये।
गुण अनंत प्रगटहि तुरत, रिद्धि वृद्धि चिरनंदिये॥१५॥"[1]

यह भव-समुद्र बहुत विकट है, उसे पार करना कोई आसान काम नहीं है, किन्तु भक्त-कविको यह पूरा विश्वास है कि परमात्माके शुद्ध ध्यानसे वह पार हो सकता है,

"विकट भौसिंधु ताहि तरिबे को तारू कौन,
ताकी तुम तीर आये देखो दृष्टि धरिकै।
अबकै संभारे तैं पार भले पहुँचत हौ,
अबकै संभारे बिन बूड़त हौ तरिकैं॥
बहुर्यो फिर मिलबो नाहिं ऐसो है संयोग येह,
देव गुरु ग्रन्थ करि आये हिय धरिक॥
ताहि तू विचारि निज आतम निहारि 'भैया'
धारि परमातमाहि शुद्ध ध्यान करिकै॥७॥"[2]

पार्श्व जिनेन्द्रके भक्तमें अपने भगवान्के प्रति अगाध निष्ठा है। वह कहता है कि हे जीव! तू काहेको इधर-उधर भटकता फिरता है, क्यों तू अन्य देवी-देवताओंको सिर झुकाता है। तेरी तो दिन-रातकी चिन्ता भगवान् पार्श्व प्रभुकी सेवासे ही नष्ट हो जायेगी,

"काहे को देशदिशांतर धावत, काहे रिझावत इन्द नरिंद।
काहे को देवि औ देव मनावत, काहे को शीस नवावत चंद॥
काहे को सूरज सों कर जोरत, काहे निहोरत मूढ़ मुनिंद।
काहे को सोच करे दिन रैन तू, सेवत क्यों नहिं पार्श्व जिनन्द॥१४॥"[3]

भगवान्के नामको हृदयमें धारण करनेसे हृदय भगवत्त्वके गुणोंसे ओतप्रोत हो जाता है। उसमें कुछ ऐसी सद्वृत्तियाँ आ जाती हैं, जिससे वह सांसारिक दुःख-सुखोंमें छुटकारा पा ही जाता है। भगवान्के नामकी महिमामें अपार शक्ति है,

---

१. वही, फुटकल कविता, पृ० ९१।
२. वही, शत अष्टोत्तरी कवित्त, पृ० ६।
३. वही, फुटकल कविता, पृ० ९१।

तेरो नाम कल्प वृक्ष इच्छा को न राखे डर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामन चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद डरत है॥
तेरो नाम अमृत पियेतैं जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुखमूल दुःख को दरत है।
तेरो नाम वीतराग धरै उर वीतरागी,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत है॥३॥[1]

णमोकार मन्त्रके जपनेसे एक ओर तो पाप और भूत-प्रेतादि भाग जाते है, तो दूसरी ओर विविध प्रकारके वैभव उपलब्ध होते है। अतः णमोकार मन्त्रका प्रतिदिन ध्यान करना चाहिए,

"जहां जपहि नवकार, तहां अघ कैसे आवें।
जहां जपहि नवकार, तहां व्यंतर भज जावें॥
जहां जपहिं नवकार, तहां सुख संपति होई।
जहां जपहिं नवकार, तहां दुख रहै न कोई॥
नवकार जपत नव निधि मिलै, सुख समूह आवै सरब।
सो महामन्त्र शुभ ध्यानसों, 'भया' नित जपवो करब॥१७॥"[2]

सम्यक्त्वकी जैन शास्त्रोंमे बहुत अधिक महिमा है। सम्यक्त्व धारण करनेवाले सन्त सदैव पूजे जाते रहे है। यहाँ भी एक कवित्तमें उनकी स्तुति की गयी है,

"स्वरूप रिझवारे से सुगुण मतवारे से,
सुधा के सुधारे से सुप्राण दयावंत हैं।
सुबुद्धि के अथाह से सुरिद्धपातशाह से,
सुमन के सनाह से महावडे महंत हैं॥
सुध्यान के धरैया से सुज्ञान के करैया से,
सुप्राण परखैया से शकती अनंत हैं।
सबै संघनायक से सबै बोललायक से,
सबै सुखदायक से सम्यक के संत हैं॥१०॥"[3]

---

१. वही, सुपन्थ कुपन्थ पचीसिका, पृ० १८०।
२. वही, फुटकर विषय, पृष्ठ २७७।
३. वही, पुण्य पचीसिका, पृष्ठ ४।

अहिक्षेत्रके पार्श्वप्रभुकी स्तुति करते-करते तो भक्त कवि जैसे भावोंके आधिक्यमें बह ही गया है,

"आनंद को कंद किधौं पूनम को चंद किधौं,
देखिए दिनंद ऐसो नंद अश्वसेन को।
करम को हरै फंद भ्रम को करै निकंद,
चूरै दुख द्वन्द्व सुख पूरै महा चैन को ॥
सेवत सुरिंद गुन गावत नरिंद भैया,
ध्यावत मुनिंद तेहू पावें सुख ऐन को।
ऐसो जिनचंद करे छिन में सुछंद सुतौ,
ऐक्षित को इंद पार्श्व पूजो प्रभु जैन को ॥२०॥"[1]

'भैया' भगवतीदास और एक किंवदन्ती

कहा जाता है कि भैया भगवतीदास, दादूपन्थी बाबा सुन्दरदास और रसिक शिरोमणि श्री केशवदासने एक ही गुरुसे शिक्षा पायी थी। तीनों गुरुभाई थे। केशवदासने अपनी रसिकप्रियाकी एक-एक प्रति दोनों साथियोंके पास भेजी और दोनों ही ने उसकी कडी आलोचना की। सुन्दरदासजी-द्वारा की गयी उसकी निन्दा 'सुन्दर विलास' में निबद्ध है। भैयाने भी एक छन्द बनाया और उसके मुखपृष्ठपर लिखकर वापस कर दिया। वह छन्द इस प्रकार है,

"बड़ी नीति लघुनीति करत है, वाय सरत बदबोय भरी।
फोड़ा आदि फुनगुणी मंडित, सकल देह मनु रोग दरी॥
शोणित हाड़ मांसमय मूरत, तापर रीझत घरी घरी।
ऐसी नार निरख कर केशव, रसिक प्रिया तुम कहा करी ॥१९॥"[2]

इस भाँति 'भैया', केशवदासके समकालीन थे। किन्तु केशवदासका स्वर्ग-वास वि० सं० १६७० में हो गया था। आचार्य रामचन्द्र शुक्लके अनुसार, उनका जन्म सं० १६१२ और मृत्यु स० १६७४ के आस-पास हुई।[3] रसिकप्रिया-की रचना वि० स० १६४८ मे हुई थी।[4] इससे प्रमाणित है कि भैयाका जन्म वि० सं० १६४८ से कमसे कम २५ वर्ष पूर्व तो हुआ ही होगा। तभी तो

१. वही, अहिक्षित पार्श्वनाथकी स्तुति, पृष्ठ १६२।
२. ब्रह्मविलास, सुपन्थ कुपन्थ पचीसिका, पृष्ठ १८४।
३. पण्डित रामचन्द्र शुक्लकृत, हिन्दी साहित्यका इतिहास, संशोधित और परिवर्धित संस्करण, १९९७ वि० सं०, पृष्ठ २५०।
४. वही, पृष्ठ २५७।

दोनों साथ-साथ पढ सके होगे, किन्तु भैयाका साहित्यिक काव्य १७३१-१७५५ निश्चित है, तो फिर यह तो हो सकता है कि सं० १७०० से दस-बारह वर्ष पूर्व उनका जन्म हुआ हो, किन्तु १७वीं शताब्दीका प्रथम पाद तो किसी भी दशा-मे प्रमाणित नही होता। सम्भावना तो यह है कि भैयाने अपने साहित्यिक कालमे 'रसिकप्रिया' कहीसे भी लेकर पढ़ी होगी और उसपर यह कवित्त रच डाला होगा।

यह भी सच है कि भैयाने केशवके अश्लील शृंगारको भले ही दुरदुराया हो किन्तु उनकी अलंकारप्रियतासे वे अवश्य ही प्रभावित हुए थे। उनके काव्यमे रूपक, यमक,[1] अनुप्रास और चित्रालंकारोंकी भरमार है। रूपकके लिए उनके 'चेतन कर्म चरित्र', 'शत अष्टोत्तरी' और 'मधुबिन्दुक चौपाई'को लिया जा सकता है। यमकका एक दृष्टान्त, इस प्रकार है,

"उजरे भाव अज्ञान, उजरे जिहँ तें बंधे थे।
उजरे निरखे भान, उजरे चारहु गतिन तें ॥६॥"[2]

'ब्रह्मविलास' अनुप्रासकी छटासे तो व्याप्त ही है। कई भाषाओंके ज्ञाता होनेसे 'भैया'का शब्दज्ञान परिपुष्ट था। उसीके बलपर पदे-पदे अनुप्रासका सौन्दर्य बिखर सका। सबमे बडी बात है उसकी स्वाभाविकता। केशवकी भाँति प्रयत्न-पूर्वक खीचतान नही है। इसी कारण कृत्रिमता नही है। सहज गति है। ऐसे ही अनुप्रासोके निर्झरसे जब वीररस फनफनाकर बह उठता है, तो चित्र-सा खिंच जाता है,

"अरिन कं ठट्ट दह वट्ट कर डारे जिन, करम सुभट्टन के पट्टन उजारे हैं।
नर्क तिरजंच चट पट्ट देकें बैठ रहे, विषैचौर झट्ट झट्ट पकर पछारे हैं॥
मौ बन कटाय डारे अट्ट मद दुट्ट मारे, मदन के देश जारे क्रोध हू संहारे हैं।
चढ़त सम्यक्त सूर बढ़त प्रताप पूर, सुख के समूह भूर सिद्ध के निहारे हैं॥"[3]

चित्रबद्ध कविता 'ब्रह्मविलास'के पृ० २९२ से ३०४ तक संकलित है। उसमे

१. यमकके लिए परमात्मशतकके ३-१५, २०, २५, २९, ४० और ४१वें दोहोंको देखिए ब्रह्मविलास, पृष्ठ २७९-२८५।

२. "हे आत्मन्! अज्ञान भाव। (उजरे) उजडे अर्थात् विनाशको प्राप्त हुए, जिनसे आत्मा (उजरे) उजले अर्थात् प्रगट रूपसे बन्द हो रहा था। और जब ज्ञानसूर्य (उजरे) उज्ज्वल देखे गये, तब चारों गतियोंसे उजरे अर्थात् छूटे, जिसका अर्थ है सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए।"
ब्रह्मविलास, परमात्मशतक, पद्य ६, हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी, पृ० २७९।

३. ब्रह्मविलास, फुटकर कवित्त, पृ० २७३।

अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका भी निबद्ध हैं। चित्रबद्ध कविताओंकी परम्परा जैनोंमें बहुत पुरानी है। सस्कृतके जैन रीति-ग्रन्थोंके कर्ताओने भी चित्रबद्ध-कविताकी रचना पर्याप्त मात्रामे की है।

७२. शिरोमणिदास (वि० सं० १७३२)

शिरोमणिदास नामके तीन कवि हुए है। उनमे प्रथम शिरोमणि मिश्र थे। उन्होने सं० १६७४मे 'जसवन्त विलास'की रचना की थी।[1] दूसरे शिरोमणिदास भी ब्राह्मण थे। वे शाहजहाँके दरबारमे रहते थे। वहाँ उनकी प्रतिष्ठा थी। उनका समय १७०० के आस-पास माना जाता है।[2] प्रस्तुत शिरोमणिदास पण्डित गंगादासके शिष्य थे। उनकी जैन धर्ममे निष्ठा थी। उन्होने तत्सम्बन्धी ग्रन्थोका ही निर्माण किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि ये भट्टारक सकलकीर्तिसे प्रभावित थे। उनके उपदेशोसे प्रेरित होकर ही इन्होंने नगर सिगरौनमे रहकर एक बृहद् ग्रन्थका निर्माण किया था। उस समय सिंगरौनमे राजा देवीसिह राज्य करते थे। इस ग्रन्थका नाम 'धर्मसार' था। 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के खोज-विवरणोमे जिस 'धर्मसार'का उल्लेख है, उसकी समाप्ति आगरेमें मानी गयी है। और भट्टारक सकलकीर्तिसे प्रभावित होनेकी कोई बात नही है।[3] इसका समर्थन इनके रचे हुए एक दूसरे ग्रन्थ 'सिद्धान्त शिरोमणि'से भी होता है, जिसमे उन्होने श्वेताम्बर यतियों और दिगम्बर भट्टारकों दोनो ही को खरी-खरी सुनायी हैं। इनकी रचनाओमें सम्यक्त्व प्रधान है। उन्हें बनारसीदासके 'अध्यातमियाँ' सम्प्रदायकी परम्परामें गिना जाना चाहिए। वे आगरेके ही रहनेवाले थे।

अभीतककी खोजोंमे उनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं—'धर्मसार' और 'सिद्धान्त शिरोमणि'। दोनो ही मे भक्ति-कालकी मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियाँ प्रधान है। 'सिद्धान्त शिरोमणि'मे धर्मके नामपर आडम्बरके विरोधमे विद्रोह है, जैसा कि सन्त कवियोमे था। 'धर्मसार'मे निर्गुण और सगुण भक्तिका समन्वय है। उसमे मनको सम्बोधन कर-करके संसारके माया-मोह और अपने शुद्ध रूपको प्राप्त करनेकी प्रेरणा है तथा तीर्थंकर, जिनवाणी और पंचपरमेष्ठीकी वन्दना भी है।

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ४२४।

२. वही, पृ० ४१८।

३. का० ना० प्र० पत्रिकाका पन्द्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, सख्या २००, अन्तिम प्रशस्ति।

सिद्धान्त शिरोमणि[1]

यह एक छोटी-सी रचना है। इसमे सम्यक्त्वकी सही परिभाषाका विश्लेषण है। मध्यकालमें धर्मके नामपर बढ़ते शिथिलाचारका प्रभाव जैनोपर भी पड़ा था। श्वेताम्बर यति और दिगम्बर भट्टारक उसके प्रतीक थे। शिरोमणिदासने उनकी खरी आलोचना की। उन्हें जन-विरोध सहना पड़ा। उन्होंने परवाह नही की। जो आत्माकी सही आवाज़ न सुन सके, वह क्या कानवाला कहलायेगा ! उनकी निर्भीकता कबीर-जैसी थी किन्तु कबीर-जैसा मस्तानापन नही था। कबीरने तो मर्यादा मानी ही नही। वे उसके घेरेमें कभी न घिरे, शिरोमणिदास घिरे, किन्तु उसकी गलत बन्दिशको कभी स्वीकार नही किया। शिरोमणिदासके दो पद्य है,

"नही दिगम्बर नहीं वृत धार, ये जती नहीं भव ममैं अपार।
यह सुन कै कछु लीजे सार, उतरै चाहौ भव कै पार ॥५७॥
सिद्धान्त सिरोमनि सास्त्र को नाम, कीनौ समकित राषिबै कै काम।
जो कोउ पढै सुनै नर नारि, समकित लहै सुद्ध अपार ॥५८॥"

धर्मसार

इसकी रचनाके विषयमे दो सवत् उपलब्ध होते है। प्रामाणिक पाँच प्रतियोमे इसका रचना-संवत् १७३२ वैशाख सुदी ३ पडा हुआ है।[2] इसकी एक हस्तलिखित प्रति, जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमे, वेष्टन नं० ८६९ में बँधी रखी है।

जिस प्रतिपर रचना-संवत् १७५१ पडा हुआ है, उसका उल्लेख 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरणको संख्या २२० पर हुआ है। सम्पादकोको यह प्रति जैन मन्दिर कठवारी, डा० रुनुकता, जिला आगरासे प्राप्त हुई है। इस संवत्का समर्थन करनेवाला दोहा देखिए,

"संवत सत्रै सै इकावना, नगर आगरे माहिं।
भादौं सुदि सुध दूज को, बाल षाल प्रगटाय ॥"

पं० नाथूरामजी प्रेमीने[3] वि० सं० १७३२ को ही रचनाकाल माना है।

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६८।
२. संवत् १७३२ वैशाख मास उज्ज्वल पुनि दीस।
तृतीया अक्षय शनीसमेत भविजन को मंगल सुखदेत ॥
देखिए, श्री मन्दिरजी कूँचा सेठ दिल्लीकी हस्तलिखित प्रति।
३. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, १९१७ ई०, पृष्ठ ६७।

हो सकता है १७५१ लेखनकाल हो। 'धर्मसार'मे ७६३ दोहा-चौपाई हैं। एक भक्ति-भरा पद्य है,

> "वीर जिनेसुर पुनवौं देव। इन्द्र नरेन्द्र करै तुम सेव।
> और वन्दौं हूँ गुरु जिन पाय। सुमिरत तिनके पाप नसाय॥
> बरतमान जो जिन पर ईस। कर जोरू जिन नाऊँ सीस।
> जे जिनेन्द्र भवि मुनि कहैं। पूजहुतैं मैं सरमन गहैं॥"

७३. द्यानतराय (जन्म वि० सं० १७३३, साहित्यिक काल १७८०)

द्यानतराय आगरेके रहनेवाले थे। इनका जन्म अग्रवाल वंश और गोयल गोत्रमें हुआ था। इनके पिताका नाम श्यामदास और पितामहका नाम वीरदास था। इनके पूर्वज लालपुरके निवासी थे और वहाँसे ही आगरेमे आकर रहने लगे थे।

द्यानतरायका जन्म वि० सं० १७३३ मे आगरेमे हुआ। शिक्षा भी ठीक ढंगसे हुई। एक ओर तो उन्हे उर्दू-फारसीका ज्ञान कराया गया और दूसरी ओर संस्कृतके माध्यमसे धार्मिक ग्रन्थोका पठन-पाठन हुआ। अतः उन्हे संस्कृत और फ़ारसी दोनो ही का ज्ञान था। उनकी भाषापर भी दोनोकी छाप है। जहाँतक भाव-धाराका सम्बन्ध है, उन्होने फ़ारसी साहित्यसे कुछ नही लिया, सब कुछ संस्कृत साहित्यसे ही अनुप्राणित है। साहित्यिक-परम्परा, जिसका उन्होने अनुकरण किया, विशुद्ध भारतीय है।

कवि जब केवल १५ वर्षके थे, अर्थात् वि० सं० १७४८ मे उनका विवाह हो गया। उन्होने गृहस्थाश्रमका बड़ा ही करुणा-भरा चित्र अंकित किया है। हो सकता है कि उनका गृहस्थ जीवन दुःखोंसे ओत-प्रोत रहा हो। एक स्थान-पर उन्होने लिखा है, "न तो रोजगार ही बनता है और न घरमें ही धन है। खानेकी बहुत फिकर है और पत्नी गहना चाहती है। कही उधार नही मिलता। साझीदार चोर स्वभावके है, घरमें धन नही आ पाता। एक पुत्र ज्वारी हो गया और एक मर गया। पुत्री जब ब्याहके योग्य हुई तो उसका विवाह कर दिया, किन्तु विवाहोपरान्त वह भी दिवंगत हो गयी। इन सुख-दुःखोंको जो जानता है, उसका भला क्या कहना ?"[१]

---

१. रुजगार बनै नाहि धन तौ न घर माहि
खाने की फिकर बहु नारि चाहै गहना।

उस समय आगरेमे मानसिंह और बिहारीदास जैन धर्मके धुरन्धर विद्वान् कहे जाते थे। वे आध्यात्मिक चर्चाओके केन्द्र थे। 'मानसिंहकी सैली' तो अत्यधिक प्रसिद्ध थी। द्यानतराय उनसे बहुत प्रभावित हुए, और दोनो ही को अपना गुरु बनाया। इस भाँति वि० सं० १७४६ में उन्होने जैनधर्मसम्बन्धी सुदृढ़ निष्ठा प्राप्त की। यह निष्ठा रुकी नही, आगे चलकर जैन-भक्तिके रूपमें विकसित हुई। द्यानतरायने अनेकानेक जैन पूजाओका निर्माण किया। उन्होने आध्यात्मिक पदोकी भी रचना की, जो 'धर्मविलास'मे संकलित हैं। वैसे तो जैन-भक्तिकी परम्परा निरन्तर चली आ रही थी, किन्तु हिन्दी पूजाओके रूपमें ऐसा सरल योगदान, सिवा द्यानतरायके कोई दूसरा न दे सका था। उन्होने वि० स० १७७७ में शिखरजीकी यात्रा भी की थी। वि० सं० १७८० मे वे दिल्लीमे आकर रहने लगे। वहाँ पण्डित सुखानन्दजी धर्म-चर्चाओके जीवन्त केन्द्र थे। उनके संसर्गसे कविका भक्ति-प्रवण हृदय उत्तरोत्तर विकसित होता गया, और आज वे अपनी रचनाओंमे अमर हैं।

धर्मविलास[1]

यह द्यानतरायकी समूची रचनाओंका संकलन है। इसकी समाप्ति वि० सं० १७८० मे हुई थी। उस समय कवि महोदय आगरेसे दिल्लीमें आकर रहने लगे थे। इसमे केवल पदोंकी ही संख्या ३३३ है, कुछ पूजाएँ हैं और अन्य ४५ विषयोपर भी लिखा गया है। ग्रन्थके साथ विस्तृत प्रशस्ति भी निबद्ध है, जिससे तत्कालीन आगरेकी सामाजिक परिस्थितिका अच्छा परिचय मिलता है।[2]

देने वाले फिरि जाहिं मिलै तो उधार नाहिं
साझी मिलै चोर धन आवै नाहिं लहना ॥
कोऊ पूत ज्वारी भयौ घर माहिं सुत थयो,
एक पूत मरि गयौ ताको दुख सहना।
पुत्री वर जोग भई ब्याही सुना जम लई,
एते दुःख सुख जानै तिसे कहा कहना ॥
धर्मविलास, कलकत्ता, अन्तिम प्रशस्ति।

१. कुछ अंशोंको छोड़कर शेषका प्रकाशन जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्तासे हो चुका है।

२. इधै कोट उधै बाग जमना बहै है बीच,
पच्छिम सौं पूरब लौं असीम प्रवाह सौं।

कविको अहंकार बिलकुल नहीं था। विनय और लघुताका भाव ही प्रबल था। इस रचनाके अन्तमे अपनी लघुता दिखाते हुए कविने कहा, "अक्षरोंसे तुक हुई और तुकसे छन्द बने। छन्द और अर्थ मिलकर आगम बना। किन्तु इस आगम, अर्थ और सुछन्दके कर्ता हम नही है। यह तो गंगाका जल लेकर गंगाको ही अर्घ्य दिया गया है। हमने तो अनादि अनन्त शब्द-गंगासे ज्ञान लिया और उसीको समर्पित कर दिया।[1]" इस रचनाके कतिपय पदोंको भावसहित नीचे दे रहा हूँ। उससे स्पष्ट हो जायेगा कि द्यानतराय कठिनसे कठिन भावको भी आसान भाषामे व्यक्त कर सकते थे।

भगवान्ने, सेठ सुदर्शन, सती सीता, वारिषेण, श्रीपाल और सोमापर आनेवाली विपत्तियोंको दूर किया। इससे वे अत्यधिक सुखी हुए। किन्तु न जाने क्यों भगवान्ने मेरे समय बहुत विलम्ब किया है। मुझे अभीतक उनकी कृपा प्राप्त नहीं हुई। ऐसा उपालम्भ देते हुए भक्त कहता है,

"मेरी बेर कहा ढील करी जी।
सूली सों सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी॥
सीता सती अगनि में बैठी, पावक नीर करी सगरी जी।
वारिषेण पै खडग चलायो, फूल माल कीनी सुथरी जी॥
धन्या वापी पर्यो निकाल्यौ, ता घर रिद्ध अनेक भरी जी।
सिरीपाल सागर तैं तार्यो, राजभोग कै मुकति वरी जी॥
सांप कियो फूलन की माला, सोमा पर तुम दया धरी जी।
'द्यानत' में कछु जांचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी॥"

द्यानतरायके उपालम्भ अत्यधिक सरस होते है। उनमे भावप्रवणता और हृदयको छूनेकी सामर्थ्य होती है। भक्तने भगवान्से कहा कि – आप दीनदयालु कहलाते है, किन्तु हम दीन इम संमारमे ही मर-खप रहे हैं और आप स्वयं मोक्ष-

अरमनी कसमीरी गुजराती मारवारी,
नरी सेती जामैं ब्रहु देस बसै चाह सौ।
रूपचंद बानारसी चंद जी भगौतीदास,
जहा भले भले कवि द्यानत उछाह सौं।
ऐसे आगरे की हम कौन भांति सोभा कहे,
बडो धर्म थानक है देखिए निगाह सौ॥
धर्मविलास, कलकत्ता, अन्तिम प्रशस्ति, ३०वाँ पद्य।

१. वही, ५४वाँ पद्य।

मे जा बैठे है। हम मन, वचन, कायसे तुम्हारा नाम जपते है, लेकिन तुम हमे कुछ नही देते। हम भले-बुरे जो कुछ भी है, तुम्हारे भक्त है। हम अपराधी हैं, किन्तु आप तो करुणाके समुद्र हो। हे भगवन्! केवल एक बार हमको इस भवसे निकाल लो,

"तुम प्रभु कहियत दीनदयालु।
आपन जाय मुकति मैं बैठे, हम जु रुलत जग जाल॥
तुमरो नाम जपैं हम नीके, मन वच तीनो काल।
तुम तो हमको कछु देत नहिं, हमरो कौन हवाल॥
भले बुरे हम भगत तिहारे, जानत हो हम चाल।
और कछु नहिं यह चाहत हैं, राग दोष कौं टाल॥
हम सौं चूक परी सो बकसो, तुम तो कृपा-विसाल।
द्यानत एक बार प्रभु जगतैं, हमकों लेहु निकाल॥तुम०॥"

मनको एकाग्र किये बिना कुछ नही हो सकता। योग, समाधि, जप, तप और पूजादि सभीमे मनकी एकाग्रता तो अभीष्ट है ही। परमेश्वरके प्रति सत्य रहनेसे और लौकिक वैभवोंकी चाह छोड़ देनेसे मनमे स्थिरता आती है। स्थिर मनसे ही वह तप तपा जा सकता है, जिससे फिर न तपना पडे, स्थिर मनसे ही वह जप जपा जा सकता है, जो फिर न जपना पडे। स्थिर मनसे ही वह व्रत किया जा सकता है जो फिर न करना पडे, और स्थिर मनसे ही ऐसी मौत मरा जा सकता है जो फिर न मरना पडे। पंचपरमेष्ठियोकी शरणमे जानेसे मनमें एकाग्रता तो आती ही है, पंचेन्द्रियाँ भी वशमे हो जाती है,

"ऐसो सुमिरन कर मेरे भाई, पवन थंभै मन कितहुं न जाई।
परमेसुर सौं साँच रहीजै, लोकरंजना को तज दीजै॥
जप अरु नेम दोउ विधि धारै, आसन प्राणायाम संभारै।
प्रत्याहार धारना कीजै, ध्यान समाधि महारस पीजै॥
सो तप तपो बहुरि नहिं तपना, सो जप जपो बहुरि नहिं जपना।
सो व्रत धरो बहुरि नहिं धरना, ऐसो मरो बहुरि नहिं मरना॥
पंच परावर्तन लखि लीजै, पांचों इन्द्री को न पतीजै।
'द्यानत' पांचों लच्छि लहीजै, पंच परम गुरु शरन गहीजै॥"

पूजा-साहित्य

द्यानतरायने अनेकानेक पूजाओका निर्माण किया। कुछ तो प्रतिदिन मन्दिरमें पढी जाती है और कुछ केवल पर्वके दिनोंमे ही। ये मुख्य है[१] : देवशास्त्रगुरु पूजा,

१. सभी प० पन्नालालजी बाकलीवाल-द्वारा सम्पादित बृहज्जिनवाणी संग्रहमें प्रकाशित हो चुकी हैं और कुछ भारतीय ज्ञानपीठ पूजांजलि में भी छपी हैं।

बीस तीर्थंकर पूजा, विदेहक्षेत्र पूजा, पंचमेरु पूजा, दशलक्षण धर्मपूजा, सोलह कारण पूजा, रत्नत्रय पूजा, निर्वाण क्षेत्र पूजा, नन्दीश्वर द्वीप पूजा, अष्टाह्निका पूजा, सिद्धचक्र पूजा, सरस्वती पूजा।

इनमें-से देवशास्त्रगुरु पूजाकी अधिक ख्याति है। देवसे तात्पर्य साक्षात् भगवान् अरिहन्तसे है, साधारण देवोंसे नही। शास्त्रपूजाका अर्थ उन शास्त्रोंसे है, जिनमे भगवान् अर्हन्तके मुँहसे निकले हुए दिव्य वचन निबद्ध है। आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु माने गये है। वे ही संसार-समुद्रसे पार करनेके लिए जहाजके समान है। तीनो हो की समुच्चय रूपसे अष्ट द्रव्योंसे पूजा की गयी है। तीनो ही 'रतन' के समान है, जिनकी भक्तिसे 'परमपद' प्राप्त होता है,[1]

"प्रथम देव अरहंत सुश्रुत सिद्धान्त जू।
गुरु निरग्रन्थ महन्त मुकतिपुर पंथ जू ॥
तीन रतन जगमाहिं सो ये भवि ध्याइये।
तिनकी भक्ति प्रसाद परम पद पाइये ॥१॥
पूजों पद अरहंत के, पूजों गुरु पद सार।
पूजों देवी सरस्वती, नितप्रति अष्ट प्रकार ॥२॥"

सोलह कारण पूजामे गम्भीर गुणवाले जिनेन्द्रके चरणोंपर कचन-झारीसे निर्मल-नीर चढाते हुए भक्त भाव-विभोर होकर जय-जयकार करते हुए एक लयमे कह उठता है

"कंचन-झारी निरमल नीर पूजों जिनवर गुन-गंभीर।
परमगुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो ॥
दरशविशुद्धि भावना भाय सोलह तीर्थंकर-पद-दाय।
परमगुरु हो जय जय नाथ परम गुरु हो ॥"

पंचमेरुओकी पूजामे संगीतकी लय है। पचमेरुओके अस्सी जिन-मन्दिर और सब प्रतिमाओको नमस्कार करते हुए भक्त कहता है, हे नाथ! आपको देखकर मुझे ऐसा सुख होगा, जिसे 'परम सुख' के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता।

"सीतल-मिष्ट-सुवास मिलाय, जल सों पूजौं श्री जिनराय।
महासुख होय, देखे नाथ परम सुख होय ॥
पाँचों मेरु असी जिन धाम, सब प्रतिमा को करौं प्रनाम।
महासुख होय, देखे नाथ परम सुख होय ॥"

---

१ ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृष्ठ १०६।

नन्दीश्वरके ५२ चैत्यालय और उनमे विराजमान प्रतिमाओंमे-से कुछ ऐसा तेज फूटता है, जिसके समक्ष करोडो चन्द्र और सूर्योकी दुति भी फोकी है। वे वचनसे नही बोलते, किन्तु उनको तो देखने-मात्रसे ही सम्यक्त्व पैदा हो जाता है :

"कोटि-शशि-भान-दुति-तेज छिप जात है।
महा-वैराग-परिणाम ठहरात है ॥
वयन नहिं कहें लखि होत सम्यक्वरं।
मौन बावन्न प्रतिमा नमों सुखकरं ॥९॥"

'निर्वाण-क्षेत्र-पूजा'की जयमालामे 'सम्मेदशिखर' की महिमाका वर्णन करते हुए कविने कहा कि एक बार जो कोई उसकी वन्दना कर लेता है, उसे फिर नरक-पशु-गति नही होती है। नर-पति देव-पति बन जाता है। वह इहलौकिक भोगोको भोगकर भी शिव-सुखको पा लेता है। सम्मेदशिखर विघ्नोका विनाश करके कल्याण करनेवाला है। उसमे संसारसे पार लगानेकी सामर्थ्य है,

"बीसों सिद्ध भूमि जा ऊपर।
शिखर सम्मेद-महागिरि भू पर ॥
एक बार बंदै जो कोई।
ताहि नरक-पशु-गति नहि होई ॥८॥
नरपति नृप सुर शक्र कहावै।
तिहुँ जग-भोग भोगि शिव पावै।
विघ्न-विनाशन मंगलकारी।
गुण-विलास बंदौ भवतारी ॥९॥"

स्तोत्र-साहित्य

द्यानतरायने 'स्वयम्भू स्तोत्र', 'पार्श्वनाथ स्तोत्र' और 'एकीभाव स्तोत्र'की रचना की थी, जिनमे प्रथम दो मौलिक और अन्तिम श्री वादिराज सूरिके संस्कृत 'एकीभाव स्तोत्र' का भावानुवाद है।

स्वयम्भू स्तोत्रमे चौबीस पद्य हैं। चौबीस तीर्थंकरोंमे-से प्रत्येकको महिमामे एक-एकका निर्माण हुआ है। यह स्तोत्र प्राय पूजाओंकी समाप्तिपर पढ़ा जाता है। भगवान् पार्श्वनाथ और वर्द्धमानकी महिमामे बने हुए दो पद्य देखिए।

"दैत्य कियो उपसर्ग अपार, ध्यान देखि आयो फनिधार।
गयो कमठ शठ मुख कर श्याम, नमों मेरु सम पारस स्वाम ॥२३॥
भव सागर तें जीव अपार, धरम पोत मैं धरे निहार।
डूबत काढ़े दया विचार, वर्द्धमान वंदौं बहुबार ॥२४॥"

'पार्श्वनाथ स्तोत्र' प्रसिद्ध है। इसमे संगीतकी लय है और भावोका प्रवाह। वह भगवान् दुःखियोके दुःखको हरनेवाला, सुख देनेवाला और सेवकोके हृदयमें महान् आनन्दको वर्षा करनेवाला है। उसके सेवकोके पास भय तो फटकता ही नही। वह भगवान् दरिद्रोको धन, अपुत्रोको पुत्र भी देता है। देखिए,

"दुखी दुःखहर्त्ता सुखी सुक्खकर्त्ता।
सदा सेवकों को महानन्द भर्त्ता॥
हरे यक्ष राक्षस भूत पिशाचं।
विषं डांकिनी विघ्न के भय अवाचं॥३॥
दरिद्रीन कों द्रव्य के दान दीने।
अपुत्रीन कों तू भले पुत्र कीने॥
महासंकटों से निकारै विधाता।
सबे संपदा सर्व को देहि दाता॥४॥"

आरती साहित्य

द्यानतरायकी पाँच आरतियाँ 'जिनवाणी-संग्रह'मे प्रकाशित हो चुकी है। ये पाँचो क्रमश 'इह विधि मगल आरति कीजे', 'आरति श्री जिनराज तिहारी', 'आरति कीजै श्री मुनिराज की', 'करौ आरती वर्द्धमान की', और 'मगल आरती आतमराम' से प्रारम्भ होती है।

प्रथम आरती पचपरमेष्ठीकी भक्तिमे रची गयी है। वे भव-समुद्रसे तारनेवाले, भव-फेरीको मिटानेवाले, जन्म-मरणके दु खोको दूर करनेवाले, पापोको हटानेवाले और कुमतिका विनाश करनेवाले है।[1]

द्वितीय आरती श्री जिनराजकी आरती है, जो कर्मोका दलन करनेवाले और सन्तोके हितकारी है। वह भगवान् ही सब देवोका देव है और सुर-नर-असुर सभी उसकी सेवा करते है। जो कोई उसकी शरणमे गया वह भव-समुद्रसे तिर गया। भगवान्के गुण इतने अधिक है कि गणधर भी पार नही पा पाते। वह भगवान् करुणाका सागर है और अपने भक्तको सदैव सुख देता है,

"सुर नर असुर करत तुम सेवा।
तुमहीं सब देवन के देवा॥
आरति श्री जिनराज तिहारी।
करम दलन संतन हितकारी॥
भव भय भीत शरन जे आये।
ते परमारथ पंथ लगाये॥

१. बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृष्ठ ५१७।

जो तुम नाम जपै मन माहीं।
जनम मरन भय ताको नाहीं॥
तुम गुण हम कैसे करि गावैं।
गणधर कहत पार नहिं पावैं॥
करुणासागर करुणा कीजे।
द्यानत सेवक को सुख दीजे॥"

तृतीय आरती श्री मुनिराजकी है, जो अधर्मोंका उद्धार करनेवाले है। उनके चरित्रका गुणगान करते हुए कवि कहता है, "वे शत्रु-मित्र और सुख-दुःखको समान मानते है तथा लाभ और अलाभको भी बराबर समझते है।"[1]

चतुर्थ आरती भगवान् महावीरकी भक्तिमे रची गयी है। वे भगवान् मनुष्याको तारनेमे भी वैसे ही पटु है, जैसे कि अपने कर्मोके विदीर्ण करनेमे। वे शीलवानोमे सर्वोत्कृष्ट है और 'शिव-तिय' का भोग करनेवाले है। वे मन-वचन और कायमे योगी है,[2]

"राग-विना सब जग जन तारे; द्वेष बिना सब करम विदारे॥
करौं आरती वर्द्धमान की, पावापुर निरवान था। की॥१॥
शील धुरंधर शिवतिय भोगी, मनवचकायनि कहिये योगी॥
करौं आरती वर्द्धमान की। पावापुर निरवान थान की॥२॥"

पचम आरती आतमरामकी है। इसमे एक उत्कृष्ट रूपक है। आत्मा ही भगवान् राम है। वह भगवान् तनरूपी मन्दिरमे विराजमान है। भक्त अष्ट द्रव्योसे उसकी पूजा करता है। समरसका आनन्द ही जल-चन्दन है, तत्त्वस्वरूप तन्दुल, अनुभव-सुख नैवेद्यका भरा हुआ थाल, ज्ञान दीपक, ध्यान धूप और निर्मल-भाव महाफल है। सबको मिलाकर अर्घ्य बन जाता है। इस भाँति भविक जन जो नवधा-भक्तिमे प्रवीण है, सगुणकी भाँति ही आत्मारूपी राममे एकनिष्ठ हो तल्लीन हो रहे है।[3] देखिए,

"मंगल आरती आतमराम। तन मंदिर मन उत्तम ठान॥
समरस जल चंदन आनंद। तंदुल तत्त्व स्वरूप अमंद॥
समयसार फूलन की माल। अनुभव सुख नेवज भरि थाल॥
दीपक ज्ञान ध्यान की धूप। निर्मल भाव महाफल रूप॥
सुगुण भविक जन इकरस लीन। निहचै नवधा भक्ति-प्रवीन॥"

१. बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृष्ठ ५१६।
२. ज्ञानपीठ पूजांजलि, खण्ड ७, पृष्ठ ५३४।
३. बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ० ५२२।

जब कोई व्यक्ति अत्यधिक उत्साहके साथ अन्तर्हृदयमें विराजमान परमात्मा-का ध्यान लगायेगा, तो यह सिद्ध बात है कि ध्यानकी उत्कृष्ट अवस्थामें वह परमात्मामय हो जायेगा, अर्थात् वह और उसका साहब एक हो जायेगा। जैन लोग ऐसे ध्यानको शुक्ल ध्यान कहते है। द्यानतरायने भी ऐसा ही कुछ कहा है,

"धुनि उतसाह सु अनहद गान।
परम समाधि निरत परधान॥
बाहिर आतम भाव बहावै।
अन्तर ह्वै परमातम ध्यावै॥
साहब सेवक भेद मिटाय।
द्यानत एकमेक हो जाय॥"

समाधिमरण

द्यानतरायका रचा हुआ समाधिमरण छोटा समाधिमरण कहलाता है। इसमे कुल दस पद्य है। यह 'बृहज्जिनवाणी संग्रह'मे प्रकाशित हो चुका है।

धर्म पच्चीसी

इसमे कुल २७ पद्य है। यह भी उपर्युक्त 'जिनवाणी संग्रह'मे निबद्ध है। इसमे जैन धर्मके प्रति अगाध श्रद्धा प्रदर्शित की गयी है। एक स्थानपर कविने कहा है कि जैन धर्मके बिना मनुष्य वैसे ही है जैसे चन्द्रके बिना रात्रि, दाँतके बिना हाथी, और कन्तके बिना तरुण नारी,

"चंद विना निश गज विन दंत। जैसे तरुण नारि विन कंत॥
धर्म विना त्यौं मानुष देह। तातैं करियें धर्म सनेह॥"

नीरके बिना सरोवर शोभा नही पाता, गन्धके बिना पुष्पका कुछ मूल्य नहीं और धनके बिना घरमे कोई सौन्दर्य नही आ पाता, ठीक वैसे ही धर्मके बिना मनुष्य भी सुशोभित नही होता,

"जैसे गंध बिना है फूल। नीर विहीन सरोवर धूल॥
ज्यों धन बिन शोभित नहिं भौन। धर्म विना नर त्यौं चितौन॥१३॥"

कमला चपल है और यौवन जरामे बदल जाता है। सुत, मित्र और नारीका सयोग भी क्षणिक है। संसारका भोग स्वप्नके समान है। यह देखकर शुद्ध स्वभावसे जैन धर्ममे श्रद्धा रखनी चाहिए। जैसा भाव होगा वैसी ही गति मिलेगी,

"कमला चपल रहै थिर नाय। यौवन कांति जरा कपटाय॥
सुत मित नारी नाव संजोग। यह संसार सुपन का भोग॥

यह लखि चित धर शुद्ध सुभाव। कीजे श्री जिनधर्म उपाव ॥
यथाभाव जैसी गति गहै। जैसी गति तैसा सुख कहै ॥१६॥"

अध्यात्म पंचासिका

इसमे ठीक पचास पद्य है, जैसा कि इसके नामसे भी स्पष्ट है। इसको 'सम्बोध पचासिका' भी कहते हैं। इसमे कहा गया है कि विशुद्ध आत्माके पास होते हुए भी यह जीव इधर-उधर भटकता फिरता है। भ्रमाकुलित जीवकी दशा विविध दृष्टान्तोंसे व्यक्त की गयी है।[1]

"जैसे काहू पुरुष के द्रव्य गड्यौ घर माहिं।
उदर भरै कर भीख ही, ब्यौरा जानैं नाहिं ॥१३॥
ता नर सों कि नहीं कहीं तू क्यौ मांगै भीख।
तेरे घर मैं निधि गड़ी, दीनी उत्तम सीख ॥१४॥"

अन्य रचनाएँ

द्यानतरायकृत कुछ रचनाओंकी सूचना 'राजस्थानके जैन शास्त्र-भण्डारोंकी ग्रन्थ-सूची भाग ३'से भी प्राप्त हुई है। इसमे '१०८ नामोकी गुणमाला' 'दश-स्थान चौबोसी' और 'छह ढाला' प्रसिद्ध हैं। 'दशस्थान चौबीसी'मे चौबीस तीर्थंकरोके नाम, माता-पिताके नाम, ऊँचाई और आयु आदि १० बातोका वर्णन है। इसकी प्रतिलिपि मीठालाल शाह पावटावालेने जयपुरमे सं० १९४४ मे की थी।

७४. विद्यासागर (वि० सं० १७३४)

इनकी रचनाओका पता अभी-अभी दूणी[2], अर्थात् द्रोणपुरीके शास्त्रभण्डारको खोजते समय लगा है। वैसे तो इस भण्डारके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी संख्या १०४ ही है, किन्तु उसमे कुछ महत्त्वपूर्ण संकलन भी है। दो गुटकोंमे हिन्दीकी ऐसी रचनाओका संकलन है जो अभीतक अज्ञात थी। उनमे-से पहला तो सं० १८०१ का लिखा हुआ है, और दूसरा भी इसीके आस-पासका प्रतीत होता है, क्योंकि

१. वही, पृ० ६५८।
२. दूणी जयपुरसे ६० मील और टोंकसे ३० मीलपर अवस्थित है। यह देवली जानेवाली सड़कसे लगभग २ मील दूर है। इसका प्राचीन नाम द्रोणपुरी है। इसमें तहसील है। एक हजार वर्ष पुराना विशाल जैन मन्दिर है। २२ जैन घर हैं।

उसमे प्रायः अठारहवीं शताब्दीकी रचनाएँ है। उसीमे विद्यासागरकी छह कृतियाँ निबद्ध हैं।

विद्यासागर नामके दो कवि गुजरातीमे हो गये है, किन्तु दोनों ही सत्रहवीं शताब्दीमे उत्पन्न हुए थे। एक तो तपागच्छीय विजयदान सूरिके शिष्य थे, उन्होंने सं० १६०२ मे 'सुकौशल गीत'का निर्माण किया। दूसरे खरतरगच्छीय सुमति-कल्लोलके शिष्य थे। उन्होंने स० १६७३ आसोज सुदी १० को 'कलावती चौपई' की रचना की थी।[1] प्रस्तुत विद्यासागर उपर्युक्त दोनोसे ही पृथक् है। उन्होने जो कुछ लिखा हिन्दीमे ही लिखा। उनका समय भी अठारहवी शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना जाना चाहिए, जैसा कि उनकी रचनाओंसे स्पष्ट है। उन्होने संवत् १७३४ मे 'भूपाल स्तोत्र छप्पय'का निर्माण किया था।

विद्यासागर कारंजाके रहनेवाले थे। उनके पिताका नाम राखू साह था। वे बघेरवाल जातिमे उत्पन्न हुए थे। बघेरवाल जैनियोकी एक उपजाति है, जो अब भी कारंजाकी तरफ अधिक रहती है। पिताके नामसे ऐसा स्पष्ट ही है कि ये एक साहूकार थे और लक्ष्मीकी उनपर कृपा थी। वे धर्मनिष्ठ भी थे, भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिमे ही उनका अधिकतर समय व्यतीत होता था। विद्यासागर भी वैसे ही बने। वे मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणके शुभचन्द्रके गुरुभ्राता थे। उनके गुरुका नाम अभयचन्द्रसूरि था। विद्यासागर ब्रह्म विद्यासागर कहलाते थे। इससे स्पष्ट है कि वे ब्रह्मचारी थे। उनकी रचनाएँ उनके भक्त-हृदयकी द्योतक है। प्रायः सभी मुक्तक है। उनमे सवैया और छप्पयोका अधिकतर प्रयोग किया गया है।

रचनाएँ

'सोलहस्वप्न छप्पय' नामकी कृतिमे तीर्थंकरकी माँके सोलह स्वप्नोका भक्ति-मय विवेचन है। इसमे केवल ९ पद्य है और यह अठारहवी शताब्दीके प्रथम पादमे लिखी गयी थी।

'जिन जन्म महोत्सव षट्पद'मे भगवान् जिनेन्द्रके जन्मकालीन महोत्सवकी झाँकी है। इस अवसरपर इन्द्र इन्द्राणी तथा अन्य देवोसहित आकर विविध उत्सवोकी रचना करता है। उसीका एक सफल चित्र इस छोटे-से काव्यमे प्रस्तुत किया गया है। इसका रचनाकाल भी अठारहवी शताब्दीका प्रथम पाद ही है। इसमे कुल १२ पद्य हैं। एक पद्य देखिए,

---

१. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड १, भाग ३, पृ० क्रमशः ६४७, ६६६।

"चाल्यो सुरग तदा वियति मारगे विमाने ।
हाव भाव सविलास करी करे नृत्य सु ताने ॥
धुमि धुमि धुनिये सार उदार ज मद्दल बज्जे ।
द्रमि द्रमि शब्दे चंग फार दों दल बहु गज्जे ॥
झिकिटि झिकिटि सुस्वरे करि धुग्घरी धम्म के बहु तदा ।
विद्यासागर कहे सुणो सुर किल्याणक कर यदा ॥५॥"

'सप्त व्यसन सवैया'मे सात व्यसनोको छोड़नेकी बात कही गयी है। इसमें कुल सात पद्य हैं। इसका भी रचनाकाल वह ही है। सवैयोंका प्रयोग किया गया है।

'दर्शनाष्टक' भगवान् जिनेन्द्रके दर्शनोसे सम्बन्धित है। इसमें बताया गया है कि भगवान्के दर्शन करने-मात्रसे ही यह जीव भव-समुद्रसे पार हो जाता है। इसमें ११ पद्य है। रचना-काल वह ही है।

'विषापहार छप्पय' सबसे बडा काव्य है। इसमे ४० पद्य हैं। यह छप्पयों-में लिखा गया है। इसका रचनाकाल भी अठारहवी शताब्दीका प्रथम पाद ही है। इसमे भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे इहलौकिक और पारलौकिक दुःखोके छूट जानेका विवेचन है। एक पद्यमे जिनेन्द्रका रूप इस प्रकार अंकित किया है —

"शबद शरीरातीत स्वामि तु हे वृषभेश्वर,
रूप गंध रस रहित प्रभु तुं श्री जगदीश्वर।
देह गंध सरूप शबद ना ज्ञान ने जांणे,
लोक त्रि परमांण मांण जिन ज्ञांने बखांणे ।
अन्य लोक अभिमांन थीं समरे नहीं तुझ ने कदा,
वर विद्यासागर वदे तुझ गुण समरु हु सदा ॥३४॥"

'भूपाल स्तोत्र छप्पय' मे कुल २७ छप्पय हैं। इसमे चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है। इसकी रचना स० १७३० आश्विनमास सुदी सप्तमी गुरुवारके दिन कारजामे हुई थी। एक पद्यमे भगवान्के दर्शनका आनन्द देखिए,

"निरख्यो नयने आज रसायन मंदिर सुखकर,
नव निधान तु स्थान आज मिनि रख्यो दुखहर।
सिद्ध सुरस तु सदन आज में नयने निरख्यौ,
चिंतामणि तुझ आज निरख्यु मुझ है यहु हरख्यो ।
जिनगृह निरखे मैं सहु आज में निरख्या निरमला,
विद्यासागर कहे जिन निरखे पातिग गल्या ॥२५॥"

७५. बुलाकीदास (वि० सं० १७३७–१७५४)

बुलाकीदासकी वंश-परम्परा इस प्रकार थी : साहु अमरसी, प्रेमचन्द, श्रमणदास, नन्दलाल और बुलाकीदास। ये मूलतः बयानाके रहनेवाले थे। किन्तु लाला श्रमणदास बयाना छोड़कर आगरेमें रहने लगे थे। उनका पुत्र नन्दलाल योग्य, स्वस्थ और रूपसम्पन्न था, जिसपर मोहित होकर प्रसिद्ध पण्डित हेमराजने अपनी एक-मात्र पुत्री 'जैनी' ब्याह दी थी। जैनी रूप और शीलमें अनुपम तथा सरस्वतीकी तो साक्षात् अवतार ही थी। उसीके गर्भमें बुलाकीदासका जन्म हुआ। विदुषी माँकी देख-रेखमें बुलाकीदासका पालन-पोषण हुआ। वे विद्वान् भी बन सके और महाकवि भी। उनका कुल अग्रवाल और गोत्र गोयल था।[1]

'नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के सम्पादकोंने उनके द्वारा रचित 'श्रीमन्महाशीलाभरणभूषित' नामके ग्रन्थके आधारपर लिखा है, "वे मूलरूपसे बयानाके रहनेवाले थे, किन्तु अन्न-पानके संयोगसे जहानाबादमें आकर रहने लगे, जहाँ औरंगज़ेबके शासनमें सब प्रजा सुखी थी, उनके गुरुका नाम रतन था, जो गढ गोपाचलके रहनेवाले थे।"[2] किन्तु 'श्रीमन्महाशीलाभरणभूषित' उनकी किसी रचनाका नाम नहीं है, अपितु अपनी माताकी स्मृति रक्षाके लिए उन्होंने पाण्डवपुराणके प्रत्येक सर्गके अन्तमें 'श्रीमन्महाशीलाभरणभूषिताया जैनीनामांकिताया भारतभाषाया' लिखा है। उन्होंने पाण्डवपुराणकी रचना अपनी माँकी आज्ञासे ही की थी। जहाँतक जहानाबादका सम्बन्ध है, हो सकता है कि उनके पूर्वज वहाँ भी कुछ दिनों रहे हों।

बुलाकीदासने 'वचनकोश', 'प्रश्नोत्तरश्रावकाचार' 'पाण्डवपुराण' और 'जैन चौबीसी' की रचना की थी। इनमें पूर्णतया भक्तिसे सम्बन्धित 'जैन चौबीसी' ही है, किन्तु अवशिष्ट तीन ग्रन्थोंमें भी भक्तिके अनेकों स्थल हैं। कहीं जिनेन्द्र-की स्तुतियाँ, कहीं जिन मन्दिरोंका सातिशय वर्णन और कहीं भक्तोंकी चमत्कार-पूर्ण कहानियाँ हैं। यहाँ सभी ग्रन्थोंका संक्षेपमें परिचय दिया जा रहा है :

---

१. पं० प्रेमी, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, १९१७ ई०, पृष्ठ ६५।

२ "वतन बुलाकीदास को, मूल बयौना जान। और रतन गुरुदेव को, गढ गोपाचल थान। अन्न पान सजोग तें नगर जहानांबाद····नगर जहानाबादमें साहिब औरंग साहि, विधिना तिस छत्तर दयौ, रहे प्रजा सुख माहि।" देखिए का० ना० प्र० पत्रिकाके हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थोंका १५वाँ त्रैवार्षिक विवरण।

वचनकोश

इसकी एक प्रति 'सेठका कूंचा दिल्ली'के जैन मन्दिरके शास्त्र भण्डारमे मौजूद है। इसकी रचना वि० सं० १७३७में हुई थी। यह प्रति वि० सं० १८८३ को लिखी हुई है। इसमे १३० पृष्ठ है। इसकी दूसरी प्रति जयपुरके बड़े मन्दिरके वेष्टन नं० १६४१ मे निबद्ध है। यह प्रति बिलकुल शुद्ध एवं पूर्ण है। इसमे १५७ पृष्ठ है। इसपर लेखनकाल सं० १८५३ पडा हुआ है। यह ग्रन्थ जैन-सिद्धान्तका विषय है, किन्तु हिन्दी-पद्योमे लिखा गया है। पद्योमे सरसता है।

प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार

इसकी प्रति दिल्लीके पंचायती मन्दिरके ग्रन्थभण्डारमे मौजूद है। इसका रचनाकाल सं० १७४७ और लेखनकाल सं० १९१७ मे दिया हुआ है। इसमे कुल १०३ पृष्ठ है। इसकी दूसरी प्रति जयपुरमे लूणकरजीके मन्दिरके वेष्टन नं० १०८ मे निबद्ध है। इसपर भी रचनाकाल स० १७४७ पडा है, किन्तु लेखनकाल सं० १९४१ है। यह प्रतिलिपि नासरौत्रा ग्रामके दीवान धनकुँअरजो तेरापन्थीने लिखवायी थी। इसमे पृष्ठसंख्या १४५ है। इस ग्रन्थका विषय जैन धर्मानुसार श्रावकोंके आचारसे सम्बन्धित है। किन्तु हिन्दी-पद्यमे लिखा गया है और उसमे अनेक स्थलोपर साहित्यिक आनन्द सन्निहित है।

पाण्डवपुराण

यह बुलाकीदासका प्रसिद्ध महाकाव्य है। इसमे जैन-परम्परानुमोदित पाण्डवोकी कथा है। इसकी रचना वि० सं० १७५४ मे दिल्लीमे रहकर की गयी थी। वहाँ उनकी माँ जैनुलदे या जैनीने शुभचन्द्र भट्टारकका संस्कृत पाण्डवपुराण पढ़ा और अपने पुत्रको हिन्दीमे रचनेकी आज्ञा दी।[1] उन्होने उस अज्ञाको पूरा किया। इस काव्यमे ५५०० पद्य हैं। उनकी काव्य-शक्तिपर अपना मत अभिव्यक्त करते हुए प्रसिद्ध पण्डित नाथूरामजो प्रेमीने लिखा है, "रचना मध्यम श्रेणीकी है, पर कहो-कही बहुत अच्छी है। कविमे प्रतिभा है, पर वह मूलग्रन्थ-

---

१. ताकौ अर्थ विचारकै, भारत भाषा नाम।
कथा पांडु सुत पंच की, कीजै बहु अभिराम ॥
सुगम अर्थ श्रावक सबै, भनै भनावै जाहि।
ऐसो रचिकै प्रथम हो, मोहि सुनावौ ताहि ॥
पाण्डवपुराण प्रशस्ति, दिल्लीवाली प्रति।

की क़ैदके कारण विकसित नहीं हो पायी। मूल ग्रन्थकी ही रचना बढ़िया नहीं है।[1]" काव्य-शक्ति मँजी हुई और पुष्ट है, किन्तु कथानकसम्बन्धी घटनाओंके घुमाव-फिरावमें कुछ दोष है, जो मूल ग्रन्थसे सम्बन्धित है। सम्बन्ध-निर्वाह भी विशृंखल है। का० ना० प्र० के सम्पादकोंका विचार है, "प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त रोचक है। कविता अच्छी है।[2]" पत्रिकाके सम्पादकोंने बछनेरा (आगरा)के जैन मन्दिरके शास्त्रभण्डारसे एक प्रति प्राप्त की थी। उसपर रचना-संवत् १८२३ पड़ा हुआ है, जिसका खण्डन स्वयं सम्पादकोंने ही किया है।

इसकी एक प्रति नया मन्दिर दिल्लीके हस्तलिखित ग्रन्थोंमें मौजूद है। लिपि सं० १८९२ की हुई है। इसमें २०१ पृष्ठ हैं। दूसरी प्रति जयपुरके बधीचन्दजीके जैन-मन्दिरमें वेष्टन नं० ६४४में निबद्ध है। इसमें पत्रसंख्या २०२ है और रचनाकाल सं० १७५४ दिया हुआ है। अछनेरावाली प्रतिके आधारपर प्रारम्भका एक छप्पय छन्द देखिए,

"सेवत सत सुरराय स्वयं सिद्धिशिव सिद्ध मय।
सिद्धारथ सरवस नय प्रमाण सो सिद्धि जय॥
करम कदन करतार करन हरन कारन चरन।
असरन सरन अम्बार मदन दहन साधन सदन॥
इहविधि अनेक गुणगण सहित, जग भूषण दूषण रहित।
तिहि नन्दलाल नन्दन नमत, सिद्धि हेत सरवज्ञ नित॥"

जैन-चौबीसी

इसका उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थोंके पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरणमें हुआ है। पत्रिकाके सम्पादकोंको इसकी प्रति 'मागरौल गुजर'के रहनेवाले श्री दुर्गासिंह राजपूतके पास प्राप्त हुई थी। मागरौलका डाकखाना रुनकता, तहसील किरावली और ज़िला आगरा है। इसमें १९६ अनुष्टुप् छन्द हैं। सभी २४ तीर्थंकरोंकी भक्तिसे सम्बन्धित हैं। भगवान् आदिनाथकी वन्दनामें एक छन्द इस प्रकार है,

"बन्दौ प्रथम जिनेस को, दोष अठारह चुरी,
वेद नक्षत्र ग्रह औरष, गुन अनन्त भरी पुरी।

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, १९१७ ई०, पृ० ६६।

२. का० ना० प्र० पत्रिकाके हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थोंकी खोजके त्रैवार्षिक पन्द्रहवें विवरणमें देखिए।

नमो करि फेरि सिद्धि को अष्ट करम कीए छार,
सहत आठ गुन सो भई, करै मगत उधार।
आचारज के पद फेरि णमो, दूरी अन्तर गति भाउ,
पंच प्रचरजा सिद्धि ते, मारै जगत के राउ॥"

७६. विनयविजय (वि० सं० १७३९ तक थे)

ये एक श्वेताम्बर साधु थे। इनके गुरुका नाम कीर्तिविजय उपाध्याय था। कीर्तिविजयजी वीरमगामके रहनेवाले थे। कीर्तिविजयको गणना अच्छे विद्वानोंमे थी। विनयविजय इन्हीके शिष्य थे। उन्होने अपनी गुरु-परम्पराका उल्लेख इस प्रकार किया है : हीरविजय, विजयदेव, विजयसिंह, कीर्तिविजय, विनयविजय।[1]

विनयविजयजी यशोविजयके समकालीन थे। दोनोंने साथ रहकर ही काशी-मे विद्याध्ययन किया था।[2] विनयविजयकी न्याय और साहित्यमे समान गति थी। इनका 'नयकर्णिका' नामका ग्रन्थ अँगरेजी टीकासहित छप चुका है। 'पुण्यप्रकाशस्तवनम्' और 'पचसमवायस्तवनम्' भक्तिसे सम्बन्धित है। गुजराती साहित्यको उनकी विशाल देन है। उसमे 'नेमिनाथ भ्रमर गीतास्तवन', 'नेमि-नाथ बारमास स्तवन', 'आदिनाथ विनती', 'चौबीसी', 'बीसी' और 'शाश्वत जिनभाप' अत्यधिक प्रसिद्ध है।[3] काशीमे रहनेके कारण उन्होंने हिन्दीमे भी समुचित योग्यता प्राप्त कर ली थी। उनका हिन्दीका एक ग्रन्थ 'विनय-विलास'-के नामसे छप चुका है। इसमे कुल ३७ पद है।

विनय-विलास

यह शरीर झूठा है, किसीके साथ नही जाता, यहाँ ही पडा रह जाता है। जीव उसको प्रेम करता है, करना नही चाहिए। आत्मा ही जीव है, जो कभी व्यय नही होता, जो कभी मरता नही। इसीको कविने एक सुन्दर रूपकके द्वारा उपस्थित किया है। आत्मा या जीव सवार है और शरीर घोडा। यह खानेमे तो होशियार है, किन्तु जब इसपर जीन कसो, तब यह सोना चाहता है। इसपर

---

१. नेमिनाथ भ्रमर गीता स्तवन, गुजराती, २६वाँ पद्य।
   जैन गुर्जर कविओ, भाग २, बम्बई, १९३१ ई०, पृ० ७।

२. जैन स्तोत्र सन्दोह, प्रथम भाग, मुनि चतुरविजय-द्वारा सम्पादित प्रस्तावना, पाद टिप्पणी, पृ० ६३।

३. सबोंका संक्षिप्त विवरण 'जैन गुर्जरकविओ', भाग २, पृ० ६-१७ में अंकित है।

कितना ही रुपया व्यय करो, कितना ही अच्छा चारा दो, सवारीके समय यह अवश्य ही इधर-उधर बहकेगा। यह सेवाएँ तो बहुत प्रकारकी करवाता है, किन्तु सवारको कही दूर जगलमे जा पटकता है। अत. इस बिगड़ैल घोड़ेको ठीक रास्तेपर लानेके लिए, चाबुकसे काम लेना होगा। बिना ऐसा किये यह संसाररूपी मार्ग कैसे पार कर सकेगा ? वह रूपक देखिए,

"घोरा झूठा है रे तू मत भूले असवारा।
तोहि मुधा ये लागत प्यारा, अंत होयगा न्यारा॥
चरै चीज और डरै कैद सौं, ऊबट चलै अटारा।
जीन कसै तब सोया चाहे, खाने कौं होशियारा॥
खूब खजाना खरच खिलाओ, यो सब न्यामत चारा।
असवारी का अवसर आवै, गलिया होय गंवारा॥
छिनु ताता छिनु प्यासा होवै, खिजमत बहुत करावन हारा।
दौर दूर जंगल में डारै, झूरै धनी विचारा॥
करहु चौकड़ा चातुर चौकस, द्यौ चाबुक दो चारा।
इस घोरे को 'विनय' सिखावो, ज्यों पावो भवपारा॥"

यह मनुष्य सासारिक सुखोको प्राप्त करनेके लिए बहुत ललचाता है। एक-के बाद दूसरेको प्राप्त करनेकी उसकी तृष्णा कभी बुझती नही। वह मृग-तृष्णाकी भाँति उनके पीछे अविराम गतिसे दौडता है किन्तु कुछ मिलता नही। जीवन व्यर्थ चला जाता है। उसे यह पता नही कि उसके भीतर ही सुधाका सरोवर लहरा रहा है। उसमे स्नान करनेसे सब दुःख दूर हो जाते है, और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। शाश्वत सुख उसके पास ही है। वह व्यर्थमे ही इधर-उधर भटकता फिरता है,

"किया दौर चहुं ओर जोर से, मृगतृष्णा चित लाय।
प्यास बुझावन बूंद न पाई, यौं ही जनम गमाय॥
प्यारे काहे कूं तू ललचाय॥
सुधा सरोवर है या घट में, जिसतें सब दुख जाय।
'विनय' कहे गुरुदेव सिखावे, जो लाऊं दिल ठाय॥
प्यारे काहे कूं तू ललचाय॥"

सासारिक पदार्थोके लिए ललचाना मूर्खता है। जिनके लिए यह जीव व्याकुल होकर 'मेरी मेरी' करता है, वे जलके बुलबुलेके समान क्षणिक है। क्षणिक पदार्थोमे चिरन्तन सुख ढूंढ़ना मूर्खता ही है। माया-जन्य विकल्पोंने जीवके शुद्ध

स्वभावको आच्छादित कर रखा है। वह अतृप्तिके काँटोंपर लेटकर दुःख पा रहा है, ज्ञान-कुसुमोंकी शय्यापर लेटनेका उसे कभी सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हुआ। देखिए,

> "मेरी मेरी करत बाउरे, फिरे जीउ अकुलाय।
> पलक एक मे बहुरि न देखे, जल-बुंद की न्याय॥
> प्यारे काहे कूं ललचाय॥
> कोटि विकल्प व्याधि की वेदन, लही शुद्ध लपटाय।
> ज्ञान-कुसुम की सेज न पाई, रहे अघाय अघाय॥
> प्यारे काहे कूं ललचाय॥"

यहाँ 'बाउरे' शब्द ऐसे उपयुक्त स्थानपर बैठा है, जिससे समूचे पद्यमे जीवन आ गया है। उपयुक्त स्थानपर शब्दोको बिठाना सच्चे कलाकारका ही काम है। विनयविजयकी भाषा, शैली और भाव सभी कुछ मनोहारी है।

७७. देवाब्रह्म (१८वीं शताब्दीका पूर्वार्ध)

अभीकी खोजोंमे देवाब्रह्मकी कुछ रचनाओका पता चला है, जिनके आधारपर यह निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि वे हिन्दीके उत्कृष्ट कवि थे। सैकड़ों बिखरे पदो और विनतियोमे जैसे उनका हृदय ही फूट पड़ा है। भाषा भी परिमार्जित है। उसपर कुछ राजस्थानीका प्रभाव है। देवाब्रह्मके अधिकांश पद्य भगवान् जिनेन्द्रके चरणोमे समर्पित हुए है।

'देवाब्रह्म'मे ब्रह्म शब्द उपाधिसूचक है[1] जो उनके ब्रह्मचारी होनेकी बात घोषित करता है। उनका नाम 'देवजी' था। यह स्वीकार करते हुए भी कि 'देव' का प्रयोग प्रायः नामके अन्तमे ही होता है, निश्चय रूपसे यह भी तो नही कहा जा सकता कि 'देवजी' नाम नही हो सकता। नामोंकी विचित्रता सभीको विदित है।

बाबू कामताप्रसादजीने अपने इतिहासमे देव ब्रह्मचारी और केशरीसिंहको लेकर एक शंका उपस्थित की है। उनका कथन है कि "देव ब्रह्मचारी (केशरी सिंह) कृत 'सम्मेदशिखर विलास' नामक रचना हमारे संग्रहमे है।[2] अर्थात् क्या

१. आराधना कथाकोशके कर्ता नेमिदत्तने और प्राकृत श्रुत स्कन्धके रचयिता हेमचन्द्रने उपाधिके रूपमें ब्रह्म शब्दका प्रयोग किया है।

२. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० १६५।

देव ब्रह्मचारी केशरीसिंह थे ? और यह रचना क्या केशरीसिंहकृत है ? किन्तु उसके अन्तिम पद्योंसे स्पष्ट है कि न तो देव ब्रह्मचारी केशरीसिंह थे, और न यह कृति केशरीसिंहकी ही है। लोहाचार्यके जिस घत्ताबन्ध पुनीत सुग्रन्थके आधारपर देवाब्रह्मने इस रचनाका निर्माण किया, उसका अर्थ पण्डित केशरीसिंहने समझाया था। पण्डितजी जयपुर नगरमें लश्करके मन्दिरमें रहते थे। देव ब्रह्मचारी भी जयपुरके ही रहनेवाले थे।[1]

ब्रह्मचारी होनेके कारण देवाब्रह्मजी स्थान-स्थानपर घूमते थे और वहाँकी जनताको उपदेश देते थे। एक बार उन्होंने चम्पावती नगरीमें चौमासा किया और वहाँकी प्रजाको ज्ञानका मार्ग दिखाया।[2] उन्होंने एक पद्यमें चम्पावतीका विशद वर्णन किया है।[3] चम्पावतीके बडे देउरेमें एक 'पाडेमाली' रहते थे। उनके

---

१. श्री लोहाचारज मुनि धर्म विनीत है।
तिन कृत घत्ता बंध सुग्रन्थ पुनीत है ॥
ता अनुसार कियो सम्मेद बिलास है।
देव ब्रह्मचारी जिनवर को दास है ॥
केसरी सिंह जान, रहै लसकरी देह।
पण्डित सब गुण जन, याको अर्थ बताइयो ॥
देखिए, वही।

२. देवाब्रह्म चौमासो छायो, नगरी मे सुप पाय।
सब पंचा को ग्यान सुणायो, समकति व्रत अधिकाय ॥
देखिए, महावीरजी अतिशय तीर्थ क्षेत्रके एक प्राचीन गुटकेमें संकलित देवाब्रह्मजीके पद और विनतियाँ।

३ जंबूदीप भरतषेत्र मै, देस ढुंढाहड सार।
नगरी बसै चपावती जी, देवपुरी गुणधार जी ॥
राजनीति पालै सही जी प्रजा सुषी घर बारि।
उत्तिम पुरिष सदा बसै जो पूजा दानि करारि जो ॥
जिन मंदिर तो बडो बडघो जी, कोटि बीचि बिसतारि।
गढ के बाहिर बसती बिचै, फुनि जिन मन्दिर सार जी ॥
दोय गो बिराजै सदा जो, प्रीति भाव सुषकार।
धरम ध्यान साधै सबै जी, घरि घरि मंगलाचार जी ॥
ऐसी नगरी देषि कै जी, तपसी आवै साष।
सब पंचा कौं ग्याण सुनावै, सुरग मुकति करतार जी ॥
वही, पद्य १–५।

और जैन पचायतके बीच मन्दिरको लेकर झगडा हुआ । लोगोंने उसे समझाया वह माना नही । देवाब्रह्मजीने उसे निम्नलिखित पंक्तियोंमें समझाया—

"झगड़ा मैं कछु हाथ न आवै, अरथ बिनां ही मार ।
मान बड़ाई कारणौं जी, बांधै करम अपार जी ॥
और ठिकाणौं पाप करै सो, मंदिर में कटि जाय ।
जिन मंदिर में दोष उपावै, कैसे उतरै पार जी ॥
भूत प्रेत लागै छै ज्यां कों, बैद उतारै आप ।
क्रोध मान की चोकड़ो को, ग्यान षिमां उतार जी ॥
किसका मंदिर किसकी संपति, किसका ये घर दार ।
सुपनां को मेलो बरायो जो, झूठो सब संसार जी ॥"[1]

देवाब्रह्मजीका एक 'विनती-संग्रह' जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० ५४ मे संकलित है। इस गुटकेमे ३२ पन्ने है। महावीरजी अतिशय क्षेत्रके शास्त्रभण्डारमे भी एक प्राचीन लिखा हुआ गुटका है, जिसमे देवाब्रह्मजी-की विनतियाँ और पद लिखे हुए है। इस गुटकेकी एक विनती देखिए,

"अंजनरु चौर जू सात बिसन मैं, ताकूं भी जिन तारयो ।
मील मरीषो पापी प्राणी, भौ सागर मैं उबारयौ ॥
श्री जिनदेव पाया जी, उदै मेरा भाग आया जी ॥
मींडक जौंषि पसूतणीं, जिहि दरसण भाव लगायो ।
गज पग नीचैं प्राण छोडयौ, सुरंगा मैं पद पायौ ॥
घोटी जाति बिडाल की जी, घात करै अधिकाय ।
जिनवर नांव जप्यां थकां जी, आवागमण मिटाय ॥
सरधा करिकैं पूजै ध्यावै, मन वंछित फल पावै ।
देवाब्रह्म चरणांचित लावै, करम कलंक मिटावै ॥"

देवाब्रह्मजीके पद दि० जैन मन्दिर बड़ौतके पदसंग्रहको एक हस्तलिखित प्रतिमे अंकित हैं। उनके पदोंका एक संकलन जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरके शास्त्रभण्डारके पदसंग्रह ४९३ सं० मे भी रखा है। उनके पदोंका प्रसादगुण पाठकके मनको मोहित किये बिना नही रहता। एक पद इस प्रकार है,

"जगपति त्योरा का महाराज,
विडद विचारो का महाराज ॥

१. वही, पद्य ११–१४ ।

मैं अपराध अनेक किया जो,
माफ करो गुणराज ॥
और देवता सब ही देख्या,
खेद सहो बिन काजि ॥
थाको जस तो सुर नर गावै,
पावै पद सिव काज ॥
देवाब्रह्म चरणां चित ल्यावै,
सेवग करि हित काज ।''

देवाब्रह्मकी एक अन्य रचनाका नाम 'सासबहूका झगड़ा' है, जो पदोके रूप-मे ही लिखी गयी है। इसकी एक प्रति जयपुरके ठोलियोके जैन मन्दिरमे वेष्टन नं० ४३८ में निबद्ध है। इसमें केवल १७ पद्य हैं। राजस्थानीका प्रभाव है।

७८. सुरेन्द्रकीर्त्ति मुनीन्द्र (वि० सं० १७४०)

ये मूलसंघ बलात्कार गणकी नागौर शाखाके भट्टारक देवेन्द्रकीर्त्तिके शिष्य थे। सुरेन्द्रकीर्त्ति सं० १७३८ की ज्येष्ठ शुक्ला ११ को भट्टारक पदपर अधि-ष्ठित हुए थे और ७ वर्ष तक रहे। वे बिरथरा ग्रामके निवासी थे। गोपाचल गढ अधिक जाया करते थे। इनका गोत्र पाटणी था। इन्होने हिन्दीमे 'आदित्यवार कथा' और अनेक सरस पदोकी रचना की थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'पंचमास चतुर्दशी व्रतोद्यापन' और 'ज्ञान पच्चीसी व्रतोद्यापन' नामकी कृतियाँ हिन्दी जय-मालाओंके रूपमे लिखी। वे अर्हन्त-भक्तिकी प्रतीक है।

एक दूसरे सुरेन्द्रकीर्त्ति और हुए है। उनका सम्बन्ध काष्ठासंघ, नन्दीतट-गच्छसे था। वे इन्द्रभूषणके शिष्य थे और उनके उपरान्त भट्टारक बने। उन्होंने अनेक यन्त्र और मूर्तियोकी स्थापना की। उन्होने कल्याणमन्दिर, एकीभाव, विषापहार और भूपाल स्तोत्रोका हिन्दी छप्पयोमे रूपान्तरण भी किया था। हिन्दीमे कोई मौलिक रचना उन्होंने नही लिखी। इनका समय सं० १७४४ से १७७३ माना जाता है।

तीसरे सुरेन्द्रकीर्त्ति वे थे, जो बलात्कार गण, जेरहट शाखाके सकलकीर्त्तिके उपरान्त सं० १७५६ मे भट्टारक पदपर प्रतिष्ठित हुए। इन्होने किसी हिन्दी रचनाका निर्माण नही किया। चौथे भट्टारक बलात्कारगण दिल्ली जयपुर शाखाके क्षेमेन्द्रकीर्त्तिके शिष्य थे। वे सं० १८२२ मे भट्टारक बने थे। इनसे

जयपुरकी भट्टारकीय गद्दीका आरम्भ हुआ था। यहाँ पहले सुरेन्द्रकीर्तिसे मतलब है। वे 'सुरेन्द्रकीर्त्ति मुनीन्द्र' कहलाते थे।

आदित्यवार कथा

सुरेन्द्रकीर्त्ति मुनीन्द्रने इस कथाका निर्माण वि० स० १७४० जेठ सुदी १० को गोपाचलगढमें रहकर किया था। इस कथाको वीरसिंह जैन इटावासे सन् १९०६ में प्रकाशित कर चुके हैं। कथाकी रचना गोपाचलगढके जैसवाल शाह जसवन्तके भाई भगवन्तकी धर्मपत्नीकी प्रार्थनापर की गयी थी। कथाका सम्बन्ध जिनेन्द्रकी भक्तिसे है। कतिपय पंक्तियाँ हैं,

"कासी देश बनारस ग्राम। सेठ बड़ो मतिसागर नाम॥
तासु घरनि गुण सुन्दर सती। सात पुत्र ताके सुभमती॥
सहसकूट चैत्यालयो एक। आये मुनिवर सहित विवेक॥
आगम सुनि सब हरषित भये। सबै लोक वंदन को गये॥"

पद

इनके लिखे हुए विविध पद महावीरजी अतिशयक्षेत्रके एक प्राचीन गुटकामें संकलित हैं। जिनेश्वर पार्श्वनाथकी भक्तिमें लिखा हुआ एक पद है,

"जै बोलो पाश जिनेश्वर की॥
जुगल नाग जिहिं जरता राख्या,
पदवी दी फणीश्वर की॥
बाल पणे जिहिं दीष्या लीनी,
लक्ष्मी छोड़ि नरेश्वर की॥
केवलज्ञान उपाय भयो है,
जो ही सिद्ध मुनीश्वर की॥
कीर्त्ति सुरेन्द्र नमैं तसु पद कूं,
नित प्रति पूजि गणेश्वर की॥"

सुरेन्द्रकीर्त्तिके पदोमें आध्यात्मिक होलियोंकी छटा मोहित करनेवाली है। गोरी सुमति अपने पति चेतनके साथ होली खेल रही है,

"आतम ग्यान तणी पिचकारी,
चरचा केसरी छोरो री।
चेतन पिय पै सुमति तिया तुम,
समरस जल भर छोरो री॥

सतिवागो तप चंदन छिनको,
कीरति अतर सुवासो री ।
सहजानन्द मीठा ह् जो सु,
ज्ञान अमल को प्यारो री ॥
गुरु के बचन बजावौ बाजा,
नटिनी कुमति नचावौ री,
भवि के चित्र कुराग तजि कैं,
आतम होरी गावो री ॥
अनुभौ अमृत कुं पाना वौ,
निज घरि हरष बढ़ावौ री ।
कीर्ति सुरेन्द्र कहैं इस जग में;
षेलन हार जयो जोरी ॥"

पंचमास चतुर्दशी व्रतोद्यापन

इसकी एक प्रति जयपुरके ठोलियोंके जैनमन्दिरमे वेष्टन न० १२९ मे निबद्ध है । इस संग्रहमे ६५४ पृष्ठ है, जिनमे ३०६ मे ३११ तक यह व्रतोद्यापन लिखा हुआ है । इस संग्रहका लेखनकाल स० १८६५ है ।

ज्ञान-पच्चीसी व्रतोद्यापन

यह भी उपर्युक्त सग्रहमे ही संकलित है । यह पृष्ठ ५३७ से ५४५ तक अंकित है । इसका लिपिकाल सं० १८४० दिया हुआ है । यह लिपि जयपुरके चन्द्रप्रभ चैत्यालयमे हुई थी ।

७९. खेतल (वि० सं० १७४२-१७५५)

इन्होंने कवितामे अपना नाम खेता, खेतसी, खेताक और कही-कही खेतल रखा है । नन्दीसूचीके अनुसार इनका मूल नाम खेतसी था, किन्तु जब दीक्षा ली तो दयासुन्दर हो गया । खेतसी नामके कई कवि हो गये है, जिनमे-से एक तो साईं शाखाके चारण कवि थे, जो जोधपुरके महाराजा अभयसिहके आश्रय-मे रहते थे । इन्होने सं० १७८० में 'भाषा-भारथ' नामका डिंगल भाषामे एक ग्रन्थ लिखा था । इसमे महाभारतके अठारह पर्वोंका साराश तेरह हज़ार छन्दोमे

लिखा गया है।[1] ये खेतसी उच्चकोटिके विद्वान् और प्रतिभावान् कवि थे। किन्तु उन्होने कविनामे अपना नाम सर्वत्र 'सीह' लिखा है, अतः प्रस्तुत खेतसीसे उनका पृथक्करण स्पष्ट ही है। एक दूसरे खेतसी और हुए है जो कि जैन ही थे। वे मेवाड़के रहनेवाले थे और उन्होने मेवाडके वैराट गाँवमे 'धन्नारास'की रचना स० १७३२ मे की थी। उन्होने अपनेको लोकागच्छके पूज्य दामोदरजीका शिष्य बतलाया है।[2] खेतल खरतरगच्छीय थे और खरतरगच्छके आचार्य जिनराजसूरि-के शिष्य दयावल्लभके शिष्य थे।[3] इन्होंने प्रसिद्ध आचार्य जिनचन्द्रसूरिजीके पास सं० १७४१ फाल्गुन बदी ७ रविवारको दीक्षा ली थी।

खेतल कहाँके रहनेवाले थे यह प्रामाणिक रूपसे नही कहा जा सकता। किन्तु उनकी भाषापर मेवाडी झलक देखकर स्पष्ट-सा है कि वे मेवाडके ही रहनेवाले होगे। इसके अतिरिक्त उन्होने उदयपुर शहरको गजल लिखी है, जो कि मेवाडकी राजधानी थी। गजल तो उन्होने चित्तौडगढकी भी लिखी है और ऐसा अनुमान होता है कि जती होनेके बाद वे इन दोनो स्थानोपर रहे थे। उन्होने उदयपुरके महाराणा अमरसिह और जयसमुद्र तालाबकी रमणीयताका उल्लेख किया है।[4]

उदयपुरकी गद्दीपर अमरसिंह नामके दो महाराणा हुए है। एक तो महाराणा प्रतापसिहके पुत्र थे, जिन्होंने सवत् १६५३ से १६७६ तक राज्य किया। दूसरे महाराणा जयसिहके पुत्र थे। उनका राज्य संवत् १७५५ से १७६७ तक माना जाता है। खेतल दूसरे महाराणा अमरसिहके राज्यमे मौजूद थे। क्योंकि उन्होने जिस जयसमुद्र नामके तालाबका वर्णन किया है, वह पहले अमरसिहके समयमे नही था। उसका निर्माण महाराणा जयसिहने करवाया था। अतः खेतल-का समय अठारहवी शताब्दीका मध्याह्न मानना चाहिए। श्री अगरचन्दजी नाहटा-ने उनकी उदयपुर गजलका निर्माण संवत् १७५७ मगसिर बदी ५ बतलाया है। मुनि जिनविजयजीने जिस 'उदयपुर गजल'का सम्पादन किया था, उसपर रचना-संवत् नहीं था, किन्तु अभय जैन ग्रन्थालयकी प्रतिपर रचनाकाल ८०वे पद्यमे

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २४५।
२. जैन गुर्जरकविओ, भाग २, पृ० २८६-८७।
३. देखिए, उनके द्वारा रचित बावनीका ६४वाँ पद्य।
४. देखिए, उदयपुर गजल, गजल न० १५-१७ और ७१।
भारतीय विद्या, वर्ष १, अंक ४, पृ० ४३१ और ४३५।

दिया हुआ है।[1] 'चित्तौड गजल' इसके पहले ही बनी थी।

खेतल जती खेता कहे जाते थे। उन्होने एक स्थानपर जतीके गुणोको गिनाया है। वे एक उदार साधु थे। उन्होने भगवान् जिनेन्द्रके साथ-साथ अन्य देवी-देवताओको भी नमस्कार किया है। उनको गजलें वर्णनात्मक होते हुए भी रस-युक्त हैं। खेतलकी बावनी जिनेन्द्र भक्तिसे सम्बन्धित है। 'जैन यती गुण वर्णन' भी उन्हींकी कृति है।

चित्तौड़की गजल

इस गजलको मुनि कान्तिसागरजोने फार्बस गुजराती साहित्य सभा बम्बईके त्रैमासिक पत्रमे छपवाया है। इसकी एक दूसरी प्रति 'अभय जैन ग्रन्थालय' बीकानेरमे मौजूद है। उसका संक्षिप्त परिचय श्री अगरचन्दजी नाहटा-द्वारा सम्पादित 'राजस्थानमे हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोज, द्वितीय भाग' मे प्रकाशित हो चुका है।[2] इसके पचपनवे पद्यके अनुसार इसका रचनाकाल सं० १७४८ श्रावण बदी १२ मानना चाहिए।[3] वह राणा जयसिंहका समय था। इसमे कुल ५६ पद्य है।

उदयपुरकी गजल

यह 'भारतीय विद्या' के वर्ष १ अंक ४ मे मुनि जिनविजयजी-द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुकी है।[4] परन्तु इसमे रचना-संवत् नही है। इसकी दूसरी प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेरमें मौजूद है, और उसका संक्षिप्त परिचय 'राजस्थानमे हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोज, द्वितीय भाग'मे छप चुका है।[5] उसपर रचना-संवत् पड़ा हुआ है। प्रारम्भमे हो कविने एकलिंगजी, नाथद्वारेके श्रीनाथजी, राठमेन गिरिदेव, आवेरी उमारमण, भूराणा भोलानाथ, और

---

१. संवत सतरे सत्तावन, मगसिर मास धुर परव धन्न।
कीन्ही गजल कौतुक काज, लायक सुणतसु मुख लाज ॥८०॥
राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोज, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०१।

२. वही, पृष्ठ १०३।

३. खरतर जती कवि खेताक, आखे मौज सु एताक।
संवत् सतरेसै अडताल, सावण मास ऋतु वरसाल ॥
वदि परव वारसी तेरो कि, कीनो गजल पढियो ठीकि ॥५५॥
देखिए, वही, पृ० १०३।

४. भारतीय विद्या वर्ष १, अंक ४, पृ० ४३०–३५।

५. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग २, पृ० १००–१।

रतनपुरके हनुमन्तको नमस्कार किया है। उदयपुरके भी सभी देवी-देवताओंका स्मरण किया है। इसके बाद महाराणाके दरबार, महल, मन्दिर, बाजार और बाग-बगीचोंका सुन्दर वर्णन है।

बावनी

इसकी रचना संवत् १७४३ मगसिर सुदी १५ शुक्रवारके दिन दहरवास नामके गाँवमे हुई थी। इसकी एक प्रति श्री नाहटाजीके पास है।[1] इसमे कुल ६४ पद्य है। कवि खेतलने दहरवासमें 'चौमासा' किया था, उसी मध्यमे इसको रच डाला होगा। इसके अन्तिम कुछ परिचयात्मक पद्य देखिए,

> "सवत् सत्तर त्रयाल, मास सुदी पक्ष मगस्सिर।
> तिथि पूनम शुक्रवार, थयी बावनी सुथिर।
> बारखरी रो बन्ध, कवित्त चौसठ कथन गति।
> दहरवास चौमास समय, तिणि भया सुखी अति।
> श्री जैनराज सुरिसवर, दयावल्लभ गणि तास सिखि।
> सुप्रसाद तास खेतल, सुकवि कहि जोड़ि पुस्तक लिखि ॥६४॥"

जैन यती गुण-वर्णन

कवि खेतलकी यह रचना 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' पृ० २६० पर प्रकाशित हो चुकी है। छोटी-सी रचनामें प्रवाह है। जैन यतीके प्रति अत्यधिक श्रद्धानके कारण गुण गिनानेका काम भी सरस हो गया है :

> "केइ तो समस्त न्याय ग्रन्थ में दुरस्त देखे,
> फारसी में रस्त गुस्त पूजै छत्रपती है।
> किस्त करै तप की प्रशस्त धरै योग ध्यान,
> हस्त के विलोकवे कुं सामुद्रिक मस्ती है।
> पूज के गृहस्त के वस्त्र के जु ग्राहक हैं,
> चुस्त है कला में, हस्त करामात छती है।
> खेतसी कहत षट् दर्शन में खबरदार,
> जैन में जबर्दस्त ऐसे मस्त 'जती' हैं ॥"

८०. भाऊ (१७वीं – १८वीं शताब्दीका पूर्वार्ध)

एक जैन कवि थे। इनका जन्म गर्ग गोत्रमे हुआ था। इनके पिताका

---
१. वही, पृष्ठ १४४–४५।

नाम 'मुलू' था, 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के खोज-विवरणमे उनका नाम मलूक दिया हुआ है, जो उसीमे अकित 'पुष्पदन्तपूजा' की अन्तिम प्रशस्तिसे असत्य प्रमाणित हो जाता है।[1] 'मुलूकौ पूत'का स्पष्ट अर्थ है 'मुलू'का पुत्र। मलूकका पुत्र होनेके लिए एक और 'क'की आवश्यकता थी। जहाँतक भाऊके रचना-कालका सम्बन्ध है 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के सम्पादकोंने उसको 'अविदित' कहा है। इस विषयमे कोई स्पष्ट लेख अभीतक मालूम नही हो सका है। वैसे उनकी 'आदित्यवारकथा' एक ऐसे गुटकेमे निबद्ध है, जिसका लेखन-काल सं० १७६३ है। अब 'नेमिनाथ रास' नामकी रचना और प्राप्त हुई है, वह जिस गुटकेमे सकलित है, उसका लेखन वि० सं० १६९६ मे समाप्त हुआ था। इससे स्पष्ट है कि भाऊ इससे पूर्व ही हुए होगे। अभीतककी खोजोंमे इनकी चार रचनाओं-का पता लगा है : 'आदित्यवारकथा', 'पार्श्वनाथ कथा', 'पुष्पदन्त-पूजा' और 'नेमि-नाथ रास'। चारो ही भक्तिसे सम्बन्धित है।

आदित्यवार-कथा

इसका दूसरा नाम 'रविव्रत कथा' भी है। जैन-परम्परामे 'रविव्रत कथा' सम्बन्धी विपुल साहित्य है। वैसे यह है तो व्रतसे सम्बन्धित, किन्तु इसमे भगवान् पार्श्वनाथकी भक्ति ही प्रधान है। गुणधरको रत्नोका संचय देनेवाले भगवान् पार्श्वनाथके शासनदेव और देवी, धरणेन्द्र तथा पद्मावती ही थे। उन्हीकी प्रेरणासे गुणधरके सब भाइयोने रवि-व्रत करना प्रारम्भ किया, और रवि-व्रत पूजाके लिए उन्होने एक विशाल जैन मन्दिरका निर्माण करवाया। 'रविव्रत' मे 'रविव्रत-पूजा' ही प्रमुख है।

भाऊकी 'आदित्यवार कथा' अत्यधिक लोकप्रिय हुई। जयपुरके लूणकरजीके मन्दिरके गुटका नं० ८७ और बडे मन्दिरके गुटका नं० ९९ मे उसकी एक-एक प्रति निबद्ध है। बधीचन्दजीके मन्दिरके ९ गुटकोमे और ठोलियोंके तीन गुटकोंमे पृथक्-पृथक् प्रतियाँ लिखी हुई हैं। इनमे बधीचन्दजीके मन्दिरका गुटका 'नं० १५' सबसे पुराना लिखा हुआ है। वह सं० १७५९ मे लिखा गया था। और सब प्रतियाँ इसके बादकी है। गुटका नं० १३६ मे इस कथाके सबसे अधिक पद्य सन्निहित है, अर्थात् १५४।

प्रारम्भमे चौबीस तीर्थंकरोकी फिर शारदाकी स्तुति की गयी है,

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाका त्रैवार्षिक पन्द्रहवाँ खोज विवरण, Appendix II. पृष्ठ ८६।

"सारद तणी सेवा मन धरौ, जा प्रसाद कवित्त ऊचरौ,
मूरष तै पंडित पद होई, ता कारणी सेवै सब कोई,
छह दरसण मुषी भेडन साण ॥
वरह गलगज मोती हार, गलै पाटी यौ सोव्रनं सरीर
कानां कुंडल रतनं जडी, सीस मोगी मोत्या झलमलै ॥
चरण नेवर रुण झुण करै, हंस चढी कर वीण लेह
सुमरत वुधी महाफल देह, सारद नवणी कर वहु माई ॥"

पार्श्वनाथ-कथा

यह भी एक पद्य-बद्ध काव्य है। इसमे भगवान् पार्श्वनाथका जीवन-चरित्र दिया हुआ है। यह जयपुरके बडे मन्दिरके गुटका न० १६५ में निबद्ध है।

पुष्पदन्त-पूजा

इस पूजाका उल्लेख 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के पन्द्रहवें त्रैवार्षिक विवरणके 'Appendix II' मे, पृष्ठ ८९ पर हुआ है। सम्पादकोंको इसकी प्रति किरावली, आगराके जैन मन्दिरसे प्राप्त हुई थी। इसमे ६७२ अनुष्टुप् छन्द है। जैनोके नौवें तीर्थकर पुष्पदन्तकी पूजा की गयी है। इसका आदि और अन्त देखिए,

आदि

"अगर अवर धूप चन्दन षेवो भविजन लाय।
देखे सुर षग आनि कौतिग डाय मेरु सुदर्शन ॥
धूपं नालिकेर दाम पिता पूगी फल दे आदि।
चढाइए जिन चरन आगे मोषक लडत पादि ॥"

अन्त

"अजर अमर मोड जिय भयौ, सो जिनदेव सभा को जयौ।
दीन दीख्यौ रच्यौ पुरान, ओछो बुधि में कियो बखान ॥
हीन अधिक जो अछिस होय, ताहि संवारौ गुनियर लाये।
उत्तम नगर तिहुन पुर जानि, तहां कथा को भयो बषान ॥"

नेमिनाथरास

यह एक उत्तम कृति है। इसमे १५५ पद्य है। सभी चौपाई छन्दमें लिखे गये हैं। इस 'रास' का, नेमिनाथको वैराग्य लेनेवाली घटनासे सम्बन्ध है।

समुद्रविजयके द्वारपर बारात पहुँची। दुलहा थे नेमीश्वर, कृष्णके छोटे भाई। किन्तु द्वारपर बँधे असंख्य जीवोंको विलाप करते देख, वे दीक्षा लेकर गिरनारपर तप करने चले गये। जीवोंको काटकर भोज्यपदार्थ बनाना था। नेमीश्वरके हृदयमे करुणा उपजी। संसारकी निःसारता स्पष्ट झलक उठी। बिना विवाह किये चले गये। किन्तु राजीमती क्या करे। इसका विश्वव्यापी विरह गरज उठा। उसकी बेचैनी दुरूह थी। यह रास उसीको लेकर चला है।

बारात आ रही है। दुलहिनकी उत्सुकताका क्या ठिकाना है। कहीसे उसने सुना है कि नेमीश्वरको शृंगार अधिक प्रिय है। राजपुत्रीको शृंगार-साधनोंकी कमी नही थी। उसने हाथोमे हीरो-जडे कंगन पहने, गलेमें मोतियोकी माला धारण की, वेणीको फूलोसे सजाया। ललाटपर तिलक, नेत्रोमे काजल और मुखमे पान सुशोभित हो उठा। सजी राजुलका चित्र है,

"रूप अन्चगल णेमिकुमार, सुण राजमती कियो शृंगार।
कर कंकण बहु हीरा जड्यो, पहिरि हार गज मोती मन्यो॥
कुसुम-सीस बंधे बहुताय, तिलकु लिलाट न वर्णो जाय।
नयणा कज्जल मुखि तंबोलु, अंगि चढाइयो कुंकुम रोल॥
पहिरि पटोरे दक्षिण चीर, जणिकु सिंदूरह मिलियो खीरु।
चलणन्ह नेवर कौ झणकार, सब वर्ण तो होइ पसार॥"

जब राजुलने सुना कि नेमीश्वर दीक्षा लेकर तप करने चले गये है, तो मूर्च्छित होकर गिर पडी। उसने दूसरा विवाह न किया। उस एकके विरहमे जीवन बिता दिया, जो न कभी आया, न आनेवाला था। इस काव्यमे विरहके अतिरिक्त वीररसके छुटपुट दृश्य है। वे मूल प्रसंगमे जडसे गये हैं। कथानक सशक्त है। अवान्तर कथाएँ मुख्य कथाकी सहायकके रूपमे प्रस्तुत हुई हैं। रसमे प्रवाह है। आरम्भमे सरस्वतीकी वन्दना की गयी है।

"सरस्वती माता बुद्धिदाता, करहु पुस्तक लेई।
उर पहिरि हारू करि सिंगारू हंस चढ़ी वर देई॥
सेवंत सुर-नर नवहिं मुनिवर, छहौं दरसण तोहि।
कवि जंपउ भाउ करि पभाउ, बुद्धि फल मोहि॥"

यह रचना जैनमन्दिर पाटोडी जयपुरके गुटका नं० ६५ में पृ० ६२९ से ६३३ पर अंकित है।

८१. लक्ष्मीवल्लभ (१८वीं शताब्दीका दूसरा पाद)

आप खरतरगच्छीय शाखाके उपाध्यक्ष लक्ष्मीकीर्तिजीके शिष्य थे।[1] उनके लिए 'अमरकुमार-चरित्र-रास'मे 'वाणारसी लखमीकिरति गणी'का प्रयोग हुआ है।[2] इससे सिद्ध है कि वे बनारसके रहनेवाले थे। अवश्य ही विद्वत्ताके क्षेत्रमें उनकी विशेष ख्याति रही होगी। लक्ष्मीवल्लभने उन्हीके चरणोंमे बैठकर अपनी शिक्षा-दीक्षा आरम्भ की थी। कुछ ही समयमे वे व्युत्पन्न हो गये और उन्होंने विपुल साहित्यका निर्माण किया। उनका हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती और संस्कृत चारों भाषाओंपर समानाधिकार था। संस्कृतमे निर्मित हुए उनके साहित्यसे यह प्रमाणित है कि वे उच्चकोटिके विद्वान् थे। 'कल्पसूत्र' और 'उत्तराध्ययन'की जिसने वृत्तियाँ लिखी है, वह कोई साधारण विद्वान् नही हो सकता। 'कालकाचार्य' तथा 'पचकुमार कथा', 'कुमारसम्भव वृत्ति' और 'मात्रिकाक्षरधर्मोपदेश स्वोपज्ञवृत्ति' भी उन्हीकी संस्कृत कृतियाँ है।

उनकी हिन्दी रचनाओंपर गुजरातीका अधिक प्रभाव है। वैसे भाषा परिमार्जित है, और उसमे सस्कृतके तत्सम शब्दोंका अधिक प्रयोग हुआ है।

चौबीस स्तवन

यह स्तवन चौबीस तीर्थंकरोंकी भक्तिसे सम्बन्धित है। इसकी दो प्रतियाँ अभय जैन पुस्तकालय बीकानेरमें मौजूद है। पहली प्रति पीपासर गाँवमें सं० १७५५ माह बदी ४ को लिखी गयी थी। और दूसरीको किन्ही सुखरत्न गणिने सं० १७९० फाल्गुन बदी ४ गुरुवारको मुल्तानमे लिखा था। दोनों ही मे चार-चार पन्ने है।[3] यह एक मुक्तक काव्य है। पदोंकी रचना राग-रागिनियोंमे की गयी है। आदिका एक पद्य है,

> "आज सकल आनंद मिले, आज परम आनंदा।
> परम पुनीत जनम भयो, पेखे प्रथम जिनंदा॥

---

१ उपाध्याय श्री लखमीकीरति शिष्य, लखमिवल्लभ मति सारइ।
छोपी करी बार ढाल करि, भवीयणनई उपगारइ॥
रत्नहास चौपई, जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० १२५३।

२. खेम साख श्री खरतर गच्छ भणि,
वाणारसी लखमीकीरति गणि।
जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० १२४७।

३ राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० २२-२३।

फटे पडल अज्ञान के, जागी ज्योति उदारा।
अंतरजामी मैं लख्यौ, आतम अविकारा॥
तू करता सुख संग कौ, वंछित फलदाता।
और ठौर ठौर राचे न ते, जे तुम संग राता॥
सकल अनादि अनंत तू, भव भय तैं न्यारा।
मूरख भाव न जान हीं, संतन कूं न्यारा॥
परमातम प्रतिबिंब सी, जिन मूरति जानै।
ते पूजित जिनराज कूं, अनुभव रस मांनै॥"

महावीर गौतम स्वामी छन्द

इसका निर्माण सं० १७४१ से पहले ही हो गया था। इसमें ९६ पद्य हैं। सभी भगवान् महावीर और उनके प्रमुख गणधर गौतमकी भक्तिसे युक्त है। इसकी दो प्रतियोंका उल्लेख श्री मोहनलाल दुलीचन्दजी देसाईने किया है, वे क्रमश. संवत् १७४१ और १७८५ की लिखी हुई है।[1] उन्होने दोनोंकी सूचना नाहटा संग्रहसे प्राप्त की थी। उसका आदि और अन्त देखिए,

"वर दे तुं वरदायिनी, सरसति करि सुप्रसाद।
वांछु वीर जिणंदसुं, गौतम गणधरवाद॥१॥
पाठक लक्ष्मीकीर्त्ति प्रगट, सुप्रसादै सरस्वती तणै।
गौतमवाद निज ज्ञान सम, रसिक 'राज' इण विध भणै॥९६॥"

दूहा बावनी

श्री नाहटाजीने इसकी दो प्रतियोंका उल्लेख किया है, जो अभय जैन पुस्तकालयमे मौजूद हैं। पहली प्रतिको श्री हीरानन्द मुनिने संवत् १७४१ पौस सुदी १ मे लिखा था। दूसरी प्रति संवत् १८२१ आश्विन बदी ७ की लिखी हुई है, जिसको भुवनविशाल गणिके शिष्य फहदचन्दने लिखा था।[2] उसका आदि और अन्त इस प्रकार है,

"ॐ अक्षर अकल गति, धरूँ सदा वसु ध्यान।
सुर नर सिद्ध साधक सुपरि, जाकुं जपत जहांन॥१॥
दोहा बावनी करी, आतम परहित काज।
पढत गुणत वाचत लिखत, नर होवत कविराज॥५८॥

---

१. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० १२५१।
२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० ८६।

सवैया बावनी

इसमे ५८ सवैये है। इसकी रचना संवत् १७३८ मगसिर सुदी ६ को हुई थी। इसकी एक प्रति संवत् १७३८ मगसिर शुक्ला ६ की ही लिखी हुई मौजूद है, उसका उल्लेख श्री मोहनलाल दुलीचन्दजी देसाईने किया है।[1]

नेमि-राजुल बारहमासा

एक प्रौढ रचना है। सवैयोमे लिखो गयी है। कुल १४ पद्य है। रचना भगवान्‌के प्रति दाम्पत्यविषयक रतिका समर्थन करती है। इसकी एक प्रति अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेरमे मौजूद है। इसके दो सवैये देखिए जो भाषा, भाव और शैली सभी दृष्टियोसे उत्तम कहे जा सकते है,

"उमटी विकट घनघोर घटा चिहुं ओरनि मोरनि सोर मचायो।
चमके दिवि दामिनि यामिनि कुंभय मामिनि कुं पिय को संग भायो।
लिव चातक पीउ हीं पीड़ लई, भई राज हरी भुंइ देह छिपायो।
पतियां पै न पाई री प्रीतम की अली, श्रावण आयो पै नेम न आयो॥
ज्ञान के सिंधु अगाध महाकवि मेसर छीलर नीर निवासो।
हैं जु महाकवि तो दिन राज से, मेरो निसाकर कौ सौ उजासो।
तातै करूं बुध सुं यह वीनति, मेरी कहुं करियौ जनि हांसो।
आपनी बुध सूं राज कहै यह, राजल नेमि को बारह मासो॥१४॥"

भावना-विलास

इसकी रचना संवत् १७२७ पौष बदी १० को हुई थी।[2] इसमे जैनधर्म-सम्बन्धी बारह भावनाओका आकर्षक ढंगसे वर्णन हुआ है। सवैयोका यहाँपर भी प्रयोग किया गया है। यह रचना भूधरदासके 'राजा राणा छत्रपति'से भी अधिक रोचक है।

इसकी एक प्रति बीकानेरके अभय जैन ग्रन्थालयमे मौजूद है। इसको मुनि हर्षसमुद्रने नापासरमे सं० १७४१ आसोज १४ को लिखा था।[3] संवत् १८५४

---

१. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० १२४६-५०।
२. द्वीप युगल मुनि शशि वरंसि, जा दिन जन्मे पास।
ता दिन कीनी राज कवि, यह भावना विलास ॥५१॥
भावना विलास, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, पृ० १५२।
३. वही, पृष्ठ १५२।

और १८६८ में लिखी गयी प्रतियोंका उल्लेख 'जैन गुर्जरकविओ'में हुआ है।[1] इसका प्रारम्भिक सवैया इस भाँति है,

"प्रणमि चरणयुग पास जिनराज जू के,
विघिन के चूरण हैं पूरण है आस के।
दिढ दिलमांझि ध्यान धरि श्रुत देवता को,
सेवैते संपूरत हैं मनोरथ दास के॥
ज्ञान दग दाता गुरु बड़े उपगारी मेरे,
दिनकर जैसे दीपै ज्ञान परकास के।
इनके प्रसाद कवि राज सदा सुखकाज,
सवीये बनावत हैं भावना-विलास के॥१॥"

चेतन-बत्तीसी

इसमें ३२ पद्य हैं। इसकी रचना सं० १७३९ में हुई थी।[2] इसकी एक प्रति मुनि हीरानन्दने सं० १७४१ आसोज बदी ८ को लिखी थी, जो नाहटा संग्रहमें मौजूद है। एक दूसरी प्रति और है, जो स० १८६८ में लिखी गयी थी।[3] यहाँ भ्रमाकुलित चेतनको चेतानेका प्रयास किया गया है—

"चेतन चेत रे अवसर मत चूके, सीख सुणे तूं साची।
गाफिल हुई जो दाव गमायौ, तौ करसि बाजी सहु काची॥१॥

उपदेश बत्तीसी[4]

इसमें भी ३२ पद्य है। आत्माको सम्बोधन कर उसको विकृत पथमें निरत करनेकी बात कही गयी है। दो पद्य इस प्रकार है,

"आतमराम सयाणे तूं झूठे भरम भुलाना
किसके माई किसके भाई, किसके लोक लुगाई जी,
तू न किसी का को नहीं तेरा, आपो आप सहाई॥१॥
इस काया पाया का लाहा, सुकृत कमाई कीजै जी,
राज कहे उपदेश बत्तीसी, सद्गुरु सीख सुणीजै जी॥२॥"

---

१. जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृ० १२४६।
२ सुवच एह अमीरस सरिखा, पंडित श्रवणे पीसी,
सतरहसै गुणयालैं सवत, बोलै राज बतीसी॥३२॥
चेतन बत्तीसी, जैन गुर्जरकविओ, खण्ड २, भाग ३, पृष्ठ १२५०।
३. वही, पृष्ठ १२५०।
४. वही, पृष्ठ वही।

देशान्तरी छन्द

इसमे ३९ पद्य है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथकी भक्तिका उल्लेख है। इसकी एक प्रतिको पालणपुरमे श्री तेजविजय गणिने सं० १९०१ पौस सुदी ११ को लिखा था। इसमे 'त्रिभंगी' छन्दोंका प्रयोग किया गया है।[1] प्रारम्भमें ही देवी सरस्वतीकी वन्दना है।

"सुवचन सूंपों सारदा, मया करो मुझ माय
तो सुप्रसन सुवचनतणो, तुमणा न होवे काय ॥
कालीदास सरिखा किया, रंक थकि कविराज,
महेर कार माता मुणे, निज सुत जाणी निवाज ॥"

अन्य रचनाएँ

उपर्युक्त कृतियोके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाएँ भी उपलब्ध है। 'अभयंकरश्रीमती चौपई', 'अमरकुमार रास', 'विक्रमादित्यपंचदण्डचोपई', 'रत्नहास चौपई', 'कवित्व बावनी', 'छप्पय बावनी', 'भरत बाहुबली मिडाल छन्द', 'बीकानेर चौबीसटा-स्तवन', 'शतकत्रयटबा', और स्तवनादिका नाम श्री अगरचन्दजी नाहटाने गिनाया है।

अठारहवी शताब्दीका दूसरा पाद ही उनके साहित्यका निर्माणकाल माना जा सकता है। वे इस शताब्दीके महत्त्वपूर्ण साहित्यकार थे।

८२. विनोदीलाल (वि० सं० १७५०)

विनोदीलाल साहिजादपुरके रहनेवाले थे। उसको शाहजहाँदपुर भी कहते हैं। शायद इस नगरकी स्थापना बादशाह शाहजहाँके नामपर हुई थी। यह गंगाके किनारेपर बसा हुआ एक रमणीक स्थान था। उसकी प्रशंसा करते हुए कविने लिखा है, "कौशल देशके मध्यमे 'शाहिजादपुर' नामका एक नगर है। वह गंगाके किनारे बसा हुआ अपनी छटामें अनुपम है। उसकी तुलना अन्य कोई नगर नही कर सकता। उसमें बड़े-बड़े महाजन और श्रावक रहते है। सभी अपने-अपने धर्ममें लीन है। श्रावकोका जैन धर्ममे दृढ श्रद्धान है। वहाँ भगवान् जिनेन्द्रके तीन चित्र-विचित्र चैत्यालय हैं, जिनमे विविध प्रकारसे धर्मध्यान होता ही रहता है। उस नगरमे यतियों और व्रतियोंका अत्यधिक आदर-सम्मान होता

१. वही, पृष्ठ १२५४।

है।[1] उस समय वहाँ बादशाह औरंगजेबका राज्य था। कविने उसकी अत्यधिक प्रशंसा की है।[2] विनोदीलाल औरंगजेबके दरबारी कवि नही थे, यह सुनिश्चित है। अतः उनके द्वारा की गयी प्रशंसा नि स्वार्थ ही कही जायेगी। शायद उन्होने जैसा देखा वैसा ही लिखा। न जाने क्यो औरंगजेबके शासन-काल-मे हुए जैन-हिन्दीके सभी कवियोने मुक्त-कण्ठ और एक स्वरसे उसकी प्रशंसा की है। हो सकता है कि इतिहासके नये जिज्ञासुओको इससे कुछ मौलिक सामग्री उपलब्ध हो सके। विनोदीलाल कुछ दिनोके लिए दिल्लीमे भी आकर रहे थे। वहाँपर ही उन्होंने 'भक्तामर भाषा-कथा' और 'सम्यक्त्व-कौमुदी'की रचना की। सच तो यह है कि उनका झुकाव जैन धर्मके भक्ति-अंशकी ओर ही अधिक था। शाहजहाँपुरमे भी वे इसी रूपमें प्रसिद्ध थे। उनका जन्म अग्रवाल वश और गर्ग गोत्रमे हुआ था।[3]

इनके विषयमे मिश्रबन्धुओने लिखा है, 'ये हीन श्रेणीके थे, करौली नरेशके यहाँ रहते थे और देवीदास इनके आश्रित थे।[4] विनोदीलालने अनेक स्थानोपर

---

१. कौशल देश मध्य शुभ थान। शाहिजादपुर नगर प्रधान ॥
गंगातीर बसै शुभ ठौर। पटतर नाही तासु पर और ॥
बसै महाजन बहुविधि लोग। अपने धर्म लीन संभोग ॥
श्रावक लोग बसै जहं घने। जैन धर्म रत सत आपने ॥
चैत्यालय जिनवर के तीन। चित्र विचित्र रचित प्रवीन ॥
धर्म ध्यान सब विधि सो करे। जती व्रती को अति आदरे ॥
काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाका त्रैवार्षिक बारहवाँ विवरण, परिशिष्ट २, पृष्ठ १५७४, भक्तामर चरित, बाराबंकीवाली प्रति।

२. नौरंग साहिबली को राज। पातसाह सब हित सिरताज ॥
सुख बिधान सक बंध नरेस। दिल्लीपति तप तेज दिनेस ॥
अपने मत मे सम्यक् वंत। शील शिरोमणि निज तिय कंत ॥
दीप दीप है जाकी आन। रहै साह अरु संका मान ॥
साहिजहा के वर फरिजंद। दिन-दिन तेज बढ़ै ज्यो चन्द।
भयो चकत्ता उनस उदोस। सिंह बली बन जैसे होत ॥
वही।

३ ते पुर लाल बिनोदी रहे। जैन धर्म की चर्चा कहै।
अगरवाल जैनो शुभ वंस। गर्ग गोत प्रगट्यो सरहंस ॥
वही।

४. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, संख्या ५२२।१, पृ० ५१५।

अपनेको हीन और दीन कहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि वे वास्तवमे वैसे थे। उस समय भगवान्‌के समक्ष अपनी लघुताके प्रदर्शनका यह ही ढंग था। महात्मा तुलसीदासने भी ऐसा ही किया है।

विनोदीलाल भगवान् नेमीश्वरके परम-भक्त थे। उनका अधिकांश साहित्य नेमिनाथके चरणोमे ही समर्पित हुआ है। विवाह-द्वारसे लौटते नेमीश्वर और विलाप करती राजुल, उन्हें बहुत ही पसन्द हैं। राजुलके बारहमासोंमे शृंगार और भक्तिका समन्वय हुआ है।

राजुल भगवद्विषयक अनुरागका सरस निदर्शन है। उसमे जैसे शील और सौन्दर्यको सँजोया गया, अप्रतिम है। केवल नेमीश्वर ही नही, अन्य तीर्थकरोंकी भक्तिमे भी विनोदीलालने बहुत कुछ लिखा है। 'चतुर्विंशति जिन स्तवन सवैया' इसका दृष्टान्त है। इससे अतिरिक्त 'नौका बन्ध', 'प्रभात जयमाल', 'फूलमाल पच्चीसी' और 'रत्नमाल' सरसभक्तिके प्रतीक है। भगवान् ऋषभदेवकी भक्तिके कारण ही उन्होंने 'भाषा-भक्तामर' की रचना की थी। वह संस्कृतके प्रसिद्ध स्तोत्र 'भक्तामर'की छायापर बना है। किन्तु उसकी भाषा-शैली मौलिक है। मूल कविके भावोंमे व्याघात नही आ पाया है। यह ही उसकी विशेषता है। 'श्रीपाल विनोद' भी ऐसा ही एक अनुवाद है। विनोदीलालको जन्मसे ही भक्त हृदय मिला था। उनकी कृतियोमे तन्मयताका भाव सर्वत्र पाया जाता है। प्रसादगुण उनकी विशेषता है।

नेमि-राजुल बारहमासा

यह बहुत पहले ही 'बारहमासा-संग्रह' मे प्रकाशित हो चुका है।[1] साहित्य-में 'बारहमासों'का प्रचलन बहुत पुराना है। उसका प्रारम्भ लोक-गीतोंसे मानना चाहिए। भारतके प्रत्येक भागकी जन-भाषामे बारहमासे प्रचलित है। भाव भी सबके मिलते-जुलते है। मानव-मन किसी भी देश और कालका हो, सदैव एक रहा है। मनुष्यके इस सामान्य मनको लेकर चलनेवाला साहित्य ही अमर हो सका, अवशिष्ट तो कालके थपेडोंको न सहकर मर गया। बारहमासे उसी अमर साहित्यका प्रतिनिधित्व करते है।

हिन्दीके अन्य बारहमासोंमें विरहिणीका अपना दुःख तो दिखाया गया है, किन्तु दूरस्थ पतिके दुःखका उसे ध्यान ही नही है, जायसीकी नागमतीका जाडा जब रुईसे भी नही जाता, तो वह पतिको बुलाना चाहती है, किन्तु वह यह नहीं

१. देखिए जैन पुस्तक भवन, कलकत्तासे प्रकाशित, बारहमासा संग्रह, पृ० २३–३०।

सोचती कि ऐसे जाड़ेमे प्रवासी पतिका क्या हाल होगा। विनोदीलालकी नायिका-को पतिका अधिक ध्यान है, अपना नहीं, पशुओंकी करुण दशाको देखकर नेमीश्वर विवाह-द्वारसे वापस लौट गये। किन्तु राजुलने उन्हीको अपना पति माना। वह उनके पास गयी, और कहा कि हे पिय ! सावनमे व्रत मत लो। जब घनघोर घटाएँ घिरेंगी, मोर शोर मचायेंगे, कोकिल कुहकेगी, दामिनी दमकेगी और पुर-वाईके झोके चलेंगे, तो तुम्हारा तप-तेज क्षण-मात्रमे नष्ट हो जायेगा,

"पिया सावन में व्रत लीजै नही, घन घोर घटा जुर आवेगी।
चहुं ओर तें मोर जु शोर करें, वन कोकिल कुहक सुनावैगी ॥
पिय रैन अँधेरी में सूझै नहीं, कछु दामन दमक डरावेगी।
पुरवाई की झोंक सहोगे नहीं, छिन में तप तेज छुड़ावैगी ॥४॥"

नेमिनाथको यह मालूम था कि सावनकी प्रकृति उतनी भयावह नही हो सकती जितना कि प्रबल यमराज स्वयं है, जो प्रत्येकके लिए अनिवार्य रूपसे आता है। सावनकी प्रकृति नेमिनाथमे साहस और वीरताका संचार करती है,

"या जिय को कोई न राखनहार, कहो किसको शरणागत जैये।
काल बली सबसों जग में, तिह सों निशिवासर देख डरैये ॥
इन्द्र नरेंद्र धरेंद्र सबै, जम आन परै तब बांध चलैये।
यातैं कहा डर सावन का सुन, राजुल चित को यों समुझैये ॥५॥"

पौषके माहमे घना जाडा पडता है। सौडमे भी शीत नही जाती। उस समय राजुलको अपनी चिन्ता नही, वह पियकी बात ही सोचती है कि जब उन्हे शीत लगेगा तो क्या ओढेगे ? पत्तोंकी 'धुवनी' तो पर्याप्त न होगी। इस ऋतुमे ही कामदेव अपनी सेना लेकर आक्रमण करता है, उनका शरीर कोमल है, कैसे मुकाबला करेंगे। भारतीय नारीकी पतिके सुख-दु:खकी चिन्तामे जो सात्त्विकता है,

"पिय पौष में जाड़ो परैगो घनो, बिन सौंड़ के शीत कैसे भर हो।
कहा ओढोगे शीत लगे जबही, किधौं पातन की धुवनी धर हो ॥
तुम्हरो प्रभु जी तन कोमल है, कैसें काम की फौजन सो लर हो।
अब आवेगी शीत तरंग सबै, तब देखत ही तिनकों डर हो ॥ ४॥"

किन्तु नेमीश्वरका विचार है कि ठण्डी हवाके झोके इस शरीरका कुछ भी नही बिगाड सकते। शरीरका बिगाड तो विविध कर्मोंके आस्रवसे होता है, राग-द्वेपसे होता है, इन्द्रियोंकी वश्यतासे होता है और 'पर' को 'स्व' माननेसे होता है। जिसने 'स्व'का विचार कर लिया है, वह वनमे रहे या घरमे, डूब नही सकता। इस भाँति पौषकी सर्दी नेमीश्वरको नहीं सता पाती और न कामदेव ही आक्रमण कर पाता है,

"आस्रव होय जहाँ पर शोभित, शीत लगै अरु पौन झकोरै।
इंद्रिय पांच पसार जहां तहां, राग रोष तैं नातो हि जोरै॥
आठ महामद माते रहैं, पर द्रव्य को देख जहां चित दौरै।
जो पर आप विचार न राजुल, तो गृह आपतैं आपही बोरै॥१५॥"

जेठका माह लगनेपर बहुत अधिक गरमी पड़ेगी, लू लगेगी और जलती धूपमें बड़े-बड़े पर्वत भी बह जायेंगे। उस समय तो पक्षी और पतंगे तक अपने-अपने घरमें ही रहना पसन्द करेंगे। भूख और प्याससे शरीर सूख जायेगा। ऐसी दशामें पतिका महाव्रत कैसे निभ पायेगा। राजुल चाहती है कि उसका पति इन कष्टोंको न भोगे। उसका मन प्रियके सुखमें तन्मय है। उसे कामकी प्यास नहीं, पतिके हितकी चिन्ता है,

"धर्म की बात तो साँची है नाथ, पै जेठ में कैसे धर्म रहैगो।
लूह चलै सरवान कमान ज्यौं, धाम परे गिरमेरु बहैगो।
पक्षी पतंग सबै डर हैं, अपने घर को सब कोई चहैगो।
भूख-तृषा अति देह दहै तब, ऐसो महाव्रत क्यों निबहैगो॥२४॥"

जेठकी ऐसी भीषण दोपहरीसे नेमीश्वरको किंचिन्मात्र भी भय नहीं है। उनको मालूम है कि नर-भव-दुर्लभ है, और उसमें भी श्रावक-योनि। अतः अब दशलक्षण और सोलह भावनाओंवाला जिन-धर्म पाल लेना चाहिए। उसीसे इस जीवका कल्याण हो सकता है। जेठ नेमीश्वरके भयको नहीं, अपितु वीतरागी भावको जगाता है।

"दुर्लभ है नर को भव राजुल, दुर्लभ श्रावक योनि हमारी।
दुर्लभ धर्म जु है दशलच्छन, दुर्लभ षोडश भावना भारी।
दुर्लभ श्री जिनराज को मारग, दुर्लभ है शिवसुन्दर नारी।
यह सब दुर्लभ जान तबै, जब दुर्लभ है सन्यास की तैय्यारी॥२५॥"

विरहके दुःखमें आनन्ददायक वस्तुएँ भी दुःख देनेवाली हो जाती है। कार्तिकका महीना है, सब स्त्रियाँ घर सजा रही है। भाँति-भाँतिके चित्रोंकी रचना कर मंगल-गीत गाती है। पियको बुलाकर नये-नये शृंगार करती है। और दीवाली-के दीपक जलाते हुए तो जैसे उनका हर्ष ही फूटा पड़ता है। किन्तु इस सबको देखकर राजुलका जी तरसकर रह जाता है। सबके पति घर आ गये किन्तु राजुलका नहीं आया। फिर भी वह 'बिछुरी मोरि जोरी' कहकर झुरती नही और न अपने सिरमें छार मेलती है। देखिए,

"पिय कातिक में मन कैसे रहे, जब भामिनि भौन सजावेंगी।
रचि चित्र विचित्र सुरंग सबै, घर ही घर मंगल गावेंगी।

पिय नूतन नारि सिंगार किये, अपनो पिय टेर बुलावेंगी ।
पिय बारहिबार बरे दियरा, जियरा तुमरा तरसावेंगी ॥१०॥"

यहाँ पियको तरसानेकी ओटमें राजुलका तरसना ही ध्वनित हो रहा है। किन्तु नेमिनाथ कातिकके इस साज-शृंगारसे विचलित होनेवाले जीव नही है। उन्होंने आत्मा और शरीरके भेदको समझ लिया है। यह प्रसन्नता शरीरसे सम्बन्धित है, आत्मासे नही। कलिधारमे वह हो डूबता है जो जड और चेतनके भेदको नही समझता। जैसे हंस दूधको पी लेता है, और जलको छोड देता है, वैसे ही जब यह जीव समझेगा, तब कही वह परमात्मारूप आत्माको समझ सकेगा।

"तो जियरा तरस सुन राजुल, जो तन को अपनो कर जानै ।
पुद्गल भिन्न है भिन्न सबै तन, छांड़ि मनोरथ आन समानै ।
बूड़ैगो सोई कलिधार मे, जड़ चेतन को जो एक प्रमानै ।
हंस पिबै पय भिन्न करै जल, सो परमातम आतम जानै ॥११॥"

नेमि-ब्याह[1]

यह एक छोटा-सा खण्ड-काव्य है। इसमे नेमिनाथके विवाहकी कथा है। नेमिनाथके पिताका नाम समुद्रविजय और माँका नाम शिवदेवी था। इनका जन्म सोराष्ट्रान्तर्गत द्वारावतीमे हुआ था। यह यादववंशी राजकुमार थे। कृष्ण और बलभद्र इन्हीके वंशज बडे भाई थे। नेमिकुमार बचपनसे ही शक्तिसम्पन्न और धर्मात्मा थे। इनका विवाह जूनागढके राजा उग्रसेनकी कन्या राजुलके साथ निश्चित हुआ। बारात पहुँची। अगवानीके उपरान्त टीकाके लिए जाते समय अनेक पशुओंको बँधे और चीत्कार करते देखा। उस करुण-क्रन्दनको सुनकर उनको वैराग्य उत्पन्न हुआ और वे तुरन्त ही वीतरागी दीक्षा ले गिरिनारपर तप करने चले गये। मंगलगीत रुक गये, शहनाइयाँ शान्त हो गयी। माँ-बापने राजुलको बहुत समझाया, किन्तु उसने अन्यको पति चुननेसे स्पष्ट इनकार कर दिया। वह भी नेमीश्वरकी ही अनुगामिनी बनी।

विनोदीलाल चित्र उपस्थित करनेमे अनुपम थे। दुलहा नेमीश्वर विवाहके लिए जा रहे हैं। सिरपर मौर रखा है, और हाथोमे कंकणकी डोरी कसकर बाँध दी गयी है। कानोमे कुण्डल झलक रहे है, और भालपर रोली विराजमान है। वक्षस्थलपर पड़े मोतियोके हारकी तो शोभा ही न्यारी है। देखिए,

"मौर धरो सिर दूलह के कर कंकण बांध दई कस डोरी ।
कुंडल कानन में झलके अति भाल में लाल विराजत रोरी ।

---

१. इसकी हस्तलिखित प्रति, जैन सिद्धान्त भवन, आरा में मौजूद है।

मोतिन की लड़ शोभित है छवि देखि लजें बनिता सब गोरी।
लाल विनोदी के साहिब के मुख देखन को दुनियां उठ दौरी ॥"

ऐसा प्रतीत होता है जैसे विनोदीके साहबको देखनेके लिए दुनिया आज भी उठकर दौड़ी चली आ रही है। 'उठ दौरी' मे देखनेकी ऐसी व्याकुलता है, जो देखते ही बनती है।

पशुओंके करुण-क्रन्दनको सुनकर नेमिकुमार उदास हो गये। उनके हृदयमे जीव मात्रका कल्याण करनेकी भावना उदित हुई। किन्तु इसके लिए असीम आत्मिक बलकी आवश्यकता थी। उसे सम्पन्न किये बिना दूसरोका कल्याण कैसे हो सकता है। एतदर्थ ही वे गिरिनारपर तप करने चले गये। उस समयका दृश्य देखिए,

"नेम उदास भये जब से कर जोड़ के सिद्ध का नाम लियो है।
अम्बर भूषण डार दिये सिर मौर उतार के डार दियो है ॥
रूप धरौ मुनि का जबहीं तबहीं चढ़ि के गिरिनारि गयो है।
लाल विनोदी के साहिब ने तहां पांच महाव्रत योग लयो है ॥"

उदासीनताकी लहरके आते ही उन्होंने हाथ जोड़कर भगवान् सिद्धको नमस्कार किया, जैसे मानो उनकी कृपासे ही यह उत्तम भाव उत्पन्न हुआ हो। वस्त्राभूषण उतार फेंके और वह मौर भी धराशायी हो गया, जो विवाहका प्रतीक था। मुनिका रूप धारण कर पंच महाव्रत ले लिये।

"वर द्वारसे ही तो लौट गया, भाँवरें तो नहीं पडने पायी, अतः राजुलको अन्य पति चुननेका अधिकार है।" – माता पिताके ऐसा कहते ही राजुलकी भौं कुंचित हो उठी। उसने फटकारते हुए कहा,

"काहे न बात सम्हाल कहो तुम जानत हो यह बात भली है।
गालियां काढ़त हौ हमको सुनो तात भली तुम जीभ चली है ॥
मैं सबको तुम तुल्य गिनौ तुम जानत ना यह बात रली है।
या भव में पति नेमप्रभू वह लाल विनोदी को नाथ बली है ॥"

माँ-बापको फटकारना कोई अच्छी बात नहीं है। वे जो कुछ भी कह रहे थे, अपनी समझसे तो भलेकी ही कह रहे थे। किन्तु राजुल भी क्या करे, उसे दुःख था कि उसीके माँ-बाप, उसे जानकर भी न जान पाये। उन्हें अपनी पुत्रीके साधारण भोग-जन्य सुखका ही ध्यान था। किन्तु राजुलने तो विवाहको पवित्र-बन्धन माना था, भोगका सहारा नहीं। मनमे एक बार जिसे पति मान लिया जीवन-भर वह ही रहेगा। पति कुछ भी करे। नारीके इस पावन आदर्शपर

आघात करनेवाला कोई भी क्यों न हो, राजुल खरी-खोटी सुनाये बिना नहीं रह सकती। उसमें माँ-बापका ध्यान भी भुला देना होता है। पण्डित रामचन्द्र शुक्लने इसीको बड़े धर्मके लिए छोटे धर्मको न्योछावर कर देनेकी बात कही है।[१] वह यहाँ पूर्ण रूपसे घटित होती है।

राजुल-पच्चीसी

अनेकानेक भण्डारोंमें इसकी प्रतियाँ मौजूद हैं। बीकानेरके अभय जैन पुस्तकालयमें जो प्रति है, वह वि० सं० १७८२ मगसिर बदी ६ का लिखी हुई है। जयपुरके बधीचन्दजीके दिगम्बर जैन मन्दिरके गुटका नम्बर १६१ में इसकी जो प्रति निबद्ध है, वह वि० स० १७९३ की लिखी हुई है। जयपुरके ही ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरमें वेष्टन नम्बर १९९ में बँधी हुई 'राजुल-पच्चीसी' वि० स० १७६९ की लिखी हुई है। श्री मन्दिर जी कूँचा सेठ, दिल्लीके शास्त्रभण्डारके वेष्टन नं० ३०४में इसकी एक प्रति मौजूद है। इस काव्यमें नेमिनाथ और राजुलका भावमय चित्र अंकित है।

नेमजी रेखता

इसकी प्रति बीकानेरके अभय जैन पुस्तकालयमें मौजूद है।[२] इसकी भाषापर उर्दू-फ़ारसीका अधिक प्रभाव है। फरजन्द, दिलन्दसांस, फुरमाया, खुसदिल आदि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। इसमें नेमीश्वरके विवाहार्थ आनेसे लेकर राजुलके स्त्रीलिंगको छेदकर स्वर्ग जाने तककी विविध बातें हैं। मुक्तक छन्दोंमें ही सब कुछ कहा गया है। अतः इस रचनामें मुक्तक और खण्डकाव्य दोनों ही का आनन्द सन्निहित है। गीतावलीकी भाँति उसमें मुक्तकता है और कथाका प्रवाह भी। आदि अन्त देखिए,

आदि

"समुद्रविजय का फरजंद ब्याहनें कौं आपने नेमनाथ खूब बनरा कहाया है।
बखत दिलन्दसांस सेहरा विराजता है, जादोंराय पंजकोटि जान खूब लाया है॥
यानपर देखिकै महरबान हुआ आप, इनको खलास करौ येही फुरमाया है।
जाना है जिहान को दरोग है दिनां दोलाक, गिरनार जाय भक्ति ऐसी चित लाया है"

---

१. पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, मानसकी धर्मभूमि, चिन्तामणि, पहला भाग, प्रयाग, १९५० ई०, पृ० २११।

१. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, उदयपुर, पृष्ठ १४५।

अन्त

' गिरनेरगढ़ सुहाया, सुख दिल पसंद आया तहां जोग चित लाय तन कहां गया है।
शुभ ध्यान चित दीन्हां नवकार मंत्र लीन्हा, परहेज कर्म किया है ॥
स्त्रीलिंग छेद कीन्हा पुलिंग पद लीन्हा ससद रहे स्वर्ग पहुंची ललितांग पद भया है।
खुस रेखते बनाये लाल विनोदी गाये अनुसाफ दर्प ढाने, राजुल का भया है ॥''

प्रभात जयमाल

इसे 'मंगल प्रभात' और 'नेमिनाथजीका मगल' भी कहते है। इसकी रचना वि० सं० १७४४ मे हुई थी। इसकी एक प्रति जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरके एक पाठसग्रहमे निबद्ध है। इसकी एक दूसरी प्रति पचायती दिगम्बर जैन मन्दिर दिल्लीमे मौजूद है। इसमे भगवान् नेमिनाथकी भक्तिमे कतिपय मुक्तक पद्योका निर्माण हुआ है। सभी भक्तिसे ओतप्रोत है। प्रातःकाल उठकर उनका उच्चारण करनेसे शुभ-गति मिलती है।

चतुर्विंशति जिन स्तवन सवैयादि

इसकी प्रति वि० सं० १८३९ भाद्रपद कृष्णा तृतीया शुक्रवारकी लिखी हुई बीकानेरके अभय जैन ग्रन्थालयमे मौजूद है।[1] यह श्रावक वेणीप्रसादके बाँचनेके लिए लिखी गयी थी। इसमे कुल ७१ पद्य है और सभी सवैया है। इसके प्रारम्भके ८-९ पद्य आदिनाथके, फिर नवकार, १२ भावना और पार्श्वनाथके सवैये है। पद्याक ४७ से आगे प्रत्येक छन्दमे एक-एक तीर्थंकरकी क्रमशः स्तुति है। प्रथम तीर्थंकर आदिनाथकी बन्दना करते हुए भक्त कहता है,

''जाके चरणारविन्द पूजित सुरिंद इंद देवन के वृन्द चंद सोभा अति भारी है।
जाके नख पर रवि कोटिन किरण वारे मुख देखे कामदेव सोभा छविहारी है ॥
जाकी देह उत्तम है दर्पन-सी देखियन अपनों सरूप भव सात की विचारी है।
कहत विनोदीलाल मन वचन तिहुकाल ऐसे नाभिनंदन कूं वंदना हमारी है ॥''

फूल माल पच्चीसी

जैसा कि इसके नाममे स्पष्ट है, इसमे कुल २५ पद्य है। दोहा, छप्पय और नाराच छन्दोंका प्रयोग किया गया है। इसका प्रकाशन 'बृहद् महावीर कीर्तन' नामकी पुस्तकमे हो चुका है।[2] विषय भक्तिसे सम्बन्धित है। तीर्थंकर नेमिनाथके

१. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, उदयपुर, पृष्ठ ११८।
२. बृहद् महावीर कीर्तन, श्री दिगम्बर जैन पुस्तकालय, महावीरजी, जयपुर, जनवरी १९५३ ई०, पृष्ठ २१६-२१९।

चरणोंमें इन्द्रने उत्साहपूर्वक एक फूलमाला समर्पित की, जिसे इन्द्राणीने भिन्न-भिन्न प्रकारके पुष्प, मोती और मणि-माणिक्योंसे गूँथा था। उस मालाकी शोभा देखिए,

"सुगन्ध पुष्प बेलि कुन्द केतकी मंगाय कें।
चमेलि चम्प सेवती जुही गुही जु लायकें ॥
गुलाब कंज लाइची सबै सुगन्ध जाति के।
सुमालती महाप्रमोद लै अनेक भांति के ॥५॥
सुवर्णतार पोह बीच मोति लाल लाइया।
सुहीर पन्न नील पीत पद्म जोति छाइया ॥
शची रची विचित्र भांति चित्त दे बनाई है।
सु इन्द्र ने उछाह सों जिनेन्द्र को चढ़ाई है ॥६॥"

वह माला अमूल्य हो गयी थी। उसे शचीने गूँथा, इन्द्रने चढ़ाया और भगवान्का स्पर्श पाकर वह स्वयं भी पवित्र हो गयी थी। उसे प्राप्त करनेके लिए विभिन्न देशोंसे विभिन्न जातियोंके लोग आये। उनमें साधारण थे और असाधारण भी, गरीब थे और मालदार भी, कंजूस थे और दिलदार भी तथा सामन्त थे और राजा-महाराजा भी। सभी मालाको लेनेके लिए अधिकसे अधिक मूल्य देना चाहते थे, किन्तु कुछ कंजूस विस्फारित नेत्रोंसे यह देख रहे थे, कि ये लोग एक छोटी-सी मालाको लेनेके लिए असीम धन क्यों लुटाये दे रहे हैं। उस अवसरपर मानवके विविध भावोंका एक छोटा-सा चित्र देखिए,

"सु अग्रवाल बोलिये जु माल मोहि दीजिये।
दिनार देहुं एक लक्ष सु गिनाय लीजिये ॥
खण्डेलवाल बोलिया जु दीय लाख देउंगो।
सु बांटि के तमोल मैं जिनेन्द्रमाल लेउंगो ॥१६॥
कितेक लोग आइकें खड़े ते हाथ जोरि कें।
कितेक भूप देखिकें चले जु बाग मोरिकें ॥
कितेक सूम यों कहें जु कैसें लक्षि देत हौ।
लुटाय माल आपनो सु फूल माल लेत हौ ॥२०॥"

इस भक्तिके अवसरपर अनेक श्राविकाएँ जब अपने उद्दाम भावोंको रोकनेमें असमर्थ हो गयीं, तो नृत्य कर उठीं और उनकी प्रत्येक थिरकनमें भक्तिका उद्वेलन था। मृदंग-तालोंके साथ-साथ सुकण्ठोंसे मंगल-गीत भी फूट उठे,

"कई प्रवीन श्राविका जिनेन्द्र को बधावहीं।
कई सुकण्ठ राग सों खड़ी जुमाल गावहीं ॥

कई सुनृत्य को करैं नटैं अनेक भावहीं।
कई मृदंग ताल पै सु अंग को फिरावहीं ॥२१॥"

वीतरागकी माला खरीदनेके लिए भक्तिकी आवश्यकता है। गुरु महाराजने घोषणा की कि माला उसीको मिलेगी, जो अधिकसे अधिक जिनेन्द्रभक्तिका परिचय देगा। भक्त वह है, जो जिनेन्द्र यक्ष और बिम्बप्रतिष्ठा करवाकर संघ चलानेका श्रेय प्राप्त करेगा,

"कहैं गुरु उदार धो सु यों न माल पाइये।
कराइये जिनेन्द्र-यक्ष बिंबहू भराइये ॥
चलाइये जु संघजात संघही कहाइये।
तबै अनेक पुण्य सौं अमोल माल पाइये ॥२२॥
सबोधि सर्व गोटि सो गुरु उतार के लई।
बुलाय के जिनेन्द्र माल संघराय को दई ॥
अनेक हर्ष सों करें जिनेन्द्र तिलक पाइये।
सुमाल श्री जिनेन्द्र की विनोदिलाल गाइये ॥२३॥"

भक्तामर स्तोत्र कथा और भक्तामर चरित

'भक्तामर स्तोत्र कथा'का निर्माण वि० सं० १७४७ सावन सुदी २ को हुआ। यह रचना पद्यमें न होकर हिन्दी-गद्यमें है। इसकी एक प्रति वि० सं० १९४७ की लिखी हुई, जयपुरके ठोलियोंके जैन मन्दिरमें विराजमान है। वि० सं० १९०९ की लिखी हुई हस्तलिखित प्रतिकी सूचना 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के वि० स० २००६ के हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोजके परिशिष्टमें अंकित है। इस विवरणके सम्पादकोंका विचार है कि वह एक उत्तम कृति है। किन्तु वह गद्य-में न होकर पद्यमें है, और इसका नाम भी 'भक्तामरचरित' दिया हुआ है। एक 'भक्तामरचरित'का उल्लेख काशी नागरी प्रचारिणी सभाके बारहवें त्रैवार्षिक विवरणमें हुआ है। उसकी प्रति बाराबंकीके जैन मन्दिरसे प्राप्त हुई थी। इसपर भी निर्माणकाल वि० सं० १७४७ पडा हुआ है।[1] इसमें दोहा, अडिल्ल, कुण्डलिया और सोरठा आदि छन्दोंका प्रयोग किया गया है।[2] इसके अन्तमें कवि और उसके समयका भी संक्षिप्त परिचय दिया है।

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाका बारहवाँ त्रैवार्षिक हिन्दी ग्रन्थोंकी खोजका विवरण, परिशिष्ट २, पृष्ठ १५७४।

२ दोहा छंद अडिल्ल बनायो।
कहु कुंडलिया सोरठा लायो ॥

अन्य रचनाएँ

'पंच कल्याणक कथा'की प्रति दिल्लीके पंचायती दि० जैन मन्दिरमे मौजूद है। 'नौका बन्ध' नामकी रचना जयपुरके पं० लूणकरजीके मन्दिरमे गुटका नं १०३ मे निबद्ध है। 'सुमति-कुमतिकी जखडी' जयपुरके बड़े मन्दिरके वेष्टन नं० २१३४ मे बँधी रखी है। इसपर लेखनकाल सं० १७८९ पड़ा है। विनोदी-लालने 'सम्यक्त्व कौमुदी'की रचना वि० सं० १७४९ मे की था। 'विष्णुकुमार-मुनिकथा' और 'श्रीपाल विनोद कथा' दोनों ही विनोदीलालकी कृतियाँ है। वे नया मन्दिर दिल्लीके शास्त्रभण्डारमे मौजूद है। 'श्रीपाल विनोद'की रचना वि०सं० १७५० मे हुई थी 'षट्कर्मोपदेश रत्नमाला'की रचना वि० सं० १८१८ मे हुई। इसकी प्रति अछनेरा (आगरा)मे मौजूद है। यह अनुष्टुप् छन्दोमे लिखा गया है।[१]

८३. बिहारीदास (वि० सं० १७५८)

पण्डित बिहारीदास आगरेके रहनेवाले थे। उनकी गणना उत्तम कोटिके विद्वानोमे की जाती थी। जैन हिन्दी भक्ति-साहित्यके प्रसिद्ध कवि द्यानतराय उन्हीके शिष्य थे। उन्होने अनेक स्थानोपर अपने गुरुका नामोल्लेख किया है। उस समय आगरेमे दो ही विद्वान् थे, प० मानसिंह जौहरी, जिनकी 'सैली' चलती थी और पण्डित बिहारीदास।

बिहारीदास कवि भी थे और उन्होने सर्वत्र 'बिहारी' का प्रयोग किया है। कहीं-कही अपनेको बिहारीलाल भी लिखा है, किन्तु ये 'सतसैयाकार'से स्पष्ट रीत्या पृथक् है। वैसे भी बिहारी अथवा बिहारीलाल नामके कई कवि हुए है। उनमे-से एक तो कायस्थ थे, जो ओरछाके रहनेवाले थे। उनका रचनाकाल सं० १८१० माना जाता है।[२] दूसरे वे थे जिनका उल्लेख 'काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका'के द्वितीय त्रैवार्षिक रिपोर्टमे हुआ है। इन्होने सं० १८२० मे 'नखशिख

संवत् सत्रह सै सैताल।
सावन सुदी दुतिया रविवार॥
देखिए वही।

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाका हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंका पन्द्रहवा त्रैवार्षिक विवरण।

२. मिश्रबन्धु विनोद, भाग २, पृ० ७०७।

रामचन्द्रजी'की रचना की थी। तीसरे वे हैं जिन्होंने १८१५ में 'हरदौल चरित्र' लिखा था।[1] चौथे प्रसिद्ध योगी हरिरामदासके मुख्य शिष्य थे। हरिरामदासके स्वर्गारोहणके उपरान्त वे उनकी गद्दीके अधिकारी भी हुए। उन्होंने 'नीसाणी' नामकी एक प्रौढ रचनाका निर्माण किया था, जो संवत् १८३५ के बादकी कृति है।[2] अर्थात् ये सब उन्नीसवीं शताब्दीके कवि थे।

पण्डित बिहारीदासका रचनाकाल अठारहवीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। श्री द्यानतरायका जैनधर्मकी ओर झुकाव स० १७४६ में पण्डित बिहारीदासकी प्रेरणासे ही हुआ था।[3] अर्थात् इस समय तक वे विद्वत्ता-जन्य ख्याति प्राप्त कर चुके थे। अतः यह निश्चित है कि उनका जन्म अठारहवीं शताब्दीके प्रारम्भमें हुआ होगा।

बिहारीदासने 'सम्बोध पंचासिका', 'जखडी', 'जिनेन्द्र स्तुति' और 'आरती'का निर्माण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि द्यानतराय उन्हीके विकसित रूप थे।

सम्बोध पंचासिका

इसका दूसरा नाम 'अक्षर बावनी' है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति वि० सं० १८३२ की लिखी हुई दि० जैन मन्दिर बडौतके वेष्टन नं० २७२ गुटका नं० ५५ में पृ० ३६–४० पर निबद्ध है। इसके अन्तमें कृतिका रचनाकाल वि० स० १७५८ कार्तिक वदी १३ दिया हुआ है। इससे यह भी सिद्ध है कि बिहारीदास आगरेके रहनेवाले थे। जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० १२८ में भी इसकी एक प्रति संकलित है। श्री दि० जैन मन्दिर कूँचा सेठ, दिल्लीके वेष्टन नं० ३११ में इसकी एक हस्तलिखित प्रति मौजूद है। उसकी लिखावट उत्तम है। उसपर भी रचना सं० १७५८ ही दिया हुआ है।

इस कृतिमें ५० पद्य हैं। विविध ढालोमें इसकी रचना की गयी है। प्रारम्भमें कविने 'ऊँकार' में बसे पंच परम पदकी वन्दना करके अपनी लघुता प्रदर्शित की है,[4]

"ऊँकार मंझार पंच परम पद वसत है।
तीन भवन मैं सार वदौं मन वच काय कै ॥१॥

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाकी १९०५ की खोज रिपोर्ट।
२. डॉ० मोतीलाल मेनारिया, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ३०६।
३. पण्डित प्रेमीकृत हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ५८।
४. ये उद्धरण बडौतवाली हस्तलिखित प्रतिसे लिये गये हैं।

अक्षर ग्यान न मोहि छंद भेद समझु नहीं ।
बुध थोरी कीम होय भाषा अक्षर बावनी ॥२॥"

कविका कथन है कि नरभव प्राप्त करना अत्यधिक कठिन है। उसे व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। यदि वह खो गया तो समुद्रमें राईकी भाँति फिर प्राप्त न होगा। केवल पछताना ही हाथ रह जायेगा,

"आतम कठिन उपाय पाय नरभव क्यों तजै ।
राई उदधि समानी फिर ढुढ नही पाइये ॥३॥
इ विधि नरभव को पाय विषै सुष सौरभ ।
सो सठ अमृत षोय हालाहल विष आचरै ॥४॥
ईश्वर भाषै यह नरमव मति षोवै वृथा ।
फिर न मिलै यह देह पछताओ बहु होयगो ॥५॥"

जीवको सावधान करते हुए कविने लिखा है कि तूने विषयोंमें अपना मन लगा रखा है, आत्माका हित नहीं करता। थोड़े-से सुखके लिए तू भवसमुद्रमें पड़ गया है। पाप-लहर तुझे कष्ट देती है। अत. धर्मरूपी जहाज पकड़कर, सुख-पूर्वक इस भवसमुद्रसे पार हो जाओ,

"जो तू विषयीन सौं लग्यौ मन भाई रे ।
आतम हित न्हौ हो ही चेत मन भाई रे ॥२३॥
टूक सुष कौ भवदधि परौ मन भाई रे ।
पाप लहर दुष देहि चेत मन भाई रे ॥
पकरै धर्म जिहाज ज्यौ मन भाई रे ।
सुषस्यो पार करै हि चेत मन भाई रे ॥२४॥"

धर्मसे प्रेरित होकर जो जिनेन्द्रकी पूजा करता है, जिनेन्द्रके चरणोंमें चित्त लगाता है, उसे मनवाछित फल मिलता है। जिनेन्द्रके द्वारा बताये गये शिवमार्ग-को जो थोड़ा भी जान पाता है और अन्तमें समाधिमरण करता है, उसे चतुर्गतिका दु.ख नहीं भोगना पड़ता।

"लागि धरम जिन पूजिये, सांच कह्यो सब कोइ ।
चित्त प्रभु चरन लगाइयो, तब मन वांछित फल होइ ॥४३॥
सिव मारग जिन भाषियो, किंचित जाणौ कोइ ।
अंति समाहि मरण करै चउ गइ दुष नहिं होइ ॥४४॥"

जखड़ी

विगत पृष्ठोंपर यह लिखा जा चुका है कि जैन भक्ति-साहित्यमे जखड़ियोंकी परम्परा पुरानी है। हिन्दीके कवि भी लिखते रहे है। रूपचन्द, दौलतराम, भूधरदास, रामकृष्ण और जिनदासकी जखडियाँ तो बहुत ही प्रसिद्ध है। 'जखडी'-को हिन्दीका स्तोत्र कह सकते है। बिहारीदासने भी एक जखडीका निर्माण किया था। उसमे ३६ पद्य है। उसकी एक प्रति जयपुरके ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरमे वेष्टन नं० ४८ मे सुरक्षित है। इसमे कुल ४ पत्रे है। इसकी एक दूसरी प्रति जयपुरके ही बडे मन्दिरके गुटका नं० ८० मे संकलित है। इस प्रतिपर रचना-संवत् १७५६ पडा हुआ है। इसका अर्थ है कि 'जखड़ी', 'सम्बोध-पचासिका'से दो वर्ष पूर्व बन चुकी थी।

जखडीमे तीर्थक्षेत्रों, अकृत्रिम चैत्यो, कल्पवृक्षो, धवल-जयधवल और आचार्योंकी वन्दना की गयी है। कतिपय पद्य इम प्रकार हैं,[1]

> "शिखरी देश के मध्य विराजै सम्मेदाचल वंदौं जी।
> कर्म काटि निर्वाण पहुच्या बीस जिनेश्वर वंदौं जी॥
> जम्बू शालमली वृक्ष वंदौं चैत्य वृक्ष सब वंदौं जी।
> रजत गिरि कुलाचल वंदौं कंचन गिरि सब वंदौं जी।
> अरिहंत सिद्ध सूर उपाध्याय साध सकल पद वदौं जी।
> जो सुमरया सो भवदधि तिरया मेटो कर्म कुफंदा जी॥"

जिनेन्द्र-स्तुति

यह रचना 'बृहज्जिनवाणी संग्रह' (पृ० १२६) मे प्रकाशित हो चुकी है। इसमे भगवान् जिनेन्द्रके स्तुति-परक भावोका प्रकाशन हुआ है। भक्त कवि भगवान्‌के उस रूपपर रीझा है, जिसमे वस्त्राभूषणका आडम्बर नही, अपितु मुद्रासे शान्ति बिखर रही है और दृष्टि नासाके अग्र भागपर स्थित है। भगवान्‌के चरण कमल-जैसे है। उनके नखोसे करोड़ो सूर्योंकी प्रभा निकल रही है। उनपर देवेन्द्र, नाग और नरेन्द्रोकी मुकुट-मणियाँ झुक रही हैं,

> "वस्त्राभरण बिन शान्त मुद्रा, सकल सुर नर मन हरै।
> नासाग्रदृष्टि विकारवर्जित, निरखि छवि संकट हरै॥
> तुम चरण पंकज नख प्रभा, नम कोटिसूर्य प्रभा धरै।
> देवेन्द्र नाग नरेन्द्र नमत सु, मुकुट मणि द्युति विस्तरै॥"

---

१. ये पद्य ठोलियोंके मन्दिरवाली प्रतिके आधारपर दिये गये है।

भगवान्की शोभा केवल बाह्य नहीं है, उनका अन्तः भी असाधारण रूपसे लस रहा है। उनकी जाप लगानेसे पाप-समूह नष्ट हो जाते हैं, और उनका ध्यान करनेसे शिव-थल प्राप्त हो जाता है। यह जीव बुराइयोंमें फँसकर संसारके बड़े-बड़े दुःखोंको सहन करता रहा है, उसे सुख तो सरसोंके समान भी नहीं मिला। भगवान्की भक्तिसे ही उसे सुख मिल सकता है।

"अंतर बहिर इत्यादि लक्ष्मी, तुम असाधारण लसै।
तुम जाप पापकलाप नासै, ध्यावते शिवथल बसै॥
मैं सेय कुदृग कुबोध अव्रत, चिर भ्रम्यो भव वन सबै।
दुख सहे सर्व प्रकार गिरि सम, सुख न सर्षप सम कबै॥"

संसारके जीव विषय-कषायोंमें निमग्न है। जो चेत जाता है, वह ही इस भवसमुद्रको तिर जाता है। अपनी विगत करनीपर पश्चात्ताप करना ही शिव-पथकी ओर बढ़ना है। यह पश्चात्ताप ही जीवको भगवान्के चरणोंमें ले जाता है और भक्तके अन्तःकरणसे यह ही लहर उठती है कि "हे भगवन्! मुझे आपकी भक्तिके अतिरिक्त और कुछ भी वैभव नहीं चाहिए।" एतत् सम्बन्धी एक पद्य है,

"परचाह दाह दह्यो सदा, कबहूँ न साम्यसुधा चख्यो।
अनुभव अपूरब स्वादु विन नित, विषय रस चारो भख्यो॥
अब बसो मो उर में सदा प्रभु, तुम चरण सेवक रहौं।
वर भक्ति अति दृढ़ होहु मेरे, अन्य विभव नहीं चहौं॥ ५॥"

भक्तको यह पूर्ण विश्वास है कि भगवान्की शरणमें जानेसे जन्म-मरणके कष्टोंसे छुटकारा मिल जायेगा,

"मंगल सरूपी देव उत्तम, तुम शरण्य जिनेश जी।
तुम अधम तारण अधम, मम लखि मेट जन्म कलेश जी॥"

आरती

बिहारीदासकी लिखी हुई एक सरस आरती जयपुरके छाबड़ोंके मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० ५० के पृ० ४ पर अंकित है। आरती 'आतमदेवा'की की गयी है।

"करौं आरती आतमदेवा
गुण परजाय अनंत अभेवा॥
जामैं सब जग वह जग माही
बसत जगत में जग सम नाहीं॥

ब्रह्मा विष्णु महेश्वर ध्यावैं
साधु सकल जिह के गुण गावै ॥
बिन जाने जिय चिर भव डोलै
जिहि जानै छिन सिवपट खोलै ॥
व्रती अव्रती विध व्यौहारा
सो तिहुंकाल करम सौं न्यारा ॥
गुरु शिष्य उभय वचन करि कहियै
वचनातीत दसा तिस लहियै ॥
सुपर भेद कौ खेद न छेदा
आप आप मैं आप निवेदा ॥
सो परमातम पद सुख दाता
हौंह बिहारीदास विख्याता ॥"

८४. किशनसिंह (वि० सं० १७६१)

इनके पितामह सिगही कल्याण रामपुरके रहनेवाले थे। उनका वंश खण्डेलवाल और गोत्र पाटणी था। किसी तीर्थ-यात्राके लिए संघ निकलवानेके कारण उन्हें 'संघो' कहा जाने लगा था। 'सिगही' उसीका बिगड़ा हुआ रूप है। आज भी ऐसोंके वंशधरोंको 'संघई जू' कहते हैं। सिंगही कल्याण अनेकानेक गुणोंके निधान थे, अत: उनका यश भी बहु बड़ा था। भगवान् जिनेन्द्रका पूजन और जिन-श्रुतका अध्ययन उनका नित्य-नैमित्तिक कर्म था। दान भी बहुत देते थे।[1] उनके दो पुत्र थे – सुखदेव और आनन्दसिंह। भगवान् जिनेन्द्रके पदोंकी वन्दनासे सुखदेवके तीन 'सुनन्द' उत्पन्न हुए : थान, मान और किशन। किशन ही किशनसिंह बने।[2] 'क्षेत्र विपाकी कर्म'के उदयसे वे 'निजपुर'को छोड़कर सागानेरमे

१. खंडेलवालं वंस बिसालं नागरचालं देसथियं।
रामापुरवास देवनिवासं धर्मप्रकासं प्रगटकियं ॥
संगहीकल्याणं सबगुण जाणं गोत्र पाटणी सुजसलियं।
पूजाजिनरायं श्रुतगुरुपायं नमै सकति निज दाम दियं ॥१॥
त्रेपनक्रियाकोश, प्रशस्ति, प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, १९५०, पृ० २२०।

२. तसु सुत दुय एवं गुरुमुखदेवं लहुरो आणंदसिंह सुणौ।
सुखदेव सुनंदन जिनपदवंदन थान मान किसनेस सुणौ ॥

रहने लगे थे।[1] उस समय वहाँ राजा सवाई जयसिहका राज्य था। सब प्रजा सुखी और धन-धान्यसे पूर्ण थी। किशनसिंहका जीवन भी सुखमय था। उनका अधिकाश समय भगवान् जिनेन्द्रकी भक्ति और साहित्य-रचनामें व्यतीत होता था। उन्होंने जो कुछ लिखा, हिन्दीमे ही लिखा। उनके हृदयमें जो कुछ था, भगवान् जिनेन्द्रके चरणोमें ही समर्पित हुआ। वे एक भक्त कवि थे, जिनकी भाषामें माधुर्य था और भावोमें स्वाभाविकता।

पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने उनकी केवल तीन रचनाओका उल्लेख किया था · 'क्रियाकोश', 'भद्रबाहुचरित्र' और 'रात्रिभोजनकथा।'[2] अब राजस्थानके शास्त्र-भण्डारोंमे उनकी लगभग २० रचनाओका पता लगा है। उनमे-से अधिकाश जैन-भक्तिसे सम्बन्धित है।

क्रिया-कोश

इसका निर्माण वि० सं० १७८४ मे हुआ था।[3] इसका प्रकाशन बहुत पहले ही जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय हीराबाग, बम्बईसे हो चुका है। इस ग्रन्थमे २९०० पद्य है, उनमे जैनोकी धार्मिक क्रियाओका उल्लेख है। रचना मौलिक है, किन्तु कविताकी दृष्टिसे साधारण है। कुछ भक्तिसम्बन्धी पद्य है,

> "समवसरन लक्ष्मी सहित, वर्द्धमान जिनराय।
> नमौ विबुध वंदित चरन, भविजन को सुखदाय॥
> वृषभ आदि जिन आदि है, पारस लौं तेईस।
> मन वच काया पद पद्म, वंदौं करि धरि सीस॥

किसन इह कीनी कथा नवीनी निजहित वीनी सुरपद की।
मुखदाय क्रिया भनि यह मनवचननि सुद्धपलै दुरगति पद की॥२॥
वही, पृ० २२०।

१. क्षेत्र विपाकी कर्म उदै जब आईया, निजपुर तजि कैं सागानेरि वसाईया।
तह जिन धर्म प्रसादि गमै दिन सुत लही, साधर्मीजनमानै दे हित गही॥
वही।

२. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ६६।

३ 'सत्रहसै संवत चौरासियाजु भादौ मास,
वर्षारितिश्वेत तिथि पुन्यौ रविवार है।'
त्रपनक्रियाकोश, प्रशस्ति, प्रशस्तिसंग्रह, पृ० २२१।

"नमो सकल परमातमा, रहित अठारह दोष ।
छियालिस गुन प्रमुष जे, है अनंत गुन कोष ॥
आचारज उवझाय गुरु, साधु त्रिविध निरग्रन्थ ।
मवि जगवासी जननि कौ, दरसावै सिव पंथ ॥"

भद्रबाहु चरित

इसकी एक प्रति नया मन्दिर दिल्लीके शास्त्रभण्डारमे मौजूद है। इसमें ३६ पृष्ठ है। यह प्रति वि० सं० १९२९ की लिखी हुई है। इसकी रचना हिन्दी-पद्यमे हुई थी।[1] दूसरी प्रति जयपुरके ही ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरके वेष्टन नं० ७८ मे बँधी रखी है। इसमे ३५ पृष्ठ हैं। इसपर रचनाकाल सं० १७८३ पड़ा हुआ है। इसी मन्दिरके गुटका नं० २५ में भी 'भद्रबाहुचरित' संकलित है। यह एक नवीन प्रति है और इसपर रचनासंवत् १७८३ पड़ा है, जिसका समर्थन उसकी अन्तिम प्रशस्तिसे होता है।[2] इसमे आचार्य भद्रबाहुका चरित्र अंकित है। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे और उनकी भक्तिमे विपुल साहित्यका निर्माण होता रहा है, उन्हीमे-से एक प्रस्तुत रचना भी है। इसका आधार आचार्य रत्ननन्दिके द्वारा विरचित संस्कृतके 'भद्रबाहु चरित'को बताया गया है।[3] किशनसिंहके 'भद्रबाहु चरित'में भाव और भाषा दोनो ही उत्तम कोटिके है। आदिका एक पद देखिए,

"केवल बोध प्रकास रवि उदै होत सखि साल ।
जग जन अन्तर तम सकल छेद्यो दीन दयाल ॥
सनमति नाम जु पाइयौ जैसे सनमति देव ।
मोको सनमति दीजिए नमौ त्रिविध करि सेव ॥"

१. नया मन्दिर दिल्लीके 'भ २९' पर निबद्ध 'भद्रबाहु चरित' देखिए।
२. संवत सतरह सै असी उपरि और है तीन।
माघ कृष्ण कुज अष्टमी ग्रन्थ समापत कीन ॥२०॥
गुटका नं० २५, मन्दिर ठोलियान, जयपुर।
३. मूल-ग्रन्थ कर्ता भये रतन नन्दि सु जानि ।
तापरि भाषा प्रहरि कीनो मती परमान ॥१॥
किसनसिंह विनती करै, लखि कविता की रीति ।
वह चरित भाषा कियौ, बालबोध धरि प्रीति ॥१७॥
वही, प्रशस्ति ।

रात्रि-भोजन-कथा

इसको 'नागश्री कथा' भी कहते हैं। इसकी एक प्रति पचायती मन्दिर दिल्लीके हस्तलिखित ग्रन्थोंमें मौजूद है। इसमे २८ पृष्ठ है। इसपर रचनासवत् १७७३ पड़ा हुआ है।[1] इसकी दूसरी प्रति 'नागश्री कथा' के नामसे जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरके वेष्टन नं० ६०८ मे निबद्ध है। उसके आगे भी रचना-संवत् १७७३ ही दिया हुआ है। पण्डित नाथूरामजी प्रेमीने भी किसी प्रतिके आधारपर यही रचनाकाल निर्धारित किया है।[2] इसकी एक प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारमे रखी है। इसमे कुल २६ पृष्ठ है, जिनपर ४१५ पद्य अंकित है। इस कथाका आरम्भिक पद्य इस प्रकार है,

> "समोसरण सोभा सहित जगत पूज्य जिनराज।
> नमौ त्रिविध भवदधिन कौ तरण विरुद जिहाज॥
> जिन मुख अबुज सरी, स्याद्वाद मय सोय।
> ता इवर सुति कौं भाव धरि, नमौं सकल मद खोय॥"

बावनी

इसकी एक प्रति जयपुरके बड़े मन्दिरके वेष्टन नं० १२६७ में निबद्ध है। इसमे कुल १८ पृष्ठ है। इसपर रचनाकाल सं० १७६३ पड़ा है। अगरचन्दजी नाहटाने बावनियोका एक छोटा-सा संकलन, 'राजस्थानमे हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोकी खोज', भाग चतुर्थ (पृष्ठ ८३) पर दिया है, जिसमे किशनकी बावनी भी है। यह प्रति बीकानेरके 'अभय जैन ग्रन्थालय' मे मौजूद है। इसपर रचना-संवत् विजयदशमी १७६७ पड़ा है।[3] उसका आदि मगलाचरण देखिए,

> "ऊकार अपर अपार अविकार अज
> अजरजु है उदार, दारदु दुइन को।
> कुंअर ते कीट परजंत जग जंतु ताके,
> अन्तर को जामी बहुनामी सामी संत को।

१. अनेकान्त वर्ष ४, किरण ६, ७, पृ० ५६३।

२. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ६६।

३. सिरि सिघराज लोका गछ सिरताज,
आज तिन की कृपा जू कविताई पाई पावनी।
संवत सतर सतसट्ठे विजैदसमी की,
ग्रन्थ को समापत भई है मनभावनी॥
अभय जैन ग्रन्थालयकी प्रति।

चिंता को हरनहार चिंता को करनहार,
पोषन भरनहार किसन अनंत को ।
अंत कहै अंत दिन राखे को अनंत बिन,
ताके तंत अंत को भरोसो भगवंत को ॥१॥"

आदिनाथजीका पद

इसकी रचना वि० सं० १७७१ में हुई थी। यह प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथकी भक्तिमें निर्मित हुआ है। इसकी प्रति जयपुरके दि० जैन मन्दिर बधीचन्दजीके शास्त्रभण्डारमें गुटका नं० १६१ में संकलित है। यह लिपि मयाचन्द गंगवालने रोझडोमें की थी।

चेतन-गीत

यह गीत अपने चेतनको शिक्षा देनेसे सम्बन्धित है। चेतन भ्रममें फँसकर सचाईको भूल गया है। यह गीत उपर्युक्त मन्दिरके ही गुटका नं० ५१ में निबद्ध है। यह गुटका सं० १८२३ कार्तिक बदी ७ का लिखा हुआ है।

कविका कथन है कि यह चेतन गुणवान् होते हुए भी अपनेको भूल गया है, जागृत नहीं होता। वह चतुर होते हुए भी इस संसारमें सुख मान रहा है। वह भव-भ्रमणकी बात विस्मृत कर चुका है—

"तुम सूते काल अनादि के जागो जागो जो चेतन गुणवान ।
होजी सुष मानत संसार में इह ठग्यौ जी तुम कौण सयाण ।
कहु भूलि गये भव भ्रमण की किन सोवौ जी पुरबल बात ॥"

आत्मतत्त्वको न जाननेके कारण यह जीव चारों गतियोंमें भ्रमण करता है। यह ठगिनी कुमतिके चक्करमें फँस जाता है और उसका अनादिकाल व्यर्थ ही बीत जाता है,

"हो जी इह विधि चहुँ गति मैं भ्रम्यो
बिन आतम तत्त्व तको पहचानि ।
हो जी काल अनादि गुमाइयो
इस कुमति ठगौरी के बचमांनी ॥"

विनती

इस विनतीका निर्माण तीर्थंकरकी भक्तिमें किया गया है। इसकी प्रति उपर्युक्त मन्दिरके ही वेष्टन नं० १०१५ में मौजूद है। उसमें केवल एक पृष्ठ है। उसपर रचना और लेखनकाल कुछ नहीं दिया है।

पद

इन्होंने कुछ पदोंकी भी रचना की थी। इनके कतिपय पद दि० जैन मन्दिर बड़ौतके पदसग्रहकी हस्तलिखित प्रतिमें, कुछ पद अतिशय क्षेत्र, महावीरजीके एक प्राचीन गुटकेमे और कतिपय जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरके गुटका नं० १५८ मे संकलित हैं।

उन्होंने एक पदमे मध्यकालीन जैन सन्तोकी भाँति ही कहा कि हृदयको शुद्ध किये बिना भगवान्के नामोच्चारण और तीर्थयात्राओंसे भी कुछ नही होता,

"जिन आपकूं जोया नहीं, तन मन कूं षोज्या नहीं।
मन मैल कुं धोया नही, अंगुल किया तो क्या हुआ ।।टेक।।
लालच करै दिलदाम को, षासति करै बद काम की।
हिरदै नहीं सुद्ध राम की, हरि हरि कहया तो क्या हुआ ।।
कूंता हुआ धन मालदा, धंधा करै जंजालदा।
हिरदा हुआ च्यंमालदा, कासी गया तो क्या हुआ ।।"

एक-दूसरे पदमे विशुद्ध भक्तकी भाँति ही कविने कहा कि जिनकी आँखे भगवान् जिनेन्द्रसे लग गयी, वे उनके बिना रह नही सकते। जिनेन्द्रके देखनेपर ही उन्हे सुख मिलता है। बिना देखे वे व्याकुल हो उठते हैं। एक भक्तमे भगवान्को निरन्तर देखते रहनेकी ऐसी अदम्य प्यास होती है, जो कभी बुझती ही नही,

"लागि गई ये अँखियाँ जिन बिन रह्यो हु न जाय ।।
जब देखे तब ही सुख उपजै बिन देख्या उकलाय।
मिटत हदे रो सूर्य उदय तैं मिथ्या तिमिर मिटाय ।।
इन्द्र सरीसा तृप्त न हूवा लोचन सहस बनाय।
चिरम आँख अब है मेरै कब लू वहूं बनाय ।।
अनुभव रस उपज्यौ अब मेरे आनद उर न समाय।
दास किसन ऐसे प्रभु पाये लखि लखि ध्यान लगाय ।।[1]"

पुण्याश्रवकथाकोश

यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है, जिसकी रचना वि० स० १७७३ मे हुई थी। इसका सकलन जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरके गुटका न० ३८ मे किया गया है। यह गुटका सं० १८२३ मे लिखा गया था। इसमे जैन-भक्तोंकी पद्य-बद्ध कथाएँ हैं।

---

१. जयपुरके मन्दिर बधीचन्दका पदसग्रह ४९२, पत्र १८५।

चतुर्विंशति जिनस्तुति

यह स्तुति उपर्युक्त मन्दिरके ही गुटका नं० १०२ वेष्टन नं १९०९ में अंकित है।[1] भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुतिमे रचा गया एक छप्पय देखिए,

> "अश्वसेन नृप पिता देवि वांमा सुमाता।
> हरित काय नव हाथ वरषस्त आयु विख्याता
> वाणारसी सु जन्म वंश इक्ष्वाकु मंझारी
> लछिन सरप जु वन्यौ प्रभु उपसर्ग निवारी
> गणधर जु भये दश ग्यान धर कोस पाँच समवादि मनि।
> श्रीपार्श्वनाथ वंदौं सदा कमठ मान वनदव अगनि ॥२८॥"

किशनसिंहजीने भक्तिसम्बन्धी अनेक गीत और स्तुतियोंकी रचना की है। इनका सकलन उपर्युक्त मन्दिरके ही गुटका नं० ५०२ मे किया हुआ मौजूद है। इस गुटकेमें २०२ पृष्ठ हैं, जिनमें-से पृष्ठ ५५ तक तो किशनसिंहका ही रचा हुआ 'भद्रबाहुचरित्त भाषा' लिखा है, और अवशिष्टपर उनकी भक्तिसम्बन्धी छोटी-छोटी रचनाएँ निबद्ध है। वे इस प्रकार है,

'श्रावक मुनि गुण वर्णन गीत,' 'चौबीस दण्डक' (स० १७६४), 'णमोकार रास' (१७६०), 'जिनभक्ति गीत', 'गुरुभक्ति गीत,' 'चेतन लोरी', 'निर्वाण-काण्ड भाषा' (स० १७८३, सम्रामपुर) इसी गुटकेमे उनकी 'एकावली व्रत कथा' और 'लब्धि विधान कथाएँ' भी संकलित है। 'लब्धि-विधान कथा'की रचना सं० १७८२ मे आगरेमे हुई थी।

८५ खुशालचन्द काला (वि० सं० १७७३)

खुशालचन्दका जन्म सागानेरमें हुआ था। उनके पिताका नाम सुन्दर और माताका नाम अभिधा था।[2] मूलसंघी पण्डित लक्ष्मीदास उनके गुरु थे। उन्हे इन्द्रके समान ख्याति प्राप्त हुई थी। उनके पास विशद ज्ञान था, जिसका

---

१ यह स्तुति वि० स० १७६६ वैशाख कृष्णा त्रयोदशी सोमवारके दिन पूर्ण हुई थी, ऐसा इस स्तुतिके ३२वें पद्यसे स्पष्ट है। यह इस स्तुतिका अन्तिम पद्य है।

२. और सुणौ आगे मन लाय, मैं सुन्दर को नंद सुभाय।
सिह् निया अभिधा मम माय, ताहि कूंखि मे उपजू आय।
चंद खुशाल कहै सब लोक, भाषा कीनी सुणत असोक॥
व्रत कथाकोश, प्रशस्ति, प्रशस्तिसंग्रह, पृ० २५७।

वितरण भी वे कामधेनुके समान ही किया करते थे। वे क्षमावान्, ज्ञानवान् और विवेकवान् थे।[1] ऐसे उत्तमकोटिके विद्वान्के पास रहकर खुशालचन्दने शिक्षा प्राप्त की थी। शिक्षा-ग्रहणके उपरान्त ही वे जहानाबादमे आकर जयसिंहपुरा नामके मुहल्लेमे रहने लगे थे। दिल्लीका ही नाम जहाँनाबाद था। उस समय वहाँ सेठ सुखानन्दजी शाह बहुत प्रसिद्ध थे। उनके घरमे रहनेवाले गोकुलचन्द नामके ज्ञानी पुरुषकी प्रेरणासे ही श्री खुशालचन्दने 'हरिवंश पुराण'का पद्यानुवाद किया था। कविकी अधिकाश रचनाएँ जयसिंहपुरामे रहकर ही बनी। कभी-कभी सागानेर भी आते रहते थे। उनकी जाति खण्डेलवाल थी।

खुशालचन्दने 'हरिवंशपुराण' (वि० सं० १७८०), 'उत्तरपुराण' (वि०सं० १७९९), 'धन्यकुमारचरित्र', 'यशोधरचरित्र' (वि० सं० १७८१), 'जम्बूचरित्र', 'सद्भाषितावली'–(वि० सं० १७७३), 'व्रतकथाकोश' (वि० सं० १७८७), 'पद्मपुराण' (वि० सं० १७८३), पद और चौबीसी पाठका निर्माण किया था। इनमे पुराण और चरित्र अनूदित रचनाएँ हैं।

पद

इनके रचे हुए पद जयपुरके ठोलियोके मन्दिरके गुटका नं० १२४ और जयपुरके ही बधीचन्दजीके मन्दिरके पदसंग्रह ४९२ मे अंकित है। ठोलियोके मन्दिरका एक पद अत्यधिक सरस है। उसमे भक्त उलाहना देते हुए भगवान्से कहता है कि आपने अनेक अधमोको तार दिया फिर मेरी बेर ढील क्यों करी है। आप मेरे गुण और अवगुणोपर ध्यान मत दीजिए, अपने विरदकी ओर निहारिए,

"तुम प्रभु अधम अनेक उधारे। ढील कहा हम वारो जी ॥
तारन तरन विरद सुन आयो और न तारण हारो।
तुम बिन जनम मरण दुख पायौ। कमन आवै पारो जी।
मो गुण अवगुण प्रति मत जावो। अपणी ओर निहारो।
अंजन से पल मैं ही सुधारे और कहा अधिकारो जी ॥
मैं विनती करहुं त्रिभुवन पति मेरो कारिज सारो।
चंद खुस्याल सरन चरनन को सो भवपार उतारो जी ॥"

---

१. देव इन्द्र कीरति भये जु मूलस्यघ भट्टारक को पदस्थ जाको सोहितु है।
पूजारु प्रतिष्ठा करवाई अविसमकार मोहनी सुमूरति लखेतै मोहितु है ॥
जाही के सुगच्छ माहि पण्डित श्रीय जु दास बानी कामधेनु तै सुज्ञान दोहिइतु हैं।
खिमावान ग्यानवान पण्डित विवेकवान राति द्योष आगम विचार टोहिइतु है।२॥
वही. पृ० २५६।

चौबीसी स्तुतिपाठ

दि० जैन मन्दिर बडौतके एक गुटकेमे खुशालचन्दजीकी चौबीस स्तुतियाँ संकलित है। इस गुटकेका लेखनकाल सं० १८३२ है। पूरा गुटका उनकी स्तुतियोंसे ही पूर्ण हुआ है। प्रत्येक स्तुतिके अन्तमें अपने नामके लिए केवल 'चन्द' का प्रयोग किया गया है।

आराध्यकी सर्वोत्तम और अपनेको लघुतम मानना भक्तिको प्रथम विशेषता है। कही तो भक्त कहता है कि हमारे आराध्यको सुर, नर, शेष सदैव सेवा करते है, भ्रमरके समान उनके चरण-कमलकी ओर दिन-रात लगे रहते है, कहीं कहता है कि भगवान्की भक्तिरूपी नौकापर चढकर प्रत्येक जीव भवसागरके पार हो जाता है। यह सच है कि भगवान्के समान कोई शिवनायक और सुखधाम नही है। वे अविनाशी पद प्रदान करते है। यह जानकर ही भक्त उनकी शरणमे जाता है। उसे पूरा विश्वास है कि वे ससार दु खसे दूर कर देंगे। ऐसे महिमावान् प्रभुमे उसका प्रेम हो गया है। वह भव-भवमे उनकी सेवाका अधिकार चाहता है।

"सुर नर सेस सेवा करै जी, चरन कमल की वोर।
भवर समान लग्यौ रहै जी निसि वासर अरु भोर॥
जे जम गावै भाव सौ करत आपणो काज।
भवसागर को पार ह्वै जी, चढ़ी तुम नाव जिहाज॥
तुम सम अवरज को नहीं प्रभू सिवनायक सुषधाम।
अविनासी पद देत हो प्रभू फिर नहीं जग सौं काम॥
दाता लषि मैं जाचियो जी कीजे मोहि हू पार।
भव दुष सौ न्यारौ रहो प्रभू राषो सरण आधार॥
चंद करै या बिनती जी सुणिज्यौं त्रिभुवनराई।
जन्म जन्म पाऊं सही प्रभु तुम सेवा अधिकार॥[1]"

८६. भूधरदास (वि० सं० १७८१)

भूधरदासकी रचनाओंसे केवल इतना ही पता चलता है कि वे आगराके रहनेवाले थे और खण्डेलवाल जातिमे उत्पन्न हुए थे।[2] पण्डित दौलतरामजीने उन्हें

१. गुटका नं० ४७, दि० जैन पचायती मन्दिर, बडौत, सम्भवनाथजीकी बीनती।

२. आगरे मे बालबुद्धि भूधर खंडेलवाल,
बालक के ख्याल सों कवित्त करि जाने हैं।
भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ६३वें पद्यकी प्रथम दो पंक्तियाँ।

'भूधरमल' के नामसे सम्बोधित किया है, और लिखा है कि वे आगरेमें स्याहगंजमें रहते थे। स्याहगंजके मन्दिरमें ही उनका प्रतिदिन शास्त्र-प्रवचन हुआ करता था। भूधरदास कवि थे और पण्डित भी। अध्यात्म-चर्चामें उन्हें विशेष रस आता था।[1] भूधरदास आगरेकी उसी अध्यात्म-परम्परामें-से थे, जो महाकवि बनारसीदाससे प्रारम्भ हुई थी।

भूधरदासका साहित्यिक-काल निश्चयरूपसे अठारहवी शताब्दीका अन्तिम पाद था, जैसा कि 'जैनशतक' और 'पार्श्वपुराण' के रचना-सवत्से प्रकट है।

भूधरदासने विपुल साहित्यका निर्माण किया, और वह सभी सरस तथा मनोरम है। उनकी रचनाओंमे विस्तार है, तो ठोसपन भी। प्रसाद उनका सबसे बडा गुण है। सरलता और प्रवाह किसी भी शैलीको सुचारु बना देते है, फिर भूधरदासकी अभिव्यक्तिमें तो स्वाभाविकता भी है। काव्यकी दृष्टिसे उनके साहित्यको दो भागोंमे विभक्त किया जा सकता है,, एक तो मुक्तक काव्य और दूसरा महाकाव्य। मुक्तककाव्यमे उनके द्वारा रचित 'भूधरविलास', 'पदसंग्रह', 'जखडी', 'विनतियाँ', 'बारह भावनाएँ', बाईस परीषह और स्तोत्र शामिल है। महाकाव्यके रूपमे उन्होने 'पार्श्वपुराण'का निर्माण किया। यह उच्च कोटिकी कृति है। मध्यकालीन हिन्दीमे उसका प्रतिष्ठित स्थान है। उसमे भगवान् पार्श्वनाथकी भक्तिका स्वर ही प्रमुख है। मुक्तक रचनाओंमे भक्ति है, तो अध्यात्म भी। 'जैन दर्शन' की भाँति 'जैन साहित्य'मे भक्ति और अध्यात्म नितान्त पृथक् दो पहलू नही है। अधिकाशतया दोनों समन्वित होकर ही चले है। भूधरदासकी रचनाओंमे भी ऐसा ही है।

जैन-शतक[2]

इसकी रचना वि० सं० १७८१ पौष कृष्णा त्रयोदशी रविवारके दिन पूर्ण हुई थी।[3] इसकी रचनेकी प्रेरणा धर्मानुरागी शाह हरीसिंहसे मिली थी। इसमे

१. अनेकान्त वर्ष १०, किरण १, पृष्ठ ६, १०।

२ इसका प्रकाशन 'जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई' और 'जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, 'कलकत्ता' से हो चुका है।

३. सतरहसै इक्यासिया, पौह पाख तम लीन।
   तिथि तेरस रविवार को शतक समापत कीन ॥
   जैनशतक, कलकत्ता, अन्तिम दोहा, पृ० ३२।

४. हरीसिंह साह के सुवंश धर्मरागी नर,
   तिनके कहे सों जोरि कीनी एक ठानै है।

१०७ कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय हैं। इस छोटे-से काव्यके प्रारम्भमें अर्हन्त, सिद्ध, जिनवाणी और साधुओंकी स्तुतियाँ हैं, मध्यमें असार संसारसे विमुख होनेकी बात और अन्तमें कुछ आध्यात्मिक उपदेश तथा जैनत्वकी महिमाका वर्णन है।

यह संसार असार है। इसमें जन्म और मृत्युका चक्कर चला ही करता है। एक ही समयमें कहीं तो जन्मकी बधाइयाँ बजती हैं, और कहींपर पुत्र-वियोगसे हाहाकार मचता है। किन्तु सब कुछ जानते हुए भी यह मूढ़ नर चेतता नहीं, और करोड़ोंकी एक-एक घड़ीको व्यर्थ करता ही जाता है,

"काहू घर पुत्र जायौ काहू के वियोग आयौ,
काहू रागरंग काहू रोआरोई करी है।
जहाँ भानु ऊगत उछाह गीत गान देखे,
साँझ समै ताही थान हाय हाय परी है॥
ऐसी जग रीति की न देखि भयभीत होय,
हा हा नर मूढ़ तेरी मति कौनैं हरी है।
मनुष जनम पाय सोवत विहाय जाय,
खोवत करोरन की एक एक घरी है॥२१॥"

सांसारिक प्राणी चाहता है कि किसी प्रकार सम्पत्ति मिल जाये, तो हृदयकी सभी मनोनीत अभिलाषाएँ उपशम हो जायें। फिर तो एक प्रासाद बन जायेगा, पत्नीको गहना गढ़ जायेगा, और सुता-सुतका ब्याह कर 'बैना' भी बाँट लूँगा, किन्तु अचानक जम आ जाता है और शतरंजकी बाजी रुपीकी रुपी ही रह जाती है,

"चाहत है धन होय किसी विध,
तौ सब काज सरैं जियरा जी।
गेह चिनाय करूं गहना कछु,
ब्याहि सुतासुत बाँटिये भांजी॥
चिंतत यौं दिन जाहिं चले,
जम आनि अचानक देत दगा जी।
खेलत खेल खिलारि गये,
रहि जाय रुपी शतरंज की बाजी॥३२॥"

फिर फिर प्रेरे मेरे आलस का अन्त भयो,
उनकी सहाय यह मेरो मन माने है॥
जैन शतक कलकत्ता, पृ० ३२।

भगवान् सिद्धने ध्यानरूपी अग्निमे कर्मरूपी शत्रुओको झोककर जला डाला है। उन्होंने दिव्य ज्ञानकी किरणोसे संसारके जीवोका शोकरूपी अन्धकार नष्ट कर दिया है। वह भगवान् सिद्धलोकमे बसते है। भक्त उनके चरणोकी त्रिकाल धूलि लेते हुए अपनेको गौरवान्वित मानता है।

"ध्यान हुताशन में अरि ईंधन झोंक दियौ रिपु रोक निवारी।
शोक हर्यो भविलोकन कौ वर, केवल ज्ञान मयूख उधारी॥
लोक अलोक विलोक भये शिव, जन्म जरामृत पंक पखारी।
सिद्धन थोक बसै शिवलोक, तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी॥११॥"

भगवान् नेमिनाथकी स्तुति करते हुए भक्त कहता है कि हे भगवन्! जिस तरह आपने उग्रसेन कुमारीके जन्मकादि दुःखोको नष्ट कर दिया, ठीक वैसे ही मुझे भी इस संसार-जालसे मुक्त कर दो। भक्तको भगवान्की इस शक्तिमे विश्वास है,

"शोभित प्रियंग अंग देखें दुख होय भग,
लाजत अनग जैसे दीप भानु भासतैं।
बाल ब्रह्मचारी उग्रसेन की कुमारी
जादौंनाथ तैं निकारी जन्मकादौं दुखरास तैं॥
भीम भवकानन में आन न सहाय स्वामी,
अहो नेमि नामी तकि आयौ तुम तास तैं।
जैसे कृपाकन्द बन जीवन की बन्दि छोरि,
त्यों हो दास को खलास कीजै भवपास तें॥७॥"

भक्तका विश्वास सच्चे देवमे है। जिस किसीमे भी सच्चे देवके लक्षण हो, भक्त उसकी वन्दना करनेको तैयार है। ऐसी उदारता बहुत कम भक्तोमे देखी गयी है। प्राय. भक्त ऐसे रहे है जो सचाईको नही किन्तु देव-विशेषके उपासक होनेमे ही अपना अहोभाग्य समझते है। भूधरदास उन अन्य भक्तोमे नही है। आचार्य समन्तभद्रकी भाँति उनकी भी एक कसौटी है, जिसपर खरा उतरनेवाला ही उनका आराध्य हो सकता है। देखिए,

"जो जगवस्तु समस्त, हस्त तल जेमनिहारै।
जगजन को ससार, सिंधु के पार उतारै॥
आदि-अन्त अविरोधि, वचन सबको सुखदानी।
गुन अनन्त जिहमाहिं, रोग की नाहिं निशानी॥
माधव महेश ब्रह्मा किधौं, वर्धमान कै बुद्ध यह।
ये चिन्ह जान जाके चरन, नमो नमो मुझ देव वह॥४६॥"

भूधर विलास

भूधरदासकी छोटी-बडी रचनाओंका संग्रह है। इसकी एक प्रति जयपुरके ठोलियोंके मन्दिरमें वेष्टन नं० १३२ मे निबद्ध है। उसमे ११९ पन्ने हैं। एक भूधर-विलासकी सूचना काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिकाके हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थोंके चौदहवें त्रैवार्षिक विवरणमे अंकित है।[1] इस विवरणके सम्पादक डॉ० पीताम्बरदत्त बड्थ्वाल थे। यह प्रति ग्राम–मोहना, डा०–इटौजा, जि०–लखनऊ के रहनेवाले लाला रिखबदास जैनके पास देखनेको मिली थी। डॉ० बड्थ्वालने सम्पादकीय टिप्पणीमें लिखा है, "भूधरदासजीकी इन रचनाओंमे कुछ तो स्वतन्त्र है और कुछ अनुवाद है। भाषामे यद्यपि कविका लक्ष्य व्रजभाषाकी ओर झुका हुआ है फिर भी उन्होंने कही-कही स्वतन्त्रतासे खडीबोलीका भी प्रयोग किया है। थोडा-सा प्रयोग गुजरातीका भी है।[2]" 'भूधर-विलास' जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्तामे प्रकाशित हो चुका है। इसमे ५३ पद्य है।

भूधरदासका विश्वास है कि यदि भवसागरको पार करना चाहते हो तो भक्तिरूपी जहाज सजाओ, "भूधर जो भवसागर तिरना, भक्ति जहाज सजो ॥" वे भगवान्के नाममे असीम बल मानते हैं। यदि किसीने भजन-सुधारससे अपनी रसनाको नहीं धोया, तो वह व्यर्थ है।

> "भजन सुधारस सौं नहिं धोई, सो रसना किस काम की ॥
> जपि माला जिनवर नाम की ॥३९॥"

भक्तने भगवान् अजितनाथसे प्रार्थना की कि हे भगवन् ! तुम कल्पवृक्षके समान हो, मेरी मनोकामना पूरी करो। मुझे हाथी-घोडा नहीं चाहिए, मेरे हृदय-मे तो आप तबतक बसो, जबतक मुझे मोक्ष न मिल जाये।

> "तुम त्रिभुवन में कलप तरुवर, आस भरो भगवान जी ॥
> ना हम माँगे हाथी घोड़ा, ना कछु संपति आन जी।
> भूधर के उर बसो जगत गुरु, जब लौं पद निरवान जी ॥३६॥"

पदसंग्रह

भूधरदासका 'पदसंग्रह' बहुत पहले ही प्रकाशित हो चुका है। एक 'पदसंग्रह' जयपुरके पण्डित लूणकरजीके मन्दिरमे गुटका नं० १२९ और वेष्टन नं० ३३३ मे निबद्ध है। वैसे तो भारतके विभिन्न जैन भण्डारोके विविध गुटकोमे भूधरदासके पद

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका "खोजमें उपलब्ध, हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थोंका चौदहवाँ त्रैवार्षिक विवरण, १९२९-३१" परिशिष्ट १।

२. वही।

बिखरे हुए है। प्रकाशित 'पदसग्रह'[1] मे ८०पद और विनती आदि है । उनका विषय जिनेन्द्र, जिनवाणी और गुरुकी भक्तिसे सम्बन्धित है। अनेक पद आध्यात्मिक भावों-के द्योतक भी है । मनको चेतावनी देते हुए लिखनेके पीछे जैनोकी अपनी परम्परा है । भूधरदासकी इस शैलीपर कबीरका प्रभाव स्वीकार नही किया जा सकता ।

यह जीव संसारके सुख और वैभवोंमें सराबोर होकर भगवान्‌का नाम लेना भी भूल जाता है । दुःखोंमें तो सभी भगवान्‌की शरणमें जाते हैं, किन्तु सुखमें जो भगवान्‌की भक्ति करे वही सच्चा भक्त है । यहाँ भक्त कवि संसारकी असारताको बतलाता हुआ जीवको भगवान्‌के भजनकी ओर प्रेरित कर रहा है,

"भगवन्त भजन क्यों भूला रे ?
यह संसार रैन का सुपना, तन धन वारि-बबूला रे ।
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ?
इस जोबन का कौन भरोसा, पावक में तृण-तूला रे ।
काल कुठार लिये सिर ठाड़ा, क्या समझै मन फूला रे ॥
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ? ॥
स्वारथ साधै पांच पांव तू, परमारथ कौं लूरा रे ।
कहुं कैसे सुख पैये प्राणी, काम करै दुख मूला रे ॥
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ? ॥
मोह पिशाच छल्यो मति मारे, निज कर कंध वसूला रे ।
भज श्री राजमतीवर भूधर दो दुरमति सिर धूला रे ॥
भगवन्त भजन क्यों भूला रे ? ॥"

न जाने कब मौत आ जाये, इसलिए भगवान् जिनेन्द्रके चरणोंको तो कभी विस्मरण करना नही चाहिए। उनके दर्शन-मात्रसे ही दुःख भाग जाते हैं और पूजा-से तो बडे-बडे पाप भी नष्ट हो जाते है । भगवान्‌के चरणोंका एकचित्त हो ध्यान करनेसे मनोकामनाएँ पूरी हो जाती है, मंगल सघटित हो उठते है और पाप टल जाते है । मस्तकके झुकाते ही मोहरूपी धूल भी झड जाती है । भक्त कवि भूधर-दासका कथन है कि जबतक कफ कण्ठमे आकर नहीं अड जाता, तबतक भगवान्‌को भज ले । घरमे अग्निके प्रविष्ट हो जानेसे कूप खोदना चातुर्य नही है,

"जिनराज चरन मन, मति बिसरै ।
को जाने किहिं बार काल की, धार अचानक आनि परै ॥

१. यह पदसंग्रह 'जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता' से प्रकाशित हुआ था ।

देखत दुख भजि जाहिं दशौं दिश, पूजत पातक-पुंज गिरै।
इस संसार-सार-सागर सौं और न कोई पार करै ॥
इक चित ध्यावत वांछित पावत, आवत मंगल विघन टरै।
मोहनि धूल परी माथे चिर, सिर नावत तत्काल झरै ॥
तबलौं भजन सँवार सयानै, जबलौं कफ नहिं कंठ अरै।
अगनि प्रवेश भयौ घर 'भूधर' खोदत कूप न काज सरै ॥"

परमार्थ जखड़ी

जैनोंमे जखडियां लिखनेकी परम्परा बहुत पुरानी है। हर्षकीर्ति, रूपचन्द, दौलतराम, रामकृष्ण और जिनदास आदि सभीने जखडियाँ लिखी हैं। भूधरदासकी इस जखडीमें केवल पाँच पद्य है। पं० पन्नालाल बाकलीवाल-द्वारा सम्पादित 'जिनवाणीसंग्रह' मे इसका प्रकाशन हो चुका है।[1]

मनको सीख देते हुए कवि कह रहा है कि ओ मेरे मन! तुझे इस संसारमे थोडे ही दिन तो जीवित रहना है, इसलिए तू भगवान् जिनेन्द्रके चरणोंसे प्रेम कर। जिनेन्द्र-भक्तिके बिना करोड बरसों तक जीवित रहना भी व्यर्थ है। जब तूने नर-पर्याय प्राप्त की है तो ज्ञानी गुरुकी बात समझकर भगवान् 'जिन' की भक्ति कर,

"अब मन मेरे बे, सुन सुन सीख सयानी।
जिनवर चरना बे, कर कर प्रीति सुज्ञानी ॥
कर प्रीति सुज्ञानी शिवसुख दानी, धन जीतब है पंच दिना।
कोटि बरस जीवौ किस लेखे, जिन चरणाम्बुज भक्ति बिना ॥
नर परजाय पाय अति उत्तम गृह बसि यह लाहा लेरे।
समझ समझ बोलें गुरु ज्ञानी, सीख सयानी मन मेरे ॥१॥"

गुरु-स्तुति

भूधरदासने दो गुरु स्तुतियोंकी रचना की थी, और दोनों ही 'जिनवाणी संग्रह' मे प्रकाशित हो चुकी हैं।[2] जैनोंमे देव, शास्त्र और गुरुकी पूजा बहुत पुराने समयसे चली आ रही है। गुरुके बिना न तो भक्तिकी ही प्रेरणा मिलती है और न ज्ञान ही प्राप्त होता है। इसीलिए एक ओर तो ज्ञानियोंमें गुरुकी महिमा है, तो दूसरी ओर भक्त भी गुरुके बिना नहीं चल पाता।

यहाँ भूधरदासजी कर्म-शृंखलाओंको काटना चाहते है, किन्तु उनको पूरा

१. बृहज्जिनवाणी संग्रह, किशनगढ़, सम्राट् संस्करण, पृ० ६०४,६०५।
२. बृहज्जिनवाणी संग्रह, किशनगढ़, सम्राट् संस्करण, सितम्बर १९५६, पृ० १२८-१५१।

विश्वास है कि गुरुके अनुग्रहके बिना वे कट नहीं सकतीं। गुरु एक उस राजवैद्यकी भाँति है, जो भ्रमरूपी रोगको तो तुरन्त ही ठीक कर देता है। उनका गुरु केवल 'परोपदेशे पाण्डित्यं' वाला गुरु नहीं है, अपितु वह स्वयं भी इस संसारसे तरता है और दूसरोंको भी तारता है। देखिए,

"बंदौ दिगम्बर गुरु चरन जग, तारन तरन जान।
जे भरम भारी रोग को हैं, राजवैद्य महान॥
जिनके अनुग्रह बिना कभी, नहिं कटै कर्म जजीर।
ते साधु मेरे उर बसहु, मम हरहु पातक पीर॥"

जैन गुरु तपस्वी होता है। वे जेठकी तपती दोपहरियोंमें, जलते पर्वतोंकी उत्तुंग शृंगपर, पावसकी भयावह रातोंमें, टप्-टप् करते वृक्षोंके नीचे, और शीत-कालमें तुषारावृत नदी और सरोवरोंके तटपर ध्यान धारण कर बैठते है। भूधरदास ऐसे गुरुको अपने मनमें स्थापित कर, अपनेको गौरवान्वित मानते है,[२]

"जेठ तपै रवि आकरो, सूखै सरवर-नीर।
शैल-शिखर मुनि तप तपैं, दाझैं नगन शरीर॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥
पावस रैन डरावनी, बरसै जलधर धार।
तरुतल निवसैं साहसी, बाजै झञ्झाबार॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥
शीत पड़ै कपि-मद गलै, दाहै सब बन राय।
ताल तरंगिनि के तटै, ठाड़े ध्यान लगाय॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥
यह विधि दुद्धर तप तपैं, तीनों काल मझार।
लागे सहज सरूप मैं, तनसों ममत निवार॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥"

भूधरदासका गुरु वह ही है, जिसने इन्द्रियोंको वशमें किया हो और सुख तथा वैभवोंको लात मार दी हो। जो पहले रंगमहलोंकी कोमल शय्याओंपर पौढ़ता था, और अब रातके पिछले पहरमें थोड़ा-सा शरीरको सकोच कर, भूमि-पर सो लेता है। पहले जो चतुरंगिणी सेना सजाकर हाथीपर चलता था, अब जमीनको देख-देखकर चलता है। ऐसे गुरुओंके चरण जहाँ पड़ते है, वह स्थान

१. वही, पहली गुरु स्तुति, पृ० १४८।
२. वही, दूसरी गुरुस्तुति, पृष्ठ १५०।

तीर्थक्षेत्र बन जाता है। उस धूलको मस्तकपर चढाते हुए भूधरदास अत्यधिक गौरवान्वित हैं,[1]

> "रंग-महल में पौढ़ते, कोमल सेज बिछाय।
> ते पच्छिमनिशि भूमि में, सोवैं संवरि काय॥
> ते गुरु मेरे मन बसो॥
> गज चढ़ि चलते गरब सों, सेना सजि चतुरंग।
> निरखि निरखि पग वे धरैं, पालैं करुणा अंग॥
> ते गुरु मेरे मन बसो॥
> वे गुरु चरण जहाँ धरैं, जग में तीरथ जेह।
> सो रज मम मस्तक चढ़ौ, 'भूधर' मांगे येह॥
> ते गुरु मेरे मन बसो॥"

बारह-भावना

यह अनेकों बार प्रकाशित हो चुकी है। अभी-अभी 'ज्ञानपीठ पूजांजलि'मे भी इसका प्रकाशन हुआ है।[2] इसमे सांसारिक जीवनकी असारताको सरसताके साथ कहा गया है। इस संसारमे राजा और रंक सबको मरना है। मरते समय कोई रोक नही सकता, बडीसे बडी ताकत भी नही। यह जीव संसारमें जब तक रहा, दुखी रहा, चाहे उसके पास धन था या नहीं,

> "राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
> मरना सबको एक दिन, अपनी अपनी बार॥
> दल बल देई देवता, मात-पिता परिवार।
> मरती बिरियां जीव को, कोई न राखन हार॥
> दाम बिना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान।
> कहुं न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥
> आप अकेलो अवतरै, मरै अकेलो होय।
> यूं कबहूं इस जीव को, साथी सगा न कोय॥"

जिनेन्द्र-स्तुति

भूधरदासके द्वारा निर्मित तीन जिनेन्द्र-स्तुतियोका प्रकाशन 'जिनवाणी संग्रह'मे ही हुआ है।[3] जिनमे-से 'अहो जगत गुरु एक'वाली सरस स्तुति उचित संशोधनके

---

१. वही, दूसरी गुरुस्तुति, पृष्ठ १५१।

२. ज्ञानपीठ पूजांजलि, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, १९५७ ई०, खण्ड ६, पृ० ५२८-५२९।

३. बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ० १३२-३४, ५२८-३०, ५३०-३१।

साथ 'ज्ञानपीठ पूजांजलि'में भी छपी है।[1]

संसारमें दुष्ट कर्मोंके ही कारण इस जीवको विविध दुःख मिलते हैं। कर्म एक बहुत बड़े दुश्मनके समान है। उससे छुटकारा पानेके लिए दुखिया भक्त दीनदयालु प्रभुसे प्रार्थना कर रहा है,[2]

"अहो जगत गुरु एक, सुनिए अरज हमारी।
तुम प्रभु दीनदयाल, मैं दुखिया संसारी॥
इस भव-वनके माहिं, काल अनादि गमायो।
भ्रम्यो चहुंगति माहिं, सुख नहिं दुख बहु पायो॥
कर्म महारिपु जोर, एक न कान करैं जी।
मन माने दुख देहिं, काहू सों न डरैं जी॥"

पाप और पुण्यने मिलकर पैरोंमें बेड़ी डाल दी है, और तनरूपी कारागृहमें बहुत अधिक दुःख दिया है। हे जगवन्द्य! मैंने इनका कुछ नहीं बिगाड़ा था, ये तो अकारण ही बैरी बन गये है। अब मैं आपके सुयशको सुनकर आपकी शरणमें आया हूँ। हे नीति-निपुण जगराय! हमारा न्याय कर दीजिए।[3]

"पाप पुण्य मिलि दोय, पायनि बेड़ी डारी।
तन कारागृह माहिं, मोहि दियो दुख भारी॥
इनको नेक बिगार, मैं कछु नाहिं कियो जी।
बिन कारन जगवन्द्य, बहुविध बैर लियो जी॥
अब आयो तुम पास, सुन जिन सुजस तिहारो।
नीति-निपुन जगराय, कीजै न्याव हमारो॥"

भूधरकी भक्तिमें स्वामि-सेवक भाव ही प्रधान है। फिर भी उनका सेवक गुलामकी घिनौनी अवस्था तक नहीं पहुँचा है। आप कहींपर भी उसे घिघियाते नहीं देखेंगे। उसने सुना कि भगवान् पतितोंका उद्धार करनेवाले हैं और वह भी अपने दुःखोंको लेकर उनके पास पहुँच गया,

"जै जगपूज परम गुरु नामी, पतित उधारन अन्तरजामी।
दास दुखी तुम अति उपगारी, सुनिए प्रभु! अरदास हमारी॥१॥"[4]

भव-भवमें आत्मा उज्ज्वल बने और समाधिमरणपूर्वक अन्त हो। ऐसा मोक्ष-प्राप्ति तक होता रहे। यह सब कुछ भगवान्की भक्तिसे ही सम्भव है, और भगवान्

१. ज्ञानपीठ पूजांजलि, खण्ड ६, पृष्ठ ५२२-५२३।
२. वही, पृष्ठ ५२२।
३. वही, पृष्ठ ५२३।
४. बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृष्ठ १३२।

को भक्ति भी भगवान्‌की कृपासे ही मिल सकती है। देखिए,

> "भव भव अनुभव आतमकेरा; होहु समाधिमरण नित मेरा।
> जबलौं जनम जगत मैं लाधौं, काल लब्धि बल लहि शिव साधौं॥
> तबलौं ये प्रापति मुझ हूजौ, भक्ति प्रताप मनोरथ पूजौ।
> प्रभु सब समरथ हम यह लोरैं, भूधर अरज करत कर जोरैं॥"[1]

पार्श्वनाथ स्तुति

इसमें भगवान् पार्श्वनाथकी महिमाका वर्णन है। इसका प्रकाशन 'जिनवाणी संग्रह'मे हो चुका है।[2] कविने लिखा है, भगवान् पार्श्वनाथका नाम सुधारसके समान शीतलता और शान्ति प्रदान करनेवाला है। उसकी पूरी महिमा गानेमें शक्र भी समर्थ नही है, फिर मैं तो उपहासास्पद ही लगूँगा। अब तो यह ही प्रार्थना है कि जबतक मैं मोक्ष प्राप्त करूँ, तबतक प्रत्येक जन्ममे आप स्वामी और मैं सेवक रहूँ,

> "पारस प्रभु को नाऊँ, सार सुधारस जगत मैं।
> मैं वाको बलि जाऊँ, अजर अमर पद मूल यह॥ १॥
> यौं अगम महिमा सिंधु साहब, शक्र पार न पावहीं।
> तजि हासमय तुम दास भूधर भगतिवश यश गावहीं॥
> अब होउ भव-भव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहौं।
> कर जोरि यह वरदान मागौं, मोखपद जावत लहौं॥ १०॥"

पार्श्वनाथ स्तोत्र

यह स्तोत्र भी उपर्युक्त 'जिनवाणी संग्रह'में ही छप चुका है।[3] इसमें कुल २२ पद्य हैं। दोहा-चौपाईका प्रयोग किया गया है। स्तुतिको अपेक्षा यह स्तोत्र अधिक सरस और जीवन्त है।

भगवान् पार्श्वनाथके यशका वर्णन जब चार ज्ञानके धारक मुनि भी नहीं कर पाते, तो एक साधारण भक्तकी क्या सामर्थ्य है, जो उसका कीर्तन कर सके। किन्तु भगवान्‌की भक्तिसे प्रेरित होकर उससे जो कुछ करते बनता है, वह करता ही है। इस भाँति भक्तकी लघुताका यह चित्र अतीव सुहावना है,

> "प्रभु इस जग समरथ ना कोय। जासों तुम यश वर्णन होय॥
> चार ज्ञान धारी मुनि थकैं। हम से मंद कहा कर सकैं॥

---

१. वही, पृष्ठ १३३-३४।
२. वही, पृष्ठ १३५-३७।
३. वही, पृष्ठ २६१-६४।

यह उर जानत निश्चय होन । जिन महिमा वर्णन हम कौन ॥
पर तुम भक्ति थकी बाचाल । तिस वश होय कहूँ गुणमाल ॥"

मिथ्या-मतका वृक्ष लगा हुआ है, उसपर जन्म और मरणके फूल लगे हैं। वह दु.ख रूप फलोंको देनेवाला वृक्ष सिवा भक्तिरूपी कुठारके और किसीसे नहीं कट सकता,

"जन्म जरा मिथ्यामत मूल । जन्म मरण लागे तहँ फूल ॥
सो कबहूँ बिन भक्ति कुठार । कटै नहीं दुख फल दातार ॥ १३ ॥"

एकीभाव स्तोत्र[1]

यह वादिराज मुनिके 'एकीभाव स्तोत्र'का भाषानुवाद है। किन्तु इतना सफल अनुवाद है कि मूलका रस कहीपर भी विशृंखल नहीं हो पाया है।

भगवान्‌की भक्तिरूपी गंगामे जो स्नान कर लेता है, वह फिर कभी अपवित्र नहीं हो पाता। यह गंगा स्याद्वादरूपी पर्वतसे निकलकर मोक्षरूपी समुद्रमे गिरती है,

"स्याद्वाद गिरि उपजे मोक्ष सागर लौं धाई ।
तुम चरणाम्बुज परस भक्ति गंगा सुखदाई ।
मोचित निर्मल थयो न्होन रुचि पूरव तामैं ।
अब वह हो न मलीन कौन जिन संशय यामैं ॥ १६ ॥"

तत्त्वविद्या धनके धारी गुरु गणेशजी कहते है कि हे जिन ! तुम ज्योतिस्वरूप हो और दुरितरूपी अन्धकार निवारण करनेवाले हो। जबतक तुम मेरे चित्तरूपी घरमें बसोगे, तबतक पापरूपी अन्धकारको रहनेका अवकाश ही नहीं मिल सकता,

"तुम जिन जोति स्वरूप दुरित अँधियारि निवारी ।
सो गणेश गुरु कहैं तत्त्व विद्या धन धारी ॥
मेरे चितघर माहिं बसौ तेजोमय यावत ।
पाप तिमिर अवकाश तहां सो क्यो करि पावत ॥ २ ॥"

पार्श्वपुराण

इस महाकाव्यकी रचना वि० सं० १७८९ आषाढ सुदी ५ को हुई थी।[2]

---

१. स्तोत्रका प्रकाशन जिनवाणी संग्रहमें हुआ है। इसमें कुल २७ पद्य है। जिनवाणी संग्रह, पृष्ठ २४६-५२।

२. संवत् सतरह सै समय, और नवासी लीय।
सुदि असाढ़ तिथि पंचमी, ग्रन्थ समापत कीय ॥
पार्श्वपुराण, ११६वाँ पद्य, पृष्ठ ६१।

इसका प्रकाशन बहुत पहले 'जिनवाणी प्रचारक कार्यालय कलकत्ता' से हुआ था। यह एक मौलिक कृति है, अर्थात् किसी संस्कृत रचनाका अनुवाद नहीं है। जैन-परम्परामें चरित ग्रन्थ लिखनेके लिए कुछ ऐसी निश्चित बातें हैं, जो प्रत्येक रचनामें पायी जायेंगी, और वह इसमें भी है। पूर्व भवोंका वर्णन, नगरियों और प्राकृतिक शोभाका उल्लेख, माँके सोलह स्वप्न, और पंचकल्याणोंका भक्ति-प्रवाह प्रत्येक कृतिमें मिलेगा। शैली-गत भिन्नता ही नवीनता कही जा सकती है। भूधरदासकी शैली प्रसादगुणयुक्त है, और भाषा कोमलकान्त पदावली-से समन्वित।

'पार्श्वपुराण' एक महाकाव्य है। इसमें ९ अधिकार हैं। भगवान् पार्श्वनाथ-की जन्मसे ही नहीं, किन्तु पूर्व भवोंसे लेकर निर्वाण पर्यन्तकी कथा है। प्रथम अधिकारसे अन्तिम सर्ग तककी कथामें एक सम्बन्धनिर्वाह है। अवान्तर कथाएँ मुख्य कथानककी पुष्टि और अभिवृद्धि करती ही हैं। नायक क्षत्रिय राजकुमार और तीर्थंकर हैं। शान्तरसकी प्रधानता है, वैसे अन्य रसोंका भी समावेश हुआ है। सभी अधिकारोंमें दोहा-चौपाईका बहुत अधिक प्रयोग हैं, कहीं-कहीं सोरठा और छप्पय भी आये हैं। विविध प्राकृत दृश्योंका वर्णन है। प्रारम्भ और अन्तमें मंगलाचरण भी है। काव्यका नामकरण नायकके नामपर हुआ है। इस भाँति महाकाव्यके सभी लक्षण इसमें वर्तमान हैं।[1]

प्रारम्भमें ही भगवान् पार्श्वनाथकी स्तुति की गयी है। कविका अटल विश्वास है कि उनकी वन्दना करनेसे, अनादिकालसे बँधे हुए कर्म छूट जायेंगे,

> "बाघ सिंह वश होंहिं, विषम विषधर नहिं डंकैं।
> भूत प्रेत बैताल, व्याल बैरी मन शंकैं॥
> शाकिनि डाकिनि अगनि, चोर नहिं भय उपजावैं।
> रोग सोग सब जाहिं, विपत नेरं नहिं आवैं॥
> श्री पार्श्वदेव के पद कमल, हिये धरत निज एक मन।
> छूटैं अनादि बंधन बधे, कौन कथा विनशैं विघन॥ ५॥"[2]

महाराजा आनन्दने मुनिवर विपुलमतीसे पूछा कि "प्रतिमा धातु पखान की, प्रगट अचेतन अंग। पूजक जन को पुण्य फल, क्यों कर देय अभंग॥ तुम जग में

१. महाकाव्यके इन लक्षणोंके लिए आचार्य विश्वनाथका साहित्यदर्पण, छठा परिच्छेद, पद्य ३१५-२४ देखिए।

२. पार्श्वपुराण, पृष्ठ १।

संशय तिमिर, दूर करन रवि रूप। यह मुझ भरम मिटाइए, करै वीनती भूप ॥"[1]
अर्थात् भगवान् जिनेन्द्रकी अचेतन प्रतिमा पूजक जनको पुण्य फल कैसे प्रदान करती है ? मुनिने जो उत्तर दिया, वह इस प्रकार है,

'जैसे चिन्तामणि रतन, मनवांछित दातार।
तथा अचेतन बिम्ब यह, वांछा पूरन हार ॥
ज्यों याचत सुख कल्पतरु, दानी जन को देय।
त्यों अचेत यह देत है, पूजक को सुख श्रेय ॥
मणि मन्त्रादिक औषधी, हैं प्रतच्छ जड़ रूप।
विष रोगादिक को हरै, त्यों यह अवहर भूप ॥"[2]

तपस्वी पार्श्वनाथपर कमठके जीवने बहुत बड़ा उपसर्ग किया। पार्श्वने उसे हँसते-हँसते झेल लिया। उसीका एक चित्र यहाँ उपस्थित किया गया है। यदि चित्राकन उत्तम काव्यकी कसौटी है तो यह पद्य भी उत्तम काव्यका ही निदर्शन माना जायेगा,

"किलकिलंत बैताल, काल कज्जल छवि सज्जहिं।
भौं कराल विकराल, भाल मदगज जिमि गज्जहिं ॥
मुंडमाल गल धरहिं लाल लोयननि डरहिं जन।
मुख फुलिंग फुंकरहिं करहिं निर्दय धुनि हन हन ॥
इहि विधि अनेक दुर्वेष धरि, कमठ जीव उपसर्ग किय।
तिहुं लोक बंद जिनचन्द्र प्रति, धूलि डाल निज सीस लिय ॥"[3]

भगवान् पार्श्व प्रभुको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इन्द्र देवताओंके साथ भगवान्के समवशरणमें आया। भगवान्की पूजा की और सिर झुकाकर स्तुति करने लगा, उसका अन्तिम पद्य है,

"जिस कारण करुणानिधि नाथ, प्रभु सनमुख जोरे हम हाथ।
जबलों निकट होय निरवान, जगनिवास छूटै दुख दान ॥
तबलों तुम चरनाम्बुज वास, हम उर होहु यही अरदास।
और न कछु वांछा भगवान, यह दयाल दीजे वरदान ॥"[4]

---

१. वही, पृष्ठ २६।
२. वही, पृष्ठ २७।
३. वही ८।२३, पृष्ठ ६५।
४. वही, आठवाँ अधिकार, पृ० ७३।

अन्य रचनाएँ

गज भावना और पंचमेरु पूजा, वे रचनाएँ है, जिनका कि अभी पता चला है। ये दोनों ठोलियोंके दिगम्बर जैन मन्दिरमें विराजमान ६४८वें 'पाठसंग्रह'मे निबद्ध हैं।[1] इसी 'पाठसंग्रह'में 'वज्रनाभि चक्रवर्तिकी वैराग्यभावना' नामकी रचना भी संकलित है। तीनों ही भूधरदासकी कृतियाँ हैं। इनमें-से 'वैराग्यभावना', 'जिनवाणी सग्रह'मे छप भी चुकी है।[2] बाईस परीषह भी भूधरदासकी कृति है। इसका पृथक् प्रकाशन 'जिनवाणी संग्रह'में पृष्ठ ७०६-१५ तक हो चुका है।

८७. निहालचन्द (वि० सं० १८वींका अन्तिम पद)

कविवर निहालचन्द पार्श्वचन्द्र गच्छके वाचक हरषचन्दके शिष्य थे। उनकी रचनाओंसे उनके पारिवारिक जीवनपर कोई प्रकाश नही पडता। इतना अवश्य विदित होता है कि उनके जीवनका अधिकाश समय बंगालमे कटा। उनकी मातृभाषा गुजराती थी, अत. यह स्पष्ट है कि वे गुजरातमें ही कहीं उत्पन्न हुए होंगे। उनकी पाँच रचनाओंमे-से तीन गुजरातीमे और दो हिन्दीमे हैं। इनका समय सवत् १८०० के आस-पास है। निहालचन्द एक उत्तम कोटिके कवि थे।

अभीतककी खोजोमे उनकी केवल पाँच रचनाओंका पता चला है . 'माणिक-देवीरास', 'जीवविचारभाषा', 'नवतत्त्वभाषा', 'बंगालकी गजल' और 'ब्रह्म-बावनी'। इनमे अन्तिम दो हिन्दीमे लिखी गयी थी।

ब्रह्मबावनी

कविवर निहालचन्दकी यह एक प्रसिद्ध रचना है। इसीके आधारपर उन्हें महाकवि कहा जा सकता है। इसकी रचना वि० सं० १८०१ कातिक सुदी ६ को

---

१. राजस्थानके जैन शास्त्रभण्डारोंकी ग्रन्थसूची, भाग ३, पृष्ठ ३११।

२. बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृष्ठ ५६१-६५।

३. पासचन्द गच्छ स्वच्छ वाचक हरषचन्द,

कीरते प्रसिद्ध जाकी साधु मन भावनी।

ताके चरणारविन्द पुन्यतें निहालचन्द,

कीन्हीं जिन मतितें पुनीत ब्रह्मबावनी॥

ब्रह्मबावनी, ५१वें पद्यकी अन्तिम पंक्तियाँ, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग ४, उदयपुर, १९५४, पृष्ठ ८८।

मुर्शिदाबादमें हुई थी।[1] इसकी एक प्रति बीकानेरके 'अभय जैन ग्रन्थालय'में मौजूद है। इसमें ५२ पद्य हैं। उसपर उपर्युक्त रचना-काल दिया हुआ है।[2] दूसरी प्रति 'जैन सिद्धान्तभवन आरा'के हस्तलिखित ग्रन्थोंमे मौजूद है। यह प्रति भी शुद्ध एवं पूर्ण है।[3] एक प्रति वह है, जिसका उल्लेख श्री मोहनलाल दुलीचन्दजी देसाईने किया है। इस प्रतिमे भी ५२ पद्य है। प्रति पूर्ण एवं शुद्ध है।[4]

इसमे जैन-परम्पराके अनुसार भगवान् सिद्ध, जो निराकार और अदृश्य है, की उपासना की गयी है। निराकार आत्माका वर्णन होनेके कारण उसमे अध्यात्म और वैराग्यका पुट अधिक है। निर्गुण-ब्रह्मकी भक्तिमें सन्त कवियोंकी रचनाएँ जैसे मधुरता-सिक्त हैं, वैसे ही इसमे भी आकर्षक ढंगसे भावोंको गूँथा गया है। ओंकार रूप भगवान् सिद्धकी भक्तिमे कहा गया एक पद्य देखिए,

"आदि ओंकार आप परमेसर परम जोति,
अगम अगोचर अलख रूप गायौ है।
ब्रह्मता में एक पै अनेक भेद परजो मैं,
जाको जसवास मत बहुंन मैं छायौ है।
त्रिगुन त्रिकाल भेव तीनो लोक तीन देव,
अष्ट सिद्धि नवों निद्धि दायक कहायौ है।
अक्षर कै रूप मैं स्वरूप भुअलोक हुंकौ,
ऐसो ओंकार हर्षचन्द्र मुनि ध्यायो है॥"[5]

ओंकार मन्त्रकी प्रशंसा करते हुए कविने लिखा है कि इसके बराबर दूसरा मन्त्र नहीं है। यह सिद्धोंको सिद्धि, सन्तोंको ऋद्धि, महन्तोंको महिमा, योगियोंको योग, देव और मुनियोंको मुक्ति, तथा भोगियोंको भुक्ति देता है। यह चिन्तामणि,

---

१. संवत् अठारे से अधिक एक काती मास,
पख उजियारे तिथि द्वितीया सुहावनी।
पुर मे प्रसिद्ध मखसुदाबाद बंग देस,
जहाँ जैन धर्म दया पतित को पावनी॥
ब्रह्मबावनी, ५१वें पद्यकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ।

२. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, चतुर्थ भाग, पृष्ठ ८८-८९।

३. प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थमें निबद्ध जैन सिद्धान्तभवन, आराके कुछ हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थ, पाँचवी संख्या।

४. जैन गुर्जरकविओ, तीजो भाग, खण्ड १, पृष्ठ ८, ९।

५. वही, पृष्ठ ८।

कल्पवृक्ष और कामधेनुके समान है। विशुद्ध ज्ञानकी दृष्टि भी उसीसे मिलती है[1],

"सिद्धन कौं सिद्धि, ऋद्धि देहि संतन कौं महिमा महन्तन कौं देत दिन माहीं है,
जोगी को जुगति हूं मुकति देत, मुनिन कूं, भोगी कूं सुगति गति मति उन पांही है।
चिन्तामन रतन, कल्पवृक्ष, कामधेनु सुखके समाज सब याकी परछांही है,
कहैं मुनि हर्षचन्द निर्षदेय ज्ञान दृष्टि ऊंकार मंत्र सम और मन्त्र नाहीं है॥"

कवि निहालचन्द सादृश्य-विधानमें निपुण थे। उन्होंने अपनी लघुता दिखाते हुए सादृश्यकी रचना की है। कविने लिखा है कि मेरा यह काव्य बालक्रीड़ाकी भाँति है, उसमें गलतियोंका होना स्वाभाविक है। सज्जन अपनी सुबुद्धि और उदारचित्तसे उनको सुधार लें। मेरे इस काव्यको वे पवनके स्वभावसे स्थान-स्थानपर प्रसिद्ध कर दें, पन्नगके स्वभावसे एकचित्त होकर सुनें, भ्रमरके स्वभावसे अर्थकी सुगन्धि ग्रहण करें और हंसके स्वभावसे गुणोंको चुन लें,

"हम पै दयाल होकै सज्जन विशाल चित्त
मेरी एक वीनती प्रमान करि लीजियौ।
मेरी मति हीन तातें कीन्हौ बाल ख्याल इहु,
अपनी सुबुद्धि ते सुधार तुम दीजियौ॥
पौन के स्वभाव तै प्रसिद्ध कीज्यौ ठौर ठौर,
पन्नग स्वभाव एक चित्त में सुणीजियौ।
अलि के स्वभाव तें सुगन्ध लीजियों अरथ की,
हंस के स्वभाव होके गुन को ग्रहीजियौ॥"[2]

बंगाल देशकी गजल

इसपर रचना-काल नहीं दिया है, किन्तु इसके वर्णनसे ऐसा प्रतीत होता है कि इसका निर्माण वि० सं० १७८२–९५ के बीचमें कभी हुआ।[3] इसमें मुख्यतया बंगालके मुर्शिदाबादका वर्णन किया गया है। उस समय वहाँ नवाब शुजाशाह राज्य कर रहा था। बंगालके इतिहाससे स्पष्ट है कि शुजाशाहने ई० स० १७२६ से १७३९ तक मुर्शिदाबादकी नवाबी की। इसी आधारपर उपर्युक्त संवत्की कल्पना की गयी है।

मुनि कान्तिसागरजीने यह गजल 'भारतीय विद्या' में प्रकाशित करवा दी है। मुनि जिनविजयजीने उसका ऐतिहासिक सार भी दिया है।[4]

---

१. जैन सिद्धान्त भवन आरावाली प्रति।

२. अभय जैन ग्रन्थालय बीकानेरवाली प्रति।

३. राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, भाग २, उदयपुर, १९४७ ई०, पृष्ठ १५२।

४. भारतीय विद्या, वर्ष १, अंक ४, पृष्ठ ४१३-२१।

८८. पं० दौलतरामजी (वि० सं० १७७७-१८२९)

पं० दौलतरामजीका जन्म जयपुर स्टेटके बसवा नामक गाँवमें हुआ था। आज भी यह जयपुरका एक कसबा है। यह दिल्लीसे अहमदाबाद जानेवाली बी० बी० ऐण्ड सी० आई० आर० का एक स्टेशन भी है।

दौलतरामजीके पिताका नाम आनन्दराम था। उन्होंने अपनी प्रत्येक रचनाके अन्तमें 'आनन्दराम सुत दौलतरामेन' लिखा है। उनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र कासलीवाल था। वे जयपुरमें आकर रहने लगे थे।

बसवामें दौलतरामजीके घरके सामने ही विशाल जैन मन्दिर था। वहाँ जिन-पूजन, शास्त्रस्वाध्याय तथा तत्त्वचर्चा होती ही रहती थी। बालपनमें दौलतरामजी-का झुकाव जैनधर्मकी ओर नहीं था। इसी मध्य उनका आना आगरा हुआ। वहाँ बनारसीदासकी अध्यात्म-परम्पराके अनेक विद्वानोंका जमघट था। उनमें पं०भूधर-दासजीको सर्वाधिक ख्याति थी। दौलतरामजीने उन्हें भूधरमलके नामसे पुकारा है। उनके अतिरिक्त हेमराज, सदानन्द, अमरपाल, बिहारीदास, फतेहचन्द, चतर्भुज और ऋषभदासके नाम भी विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। इन्हीमें-से ऋषभदासजी-के उपदेशसे दौलतरामको जैनधर्मपर विश्वास हुआ और आगे चलकर वह विश्वास अगाध श्रद्धाके रूपमें परिणत हो गया।[1] दौलतरामने अपने गुरु ऋषभदासका अनेक स्थानोंपर स्मरण किया है।

पं० दौलतरामजीका व्यक्तित्व असाधारण था। ये एक ओर तत्कालीन जयपुर और उदयपुरकी राज्यनीतिके सूत्रधार थे और दूसरी ओर साहित्य-साधक भी। उनकी रचनाओंसे उनकी विद्वत्ता भी स्पष्ट है। संस्कृत और हिन्दी दोनो भाषाओं-पर उनका समान अधिकार था। उन्होने जैन पुराणों और आध्यात्मिक ग्रन्थोंका सफल हिन्दी-अनुवाद किया है। उनका गद्य हिन्दीकी अमूल्य निधि है। 'अध्यात्म बारहखड़ी' नामके ग्रन्थमें उनकी मौलिक काव्य-प्रतिभाके दर्शन होते हैं।

पं० दौलतरामजी जयपुरके महाराज सवाई जयसिंहके पुत्र माधवसिंहके मन्त्री थे।[2] माधवसिंह उदयपुरमें रहते थे, अतः पं० दौलतराम भी वि० सं० १८८६ से सं० १८०८ तक उदयपुरमें रहे। माधवसिंहके जयपुराधीश होनेपर वे जयपुरमें आकर रहने लगे। उनका लम्बा समय उदयपुरमें बीता। वैभवसम्पन्न होते हुए

---

१. पुण्याश्रव टीकाकी अन्तिम प्रशस्ति।

२. वसुवा का वासी यहै अनुचर जय को जानि।
मंत्री जयसुत को सही जाति महाजन जानि ॥
पुण्याश्रवकथाकोशकी अन्तिम प्रशस्ति।

श्री पण्डितजीका हृदय उदार और दयालु था। उनका जो समय राज्यकार्योंसे बचता था, उसका उपयोग वे पूजन, ध्यान, अध्ययन और ग्रन्थ-निर्माणमें करते थे। उनका रहन-सहन सादा और पवित्र था।

रचनाएँ

पं० दौलतरामने सर्वप्रथम 'पुण्यास्रव कथाकोश'की भाषा-टीका वि० सं० १७७७ में की। तदुपरान्त उन्होंने 'वसुनन्दीश्रावकाचार'की टब्बा टीकाका निर्माण वि० सं० १८०८में किया। उनके द्वारा 'पद्मपुराण'की भाषा-टीका वि० सं० १८२३, 'आदिपुराण'की १८२४, 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय'की १८२७ और 'हरिवंशपुराण'की १८२९ मे की। श्रीयोगीन्दुके 'परमात्मप्रकाश'की टीकाके विषयमे डॉ० ए० एन० उपाध्येने लिखा है, "इस बातको कोई अस्वीकार नही कर सकता कि इस हिन्दी अनुवादके ही कारण जोइन्दु और उनके 'परमात्मप्रकाश'को इतनी ख्याति मिली है।"[1] उन्होंने 'हरिवंशपुराण'के साथ ही 'श्रीपालचरित'का भी हिन्दी अनुवाद किया था। इन टीकाओंमे मौलिकता भले ही न हो, ऐसी सरसता है, जिसके कारण आज भी लोग उन्हे रुचिपूर्वक पढ़ते है। अनेक जैन नर-नारियोने केवल 'पद्मपुराण' पढनेके लिए ही हिन्दी सीखी ओर बाबा भागीरथ-जैसे अनेक अजैन 'पद्मपुराण'की हिन्दी टीका पढकर जैन-श्रद्धानी हो गये।

'परमात्मप्रकाश'को टोकासे पं० दौलतरामकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति स्पष्ट हो है। उन्होने 'अध्यात्मबारहखड़ी' नामके एक मौलिक ग्रन्थका भी सृजन किया था। उन्होंने उसका दूसरा नाम 'भक्त्यक्षरमालिका बावनी स्तवन' भी लिखा है। यह पण्डितजीकी समर्थ काव्यशक्तिका प्रतीक है। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ विविध शास्त्र-भण्डारोंमें मौजूद हैं। बड़ा मन्दिर जयपुर, दि० जैन मन्दिर बड़ौत और नया मन्दिर दिल्लीकी प्रतियाँ मैंने देखी है। सभीमे इसका रचनाकाल वि० सं० १७९८ दिया हुआ है।

इस कृतिमें हिन्दीके ५२ अक्षरोंमें-से प्रत्येकको लेकर काव्य-रचना की गयी है। इसमे आठ परिच्छेद हैं। पं० दौलतरामने सबसे पहले मन्दाक्रान्ता, मालिनी, स्रग्धरा, उपेन्द्रवज्रा और शार्दूलविक्रीडित-जैसे संस्कृतके छन्दोंका हिन्दीमें प्रयोग किया। इस रचनामे गीता ओर मोतीदाम-जैसे नवीन छन्द भी है। इनके अतिरिक्त उन्होंने दूहा, चौपई, सवैया, कवित्त, छप्पय, बरवै, कुण्डलिया, अडिल्ल, त्रोटक, पद्धणी, भुजंगप्रयात, नाराच, त्रिभंगी और सोरठामें भी कविता की।

---

१. परमात्मप्रकाशकी अंगरेजी प्रस्तावनाका हिन्दी अनुवाद।

इसका विषय भक्ति और अध्यात्म दोनों ही से सम्बन्धित है। इसमें लगभग ५००० पद्य हैं।

'अध्यात्म बारहखड़ी'में भक्तिरस अपनी चरम सीमापर पहुँच गया है। ऐसी भाव-विभोरता, ऐसी तल्लीनता बहुत कम रचनाओंमें देखी जाती है। पं० दौलतरामने उस 'राम' की वन्दना की है, जो सबमें रम रहा है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह राम न हो,

"बंदौं केवल राम कौं, रमि जु रह्यो सब माहिं।
ऐसी ठौर न देखिए, जहां देव वह नाहिं ॥१०॥"

आत्मा और जिनेन्द्रके रूपमें कोई अन्तर नहीं है। अत: कविने 'आतमदेव' को सेवा करनेकी बात लिखी है।

"पूजौं आतमदेव कौं, करै जु आतम सेव।
श्रेयातम जगदेव जो, देव देव जिनदेव ॥३५॥"

उदार भक्त कवियोंने अपने देवमें ही अन्य देवोंके भी दर्शन किये हैं। सूरने कृष्णमें रामको और तुलसीने राममें कृष्णको देखा है। जैन कवियोंने जिनेन्द्रमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों ही दिखाई दिये है। छन्द नाराचमें इन विचारोंकी सरसता देखिए,

"तुही जिनेश शंकरो सुषंकरो प्रजापती
तुही हिरण्यगर्भ को अगर्भ को धरापती
महा स्वशक्ति पूरको तुही जिनो रमापती
रमा जु नाम माम नाहिं, शक्ति रूप है छती ॥५०॥"

नराधिप, सुराधिप और फणाधिप तेरा भजन करते है। अनादिकालके कर्म दूर भाग जाते है। हे ईश्वर! न तू बाल है, न युवा है और न वृद्ध ही है। तू अनेक भी है और एक भी है। तू ज्ञान रूप है और ऐश्वर्यका विधान है, इस भाँति भक्ति करते हुए कविने लिखा है,

"नराधिपो सुराधिपो फणाधिपो तुम्है भजैं
अनादिकाल के जु कर्म दास तैं परे भजैं।
तुही जु नाहिं बाल है न वृद्ध है युवा न है
अनेक एक ज्ञान रूप ईश तू निधांन है ॥५८॥"

'ॐ' की अनेक कवियोंने स्तुति की है। इस रचनामें भी भक्त कविने ॐकी महत्ताका वर्णन किया है,

"ॐ सम को मंत्र जु नाहीं, पंच परम पद याके मांही ।
ॐ मन्त्र जु भगवत रूपा, ॐ श्रुति संसृति को भूपा ॥
ॐकार स्वरूप निरंजन, ॐकार सकल श्रुति रंजन ।
ॐकार निधान अनूपम, ॐकार प्रधान जगूपम ॥"

जिनेन्द्रका दास आवागमनके चक्करसे बच जाता है। ऐसे अनन्त दास भव-समुद्रसे पार हो जाते है,

"इक भव धरि वह तो मैं मिलिहै,
तेरो दास न जग में रुलिहै ।
तेरे दास अनंत जु उधरे,
तोकौं पाय बहुत जन उधरे ॥"

साधु 'निरमोही' होकर, अर्थात् संसार त्याग कर, जिनेन्द्रका ही भजन करते है । जिनेन्द्र अनुभूति रूप है । उनका स्वभाव शुद्ध होता है और प्रभाव अमित । कविने इस भक्ति-भावनाको त्रोटक छंदमें अभिव्यक्त किया है,

"जे साधु अतन्द्रा वसहिं जु कन्द्रा, मत जिन चन्द्रा दिढ जु धरैं ।
ते जपहिं जु तो ही ह्वै निरमोही, छांडि सबोही ध्यांन करैं ॥
तू है अनुभूती रूप विभूती नाहिं प्रसूती क्वापि धरै ।
अतिरिक्त विभावो शुद्ध स्वभावो अमित प्रभावो काल हरै ॥"

भगवान्की भक्ति करनेसे अनेक गुण उत्पन्न होते है । यह गुण जननी और शिवजननी दोनो ही है । गुणमाता भक्ति ही सुरमाता भी है,

"तुम्हरी भक्ति जु नाथ जी उपजावै गुन थोक ।
तातैं गुन जननी इहै शिव जननी विनु शोक ॥
गुनमाता सुरमात है तेरी भक्ति दयाल
और न सुरमाता प्रभू इह भाषैं सुरसाल ॥"

सन्त कवियोंकी भाँति प० दौलतरामने लिखा है कि केवल मूँड मुंडानेसे कुछ नही होता है, आतमरामकी सेवा करनेसे ज्ञान उत्पन्न होता है । आतमरामकी सेवा केवल भगवान्की कृपासे ही प्राप्त हो सकती है,

"मूंड मुंडाये कहा, तत्व नहिं पावै जौ लौं ।
मूढनि कौ उपदेस सुनै मुक्ति जु नहिं तोलौं ॥
मलमूत्रादि भर्यो जु देह कबहूं नहिं शुद्धा ।
शुद्धो आतमराम ज्ञान को मूल प्रबुद्धा ॥

ऐसो तो बिनु को कहै को देवै निज ज्ञान कौं।
सुनि सु बीनती तारि हरि मूंदि रहे मति कानकौं॥"

पं० दौलतराम छहढाला आदिके कर्त्ता पं० दौलतरामसे पृथक् थे।

८९. भवानीदास (वि० सं० १७९१)

बनारसमें रामघाटपर एक जैन मन्दिर है, जिसके शास्त्र-भण्डारमें अनेकों हस्तलिखित प्रतियोंका संचय है। एक प्रतिमें भवानीदासकी अठारह रचनाएँ लिपि-बद्ध हैं। सभी हिन्दीमें हैं। उनपर राजस्थानी अथवा गुजरातीकी कोई छाप नहीं है। इनके आधारपर यह प्रमाणित है कि उनका जन्म हिन्दी भाषा-भाषियोंके मध्य ही हुआ था। 'फुटकर शतक' के तीन पद्योंमें आगरेके तीन श्वेताम्बर मन्दिरों और उनमें प्रतिष्ठित मुख्य मूर्तियोंका समय आदि दिया है। पहले पद्यके अनुसार आगरेके चिन्तामणिजीके मन्दिरकी स्थापना सं० १६४० माघ बदी ५ को हुई। दूसरे पद्यके अनुसार श्रीगणधर स्वामीके मन्दिरमें चन्द्राननजीकी प्रतिमा सं०१६६८ की माघ बदी ७ को साह हीरानन्दने बनवायी, जिनके घरपर सम्राट् जहाँगीर आया था। तीसरे पद्यके अनुसार भगवान् शीतलनाथकी प्रतिमा सं० १८१८ के माघ सुदी १४ को प्रतिष्ठित हुई। इस भाँति उन्होंने आगरेके शाह हीरानन्दका भी सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। यद्यपि उन्होंने दिल्लीके वासुपूज्यजीके मन्दिर-की स्थापनाकी भी बात कही है किन्तु मुख्यता आगरेके मन्दिरोंकी ही है। इन आधारोंसे यह अनुमान लगाना आसान है कि वे आगरेके रहनेवाले थे और उनका जन्म श्वेताम्बर जातिमें हुआ था। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके गुरुका नाम 'गुरु मानाजी' था जो एक प्रतिष्ठित श्वेताम्बर साधु थे। भवानीदासने सं०१७८३ में सर्वप्रथम उनसे भेंट की। उन्होंने गुरुजीके सं० १८०९ पौष बदी ८, बृहस्पति-वारकी रातको स्वर्गवासी होनेकी सूचना भी अपनी कृति 'जीव विचार भाषा' में लिखी है, जो संवत् १८१० कार्तिक सुदी १० की रचना है। कवि भवानीदास का रचना-काल संवत् १७९१ से सवत् १८२८ तक माना जाना चाहिए, ऐसा ही उनकी कृतियोंसे स्पष्ट है।

उनकी अधिकांश रचनाएँ भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिसे सम्बन्धित हैं। वैसे उन्होंने अपनी कुछ कृतियोंमें तात्त्विक चर्चा भी की है, किन्तु प्रधानता भक्ति की है। अध्यात्म बारहमासा और चेतन हिण्डोलना-जैसी रचनाओंसे यह प्रकट है

कि उनपर बनारसीकी 'अध्यात्म परम्परा' का भी प्रभाव था। आत्माको लेकर बारहमासोंका वर्णन करना अदृष्टके प्रति अनुभूति-परक भावोंको प्रकट करना है। भवानीदासकी रचनाएँ इस प्रकार हैं : 'चौबीस जिनबोल' पद्य – सं० १७९७, 'अध्यात्म बारहमास' – १२ पद्य – १७८१, 'ज्ञाननिर्णय बावनी' १२ पद्य – सं० १७९१, कक्काबत्तीसी – ३४ पद्य – सं० १७९६, 'चौबीसीके कवित्त' – २६ पद्य, 'हितोपदेश बावनी' – ५२ दोहा – सं० १७९२, पन्नवणा अल्पाबहुत ९८ बोल भाषा, – ५२ पद्य – सं० १७९१, 'सुमति कुमति बारहमासा' – १२ पद्य, ज्ञानछन्द चालीसी – ४० पद्य – सं० १८१०, सरधा छत्तीसी – ३७ पद्य, 'नेमिनाथ बारहमासा' – १२पद्य, 'चेतन हिण्डोलना गीत' – ८ पद्य, 'नेमिहिण्डोलना' – ८ पद्य, 'राजमति हिण्डोलना' – ८पद्य, 'नेमिनाथ राजीमती गीत' – ८पद्य, 'चेतन सुमति सज्झाय' – १२ पद्य, 'फुटकर शतक' – ९८ पद्य, 'जीवविचार भाषा' – १५१ पद्य।

भवानीदासके कतिपय पद, अतिशय क्षेत्र महावीरजीके एक अबजले गुटकेमें निबद्ध हैं। नेमीश्वरकी भक्तिमें समर्पित एक पद देखिए,

"रथ चढ़ जादुनंदन आवत हैं
चलो सखी मिलौ देखन कूं॥
मोर मुकुट केसरिया जामा
कर में कंगण राजित हैं॥
तीन छत्र माथे पर सोहै
चवसठ चमर ढुरावत हैं॥
इन्द्र चन्द्र थारी सेवा करत हैं
नारद बीन बजावत हैं॥
दास भवानी दोउ कर जोड़े
चरणों में सीस नवावत हैं॥"

९०. अजयराज पाटणी (वि० सं० १७९२–१७९४)

अजयराज आमेरके रहनेवाले थे। इनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र पाटणी था। कतिपय रचनाओंसे स्पष्ट है कि वे अट्ठारहवी शताब्दीके अन्तिम पादमें हुए थे। 'यशोधर चौपई' – सं० १७९२, 'पार्श्वनाथ सालेहा' – सं० १७९३ और 'आदिपुराण' – सं० १७९७ में रचे गये थे। इससे उनका रचना-संवत् स्पष्ट है।

अजयराज अट्ठारहवीं शताब्दीके एक सामर्थ्यवान कवि थे। उनकी अधिकाश कृतियाँ भक्ति और अध्यात्मसे सम्बन्धित है। 'जिनगीत' 'पदसंग्रह', 'पूजा' और 'जयमालायें', 'णमोकार सिद्धि' तथा 'नेमिनाथ चरित', भक्तिपूर्ण कृतियाँ हैं। 'चरखा चउपई', 'शिवरमणीका विवाह' और 'जिनजीकी रसोई' अध्यात्म-सम्बन्धी रूपक है। 'आदिपुराण भाषा', 'चार मित्रोंकी कथा', 'यशोधर चौपई' और 'कक्का बत्तोसी' साधारण रचनाएँ हैं। इनपर राजस्थानीका प्रभाव है।

आदिपुराण भाषा

यह हिन्दी-पद्यमें लिखा गया है। इसमे २२५ पृष्ठ है। इसकी रचना वि० स० १७९७ में हुई थी। जयपुरके बडे मन्दिरमे वेष्टन न० १११ में निबद्ध है।

चार मित्रोंकी कथा

इसकी रचना स० १७८१ मे हुई थी। यह भी उपर्युक्त मन्दिरके ही वेष्टन नं० ४१२ मे निबद्ध है। इसमे कुल ६ पृष्ठ है।

यशोधर चौपई

इसकी रचना वि० सं० १७९२ कात्तिक बदी २ को हुई थी। इसकी एक प्रति सं० १८०० चैत वदी ११ की लिखी हुई बधीचन्दजीके दि० जैन मन्दिरमे स्थित है। यह प्रतिलिपि बस्सीवाले चूहडमल पाटनीने आमेरमे करवायी थी।

चरखा चउपई

एक रूपक-काव्य है। यह जयपुरके बधीचन्दजीके जैन मन्दिरके गुटका न० १३८ मे निबद्ध है। इसमे ११ पद्य है, प्रथम तीनमे जिनेन्द्रकी वन्दना है, सात पद्योमे चरखेका रूपक है और अन्तमे उसकी उपयोगिताका वर्णन है। कृति भाव-पूर्ण और रसयुक्त है। प्रारम्भके पद्य देखिए,

> "श्री जिनवर वंदू गुणगाय, चतुर नारि चर्षे काय।
> राग दोष विगता परिहरै, चतुर नारि चरषे चित धरै॥
> प्रथम मूल चरषा को जाणि, देव धर्म गुरु निश्चै आणि।
> दोष अठारा रहत सु देव, गुरु निरगंथ तिण करि सेव॥
> धर्म जिनेसुर भाषित सार, जगत तत हिरदै अवधार।
> ज्यों समकित उपजै सुषकार, ता विन भ्रम्यो भव तू संसार॥"

शिवरमणीका विवाह

यह उपर्युक्त मन्दिरके गुटका न० १५८, वेष्टन नं० १२७५ में निबद्ध है। इसमे कुल १७ पद्य है। आत्मामे परमात्माके उदय होने को ही आत्माके साथ

परमात्माका विवाह माना जाता है। इसीको जैन लोग जीव रूपी दुलहाका मोक्ष-रूपी रमणीके साथ विवाह होना स्वीकार करते है। जब ऐसा होता है तो देव मिलकर आनन्द मनाते है,

"देव सबै मिलि आइयाजी,
इन्द्र होये अधिकाय।
रूप देखत मन मोहीया जो,
लोचन सहस कराय ॥४॥"

शिवरमणीने आत्माका मन मोह लिया है। उसके आनन्दका पारावार नही है। अजयराज हाथ जोडकर ऐसे आत्मन्के गुण गाते है,

"शिव रमणी मन मोहीयो जी
जेठै रहे जी लुभाय
ज्ञान सरोवर मैं छकि गये जी
आवागवण निवारि ॥१५॥
आठ गुणां मंडित हुवा जी
सुष को तहाँ नही छोर
प्रभु गुण गायां तुम तणां जी
अजैराजि करि जोड़ि ॥१६॥"

जिन-गीत

उपर्युक्त गुटकेमे ही जिन-गीत भी संकलित है। इसमे १० पद्य है। कविने एक पद्यमे लिखा है कि हे भगवन्! आपके 'तारण विरद'को सुनकर ही मै आपकी शरणमे आया हूँ। आपके दर्शनसे मुझे पुण्य मिला। एक दूसरे पद्यमे कविने शिवरमणीके कन्त जिनेन्द्रसे भव-समुद्रसे उस पार उतार देनेकी प्रार्थना की है,

"थाको तारण विरद सुन्यो तुम सरणौं आईयो जी।
थाको दरसण देषित मैं प्रभु पुंनि उपाईयो जी ॥
प्रभुजी शिवरमणी कौ कंत, परमपद ध्याईयो जी।
तातैं अब मुहि पार उतारि, दया चित लाईयो जी ॥ ७ ॥"

जिनजीकी रसोई

इसकी रचना वि० सं० १७९३ मे हुई थी। यह बधीचन्दजीके मन्दिरमें विराजमान गुटका नं० ५०, वेष्टन नं० १०१४मे निबद्ध हैं। इसी गुटकेमे यह दो स्थानोंपर अंकित है। एकमे ३६ पद्य है जो अपूर्ण है, और दूसरेमे ५३ पद्य हैं

जो पूर्ण हैं। इसमें सब प्रकारके व्यजनों और भोजनोंके नाम गिनाये गये हैं। भोजनोपरान्त वन-विहार आदिका भी वर्णन है। भगवान् जिनेन्द्रके बाल-वर्णनमें भी सौन्दर्य है। सब कुछ भगवान् 'जिन'की भक्तिसे ही सम्बन्धित है। यह रसोई साधारण नहीं है, आराध्यको सन्तुष्ट करनेके लिए बनायी जानेके कारण इसमें कुछ अलौकिक स्वाद आ गया है। आरम्भ, मध्य और अन्त देखिए,

"यह जिन जी की कहूँ रसोई। ताको सुणत बहुत सुख होई॥
तुम रूसो मत मेरे चमना। खेलो बहुविधि घर के अंगना॥
देव अनेक बहोत खिलावै। माता देखि बहुत सुख पावै॥ १॥"

मध्य

"छिमक चणा किया अति भला। हलद् मिरच दे घृत में तला॥
मेसी रोटी अधिक वणाई। आरोगो त्रिभुवन पति राई॥"

अन्तिम

"अजैराज इह कियो बखाण। भूल चूक मति हंसौ सुजाण॥
संवत् सत्रासै त्रेणावे। जेठ मास पूरणा हवै॥"

कक्का-बत्तीसी

यह कृति उसी मन्दिरके गुटका नं० ५८ और वेष्टन नं० १०२६में निबद्ध है। यह गुटका नं० १२१ पर भी अंकित है। इसकी रचना वि० सं० १७३७ वैशाख सुदी १३ दिन सोमवारको हुई थी।[1] इसमें ४० पद्य है। कविने लिखा है,

"ननां निपट नजीक है, निजपद निज घट माहीं।
ज्यौं जल बीचि कमौदनी, त्यौं चेतन जड़ पाहीं॥ ५४॥
ससा सो अब पाइयौ, सो कबहुं नहीं जाय।
धनि जनेसर धनि गरू, तिन प्रमाद इहै पाय॥ ३६॥"

गुटका नं० ५८में अजयराजकी लिखी हुई एक दूसरी कक्का बत्तीसी और है। उसमें केवल ३४ पद्य है। उसे अध्यात्म-बत्तीसी कहना ही उपयुक्त है। कविने प्रत्येक जीवकी आत्माको परमात्मा कहा है और उसीसे प्रेम करनेकी बात लिखी है,

"ठठा ठाकुर जगत में जिय
तुम सम अवर न कोइ रे लाल।

---

१. सत्रासैंतीयासीये रिति ग्रीषम वैसाष।
सोमवार तेरसि भली, अवर उजालो पाष॥
गुटका नं० ५८, ४०वाँ पद्य।

सुधपयोग सुभाव करि ज्यौं
आनन्द बहुतैं होइ रै लाल ॥ १३ ॥
ढढा ढूंढौ ब्रह्म कौ जिय
ता बिनि करनी बादि रै लाल ।
ता बिनि चहुंगति हड़ोयौ जिय
षोयो काल अनादि रै लाल ॥ १५ ॥
ददा निज दरसण बिनां जिय
जप तप सबै निरथ रै लाल ।
कण बिन तुस ज्यौं फटक तैं जिय
आबै कछु न हथि रै लाल ॥ १९ ॥
ननां निपट सनेह करि रै
निज प्रीतम निज माहिं रै लाल ।
सदा रंगीलो रस भर्यौ
ताकौं देषत मन हरषांहि रै लाल ॥ २१ ॥"

विनती

अजयराजकी 'श्री जिन रिखब महन्त गाऊँ' स्तुति उपर्युक्त मन्दिरके गुटका नं० १२१ मे, 'जागी जागी हो त्रीभुवन के राय' मन्दिर ठोलियान, जयपुरके गुट क नं० १३१ (ले०, वि० सं० १७७९) मे और 'निजरी लगी तुम चरण सो' बधीचन्दजीके मन्दिर जयपुरके गुटका नं० ५१, पृ० ६२ पर अंकित हैं। अन्तिम स्तुति अत्यधिक सरस है। कुछ पंक्तियाँ देखिए,

"तारण विरद सुणो सबै मुनि जिन लागत पाय ॥
निजरी लगि तुम चरण सौं सो कबहुं नहिं जाय ॥
तुम मूरति प्रभु देषता निज पद सहज लगाय ॥
चरण कमल दुति है इसी कोटि सुरज छिप जाय ॥
सुष करतां दुष मोषतां तुम त्रिभुवन पति राइ ॥
तुम सेवा बिन सुणी प्रभु दुष्ट करम नहिं जाइ ॥
भवि जिन बहौत समोधिक भवि जल पार उतार ॥
अजैराजि विनती करि आवागमण निवारि ॥"

पद

अजयराजके पद भारतके सभी शास्त्र-भण्डारोके पदसंग्रहोमे पाये जाते हैं। जयपुरके मन्दिरोका तो शायद ही कोई शास्त्र-भण्डार हो, जिसमे अजयराजके पद न

हो। बधीचन्दजीके मन्दिरके गुटका नं० १५८ वेष्टन नं० १२७५ मे निबद्ध एक पदकी पंक्तियाँ इस प्रकार है,

"तुम परमातम देषि जु पद अपनो लष्यौ
आतम अनुभव अमृत रस अपुरव चष्यौ।
सेसै सब मिटि गयौ महा आनन्द भयौ
अचल अखंडित निज पद निज घट मैं लयौ ॥ ८ ॥
नमुं नमुं प्रभु हरष महा उर आणि कै
मगन भयो तुम देषि निजपद जानि कै।
इहै भगति नर नारी मन धरि गाइसी
अजैराज कहै सुण मुकति पद गाइसी ॥ ९ ॥"

अजयराजका पूजा और जयमाला साहित्य

जयपुरके बधीचन्दजीके मन्दिरमें विराजमान गुटका न० ५० बहुत ही प्रसिद्ध है। इसमे २०२ पृष्ठ है। अजयराजकी अनेकानेक रचनाएँ इसी गुटकेमे संकलित हैं। अधिकतर पूजाएँ है। 'आदिनाथपूजा', 'चतुर्विंशति तीर्थकरपूजा', 'नन्दीश्वर पूजा', 'पंचमेरु पूजा', 'बीस तीर्थंकरोकी जयमाल', 'सिद्ध स्तुति', 'चौबीस तीर्थंकर स्तुति' और 'श्री श्रेयांस सकल गुण धार' भी इसीमें अंकित है। इनके अतिरिक्त 'पार्श्वनाथ सालेहा' भी इसीमे लिखा हुआ है, जिसकी रचना सं० १७९३ ज्येष्ठ सुदी १५ को हुई थी। 'आदिनाथ पूजा' पूर्ण है। 'नन्दीश्वर पूजा'मे केवल ९ पद्य हैं। सबसे अधिक पद्य 'चौबीस तीर्थंकर स्तुति'मे है, अर्थात् २० पद्य है। भगवान् जिनेन्द्रकी भक्तिमे लिखे गये अन्य मुक्तक पद भी इसी गुटकेमे निबद्ध है।

णमोकार सिद्धि

यह भी उपर्युक्त मन्दिरके गुटका नं० ५१ और वेष्टन नं० १२१७मे अंकित है। यह गुटका स० १८२३ कार्तिक बदी ७ को लिखा गया था। यह छोटा-सा काव्य 'णमोकार मन्त्रकी महत्ता' से सम्बन्धित है।

नेमिनाथ चरित

यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसकी रचना वि० स० १७९३ आषाढ सुदी १३ को हुई थी।[१] इसकी प्रतिलिपि सं० १७९८ चैत्र सुदी ८ को की गयी।

---

१ संवत सतरासै त्रैणवै, मास असाढ़ पाई वर्णयो।
तिथि तेरस अंधेरी पाख, शुक्रवार शुभ उतिम दाख ॥
नेमिनाथ चरित्र, ठोलियोंके मन्दिर, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति।

यह जयपुरके ठोलियोके दि० जैन मन्दिरके गुटका नं० १०८मे निबद्ध है। चरित्रकी पद्य-संख्या २६४ है। इस काव्यके निर्माणकी प्रेरणा अम्बावती नगरके जिन-मन्दिरमे विराजमान भगवान् नेमिनाथकी मनोज्ञ मूर्त्तिको देखकर मिली थी। कविने इस प्रतिमाको श्यामवर्णका कहा है। वह इसकी पूजा-अर्चा भी प्रति-दिन किया करते थे। प्रारम्भिक मंगलाचरण देखिए,

> "श्री जिनवर बन्दो सबै, आदि अन्त चउबीसै।
> ज्ञान पुंजि गुण सारिखा, नमो त्रिभुवन का ईस ॥
> तामैं नेमि जिणन्द को बन्दौ बारम्बार।
> तास चरित बखाणिस्यो, तुछ बुद्धि अनुसार ॥"

कटनेके लिए बँधे जीवोपर करुणा करके ही नेमीश्वर विवाह-द्वारसे वापस लौट आये। वीतरागी दीक्षा ले, तप करने गिरनारपर चले गये। विलाप करती राजुल कहती है, "यदि तुम्हारा वियोग हुआ तो हमारा जन्म ही निष्फल हो जायेगा, इसलिए संयम छोडकर सासारिक सुखोको भोगो। जब तुमने दया करके पशुओ तकको छुडा लिया, तब मीनकी भाँति तड़पती हुई मुझपर दया क्यो न करोगे ?"

> "जो होइ वियोग तिहारो, निरफल है जनम हमारो।
> तातैं संजम अब तजिए, संसार तणां सुख भजिए ॥
> जल बिन मीन जिव किम, मीन तैसे हूं तुम आधीन।
> तुम भाव दया की कीन्हा, सब जीव छुड़ाई जी ॥"

राजा सवाई जयसिंहका राज्य था। अम्बावती नगरके मध्यमे एक जिन-मन्दिर था। उसमे नेमिकुमारकी अनुपम मूर्त्ति थी। मन्दिरके चारो ओरके प्राकृतिक वातावरणका दृश्य देखिए,

> "अजयराज यह कीयो बखाण, राजा सवाई जयसिंह आण।
> अंबावती सहरै सुभ थान, जिन मन्दिर जिम देव विमाण ॥
> वीर निवाण सोहै बनराई, बेलि गुलाब चमेली जाई।
> चम्पो मरबो अरै सेवति, यौं हौ जाति नाना विधि कीती ॥
> बहु मेवा विधि सार, वरणत मोहि लागै बार।
> गढ मन्दिर कछु कह्यौ न जाइ, सुखिया लोग बसे अधिकाइ ॥
> तामै जिन मन्दिर इक सार, तहां विराजै श्री नेमिकुमार।
> स्याम मूर्त्ति सोभा अति घणी, ताकी उपमा जाइ न गणी ॥"

शुभ भाग्यसे उन भगवान्‌के दर्शन हो पाते हैं। अनेक श्रावक वहाँ आते हैं और अपने अशुभ कर्मोंको काट डालते है। अजयराज भी मन, वचन, कर्मसे पूजन करते हैं। नित्य-प्रति उस मूर्त्तिकी वन्दना करनेसे यह जीव इस भव-समुद्रसे पार हो सकता है,

"जाकै भाग उदै सुभ होइ, करि दरसण हरषै मेंट सोई।
आवै जावै सरावग घणा, काटै कर्म सबै आपणां॥
अजैराज तहाँ पूजा करई, मन वच तन अति हरष धरई।
नित प्रति बन्दै ते बारम्बार, तारण तरण कहै भव पार॥

विभाग : दो

: ३ :

जैन भक्ति-काव्यका भाव-पक्ष

कुछ समय पहले तक हिन्दीके बडे-बडे विद्वान् यह स्वीकार करते रहे हैं कि हिन्दीमे लिखी गयी जैन रचनाएँ धर्म प्रचारकी माध्यम-भर हैं, उनमे वह भावोन्मेष नही है जिसके आधारपर रसका उद्रेक होता है। यदि 'रसो वै स:', 'रसं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' वाली बात रस है, और हृदयसे स्वतः फूटी अन्त:सलिला ही भाव-धारा है, तो जैन काव्यमे रस और भाव दोनों ही सन्निहित है। 'भक्तिरसामृत सिन्धु'मे भक्ति रससे सम्बन्धित पाँच भाव स्वीकार किये गये है : शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। उनको उत्तरोत्तर उत्तम माना है, किन्तु जैनभक्तिमे 'शान्त' ही सर्वोत्तम है। यहाँ इन्ही भावोके आधारपर जैन-भक्तिका भाव-पक्ष उपस्थित किया गया है। भावोका क्रम इस प्रकार है : सख्यभाव, वात्सल्यभाव, प्रेमभाव, विनयभाव और शान्तभाव। इनमे आगे-आगे विशुद्धता आती गयी है।

सख्यभाव

भगवान्को सखा मानना ही सख्यभाव है। इसमे बराबरीका दर्जा प्रधान होता है। भगवान् अपने मित्रोपर भगवत्त्वका आरोपण नही करते, मित्र भी भगवान्के ऐश्वर्य और माहात्म्यसे आश्चर्यान्वित न होकर, उनकी सुख-सुविधाका ही अधिक ध्यान रखते है। उनमे सेव्य-सेवक भावकी भाँति संकोच नही होता, अपितु वे आपसमे स्पष्ट रूपसे खुले रहते हैं। यदि कभी मित्रको भगवान्का काम अनुचित और भ्रमपूर्ण मालूम होता है तो वह उसका निराकरण भी करता है।

जैन साधनाके आध्यात्मिकतावाले पहलूमे सखा-भावका निर्वाह हुआ है। कर्म-मलसे रहित विशुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। उसे जैन-शास्त्रोमे 'सिद्ध' संज्ञा दी गयी है। अर्थात् आत्मामे परमात्मा बननेके सभी अंश मौजूद हैं। यह जीव उस आत्मासे प्रेम करता है और उसे चेतन नामसे पुकारता है। उसीके साथ उसका मित्र-भाव है। जब भ्रमवशात् चेतन असंगत पथपर चलता है, तो यह जीव

सच्चे मित्रकी भाँति ही उसे सावधान करता है। यद्यपि सन्त साहित्यके 'चेतावणी कौ अंग'में भी सावधान करनेकी ही बात है, किन्तु वहाँ जिस मनको सावधान किया जा रहा है, उसमे भगवान् बननेकी सामर्थ्य नही है, अतः हम उसे सखा-भाव नही कह सकते। जैन साहित्यमे तो चेतनको ही परमात्मा माना है और उसके सुखके लिए उसे सावधान करनेवाला मित्र ही है, अन्य नही। पाण्डे रूपचन्दने 'गीत परमार्थी'मे लिखा है, "हे चेतन ! मुझे भारी आश्चर्य है कि जब अमृत-जैसे हितकारी वचनोके द्वारा सद्गुरु तुम्हें समझाता है और तुम भी ज्ञानी हो, फिर न जाने क्यों तुम चेतन होते हुए भी चेतन तत्त्वकी कहानी नही समझते।"[1] 'परमार्थी दोहाशतक'में तो उन्होने बड़े ही प्रेमपूर्ण ढंगसे चेतनको समझाया है। उन्होने कहा, "अहो जगत्के राय ! अपने पदका विचार छोडकर और शिवपुरोकी सुध भुलाकर भव-वनमे क्यो छा रहे हो। तुम्हें इस संसारमे भ्रमण करते-करते अनादि काल बीत चुका है। व्यर्थ ही दुःख क्यो झेलते हो? अपने घरको क्यों नही सँभालते। इन्द्रिय-सुखसे लगकर तुम विषयोंमें बेहोश हो रहे हो, और परम अतीन्द्रिय सुखको नही समझते। किन्तु विषयोंका सेवन करते हुए तुम्हारी तृष्णा उपशम नही होगी, प्रत्युत खारे जलके समान बढती ही जायेगी।"[2]

मायाके फन्देमें फँसे चेतनको सावधान करते हुए प० बनारसीदासने लिखा है, "हे चेतनजी ! तुम जागकर अर्थात् सावधान होकर देखो कि कहाँ मायाके पीछे लगे हो। माया और तुम्हारा क्या सम्बन्ध ? तुम तो न जाने कहाँसे आये हो और कहाँ चले जाओगे, किन्तु माया तो जहाँकी तहाँ ही रहेगी। माया न तो तुम्हारी जाति-पाँतिकी है, न वंशकी है और न तुम्हारे अंशकी इसमे कुछ झलक है। इसको दासी न बनानेसे यह तुम्हे लातोसे पीटती है। हे चेतन, तुम ऐसी अनीति क्यो सहन करते हो। तुमको इस मायाकी दासता छोड देनी चाहिए।"[3]

"चेतन जी तुम जागि विलोकहु,
लागि रहे कहाँ माया के तांई ॥
आये कहीं सों कहीं तुम जाहुगे,
माया रहेगी जहां के तहांई ॥
माया तुम्हारी न जाति न पांति न,
वंश की बेलि न अंश की झांई ॥

१. पाण्डे रूपचन्द, गीत परमार्थी।

२. पाण्डे रूपचन्द, परमार्थी दोहा शतक।

३. बनारसीदास, नाटक समयसार, साध्यासाधकद्वार, पद्य ७, पृ० १२८।

दासी किये बिन लातनि मारत ।
ऐसी अनीति न कीजे गुसांई ॥"

इस संसारमें आकर चेतन दृढ़ बन्धनोंमें बँध गया है, किन्तु उस बेसुधको इसका होश ही नहीं है। भला अब उसको उन बन्धनोंसे कौन छुड़ाये। वह विवेकहीन है, ठीक वैसे ही जैसे गजराज स्नान करनेके उपरान्त भी अपने शरीर-पर धूल डाल लेता है, और जैसे रेशमका कीड़ा तन्तुओंको उगलकर स्वयं उनके बन्धनमें बँध जाता है।[1] उसे समझाते हुए कविने कहा है, "हे चेतन! तुम स्वयं सम्यक् ज्ञान हो, किन्तु संसारकी भ्रम-वीचियोंमें अपनेको भूल गये हो। अब शुभ ध्यान धरके और ज्ञान-नौकापर चढ़के इन वीचियोंसे पार निकल जाओ।"[2]

'चेतन'के प्रति सखाभावके उद्गार अभिव्यक्त करनेमें भगवतीदास 'भैया' अप्रतिद्वन्द्वी हैं। उन्होंने सुमतिको रानी और चेतनको राजा बनाया है। सुमति अपने पतिको सर्वोत्तम मानते हुए भी उसके पथ-भ्रष्ट होनेपर कभी प्रणय-भरी सीख और कभी मीठी फटकार लगाती है। प्रेमपूर्वक समझाने अथवा मीठी फटकार लगानेका काम सिवा मित्रके और नहीं कर सकता। पत्नी भी जब ऐसा करती है, तो वह मित्र ही है। सुमति चेतनको सम्बोधन करके कहती है, "हे शिवनायकजी! एक बात कहती हूँ कि क्या यह स्थान तुम्हारे रहने योग्य है, जहाँ तुम भटक रहे हो। यह तुमने कौन-सी विचक्षण रीति अपनायी है कि तुम विना देखे-भाले ही इन्द्रियोंमें अटक गये हो। यदि तुम आज भी मेरे गुणोंमें विश्वास करो तो एक भलाईकी बात कहूँ कि तुम अपने घटके पट क्यों नहीं, खोलते? वहाँ तुम स्वय प्रकाशमान होकर विराज रहे हो, उस अपनी सुन्दर

---

१ चेतन तोहि न नेक संभार,
नख सिखलो दिढबन्धन बेढे कौन करै निखार, चेतन० ॥१॥
ज्यों गजराज पखार आप तन, आप ही डारत छार।
आपहि उगलि पाटको कीरा, तनहि लपेटत तार, चेतन० ॥३॥
बनारसीदास, बनारसीविलास, जयपुर, १६५४, पृ० २३१।

२. आयें निकसि निगोद सिंधु तें, फिर तिह पंथ टले।
कैसें परगट होय आग जो दबी पहार तले, चेतन० ॥३॥
भूले भव भ्रम बीचि 'बनारसि' तुम सुरज्ञान भले।
धर शुभ ध्यान ज्ञान नौका चढ़ि, बैठे ते निकले, चेतन० ॥४॥
बनारसीदास, बनारसीविलास, जयपुर, अध्यात्मपदपंक्ति, पद्य ११वाँ, पृ० २३१।

रूप-सुधाका पान क्यों नही करते ।[1]" समझानेपर भी चेतन समझता नहीं । वह रात-दिन संसारके धन्धेमे बेहोश रहता है । अतः सुमति कुछ खोजकर कहती है, "हे चेतन ! तुम्हे कुछ यह भी ध्यान है कि तुम कौन हो, कहांसे आये हो, किसने तुम्हे बहका रखा है और तुम किसके रसमें मस्त हो रहे हो । तुम उन कर्मोंके साथ एकमेक हो रहे हो, जो आज तक तुम्हारे हाथमें नो आये नही, उलटे तुम्ही उनके फन्देमे फँसकर चक्कर लगाते फिरते हो । तुम तो बड़े चतुर हो, फिर तुमने यह कौन-सी चतुराई की, जो तीन लोकके नाथ होकर भी भिखारीकी तरह फिरते हो ।"[2]

जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ है अपनेको ही शुद्ध रूपमे पहचानना, किन्तु यह चेतन होकर भी अचेतनमें फँसकर रह गया है । उसको समझाते हुए द्यानतरायका कथन है, "हे जीव ! तूने यह मूढपना कहांसे पाया कि सारा संसार स्वार्थको चाहता है, किन्तु तुझे वह अच्छा ही नही लगता । पता नही कि तुम क्यो अशुचि, अचेत और दुष्ट तनमे विरमके रह गये हो । तुमने अपने परम अनीन्द्रिय सुखको त्याग कर विषय रोगोंको लिपटा रखा है । तुम्हारा नाम 'चेतन' है, फिर तुमने जड़ होकर अपने नामको क्यों गँवा दिया है ? क्या तीन लोकके राज्यको छोडकर भीख माँगते हुए तुझे लज्जा नहीं आती ? जब तुझे इस झूठे मूढपनेसे छुटकारा मिल जायेगा, तभी तू सन्त कहला सकता है, और तभी तू मोक्षके

---

१. इक बात कहूँ शिवनायकजी, तुम लायक ठौर, कहाँ अटके ।
यह कौन विचक्षन रीति गही, बिनु देखहि अक्षन सो भटके ॥
अजहूं गुण मानो तौ शीख कहूँ, तुम खोलत क्यो न पटै घटके ।
चिन्मूरति आपु बिराजतु है, तिन सूरत देखे सुधा गटके ॥
भैया भगवतीदास, शत अष्टोत्तरी, १०वाँ पद्य, ब्रह्मविलास, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९२६, पृ० १० ।

२. कौन तुम कहाँ आये कौने बौराये तुमहिं,
काके रस रसे कछु सुध हू धरतु हो ।
कौन है ये कर्म जिन्हे एकमेक मानि रहे,
अजहूं न लागे हाथ भांवरी भरतु हो ।
वे दिन चितारो जहाँ बीते हैं अनादिकाल,
कैसे कैसे संकट सहेहु बिसरतु हो ।
तुम तो सयाने पै सयान यह कौन कीन्हो,
तीन लोक नाथ ह्वै के दीन से फिरतु हो ॥
वही, ३०वाँ पद्य, पृ० १४-१५ ।

अनन्त सुखके साथ विलास कर पायेगा।"[1]

एक सन्मित्रकी भाँति चेतनको समझाते हुए भूधरदासका कथन है, "ओ अज्ञानी ! तू पापरूपी धतूरा न बो। फल चखनेके समय तू फूट-फूटकर रोयेगा और प्राणोसे भी हाथ धो बैठेगा। कुछ थोड़े-से विषयोके कारण तू इस दुर्लभ देहको व्यर्थ न जाने दे। ऐसा अवसर तुझे फिर न मिलेगा, अतः नीदमे सोता न रह। ऐसे समयमे सयाने लोग कल्पवृक्षको सीचा करते है, किन्तु तू विष बोने लग रहा है, भला तेरे समान अभागा कौन होगा। संसारमे जितने दुःखदायक और रस-हीन फल है, वे सब तेरे इस विषबीजका ही परिणाम हैं। तू यह सब कुछ मनमे जानकर भी भोंदू क्यों हो रहा है।"[2]

वात्सल्यभाव

यद्यपि भक्ति-रसका स्थायी-भाव भगवद्विषयक रति है, किन्तु रतिके तीन प्रधानरूप माने गये है—भगवद्विषयक, वात्सल्य और दाम्पत्य। इनमे से अन्तिम

---

१. जीव तै मूढपना कित पायो।
सब जग स्वारथ को चाहत है, स्वारथ तोहि न भायो ॥१॥
अशुचि अचेत दुष्ट तन माही, कहा जान विरमायो।
परम अतिन्द्री निज सुख हरि कै, विषय रोग लपटायो ॥२॥
चेतन नाम भयो जड़, काहे अपनो नाम गमायो।
तीन लोक को राज छाड़ि कै, भीख माग न लजायो ॥३॥
मूढपना मिथ्या जब छूटै तब तू संत कहायो।
द्यानत सुख अनंत शिव विलसो, यो सद्गुरु बतलायो ॥४॥
द्यानतपदसंग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, पद ३८, पृष्ठ १६-१७।

२. अज्ञानी पाप धतूरा न बोय।
फल चाखन की बार भरै दृग, मरहै मूरख रोय। अज्ञानी० ॥१॥
किंचित विषयनि के सुख कारण दुर्लभ देह न खोय।
ऐसा अवसर फिर न मिलैगा, इस नीदडी न सोय। अज्ञानी० ॥२॥
इस विरिया मैं धर्म कल्पतरु, सीचत सयाने लोय।
तू विष बोवन लागत तो सम, और अभागा कोय। अज्ञानी० ॥३॥
जे जग मे दुख दायक बेरस, इस ही के फल सोया।
यों मन भूधर जानि कै भाई, फिर क्यो भोंदू होय। अज्ञानी० ॥४॥
भूधरविलास, कलकत्ता, पद ४, पृष्ठ ३।

दो भी भगवदुन्मुख होनेके कारण भगवद्विषयक ही है, किन्तु निरूपण भेद और रचना-विभागकी दृष्टिसे ही उनका पृथक् निरूपण किया जाता है। भगवद्विषयकमें विनय, वात्सल्यमें बाल-लीला और दाम्पत्यमें मधुरभावसम्बन्धी रचनाएँ आ जाती है। मानव जीवनकी दो ही प्रमुख वृत्तियाँ है—वात्सल्य और दाम्पत्य। इनमें भी हिन्दी भक्ति-क्षेत्रके कवियोंने दाम्पत्यपर जितना लिखा, वात्सल्यपर नहीं। एकमात्र सूर ही इस क्षेत्रके जगमगाते रत्न है। यद्यपि आचार्योंने वात्सल्य-को पृथक् रस नही माना है, किन्तु उसमें कुछ ऐसी स्पष्ट चामत्कारिक शक्ति है, जिससे किन्ही-किन्हीने उसे पृथक् रसके रूपमे भी स्वीकार किया है। और उसका स्थायीभाव 'स्नेह' रखा है। यदि इस दृष्टिसे देखा जाये तो जैन साहित्यमें वात्सल्य रसके आलम्बन पंचपरमेष्ठी और आश्रय माँ-बाप तथा भक्त-जन होंगे। आलम्बनगत चेष्टाएँ, कार्य और उस अवसरपर मनाये जानेवाले उत्सवादि उद्दीपन विभावके अन्तर्गत आ जायेंगे।

सूरके बाद वात्सल्यका सरस उद्घाटन जैन हिन्दी साहित्यमे ही हुआ है। जन्मके अवसरोंपर होनेवाले आकर्षक उत्सवोकी छटाको तो सूर भी नही छू सके है। जैन साहित्यमे तो आलम्बनके गर्भमे आनेके पहले ही कुछ ऐसा वातावरण बनाया जाता है कि वत्सके जन्म लेनेके पूर्व ही 'वात्सल्य' पनप उठता है। सत्त-रहवी शताब्दीके प्रसिद्ध कवि रूपचन्दने 'पंचकल्याणक'की रचना की है, जिसके प्रारम्भमें ही गर्भ और जन्मकल्याणक है। तीर्थंकरके गर्भमें आनेके छह माह पूर्व ही इन्द्रने धनपतिको भेजा, जिसने तीर्थंकरकी नगरीको मणि-माणिक्योंसे सजाकर अपूर्व बना दिया। उसने बडे-बडे ऊँचे प्रासादोको रचना की और उनको कनक तथा रत्नोंसे जड दिया। वहाँ स्थान-स्थानपर रम्य उपवन सुशोभित होने लगे। उनमे विहार करनेवाले सुन्दर वेश-भूषाको धारण किये नगरनिवासी मनको मोहित करते थे। जनक-गृहमे छह माह पूर्व ही रत्न-धारा बरसने लगी और रुचिकवासिनी देवियाँ प्रसन्न हो-होकर सब भाँति जननीकी सेवामे जुट गयी। उनमे एक 'श्री' नामकी देवी थी, जिसने जननीकी उस 'कूँख' को बड़ी सावधानी-से शुद्ध किया, जिसमे त्रिलोकके नाथको नौ माह रहना था। तदुपरान्त एक रात-को माँने सोलह स्वप्न देखे और प्रातःकाल जब उनका फल अपने पतिसे पूछा तो उन्होंने 'तुम्हारा पुत्र त्रिभुवनपति होगा' घोषित किया। इस भाँति दोनो ही को आनन्द हुआ और नौ माह सुखपूर्वक बीतने लगे।[1]

---

१. पाण्डे रूपचन्द, पंचमंगल, गर्भकल्याणक (पूर्ण), बृहज्जिनवाणी संग्रह, सितम्बर १९५६, पृष्ठ. ५१-५३।

भूधरदासने अपने 'पार्श्वपुराण'मे भगवान् पार्श्वनाथके पंचकल्याणकोंका काव्यमय वर्णन किया है। पाण्डे रूपचन्दकी भाँति इसमें भी उन्ही बातोंका उल्लेख है, किन्तु कल्पनागत सौन्दर्य अधिक है। इन्द्रकी आज्ञासे धनपतिने महाराज अश्वसेनके घरमे साढे तीन करोड रत्नोकी वर्षा की। आकाशसे गिरती मणियोंकी चमक ऐसी मालूम होती थी, जैसे स्वर्गलोककी लक्ष्मी ही तीर्थंकरकी माँकी सेवा करने चली आयी हो। दुन्दुभियोसे गम्भीर ध्वनि निकल रही थी, मानो महासागर ही गरज रहा हो।[1] कुलाचलवासिनी देवियोंके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए भूधरदासने लिखा है, 'लावण्यसे भरा उनका कान्तिवान् शरीर ऐसा मालूम होता था, मानो दामिनी ही आकाशसे उतरी हो। वैसे तो उन्होने अंग-अंगमे शृंगार सजाया था, किन्तु उनका स्वाभाविक रूप-सौन्दर्य भी आश्चर्यमें डालनेवाला था। उनके माथेपर चूडामणि जगमगा रहा था और वक्षस्थलपर कल्प-वृक्षके सुमनोंकी माला सुवासित हो रही थी। उनके नूपुरोंसे 'श्रवन-सुखद' झंकार उठ रही थी।[2]

तीर्थंकर पार्श्वनाथके गर्भमे आते ही चारों प्रकारके देवताओंके आसन हिल उठे। इन्द्रने अपने अवधिज्ञानसे यह जान लिया कि आज भगवान् गर्भमे आये है। वह अपने सुरपरिवारसहित विमानपर चढकर गर्भकल्याणोत्सव मनानेके लिए चल पडा। सब देवताओंने माँ-बापका कंचन कलशोंसे स्नपन किया, और मगलगीत गाये। उन्होंने विविध प्रकारसे गर्भवासी भगवान्‌की पूजा भी की। सबके चले जानेपर रुचिकवासिनी देवियाँ रह गयी, जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे माँकी सेवा करती थी।[3] कोई स्नान कराती थी, कोई शृंगार सजाती थी, कोई सुस्वादु भोजन खिलाती थी और कोई ताम्बूल देती थी। कोई सुन्दर गाना गाती थी, कोई शय्या बिछाती थी और कोई चरण दाबती थी। कोई चन्दनसे सींचकर घर सुवासित करती थी, कोई आँगनमे बुहारी देती थी और कोई कल्पवृक्षके फलफूलोंकी भेट चढ़ाती थी।[4] जगरामने एक 'लघुमंगल' की रचना की थी। उसमे केवल तेरह पद्य है। उसकी हस्तलिखित प्रति बडौतके दि० जैन मन्दिरके गुटका न० ५४ पत्र ९९-१०२ पर लिखी हुई है। उसमे भी रुचिकवासिनी देवियोंके द्वारा तीर्थंकरकी माँकी सेवाका वर्णन है। एक रानीके सम्मुख दर्पण लिये खडी है, एक उनपर चँवर डुला रही है, एक वस्त्राभूषण पहना रही है, तो दूसरी

१. भूधरदास, पार्श्वपुराण, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई, आषाढ़ १९७५ वि०, द्वितीयावृत्ति, ५।८०-८८, पृ० ८३-८४।

२. वही, ५।१२८-१३३, पृ० ८९।

३. वही, ५।१३९-१४४, पृ० ९०।

४. वही, ५।१४७-१५०, पृ० ९०-९१।

वीणासे मधुर ध्वनि निकाल रही है। एक पहेली पूछती है, तो दूसरी प्रसन्न होकर उत्तर देती है। इस भाँति दिन और रात आनन्दपूर्वक बीतने लगे। त्रिभुवननाथकी महिमाका वर्णन कहाँतक किया जाये। वे केवल भक्तपर रीझते हैं। जगरामने उनका यश गाया है,

> "करि उछाह निज पूर गयो, माता पुण्य प्रभावै जी।
> छपन कुमारी टहल मैं, नाना रीति रिझावै जी॥
> इक सनमुष दरपन लीया, इक ठाडी चँवर ढुरावै जी।
> बसन आभूषन ईक सै, इक मधुरी बैनि बजावै जी॥
> पुंछत एक पहेलिका, इक उत्तर सुनि हरषावै जी।
> निसि दिन अति आनन्द स्यौं, इम नवमास बितावै जी॥
> महिमा त्रिभुवननाथ की, कवि कहाँ लौं बरणावै जी।
> भक्ति परेना बसि भयो, जगतराम जस गावै जी॥"

नौ माहके उपरान्त भगवान्का जन्म हुआ। तीनों लोकोंमें स्वाभाविक आनन्द फैल गया। कहींपर आँधी, मेह और धूलका प्रकोप दिखाई नहीं पड़ा, अपितु शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन बहने लगा। कल्पवासियोंके घरोंमें घण्टे स्वतः बज उठे, ज्योतिषियोंके यहाँ केहरियोंका नाद होने लगा, भवनालयोंमें शंख बज उठे और व्यन्तरवासियोंके यहाँ असंख्य भेरियाँ ध्वनित हो उठीं। कल्पवृक्ष स्वयं ही पुष्पोंकी वृष्टि करने लगे। इन्द्रासन भी कम्पायमान हो उठे। इस भाँति आनन्दमग्न प्रकृतिने यह घोषित कर दिया कि भगवान् जिनेन्द्रका जन्म हुआ है। सभी इन्द्र अपने-अपने सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये और वहींसे ही भगवान्को प्रणिपात किया।[१] इन्द्र-दम्पतिके चढ़नेके लिए कुबेरने एक मायामयी ऐरावतकी रचना की, जिसके काल्पनिक सौन्दर्यमें काव्यत्वका पूर्ण निर्वाह हुआ है। "उस हाथीके सौ मुख थे और प्रत्येक मुखमें आठ-आठ दाँत थे। प्रत्येक दाँतपर एक-एक सरोवर था, और हरेक सरोवरमें एक सौ पचीस कमलिनी खिली थीं। प्रत्येक कमलिनीपर पचीस मनोहर कमल बने हुए थे और हरेक कमलमें एक-सौ आठ पत्ते थे। उन पत्तोंपर देवांगनाएँ नृत्य कर रही थीं, जिनकी छविको देखकर संसार मोहित हो जाता था। उनके गीतोंमें नवों रस पनप रहे थे।"[२]

---

१. वही, ६।१-११, पृ० ६४–६५।

२. पाण्डे रूपचन्द, पंचमंगल, जन्मकल्याणक, पद्य ६, ज्ञानपीठ पूजाजलि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ई०, पृष्ठ ६६।

जोजन लाख गयंद, वदन सौ निरमये।
वदन वदन वसुदंत—दंत सर संठये॥
सर सर सौ पनवीस कमलिनी छाजहीं।
कमलिनि कमलिनि कमल पचीस विराजहीं॥
राजहीं कमलिनी कमल अठोतर सौ मनोहर दल बने।
दल-दलहिं अपछर नटहिं नवरस हाव भाव सुहावने॥
मणि कनक किंकणि वर विचित्र सु अमरमंडप सोहये।
घन घंट चँवर धुजा पताका देखि त्रिभुवन मोहये॥

ऐसे हाथीपर इन्द्र चला और शची भी। साथमे देवगण भी विविध उत्सवोंको करते हुए चले।

इन्द्र-वधू प्रसूतिगृहमे गयी, जहाँ माता पुत्रसहित लेटी थी। उसने प्रदक्षिणा देकर प्रणाम किया। सुत-रागसे रँगी माँ ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे मानो बालक भानुसहित सन्ध्या ही हो। शचीने मायामयी बालकको माँके पास रखकर भगवान्‌को अपने हाथोमे उठा लिया। बालककी देहसे ऐसी ज्योति फूट रही थी कि उसके समक्ष करोडो सूर्योंकी छवि भी मलिन ही प्रतिभासित होती थी। भगवान्‌की देहका स्पर्श करके इन्द्राणीको इतना सुख मिला कि उसका वर्णन कवि-वाणीसे परे है। प्रभुके मुख-वारिजको सुर-रानी बार-बार देखती थी, किन्तु अघाती नहीं थी।[1] इन्द्रने तो दो नेत्रोको अपर्याप्त समझकर सहस्र नेत्रोंकी रचना कर ली। सौधर्मेन्द्रने भगवान्‌को गोदमे ले लिया, ईशानके सुरेशने उनके सिरपर छत्र लगा दिया और सानत्कुमार तथा माहेन्द्र चमर ढुलाने लगे। ब्रह्मादि स्वर्गोंके इन्द्र जय-जयकार बोल उठे। रूपकी खान सुररमणियाँ नृत्य करने लगी और गन्धर्व कन्य-काओंकी वीणाएँ सुयश-गीतोसे निनादित हो उठी। विविध प्रकारके बाजे बज उठे। कोई-कोई तो नृत्य-गायन भूलकर बालकको निर्निमेष देखता ही रह गया।[2]

सब देव मिलकर बालक भगवान्‌को पाण्डुक वनमे ले गये और वहाँ पाण्डुक शिलापर विराजमान किया। फिर क्षीरसागरके एक सहस्र और आठ कलशोंसे उनका स्नपन हुआ। उसका प्रारम्भ सौधर्म स्वर्गके इन्द्रोने किया, फिर सब इन्द्रों और देवोंने अनेक भरे हुए कलशे उस सद्यःप्रसूत बालकके सिरपर ढाले। वहाँ एक नभगंगा-सी प्रवाहित होने लगी।[3] अतुल बल और वीर्यके कारण ही

१. भूधरदास, पार्श्वपुराण, बम्बई, ६।३२-३५, पृष्ठ ६७।
२. वही, ६।३८-४१, पृष्ठ ६७।
३. वही, ६।६३-६४, पृष्ठ १००।

भगवान् उस प्रबल जल-धाराको सहन कर सके, अन्यथा उसमे इतनी शक्ति थी कि बड़े-बड़े गिरि-शिखर भी खण्ड-खण्ड हो जाते।[1] भगवान्‌के श्यामवर्ण शरीर-पर कलश-नीरकी ऐसी छटा थी, जैसे मानो नीलाचलके सिरपर पालेके बादल बरस रहे हों। उनके स्नपनके जलकी छटा उछलकर आकाशकी ओर चल उठी सो मानो वह भी स्वामीके साथ पापरहित हो गयी है, अतः उसकी भी ऊर्ध्वगति क्यों न हो। उनके स्नपनके जलकी तिरछी छटा ऐसी विदित होती थी, जैसे किसी दिग्वनिताका कर्णफूल ही हो।[2]

'जन्म न्हौन' की विधि पूर्ण होनेपर, शचीने पवित्र वस्त्रसे उनके शरीरको निर्जल किया। उसपर कुंकुमादि बहुत प्रकारके लेपन किये। अब भगवान्‌के शरीरकी शोभा ऐसी मालूम होने लगी जैसे नीलगिरिपर साँझ फूली हो। शचीने भगवान्‌का सब शृंगार किया। उनके भालपर तिलक लगाया, सिरपर मणिमय मुकुट रखा और माथेपर चूड़ामणि लगाया। स्वाभाविक रूपसे अंजित नेत्रोंमें भी अंजन लगाया। दोनों कानोंमें मणिजटित कुण्डल पहनाये, जो चन्द्र और सूरजकी भाँति ही प्रकाशित हो रहे थे। कण्ठमें मोतियोंकी माला, भुजाओंमे भुजबन्ध और उँगलियोंमे मुद्रिकाएँ पहनायीं। कमरमें मणिमय क्षुद्रघण्टिकाओंसे युक्त तगड़ी पहनायी, जिसमें रत्नोंकी झालर लटक रही थी। विभिन्न आभूषणोंसे युक्त भगवान् इस भाँति विराज रहे थे, जैसे विविध फलोंसे युक्त सुर-तरु ही सुशोभित हो रहा हो।''[3]

सम्राट् अश्वसेनने भी जन्मोत्सव मनाया। वाराणसीके घर-घरमे मंगलाचार होने लगे। कामिनियाँ गीत गा उठीं और स्थान-स्थानपर नृत्य तथा संगीत होने लगा। समूचे नगरमें चन्दन छिड़कवा दिया गया और घर-घरमें रत्नोंके साँथिया रखे गये। याचकोंको दान दिया गया। और सुजनोंका सम्मान हुआ। सबकी आशाएँ पूरी कर दी गयीं। अब कोई भी दीन-दुःखी दिखाई नहीं देता था।[4] ऐसे अवसरपर इन्द्रने भी देवताओंके साथ आनन्द नामके नाटककी रचना की, जिसमें उसके ताण्डव-नृत्यका दृश्य अनुपम था।[5]

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवके जन्मोत्सवकी बात कहते हुए द्यानतरायने लिखा है, ''हे भाई! आज इस नगरीमें आनन्द मनाया जा रहा है। जितनी भी

---

१. वही, ६।६६-६७, पृ० १००।
२. वही, ६।६८-७०, पृ० १००।
३. वही, ६।७५-८१, पृ० १०१।
४. वही, ६।१०६-१०८, पृ० १०४।
५. वही, ६।१११, ११३, पृ० १०५।

गजगामिनी और शशिवदनी तरुणियाँ है, वे सब मंगल-गीत गा रही हैं। राजा नाभिरायके घर पुत्र-जन्म हुआ है, और इस अवसरपर उनके यहाँ जो कोई जो कुछ माँगने आया, उससे कही अधिक दिया गया, जिससे उसे फिर माँगनेकी आवश्यकता ही नही रह गयी। मरु देवीकी कूँख धन्य है, जिससे ऐसा प्रतापशाली पुत्र हुआ कि देवता भी माँके चरणोंकी वन्दना करनेमें अपना अहोभाग्य मानते हैं।[1]" कवि बनारसीदासने दूसरे तीर्थंकर अजितनाथके जन्मोत्सवका वर्णन किया है। उस अवसरपर भी देवागनाओने मधुर ध्वनिमे मगलाचारके गीत गाये थे। अजितनाथ निर्मल चन्द्रको भाँति सुन्दर थे। उनके जन्मसे पृथ्वी शोभा-सम्पन्न हो गयी और तीनो लोकोमे आनन्द छा गया। इक्ष्वाकु वंशमे उनके उत्पन्न होनेमे कुमतिरूपी अन्धकार तो जड़मूलसे विनष्ट हो गया था।[2]

कवि बनारसीदासने एक आध्यात्मिक बेटेके जन्मको दिखानेका प्रयास किया है। वह आध्यात्मिक बेटा 'शुद्धोपयोग' है। दोनोंमे बडी कुशलतासे 'सांगरूपक' रचा गया है। जिस प्रकार मूल नक्षत्रमें उत्पन्न होनेवाला पुत्र समूचे कुटुम्बको खा जाता है, ठीक वैसे ही शुद्धोपयोगके उत्पन्न होते ही परिवार-सम्बन्धी माया-ममता बिलकुल समाप्त हो गयी। उसने जन्म लेते ही ममता-रूपी माता, मोह-लोभरूपी दोनों भाई, काम-क्रोधरूपी दो काका और तृष्णा रूपी धायको खा लिया। पापरूपी पड़ोसी, अशुभ कर्मरूपी मामा और घमण्ड नगरके राजाको समाप्त ही कर दिया, तथा स्वयं समूचे गाँवमे फैल गया। उसने दुर्मतिरूपी दादीको खा लिया और दादा तो उसका मुख देखते ही मर गया था। इस बालकके उत्पन्न होनेपर भी मंगलाचारके बधाये गाये गये थे। इस बालकका नाम भोदू रखा गया, क्योंकि उसके कुछ भी रूप और वर्ण नहीं है। यह तो ऐसा बालक है, जिसने नाम रखनेवाले पाण्डेको भी खा लिया है।[3]

---

१. गजगमनी शशि बदनी तरुनी, मंगल गावत हैं सिगरी।
भाई आज आनन्द है या नगरी॥
नाभिराय घर पुत्र भयो है, किये हैं अजाचक जाचकरी।
भाई आज आनन्द है या नगरी॥
द्यानत धन्य कूंख मरुदेवी, सुर सेवत जाके पद री।
भाई आज आनन्द है या नगरी॥

द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, पद २०, पृ० ६।

२. बनारसीदास, बनारसी विलास, जयपुर १६५४, अजितनाथजीके छन्द, पृष्ठ १८८।

३. बनारसीदास, बनासी विलास, जयपुर, १६५४, परमार्थ हिंडोलना, पृष्ठ २३६।

"मूलन बेटा जायो रे साधो, मूलन बेटा जायो रे।
जानै खोज कुटुंब सब खायो रे, साधो मूलन बेटा जायो रे॥
जन्मत माता ममता खाई, मोह लोभ दोइ भाई।
काम क्रोध दोइ काका खाये, खाई तृषना दाई॥
पापी पाप परोसी खायो, अशुभ करम दोइ मामा।
मान नगर को राजा खायो, फैल परो सब गामा॥
दुरमति दादी खाई दादो मुख देखत ही मूओ।
मंगलाचार बधाये बाजे, जब यो बालक हूओ॥
नाम धर्यो बालक को सोंदू, रूप वरन कछु नाहीं।
नाम धरंते पांडे खाये कहत बनारसि भाई॥"

जैन साहित्यमें अनेक स्थानोंपर बालकोंके तेजस्वी रूपका वर्णन है। बाल-वर्णनोंमें उनकी तेजस्विताका भी निरूपण होता रहा है। महाकवि कालिदासने अपने 'शाकुन्तलम्' में दुष्यन्तके पुत्र भरतका ऐसा ही एक तेजस्वी चित्र खींचा है। यद्यपि आगे चलकर 'श्रीमद्भागवत' की मुख्यताने बालकके मधुरतापरक रूपको ही प्रधानता दी, किन्तु वह परम्परा भी रुकी नहीं। सत्तरहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध कवि ब्रह्मरायमल्लने 'हनुवन्तचरित्त' का निर्माण किया था, उसमें बालक हनुमान्का ओजस्वी वर्णन है। उन्होंने लिखा है, "जब सूर्यकी भाँति देदीप्यमान बालक हनुमान्का जन्म हुआ, तो अन्धकाररूपी शत्रुमण्डल स्वतः ही फट गया। सिंह चाहे छोटा ही हो, अत्यधिक सूर होता है, वह बडे-बडे हाथियोंको चकनाचूर कर डालता है। वृक्षोंसे सघन हुआ वन कितना ही विस्तृत क्यों न हो, रत्ती-भर अग्नि ही उसे जलाकर छार कर डालनेमें पूर्ण समर्थ है। क्षत्रिय-का बालक भी ऐसा ही अग्निके स्फुलिंगकी भाँति होता है। उसके स्वभावमें शौर्य होता है, उसे वह कभी छोड नहीं सकता।"[1] ऐसे अन्य वर्णन भी हिन्दीके जैन चरित ग्रन्थोंमें अंकित हैं। उनमें काव्यसौष्ठव है और सरसता। बाल-क्रीडाओंके भी विविध वर्णन जैन पुराणोंमें व्याप्त हैं, किन्तु उनमें सूर-जैसे मनो-दर्शनकी क्षमता नहीं है। बालकोंकी अन्त.प्रकृतिकी जैसी सुन्दर और स्वाभाविक व्यंजना सूर कर सके जैन-हिन्दीका कोई कवि नहीं।

सूरदासका जितना ध्यान बालक कृष्णपर जमा, बालिका राधापर नहीं। बालिकाओंका मनोवैज्ञानिक वर्णन, सीता और अंजनाके रूपमें, जैन भक्ति-काव्योंमें उपलब्ध होता है। रामचन्दके 'सीता चरित्त' में बालिका सीताको विविध

---

१. ब्रह्मरायमल्ल, हनुवन्तकथा।

चेष्टाओंका सरस चित्र खींचा गया है। 'अंजना सुन्दरी रास' मे अंजनाका बाल-वर्णन भी हृदयग्राही है। बालिका सीता, मणिमय आँगनमें बैठी अपने सुआयत नेत्रोंसे चारों ओर देख रही है, किन्तु जब पिता जनकपर नजर पड़ती है, तो उसके होठोंपर मीठी मुसकराहट इस भाँति छिटक जाती है, जैसे किसी भक्तके हृदयकी दिव्य ज्योति ही हो। खम्भोंमे पड़ते उसके मुख-कमलके प्रतिबिम्बने कमलोंकी माला ही रच दी है।[1] अजनाको तो उसके माँ-बाप उँगली पकड़कर चलना सिखाते है, किन्तु वह बार-बार गिर जाती है। वह भोली आँखोंसे पिताकी ओर देखती है और वे उसको चूमकर गोदमें उठा लेते हैं।[2]

यह स्वीकार नही किया जा सकता कि जैन हिन्दी कवियोंके बाल-रस-सम्बन्धी चित्रोंपर सूरदासका प्रभाव है। इसके दो कारण है—पहला तो यह है कि सूरसागरमे गर्भ और जन्मोत्सवोंकी उस शैलीका यत्किंचित् भी दर्शन नही होता, जो जैन काव्योमे प्रमुख रूपसे अपनायी गयी है। सूरने कृष्णके जन्मकी आनन्द बधाईके उपरान्त ही 'यशोदा हरि पालने झुलावै' प्रारम्भ कर दिया है। यह जन्मोत्सव लोकके बीच वैसे आनन्दकी सृष्टि न कर सका, जैसा कि जैन काव्योमे हुआ है। यद्यपि जैन कवियोंके इन उत्सव-चित्रोंमे परम्परानुगतता अधिक है, मौलिकता कम, फिर भी एक ऐसा आकर्षण है, जो सदैव चिर-नवीन बना रहेगा। दूसरा कारण है, हिन्दीके जैन भक्ति-साहित्यपर जैन-संस्कृत और अपभ्रंश काव्योंका प्रभाव। हिन्दीके अधिकांश चरित्र-ग्रन्थ ऐसे है, जो संस्कृतके अनुवाद-मात्र हैं। भूधरदासका 'पार्श्व-पुराण' एक मौलिक काव्य है, किन्तु उसके वर्णन भी संस्कृत-साहित्यसे अनुप्राणित है। अत: जैन हिन्दीके बाल-रसके पीछे उसकी अपनी परम्परा है। सम्भव है उसका सूरदासपर भी प्रभाव पड़ा हो। स्वयम्भूके 'पउम चरिउ' और पुष्पदन्तके 'महापुराण' मे वर्णित बाल-वर्णनके कतिपय पद्य सूरके बाल-वर्णनसे मिलते है। महाकवि पुष्पदन्त (ई० सं० ९५९) के 'महापुराण' मे बालक ऋषभदेवका बाल-सौन्दर्य, सूरदास (वि० सं० १५४०) के सूरसागरमें वर्णित बालक कृष्णसे बिलकुल मिलता हुआ है।

सेसवलीलिया कीलमसीलिया। पहुणा दाविया केण ण भाविया॥
धूली धूसरु ववगय कडिल्लु। सहइ जायक विलकोंतलु जडिल्लु॥
हो हल्लरु जो जो सुहं सुअहिं। पइं पणवंतउ भूयगणुं॥
णंदइ रिज्झइ दुक्किय मलेण। का सुवि मलिगुण ण होइ मणु॥

---

1. रायचन्द, सीताचरित्र, जैनसिद्धान्तभवन आराकी हस्तलिखित प्रति, १।१२६, पृष्ठ ११।
2. अंजनासुन्दरीरास, जैनसिद्धान्तभवन आराकी हस्तलिखित प्रति, २।३५, पृष्ठ ४३।

धूली धूसरो कडि किंकिणी सरो।
णिरुव मलोलउ कीलइ बालउ ॥

— महापुराण

कहाँ लौं बरणौं सुन्दरताइ,
खेलत कुँअर कनक आंगन में, नैन निरखि छबि छाइ।
कुलहि लसति सिर स्याम सुभग अति, बहुविधि सुरंग बनाइ।
मानो नवघन ऊपर राजत, मघवा धनुष चढ़ाइ।
अति सुदेश मृदु हरत चिकुर मन, मोहन मुख बगराइ।
खंडित वचन देत पूरन सुख, अल्प अल्प जलपाइ।
घुटुरन चलत रेनु तन मंडित, सूरदास बलि जाइ ॥

— सूरसागर

इसीको लेकर डॉ० रामसिंह तोमरने लिखा है, "अतः हम संक्षपमे कह सकते है कि हिन्दीकी सभी काव्य-पद्धतियोका स्पष्ट स्वरूप हमे जैन कवियों-द्वारा प्राप्त हुआ है।[1]" 'अपभ्रंश-दर्पण' मे तो यहाँतक लिखा है कि—हिन्दीका कौन कवि है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमे अपभ्रंशके जैन प्रबन्ध काव्योंसे प्रभावित न हुआ हो।[2] यहाँ इतनी बडी बात नही कही जा सकती। किन्तु महापुराण और सूरसागरके बाल-वर्णनोका साम्य विचारणीय अवश्य है। दोनोके हृदयमें एक-से भाव आ सकते है, फिर भी ऐसा 'हू-बहू' नही हो सकता। यह जब होता है तो 'प्रथम' का 'द्वितीय' पर प्रभाव सिद्ध हो ही जाता है। प्रभावित होते हुए भी सूरदास पुष्पदन्तके अनुवादक नही थे। कृष्णके केवल 'बाल' और 'कैशोर' रूपको अपनानेके कारण, बालकको विविध मनोदशाओके निरूपणका जितना अवसर सूरदासको मिला, पुष्पदन्तको नही। महाकाव्यका निर्माता 'बालवर्णन'मे अधिक नही खप सकता। उसे कथानकके साथ आगे बढ़ जाना होता है।

पं० रामचन्द्र शुक्लने लिखा है, "वात्सल्यरसके भीतरकी जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओका अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके, उतनीका और कोई नही।[3] शायद पं० शुक्लको 'जैन हिन्दी काव्य' देखनेका समय नही मिला। भट्टारक ज्ञानभूषणने अपने 'आदीश्वरफागु' आमेरशास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित

१. डॉ० रामसिंह तोमर, जैन साहित्यकी हिन्दी साहित्यको देन, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ४६८।
२. प्रो० श्री जगन्नाथ राय शर्मा अपभ्रंशदर्पण, पृष्ठ २५।
३ भ्रमरगीतसार, द्वितीय संस्करण, काशी, भूमिका, पृष्ठ २।

प्रति[1] में आदिनाथकी बालदशाओंको चित्रवत् उपस्थित किया है। बालक आदीश्वर पालनेमें पड़ा हुआ सो रहा है, किन्तु बीच-बीचमें कभी आँख खोलकर देखता है, कभी रो उठता है और कभी अपने चंचल हाथोंसे हार मोड़ अथवा तोड़ देता है।

"आहे खिणि ओवइ खिणि सोवइ रोवइ लहीअ लगार।
आलि करइ कर मोडइ ओडइ नक्सर हार ॥१०३॥"

भट्टारक ज्ञानभूषण एक सामर्थ्यवान् कवि थे। बाल-भगवान्के पैरोंमें स्वर्णके घुँघरू पड़े है। जब वह लड़खड़ाते डगोंसे चलते हैं, तो उनमें-से 'घ्रण-घ्रण' की मधुर ध्वनि फूटती है, जिसे सुनकर नृपति और माँ मरुदेवी दोनों ही को अपार प्रसन्नता होती है।

"आहे घ्रण घ्रण घूँघरी बाजइ हेम तणी विहु पाइ।
तिम तिम नरपति हरखइ मरुदेवी माइ ॥१०१॥"

यहाँ 'घूँघरी' और 'घ्रण-घ्रण' ने समूचे दृश्यको ही उपस्थित कर दिया है। 'घूँघरू' का लघुरूप 'घूँघरी' लघु बालकके उपयुक्त ही है। उसमें-से निकलनेवाली ध्वनिके लिए 'घ्रण-घ्रण'के प्रयोगसे चित्र जीवन्त हो उठा है।

कविने बालकके शरीरकी शोभाका वर्णन करते हुए लिखा है कि उसके अंग-प्रत्यंग अनुपम है। बालकके मस्तकपर टोपी विराजमान है, कानोंमें कुण्डल झलक रहे है। देखनेवाला ज्यों-ज्यों देखता है, उसका हृदय अधिकाधिक आह्लादित होता जाता है। अर्थात् दर्शक तृप्तिका अनुभव नहीं करता।

"आहे अंगोय अंगि अनोपम उपम रहित शरीर।
टोपीय उपीय मस्तकि बालक छइ पण वीर ॥९५॥
आहे कनिय कुंडल झलकइ खलकइ नेउर पाउ।
जिम जिम निरखइ हियडइ तिम तिम माइ ॥९६॥"

प्रेमभाव

भक्ति-रसका स्थायी भाव भगवद्विषयक अनुराग है। इसीको शाण्डिल्यने 'परानुरक्तिः' कहा है।[2] परानुरक्ति गम्भीर अनुरागको कहते हैं। गम्भीर अनु-

१. आमेर शास्त्रभण्डारकी हस्तलिखित प्रतिपर, रचनाकाल वि० सं० १५५१ दिया है।

२. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, गीताप्रेस गोरखपुर, १।२, पृष्ठ १।

राग ही 'प्रेम' कहलाता है।[1] चैतन्य महाप्रभुने रति अथवा अनुरागके गाढ़े हो जानेको ही 'प्रेम' कहा है।[1] 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भी लिखा है, "सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः। भाव. स एव सान्द्रात्मा बुधै. प्रेम निगद्यते॥"[2]

'प्रेम' दो प्रकारका होता है—लौकिक और अलौकिक। भगवद्विषयक अनुराग अलौकिक प्रेमके अन्तर्गत आता है। यद्यपि भगवान्‌का अवतार मानकर उसके प्रति लौकिक प्रेमका भी आरोपण किया जाता है, किन्तु उसके पीछे अलौकिकत्व सदैव छिपा रहता है। इस प्रेममे समूचा आत्म-समर्पण होता है और प्रेमके प्रत्यागमनकी भावना नही रहती। अलौकिक प्रेमजन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैतभाव ही मृत हो जाता है, फिर 'प्रेम' के प्रतीकारका भाव कहाँ रह सकता है।

नारियाँ प्रेमकी प्रतीक होती है। उनका हृदय एक ऐसा कोमल और सरस थाला है, जिसमे प्रेम-भावको लहलहानेमे देर नही लगती। इसी कारण भक्त भी कान्ताभावसे भगवान्‌की आराधना करनेमे अपना अहोभाग्य समझता है। भक्त 'तिय' बनता है और भगवान् 'पिय'। यह दाम्पत्यभावका प्रेम, जैन कवियोंकी रचनाओंमे भी उपलब्ध होता है। जैन साहित्यके ख्यातिलब्ध कवि बनारसीदासने अपने 'अध्यात्म-गीत' मे आत्माको नायक और सुमति को उसकी पत्नी बनाया है। पत्नी पतिके वियोगमे इस भाँति तड़प रही है जैसे जलके बिना मछली। उसके हृदयमे पतिसे मिलनेका चाव निरन्तर बढ़ रहा है। वह अपनी समता नामकी सखीसे कहती है कि पतिके दर्शन पाकर मैं उसमे इस तरह मग्न हो जाऊँगी, जैसे बूँद दरियामे समा जाती है। मैं अपनपा खोकर पिय सूँ मिलूँगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[3] अन्तमे पति तो उसे अपने घटमे ही मिल गया, और वह

---

१. साधन-भक्ति हइते हय रतिर उदय।
भक्ति गाढ़ हइले तार प्रेम नाम कय॥
भक्ति घन कृष्णे प्रेम उपजय॥
चैतन्य चरितामृत, कल्याण, भक्ति अंक, वर्ष ३२, अंक १, पृष्ठ ३३३।

२. श्री रूप गोस्वामी, भक्तिरसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० १९८८, प्रथम संस्करण, १।४।१।

३. मै विरहिन पिय के आधीन। यों तलफों ज्यों जल बिन मीन॥३॥
होहुँ मगन मै दरसन पाय। ज्यों दरिया मे बूँद समाय॥९॥
पिय को मिलों अपनपो खोय। ओला गल पाणी ज्यों होय॥१०॥
बनारसीविलास जयपुर, १९५४ ई० अध्यात्मगीत, पृष्ठ १५९-१६०।

उससे मिलकर इस प्रकार एकमेक हो गयो कि द्विविधा तो रही ही नही। उसके एकत्वको कविने अनेक सुन्दर दृष्टान्तोंसे पुष्ट किया है। वह करतूति है और पिय कर्ता, वह सुख-सीव है और पिय सुख सागर, वह शिव-नीव है और पिय शिव-मन्दिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पति शंकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।

> "पिय मोरे घट मैं पिय माहिं। जल तरंग ज्यों दुविधा नाहिं॥
> पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
> पिय सुख सागर मैं सुख सींव। पिय शिव मंदिर मैं शिवनीव॥
> पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम।
> पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मै केवल बानि॥"[1]

कविने सुमति रानीको 'राधिका' माना है। उसका सौन्दर्य और चातुर्य सब कुछ राधाके ही समान है। वह रूपसी रसीली है और भ्रमरूपी तालेको खोलनेके लिए कीलीके समान है। ज्ञान-भानुको जन्म देनेके लिए प्राची है और आत्म-स्थलमे रमनेवाली सच्ची विभूति है। अपने धामकी खबरदार और रामकी रमनहार है। ऐसी सन्तोकी मान्य, रसके पन्थ और ग्रन्थोमे प्रतिष्ठित और शोभाकी प्रतीक राधिका सुमति रानी है।[2]

सुमति अपने पति 'चेतन'से प्रेम करती है। उसे अपने पतिके अनन्त ज्ञान, बल और वीर्यवाले पहलू पर एकनिष्ठा है। किन्तु वह कर्मों की कुसंगतिमें पड़कर भटक गया है। अत. बड़े ही मिठास-भरे प्रेमसे दुलराते हुए सुमति कहती है, "हे लाल! तुम किसके साथ कहाँ लगे फिरते हो, आज तुम ज्ञानके महलमे क्यो नही आते। तुम अपने हृदय-तलमे ज्ञानदृष्टि खोलकर देखो, दया, क्षमा,

---

१. बनारसीविलास, जयपुर, अध्यात्मगीत, पृष्ठ १६१।

२. रूप की रसीली भ्रम कुलप की कीली,
शील सुधा के समुद्र झीलि सीलि सुखदाई है।
प्राची ज्ञान भान की अजाची है निदान की,
सुराची निरवाची ठौर सांची ठकुराई है।
धाम को खबरदार राम को रमनहार,
राधा रस पंथनि में ग्रन्थनि मे गाई है।
सन्तन की मानी निरवानी रूप की निसानी,
यातैं सुबुद्धि रानी राधिका कहाई है।
बनारसीदास, नाटकसमयसार, सर्वविशुद्धिद्वार पद्य ७४।

समता और शान्ति-जैसी सुन्दर रमणियाँ तुम्हारी सेवामें खड़ी हुई हैं। एकसे एक अनुपम रूपवाली हैं। ऐसे मनोरम वातावरणको भूलकर और कहीं न जाइए। यह मेरी सहज प्रार्थना है।"[1]

"कहाँ कहाँ कौन संग लागे ही फिरत लाल
आवो क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
नैकहू विलोकि देखो अन्तर सुदृष्टि सेती,
कैसी कैसी नीकी नारि ठाड़ी हैं टहल में॥
एकनतें एक बनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी वाम की चहल में।
ऐसी विधि पाय कहूँ भूलि और काज कीजे,
एतो कह्यो मान लीजे बीनती सहल में॥"

बहुत दिन बाहर भटकनेके बाद चेतन राजा आज घर आ रहा है। सुमतिके आनन्दका कोई ठिकाना नहीं है। वर्षोंकी प्रतीक्षाके बाद पियके आगमनको सुनकर भला कौन प्रसन्न न होती होगी। सुमति आह्लादित होकर अपनी सखीसे कहती है। "हे सखी! देखो आज चेतन घर आ रहा है। वह अनादि काल तक दूसरोंके वंशमें होकर घूमता फिरा, अब उसने हमारी सुध ली है। अब तो वह भगवान् जिनकी आज्ञाको मानकर परमानन्दके गुणोंको गाता है। उसके जन्म-जन्मके पाप भी पलायन कर गये है। अब तो उसने ऐसी युक्ति रच ली है, जिससे उसे संसारमें फिर नहीं आना पड़ेगा। अब वह अपने मनभाये परम अखण्डित सुखका विलास करेगा।"[2]

पतिको देखते ही पत्नीके अन्दरसे परायेपनका भाव दूर हो जाता है। द्वैध हट जाता है और अद्वैत उत्पन्न हो जाता है। ऐसा ही एक भाव बनारसीदासने

---

१. भैया भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, सन् १९२६ ई०, शत अष्टोत्तरी, ७२वाँ पद्य, पृष्ठ० १४।

२. देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवै।
काल अनादि फिर्यो परवश ही, अब निज सुधहिं चितावै॥
जनम जनम के पाप किये जे, ते छिन माहिं बहावै।
श्री जिन आज्ञा शिर पर धरतो, परमानन्द गुण गावै॥
देत जलाजुलि जगत फिरन को ऐसी जुगति बनावै।
विलसै सुख निज परम अखण्डित, भैया सब मन भावै॥
वही, परमार्थ पदपंक्ति, १४वाँ पद, पृष्ठ ११४।

उपस्थित किया है। सुमति चेतनसे कहती है, "हे प्यारे चेतन! तेरी ओर देखते ही परायेपनकी गगरी फूट गयी, दुविधाका अंचल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गयी। कुछ समय पूर्व तुम्हारी याद आते ही मैं तुम्हें खोजनेके लिए अकेली ही राज-पथको छोड़कर भयावह कान्तारमें घुस पड़ी थी। वहाँ काया-नगरीके भीतर तुम अनन्त बल और ज्योतिवाले होते हुए भी कर्मोंके आवरणमें लिपटे पड़े थे। अब तो तुम्हें मोहकी नींद छोड़कर सावधान हो जाना चाहिए।"

"बालम तुहु तन चितवन गागरि फूटि
अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, बालम० ॥१॥
पिउ सुधि पावत वन में पैसिउ पेलि
छाडत राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम० ॥३॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप, बालम० ॥५॥
चेतन बूझि विचार धरहु सन्तोष
राग दोष दुइ बंधन छूटत मोष, बालम० ॥१३॥"[1]

एक सखी सुमतिको लेकर नायक चेतनके पास मिलानेके लिए गयी। पहले दूतियाँ ऐसा किया करती थीं। वहाँ वह सखी अपनी बाला सुमतिकी प्रशंसा करते हुए चेतनसे कहती है, "हे लालन! मैं अमोलक बाला लायी हूँ। तुम देखो तो वह कैसी अनुपम सुन्दरी है। ऐसी नारी तीनों संसारमें दूसरी नहीं है। और हे चेतन! इसकी प्रीति भी तुझसे ही सनी हुई है। तुम्हारी और इस राधेकी एक-दूसरेपर अनन्त रीझि है। उसका वर्णन करनेमें मैं पूर्णरीत्या असमर्थ हूँ।"[2]

आध्यात्मिक विवाह

इसी प्रेमके प्रसंगमें आध्यात्मिक विवाहोंको लिया जा सकता है। ये 'विवाह-ला' 'विवाह', 'विवाहलउ', और 'विवाहलौ' आदि नामोंसे अभिहित हुए है। इनको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक तो वह जब दीक्षा-ग्रहणके

१. बनारसीविलास, जयपुर, अध्यात्मपदपंक्ति, पृ० २२८–२२९।
२. लाई हो लालन बाल अमोलक, देखहु तो तुम कैसी बनी है।
ऐसी कहुँ तिहुँ लोक में सुंदर, और न नारि अनेक घनी हैं।।
याहि तैं तोहि कहूँ नित चेतन, याहू की प्रीति जु तो सों सनी है।
तेरी औ राधे की रीझि अनंत सु मो पै कहूँ यह जात गनी है।।
ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, पद्य २८, पृ० १४।

समय आचार्यका 'दीक्षा-कुमारी' अथवा 'संयमश्री' के साथ विवाह सम्पन्न होता है और दूसरा वह जब आत्मारूपी नायकके साथ उसीके किसी गुणरूपी कुमारी-की गाँठें जुड़ती हैं। इनमें प्रथम प्रकारके विवाहोंका वर्णन करनेवाले कई रास 'ऐतिहासिक काव्यसंग्रह' में संकलित हैं। दूसरे प्रकारके विवाहोंमें सबसे प्राचीन जिनप्रभसूरिका 'अन्तरग विवाह' प्रकाशित हो चुका है। उपर्युक्त सुमति और चेतन दूसरे प्रकारके पति-पत्नी हैं। इसीके अन्तर्गत वह दृश्य भी आता है। जब कि आत्मारूपी नायक 'शिवरमणी' के साथ विवाह करने जाता है। अजयराज पाटणीके 'शिवरमणी-विवाह'का उल्लेख हो चुका है। वह १७ पद्योंका एक सुन्दर रूपक-काव्य है। उन्होंने 'जिनजीकी रसोई' में तो विवाहोपरान्त सुस्वादु भोजन और वन-विहारका भी उल्लेख किया है।[1]

बनारसीदासने तीर्थंकर शान्तिनाथका शिवरमणीसे विवाह दिखाया है। शान्तिनाथ विवाह-मण्डपमें आनेवाले हैं। होनेवाली वधूकी उत्सुकता दबाये नही दबती। वह अभीसे उनको अपना पति मान उठी है। वह अपनी सखीसे कहती है, "हे सखी! आजका दिन अत्यधिक मनोहर है। किन्तु मेरा मनभाया अभी-तक नहीं आया। वह मेरा पति सुख-कन्द है, और चन्द्रके समान देहको धारण करनेवाला है, तभी तो मेरा मन-उदधि आनन्दसे आन्दोलित हो उठा है। और इसी कारण मेरे नेत्र-चकोर सुखका अनुभव कर रहे हैं। उसकी सुहावनी ज्योतिकी कीर्ति संसारमें फैली हुई है। वह दु:खरूपी अन्धकारके समूहको नष्ट करनेवाली है। उनकी वाणीसे अमृत झरता है। मेरा सौभाग्य है, जो मुझे ऐसे पति प्राप्त हुए है।"[2]

तीर्थंकर अथवा आचार्योंके 'संयमश्री'के साथ विवाह होनेके वर्णन तो बहुत अधिक हैं। उनमें-से 'जिनेश्वरसूरि' और 'जिनोदयसूरि विवाहला' एक सुन्दर काव्य है। इसमे इन सूरियोका संयमश्रीके साथ विवाह होनेका वर्णन है। इसकी

---

१. देखिए इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय, अजयराज पाटणी।

२. सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नही घरे।
सहि एरी ! मन उदधि अनन्दा सुख, कन्दा चन्दा देह धरे॥
चन्द जिवां मेरा वल्लभ सोहै, नैनचकोरहिं सुक्ख करै।
जगज्योति सुहाई कीरति छाई, बहु दुख तिमर वितान हरै।
सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग का लांछन कहिए।
श्री शांन्ति जिनेशनरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहिए॥१॥
बनारसीविलास, जयपुर, श्री शान्तिजिनस्तुति, प्रथम पद्य, पृ० १८९।

रचना वि० सं० १३३१ में हुई थी। हिन्दीके कवि कुमुदचन्द्रका 'ऋषभविवाहला' भी ऐसी ही एक कृति है। इसमे भगवान् ऋषभनाथका दीक्षा-कुमारीके साथ विवाह हुआ है। श्रावक ऋषभदासका 'आदीश्वर वीवाहला' भी बहुत हो प्रसिद्ध है। विवाहके समय भगवान्ने जिस चुनड़ीको ओढ़ा था, वैसी चुनड़ी छपानेके लिए न जाने कितनी पत्नियाँ अपने पतियोंसे प्रार्थना करती रही हैं। सोलहवी शताब्दी-के विनयचन्द्रकी 'चूनड़ी' हिन्दी साहित्यकी एक प्रसिद्ध रचना है। साधुकीर्तिकी 'चूनडी'मे तो सगीतात्मक प्रवाह भी है।

तीर्थंकर नेमीश्वर और राजुलका प्रेम

नेमीश्वर और राजुलके कथानकको लेकर, जैन-हिन्दीके भक्त-कवि दाम्पत्य-भावको प्रकट करते रहे है। राजशेखर सूरिने विवाहके लिए राजुलको ऐसा सजाया है कि उसमे मृदुल काव्यत्व ही साक्षात् हो उठा है। किन्तु वह वैसी ही उपास्य बुद्धिसे संचालित है, जैसे 'राधा सुधानिधि'मे राधाका सौन्दर्य। राजुलको शील-सनी शोभामे कुछ ऐसी बात है कि उससे पवित्रताको प्रेरणा मिलती है, वासनाको नही। विवाहमण्डपमे विराजी वधू जिसके आनेकी प्रतीक्षा कर रही थी, वह मूक-पशुओंके करुण-क्रन्दनसे प्रभावित होकर लौट गया। उस समय वधूकी तिलमिलाहट और पतिको पा लेनेकी बेचैनीका जो चित्र हेमविजयसूरिने खीचा है, दूसरा नही खीच सका। हर्षकीर्तिकी 'नेमिनाथ राजुल गीत' भी एक सुन्दर रचना है। इसमे भी नेमिनाथको पा लेनेकी बेचैनी है, किन्तु वैसी सरस नहीं, जैसी कि हेमविजयने अंकित की है।[1]

कवि भूधरदासने नेमीश्वर और राजुलको लेकर अनेक पदोंका निर्माण किया है। एक स्थानपर तो राजुलने अपनी माँसे प्रार्थना की है, 'हे माँ! देर न करो, मुझे शीघ्र ही वहाँ भेज दो, जहाँ हमारा प्यारा पति रहता है। यहाँ तो मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता, चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई देता है। न जाने नेमिरूपी दिवाकरका प्रकाश्यमान मुख कब दिखाई पड़ेगा। उनके बिना हमारा हृदयरूपी अरविन्द मुरझाया पड़ा है।"[2] पियमिलनकी ऐसी विकट

१. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय, हेमविजय।

२. मा विलंब न लाव पठाव तहाँ री, जहँ जगपति पिय प्यारो।
और न मोहि सुहाय कछू अब, दीसे जगत अंधारो री ॥मां बिलंब ॥१॥
मै श्री नेमि दिवाकर को कब, देखो बदन उजारो।
बिन पिय देखें मुरझाय रह्यो है, उर अरविंद हमारो री। मां बिलंब ॥२॥
भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, १३वाँ पद, पृ० ८।

चाह है जिसके कारण लड़की माँसे प्रार्थना करते हुए भी नहीं लजाती। लौकिक प्रेम-प्रसंगमें लज्जा आती है, क्योंकि उसमें 'काम'की प्रधानता होती है, किन्तु यहाँ तो अलौकिक और दिव्य प्रेमकी बात है। अलौकिककी तल्लीनतामें व्यावहारिक उचित-अनुचित ध्यान नहीं रहता।

राजुलके वियोगमें 'संवेदना'वाले पहलूकी ही प्रधानता है। भूधरदासने राजुलके अन्तःस्थ विरहको सहज स्वाभाविक ढंगसे अभिव्यक्त किया है। राजुल अपनी सखीसे कहती है, "हे सखी ! मुझे वहाँ ले चल जहाँ प्यारे जादौपति रहते हैं। नेमिरूपी चन्द्रके बिना यह आकाशका चन्द्र मेरे सब तन मनको जला रहा है। उसकी किरणें नाविकके तीरकी भाँति अग्निके स्फुलिंगोंको बरसाती हैं। रात्रिके तारे तो अंगारे ही हो रहे हैं।"

> "तहाँ लै चल री ! जहाँ जादौंपति प्यारो।
> नेमि निशाकर बिन यह चन्दा, तन मन दहत सकल री ॥तहाँ०॥१॥
> किरन किधौं नाविक-शर-तति कै, ज्यौं पावक की झलरी।
> तारे हैं अंगारे सजनी, रजनी राकस दल री ॥तहाँ० ॥२॥"[1]

कहीं-कहीं राजुलके विरहमें 'ऊहा' के दर्शन होते हैं, किन्तु उसमें नायिकाके 'पेंडुलम' हो जानेकी बात नहीं आ पायी है, इसी कारण वह तमाशा बननेसे बच गया है। यद्यपि राजुलका 'उर' भी ऐसा जल रहा है कि हाथ उसके समीप नहीं ले जाया जा सकता, किन्तु ऐसा नहीं कि उसकी गरमीसे जाड़कालेमें लुएँ चलने लगी हों। राजुल अपनी सखीसे कहती है, "नेमिकुमारके बिना मेरा जिय रहता नहीं है। हे सखी ! देख मेरा हृदय कैसा तच रहा है, तू अपने हाथको निकट लाकर देखती क्यों नहीं। मेरी विरहजन्य उष्णता कपूर और कमलके पत्तोंसे दूर नहीं होगी, उनको दूर हटा दे। मुझे तो 'सियराकलाधर' भी करूर लगता है। प्रियतम प्रभु नेमिकुमारके बिना मेरा 'हियरा' शीतल नहीं हो सकता।"[2] पियके वियोगमें राजुल भी पीली पड़ गयी है, किन्तु ऐसा नहीं हुआ कि उसके शरीरमें एक तोला मांस भी न रहा हो। विरहसे भरी नदीमें उसका हृदय भी

---

१. भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, ४५वाँ पद, पृष्ठ २५।

२. नेमि बिना न रहै मेरो जियरा।
हेर री हेली तपत उर कैसो, लावत क्यों निज हाथ न नियरा ॥नेमि०॥१॥
करि करि दूर कपूर कमल दल, लगत करूर कलाधर सियरा ॥नेमि०॥२॥
भूधर के प्रभु नेमि पिया बिन, शीतल होय न राजुल हियरा ॥नेमि०॥३॥
वही, २०वाँ पद, पृ० १२।

बहा है, किन्तु उसकी आँखोंसे खूनके आँसू कभी नहीं ढुलके। हरी तो वह भी भर्त्तासे भेंटकर ही होगी, किन्तु उसके हाड़ सूखकर सारंगी कभी नहीं बने।[1]

बारहमासा

नेमीश्वर और राजुलको लेकर जैन हिन्दी-साहित्यमें बारहमासोंकी भी रचना हुई है। उन सबमें कवि विनोदीलालका 'बारहमासा' उत्तम है। प्रियाको प्रियके सुखके अनिश्चयकी आशंका सदैव रहती है, भले ही प्रिय सुखमे रह रहा हो। तीर्थंकर नेमीश्वर वीतरागी होकर, निराकुलतापूर्वक गिरनारपर तप कर रहे हैं, किन्तु राजुलको शंका है, "जब सावनमे घनघोर घटाएँ जुड़ आयेंगी, चारो ओरसे मोर शोर करेंगे, कोकिल कुहुक सुनावेगी, दामिनी दमकेगी और पुरवाईके झोंके चलेंगे, तो वह सुखपूर्वक तप न कर सकेंगे।"[2] पौषके लगनेपर तो राजुलको चिन्ता और भी बढ गयी है। उसे विश्वास है कि पतिका जाड़ा बिना रजाईके नहीं कटेगा। पत्तोंकी धुत्रनीसे तो काम चलेगा नही। उसपर भी कामकी फौजें इसी ऋतुमें निकलती है, कोमल गातके नेमीश्वर उससे लड़ न सकेंगे।[3] वैशाखकी गरमीको देखकर राजुल और भी अधिक व्याकुल है, क्योंकि इस गरमीमे नेमीश्वरको प्यास लगेगी तो शीतल जल कहाँ मिलेगा? और तीव्र धूपसे तचते पत्थरोंसे उनका शरीर ढक जायेगा।[4]

कवि लक्ष्मीवल्लभका 'नेमि राजुल बारहमासा' भी एक प्रसिद्ध रचना है। इसमे कुल १४ पद्य है। प्रकृतिके रमणीय सन्निधानमे विरहिणीके व्याकुल भावोंका सरस सम्मिश्रण हुआ है, "श्रावणका माह है, चारो ओरसे विकट घटाएँ उमड़ रही है। मोर शोर मचा रहे है। आसमानमे दामिनी दमक रही है। यामिनीमे

---

१. देखिए, भूधरविलास, १४वाँ पद, पृ० ६, और मिलाइए जायसीके नागमती विरह-वर्णनसे।

२. पिया सावन में व्रत लीजे नहीं, घनघोर घटा जुर आवैगी।
चहुँ ओर तैं मोर जु शोर करैं, वन कोकिल कुहक सुनावैगी।।
पिय रैन अँधेरी मे सूझै नही, कछु दामन दमक डरावैगी।
पुरवाई की झोंक सहोगे नहीं, छिन मे तप तेज छुड़ावैगी।।
कवि बिनोदीलाल, बारहमासा नेमिराजुलका, बारहमासा संग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ४था पद्य, पृ० २४।

३. वही, १४वाँ पद्य, पृ० २७।

४. वही, २२वाँ पद्य, पृ० २६।

कुम्भस्थल-जैसे स्तनोंको धारण करनेवाली भामिनियोंको पिय का संग भा रहा है। स्वाती नक्षत्रकी बूँदोसे चातककी पीड़ा भी दूर हो गयी है। शुष्क पृथ्वीकी देह भी हरियालीको पाकर दिप उठी है। किन्तु राजुलका न तो पिय आया और न पतियाँ।[1]" ठीक इसी भाँति एक बार जायसीकी नागमती भी विलाप करते हुए कह उठी थी, "चातकके मुखमे स्वाती नक्षत्रकी बूँदें पड गयीं, और समुद्रकी सब सीपें भी मोतियोसे भर गयी। हंस स्मरण कर-करके अपने तालाबोपर आ गये, सारस बोलने लगे और खजन भी दिखाई पडने लगे। कांसोके फूलनेसे वनमे प्रकाश हो गया, किन्तु हमारे कन्त न फिरे, कही विदेशमे ही भूल गये।[2]" कवि भवानी दासने भी 'नेमिनाथबारहमासा' लिखा था, जिसमे कुल १२ पद्य है। श्री जिनहर्ष-का 'नेमिबारहमासा' भी एक प्रसिद्ध काव्य है। उसके १२ सवैयोंमे सौन्दर्य और आकर्षण व्याप्त है। श्रावण मासमे राजुलकी दशाको उपस्थित करते हुए कविने लिखा है, 'श्रावण मास है, घनकी घनघोर घटाएँ उनै आयी है। झलमलाती हुई बिजुरी चमक रही है, उसके मध्यसे वज्र-सी ध्वनि फूट रही है, जो राजुलको विष-बेलिके समान लगती है। पपीहा 'पिउ-पिउ' रट रहा है। दादुर और मोर बोल रहे है। ऐसे समयमे यदि नेमीश्वर मिल जायें तो राजुल अत्यधिक सुखी हो।"[3]

---

१. उमटी विकट घनघोर घटा चिहुँ ओरनि मोरनि सोर मचायो।
चमकै दिवि दामिनि यामिनि कुंभय भामिनि कुं पिय को संग भायो।
लिव चातक पीउ ही पीड़ लई, भई राजहरी भुंइ देह दिपायो।
पतियाँ पै न पाई री प्रीतम की अली, श्रावण आयो पै नेम न आयो॥
कवि लक्ष्मीवल्लभ, नेमिराजुलबारहमासा, पहला पद्य, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

२. स्वाति बूंद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे॥
सरवर सँवरि हँस चलि आये। सारस कुरलहिं खंजन देखाये॥
भा परगास काँस बन फूले। कंत न फिरे विदेसहिं भूले॥
जायसी, पद्मावत, पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, तृतीय संस्करण, वि० सं० २००३, ३०।७, पृ०१५३।

३. घन की घनघोर घटा उनही, बिजुरी चमकंति झलाहलि सी।
विचि गाज अगाज अवाज करंत सु, लागत मो विष बेलि जिसी॥
पपीया पिउ पिउ रटत रयण जु, दादुर मोर वदै ऊलि सी।
ऐसे श्रावण मे यदु नेमि मिलै, सुख होत कहै जसराज रिसी॥
जिनहर्ष, नेमि बारहमासा, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

आध्यात्मिक होलियाँ

जैन साहित्यकार आध्यात्मिक होलियोंकी रचना करते रहे हैं। उनमे होलीके अंग-उपागोंका आत्मासे रूपक मिलाया गया है। उनमें आकर्षण तो होता ही है, पावनता भी आ जाती है। ऐसी रचनाओंको 'फाग' कहते है। इस विषयमें कवि बनारसीदासका 'फाग' बहुत ही प्रसिद्ध है। उसमे आत्मारूपी नायक शिवसुन्दरी-से होली खेला है। कविने लिखा है, "सहज आनन्दरूपी वसन्त आ गया है, और शुभ भावरूपी पत्ते लहलहाने लगे हैं। सुमतिरूपी कोकिला गहगही होकर गा उठी है, और मनरूपी भौंरे मदोन्मत्त होकर गुंजार कर रहे है। सुरतिरूपी अग्निज्वाला प्रकट हुई है, जिससे अष्टकर्मरूपी वन जल गया है। अगोचर अमूर्तिक आत्मा धर्मरूपी फाग खेल रहा है। इस भाँति आत्मध्यानके बलसे परमज्योति प्रकट हुई, जिससे अष्टकर्मरूपी होली जल गयी और आत्मा शान्त रसमें मग्न होकर शिव-सुन्दरीसे फाग खेलने लगा।"

> **"विषम विरष पूरो भयो हो, आयो सहज वसंत।**
> **प्रगटी सुरुचि सुगंधिता हो, मन मधुकर मयमंत॥**
> **सुमति कोकिला गहगही हो वही अपूरब बाउ।**
> **भरम कुहर बादर फटे हो, घट जाड़ो जड़ताउ॥**
> **शुभ दल पल्लव लहलहे हो होहिं अशुभ पतझार।**
> **मलिन विषय रति मालती हो, विरति वेलि विस्तार॥**
> **सुरति अग्नि ज्वाला जगी हो, समकित भानु अमंद।**
> **हृदय कमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजश मकरंद॥**
> **परम ज्योति प्रगट भई हो, लागी होलिका आग।**
> **आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई तताई भाग॥"**[1]

कवि द्यानतरायने दो जत्थोके मध्य होलीकी रचना की है। एक ओर तो बुद्धि, दया, क्षमारूपी नारियाँ हैं और दूसरी ओर आत्माके गुणरूपी पुरुष हैं। ज्ञान और ध्यानरूपी डफ तथा ताल बज रहे है, उनसे अनहदरूपी घनघोर शब्द निकल रहा है। धर्मरूपी लाल रंगका गुलाल उड रहा है, और समतारूपी रंग दोनो ही पक्षोंने घोल रखा है। दोनो ही दल प्रश्नके उत्तरकी भाँति एक-दूसरेपर पिचकारी भर-भरकर छोड़ते हैं। इधरसे पुरुषवर्ग पूछता है कि तुम किसकी नारी हो, तो उधरसे स्त्रियाँ पूछती हैं कि तुम किसके छोरा हो। आठ कर्मरूपी काठ अनुभवरूपी अग्निमे जल-बुझकर शान्त हो गये। फिर तो सज्जनों-

---

१. बनारसीविलास, जयपुर, अध्यात्मफाग, पृ० १५४-१५५।

के नेत्ररूपी चकोर, गिरवरमणोके आनन्दचन्दकी छविको टकटकी लगाकर देखते ही रहे।"

"आयो सहज बसंत खेलें सब होरी होरा।
उत बुधि दया छिमा बहु ठाढ़ीं, इत जिय रतन सजे गुन जोरा॥
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं, अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुराग गुलाल उड़त है, समता रंग दुहूँ ने घोरा॥
परसन उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनों करि करि जोरा।
इततैं कहै नारि तुम काकी, उततैं कहै कौन को छोरा॥
आठ काठ अनुभव पावक में, जल बुझ शान्त भई सब ओरा।
द्यानत शिव आनन्द चन्द छवि, देखहिं सज्जन नैन चकोरा॥"[1]

भूधरदासकी नायिकाने भी अपनी सखियोके साथ श्रद्धा-नगरीमें आनन्दरूपी जलसे रुचिरूपी केशर घोलकर, और रंगे हुए नीरको उमंगरूपी पिचकारीमे भरकर अपने प्रियतमके ऊपर छोड़ा। इस भाँति उसने अत्यधिक आनन्दका अनुभव किया।[2]

जगरामकी होलियोंमे चित्र उपस्थित करनेकी अद्भुत क्षमता है। एक ओर जिनराजा है, दूसरी ओर शुद्ध परिणति रानी। दोनों एक-दूसरेके हृदयको, अनुभवरूपी रंगसे, सुरतिरूपी पिचकारीके द्वारा छिड़क रहे है। दोनोके अंग-अंग रंगमे सराबोर हो गये हैं। कोई बचा नही है। इस सुखमें दोनो लीन है। किसी प्रकार भी बिछुड़ते नही बनता। दोनों अतुल अनन्त वीर्यसे युक्त है। प्रभुके इस अद्भुत कौतुकको देखकर दर्शकका मनरूपी नट उमंगित होकर नाचे बिना नही रह सकता।[3]

"होरी कौ आछयौ ख्याल मच्यौ है।
जिनराजा सुद्धि परिणति रानी, रस बस दोऊ चाहि रच्यौ है॥

---

१. द्यानतराय, द्यानतपदसंग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ८६वाँ पद, पृ० ३६-३७।

२. सरधा गागर मे रुचि रूपि, केसर घोरि तुरंत।
आनंद नीर उमंग पिचकारी, छोड़ो नीकी भंत॥
होरी खेलोंगी, घर आये चिदानंद कंत॥
भूधरदासका पद 'होरी खेलोंगी', अध्यात्मपदावली, पं० राजकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० ७५।

३. पदसंग्रह नं० ४६२, पत्र ३६, बधीचन्दजी मन्दिर, जयपुर।

अनुभव रंग सुरति पिचकारी, छिरकत हिय रे यो निहच्यौ है।
अंग-अंग सरवंग सगवगे, दुहुघां कोऊ नाहि बच्यौ है ॥
सुख में लीन न बिछुरत क्यों हू, बीरज अतुक अनन्त जच्यौ है।
जग प्रभु कौ अद्भुत कौतुक लखि, मन नट मेरो उमगि नच्यौ है।''

इस बार जगरामके प्रभुके लिए जैसी अच्छी होली बन पड़ी है, अन्य किसीके लिए नहीं। उनकी निज परिणति रानीने उन्हें भी अपने रंगमें रंग लिया है। उसका रंग ऐसा-वैसा नहीं है। वह ज्ञानरूपी सलिल, दृगरूपी केसर और चारित्ररूपी चोवाको मिलाकर बनाया गया है। रंगके साथ ही दूसरी ओरसे दयारूपी गुलाल-अबीरका भी प्रयोग हो रहा है। रानीने सुखरूपी नशेमें राजाको छका डाला है। नय और व्रतरूपी नर्तकियाँ नाना भावोंसे नृत्य करती हैं। वे स्याद्वाद रूपी नादको अलापते हुए भिन्न-भिन्न लय और तानोंसे रिझाती रहती हैं। रानीने राजाको इस प्रकार रसके वशमें कर लिया है कि वह अन्यत्र नहीं जा पाता। उससे सर्वस्वरूपी फगुवा लेकर अपने मन्दिरमें विरमा लिया है।[1]

"ऐसी नीकी होरी प्रभु ही कैं बनि आवै।
निज परनति रानी रंग भीनी अपने रंग खिलावै ॥
ग्यान सलिल द्रग केसर चारित चोवा घरचि रचावै।
दया गुलाल अबीर उड़ावै सुषमद छकनि छकावै ॥
नयव्रत नृत्यकारिनी नाचै नाना भाव बतावै।
स्याद्वाद सोइ नाद अलापत लय तानन सौं रिझावै ॥
ऐसे रस बस करि लीने जो अनत न जानन पावै।
सरवस फगुवा लै जगपति पै निज मन्दिर विरमावै ॥"

नगरमें होरी हो रही है। सर्वत्र आनन्द छाया है। बेचारी सुमति उससे नितान्त वंचित है। उसका पति चेतन घर नहीं है। वह दुःखी है—अतीव दुःखी। उसका दुःख केवल विरह-जन्य ही नहीं है, अपितु इसलिए भी है कि पति सौत कुमतिके घर होली खेल रहा है। किस भाँति लाया जाये। अन्तमें उसने 'जिन-स्वामी' से प्राथना की कि उसे समझाकर लौटालनेमें सहायता करें।[2]

---

१. पदसंग्रह नं० ५८, पत्र २६ दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर, बड़ौत।

२. नगरमें होरी हो रही हो।
मेरो पिय चेतन घर नाहीं, यह दुष सुनि है को ॥
सौति कुमति कें राचि रह्यो है, किह विधि ल्याबूं सो।
द्यानति सुमति कहै जिन स्वामी, तुम कछु सिष्या द्यो ॥
पदसंग्रह ५८, पत्र २५, दि० जैन मन्दिर, बड़ौत (मेरठ)।

जब 'पिया' घर नहीं तो 'पत्नी' किससे होली खेले। वह होली न खेल सकेगी। उसके लिए इस वर्षकी होली कोरी है। ऐसे समय वह उस होलीको याद करती है, जब वह उपशमकी केशर घोलकर प्रियतमके साथ खेली थी। सुमति भगवान्से हाथ जोड़कर कहती है कि हे प्रभु ! मैं पुनः वह समय कब पाऊँगी,[१]

"पिया बिन कासौं खेलौं होरी।
आतमराम पिया घर नाहीं मोकूं होरी कोरी॥
येक बार प्रीतम हम खेले उपसम केसरि घोरी।
आनन्द वह समया कब पाऊँ सुमति कहै कर जोरी॥"

महात्मा आनन्दघनने 'आध्यात्मिक क्षेत्र'में विरहकी विविध दशाओंके अनुपम चित्र खींचे हैं। प्रिया विरहिणी है। उसका पति बाहर चला गया है। वह पति बिना सुध-बुध खो बैठी है। महलके झरोखेमे उसकी आँखें झूल रही है। पति नहीं आया। अब वह कैसे जोवे। विरहरूपी भुवंगम उसकी प्राणरूपी वायुको पी रहा है। शीतल पंखा, कुमकुमा और चन्दनसे कुछ नही होता। शीतल पवनसे विरहानल हटता नही, अपितु तन-तापको और भी बढ़ाता है। ऐसी ही दशामे एक दिन होली जल उठी। सभी चाँचरके खेलमे मस्त हो गयी। विरहिणी कैसे खेले। उसका मन जल रहा है। उसका समूचा तन खाख (धूल) होकर उडा जाता है। होली एक ही दिन जलती है, उसका मन तो सब दिन जलता है। होलीके जलनेमे आनन्द है और इस जलनमे तीव्र दुःख,[२]

"पिया बिनु सुद्ध बुद्ध भूली हो।
आंख लगाइ दुख महल के झरूखे झूली हो॥
प्रीतम प्राणपति विना प्रिया, कैसें जीवे हो।
प्रान पवन बिरहादशा, भुयंगम पीवे हो॥
शीतल पखा कुमकुमा, चंदन कहा लावे हो।
अनल न विरहानल परै, तनताप बढ़ावे हो॥
फागुन चाचर इकनिशा, होरी सिरगानी हो।
मेरे मन सब दिन जरे, तन खाख उड़ानी हो॥"

---

१. वही।

२. आनन्दघनपदसंग्रह, श्रीमद् बुद्धिसागरजीकृत गुजराती भावार्थसहित, अध्यात्म-ज्ञानप्रसारक मण्डल, बम्बई, वि० सं० १९६४, पद ४१, पृ० ११९–१२३।

अनन्य प्रेम

प्रेममें अनन्यताका होना अत्यावश्यक है। प्रेमीको प्रियके अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे, तभी वह सच्चा प्रेम है। माँ बापने राजुलसे दूसरे विवाहका प्रस्ताव किया, क्योंकि राजुलकी नेमीश्वरके साथ भाँवरें नहीं पड़ने पायी थीं। किन्तु प्रेम भाँवरोंकी अपेक्षा नहीं करता। राजुलको तो सिवा नेमीश्वरके अन्यका नाम भी रुचिकारी नहीं था। इसी कारण उसने माँ-बापको फटकारते हुए कहा, "हे तात! तुम्हारी जीभ खूब चली है, जो अपनी लड़कीके लिए भी गालियाँ निकालते हो। तुम्हें हर बात सँभालकर कहना चाहिए। सब स्त्रियोंको एक-सी न समझो। मेरे लिए तो इस संसारमें केवल नेमि-प्रभु ही एक मात्र पति है।"

> "काहे न बात सम्हाल कहौ तुम जानत हो यह बात भली है।
> गालियाँ काढ़त हो हमको सुनो तात भली तुम जीभ चली है॥
> मैं सबको तुम तुल्य गिनौ तुम जानत ना यह बात रली है।
> या भव में पति नेम प्रभू वह लाल विनोदी को नाथ बली है॥"[1]

महात्मा आनन्दघन अनन्य प्रेमको जिस भाँति आध्यात्मिक पक्षमें घटा सके, वैसा हिन्दीका अन्य कोई कवि नहीं कर सका। कबीरमें दाम्पत्यभाव है और आध्यात्मिकता भी, किन्तु वैसा आकर्षण नहीं, जैसा कि आनन्दघनमें है। जायसीके प्रबन्ध काव्यमें अलौकिककी ओर इशारा भले ही हो, किन्तु लौकिक कथानकके कारण उसमें वह एकतानता नहीं निभ सकी है, जैसी कि आनन्दघनके मुक्तक पदोंमें पायी जाती है। सुजानवाले घनानन्दके बहुत-से पद 'भगवद्‌भक्ति' में वैसे नहीं खप सके, जैसे कि सुजानके पक्षमें घटे हैं। महात्मा आनन्दघन जैनोंके एक पहुँचे हुए साधु थे। उनके पदोंमें हृदयकी तल्लीनता है। उन्होंने एक स्थानपर लिखा है, "सुहागिनके हृदयमें निर्गुण ब्रह्मकी अनुभूतिसे ऐसा प्रेम जगा है कि अनादिकालसे चली आनेवाली अज्ञानकी नींद समाप्त हो गयी। हृदयके भीतर भक्तिके दीपकने एक ऐसी सहज ज्योतिको प्रकाशित किया है, जिससे घमण्ड स्वयं दूर हो गया और अनुपम वस्तु प्राप्त हो गयी। प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है कि जिसके लगता है वह ढेर हो जाता है। वह एक ऐसा वीणाका नाद है, जिसको सुनकर आत्मारूपी मृग तिनके तक चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेमसे मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती।"

> "सुहागण जागी अनुभव प्रीत, सुहा०।
> निन्द अज्ञान अनादि की मिट गई निज रीति॥ सुहा०॥१॥

---

१. विनोदीलाल, नेमिव्याह, जैन सिद्धान्तभवन आराकी हस्तलिखित प्रति।

घट मन्दिर दीपक कियो, सहज सुज्योति सरूप ।
आप पराइ आप ही, ठानत वस्तु अनूप ॥सुहा० ॥२॥
कहा दिखावुं और कूं, कहा समझाउं भोर ।
तीर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठोर ॥सुहा० ॥३॥
नाद विलुद्धो प्राण कूं, गिने न तृण मृगलोय ।
आनन्दघन प्रभु प्रेम का, अकथ कहानी वोय ॥सुहा० ॥४॥"[1]

भक्तके पास भगवान् स्वयं आते हैं। भक्त नहीं जाता। जब भगवान् आते है, तो भक्तके आनन्दका पारावार नहीं रहता। आनन्दघनकी सुहागन नारीके नाथ भी स्वयं आये हैं, और अपनी 'तिया' को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है। लम्बी प्रतीक्षाके बाद आये नाथकी प्रसन्नतामें, पत्नीने भी विविध भाँतिके शृंगार किये हैं। उसने प्रेम, प्रतीति, राग और रुचिके रंगमें रँगी साड़ी धारण की है, भक्तिकी मेहँदी राँची है और भावका सुखकारी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव-की चूड़ियाँ पहनी हैं और थिरताका भारी कंगन धारण किया है। ध्यानरूपी उरबसी गहना वक्षस्थलपर पड़ा है, और पियके गुणकी मालाको गलेमें पहना है। सुरतके सिन्दूरसे माँगको सजाया है और निरतिकी वेणीको आकर्षक ढंगसे गूँथा है। उसके घटमें त्रिभुवनकी सबसे अधिक प्रकाश्यमान ज्योतिका जन्म हुआ है। वहाँसे अनहदका नाद भी उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एकतानसे पियरसका आनन्द उपलब्ध हो रहा है।

"आज सुहागन नारी ॥अवधू आज०॥
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी ॥अवधू० ॥१॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जिनी सारी ।
महिंदी भक्ति रंगकी राची, भाव अंजन सुखकारी ॥अवधू०॥२॥
सहज सुभाव चूरीयाँ पेनी, थिरता कंगन भारी ।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुन माल अधारी ॥अवधू० ॥३॥
सुरत सिंदूर मांग रंग राती, निरते वेनी समारी ।
उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ॥अवधू० ॥४॥
उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी ।
झडी सदा आनन्दघन बरखत, बिन मोरे इक तारी[2] ॥अवधू० ॥५॥"

---

१. महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसंग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, चौथा पद, पृ० ७।

२. वही, २०वाँ पद।

ठीक इसी भाँति बनारसीदासकी 'नारी' के पास भी निरंजनदेव स्वयं प्रकट हुए हैं। वह इधर-उधर भटकी नहीं। उसने अपने हृदयमें ध्यान लगाया और निरंजनदेव आ गये। अब वह अपने खंजन-जैसे नेत्रोंसे उसे पुलकायमान होकर देख रही है, और प्रसन्नतासे भरे गीत गा रही है। उसके पाप और भय दूर भाग गये हैं। परमात्मा-जैसे साजनके रहते हुए, पाप और भय कैसे रह सकते हैं। उसका साजन साधारण नहीं है, वह कामदेव-जैसा सुन्दर और सुधारस-सा मधुर है। वह कर्मोंका क्षय कर देनेसे तुरन्त मिल जाता है।[1]

विनयभाव

रतिके तीन प्रधान रूपोंमें 'भगवद्विषयक रति' ही मुख्य है, और निरूपणकी दृष्टिसे उसमें विनयके सभी पद आ जाते हैं। 'विनयभाव'को ही साहित्य-परम्परामें 'सेव्य-सेवकभाव' और 'दास्यभाव'भी कहा जाता है। इसमें अपनी लघुता, दीनता, आराध्यकी महत्ता, याचना और शरणागतकी रक्षाका भाव प्रमुख होता है। सेवाको अनुवृत्ति भी कहते हैं, अनुवृत्ति वह है, जो निष्कामतासे अनुप्राणित हो। भक्तिसे सम्बन्धित दास्यभाव आराध्यकी महत्ताकी स्वीकृतिपर आधारित है, निजी स्वार्थपर नहीं।

सेवा

सोलहवीं शताब्दीके सामर्थ्यवान् कवि श्री मेरुनन्दन उपाध्यायने लिखा है, "अजितनाथ और शान्तिनाथ मंगलदायक, श्रीसम्पन्न और पूनोंके चन्द्रकी भाँति सुख प्रदान करनेवाले हैं। दोनों ही संसारके गुरु हैं और नेत्रोंको आनन्दित करते हैं। उन जिनवरोंको प्रणाम करके और उनके गुणोंको गाकर जो उनकी सेवा करता है, उसके पुण्यके भण्डार भर जाते हैं और उसका मानव-भव सफल हो

---

१. म्हारे प्रगटे देव निरंजन।
अटको कहा कहा सर भटकत कहा कहूँ जन रंजन॥ म्हारे०॥१॥
खंजन दृग दृग नयनन गाऊँ चाऊँ चितवत रंजन।
सजन घट अंतर परमात्मा सकल दुरित भय रंजन॥ म्हारे०॥२॥
वोही कामदेव होय काम घट वोही मंजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खंजन॥म्हारे०॥३॥
बनारसीदास, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, 'दो नये पद', पृ०२४०क।

जाता है।"[1] इसी शताब्दीके प्रसिद्ध कवि ब्रह्म जिनदासने, भगवान् ऋषभदेवसे न मोक्ष माँगा और न इहलौकिक वैभव। उन्होंने कहा, 'हे प्रभु! हमें जन्म-जन्ममें आपके चरणोंकी सेवाका अवसर मिले[2]।" अठारहवीं शताब्दीके कवि भूधरदासने 'भूधरविलास'के एक पदमें लिखा है, "हे भगवन्! मैं याचक हूँ और आप दानी हो। मुझे और कुछ नहीं चाहिए, केवल सेवाका वरदान देनेकी कृपा करें।[3]" 'जैनशतक'की एक 'भगवन-प्रार्थना'में भी उन्होंने यह ही कहा है, "हे सर्वज्ञ देव! सदैव तेरी सेवाका अवसर प्राप्त होता रहे, ऐसा मेरा निवेदन है।"[4]

भक्त यह कभी नहीं चाहता कि वह अकेला ही अपने आराध्यकी सेवा करे, अपितु उसे तो यह देखकर परमानन्द मिलता है कि विश्वके बड़े-बड़े वैभवशाली जीव भी उसके आराध्यकी सेवा करते हैं। सत्तरहवीं शताब्दीके कवि कुशललाभने लिखा है, "हे भगवन्! तुम्हारा यश इस पृथ्वीपर और उस समुद्रमें, जहाँ असंख्य दीप देदीप्यमान हैं, तथा उस व्योममें, जहाँ अखण्डित सुर चलते-फिरते हैं, छाया हुआ है, असुर, इन्द्र, नर, अमर विविध व्यन्तर और विद्याधर तुम्हारे पैरोंकी सेवा करते हैं, और निरन्तर जाप लगाते हैं। हे पार्श्वजिनेन्द्र! तुम समूचे जगत्के नाथ हो, और सेवकोंकी मनोकामनाओंको चिन्तामणिके समान पूरा करते हो। तुम सम्पत्ति भी देते हो और वीतरागी पथपर भी बढ़ाते हो।[5]" पाण्डे रूपचन्दके पंच मंगलका 'जन्मकल्याणक' तो भगवान्‌की सेवाका ही एक

---

१. मंगल कमला कंदुए, सुख सागर पूनिम चंदुए।
जग गुरु अजिय जिणंदुए, संतीसुर नयणाणंदुए॥
वे जिणवर पणमेविए, बे गुंण गाइ सुसंसेविए।
पुन्य भंडार भरेसुए, मानव भव सफल करेसुए॥
मेरुनन्दन उपाध्याय, अजितशान्तिस्तवनम्, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

२. तेह गुण मे जाणी या ए, सदगुरु तणो पसावतो।
भवि भवि स्वामी सेवसुं ए, लागु सह गुरु पाय तो॥
ब्रह्म जिनदास, आदिपुराण, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

३. भूधरको सेवा वर दीजे।
मैं जाचक तुम दानी।
मैं तो थाकी आज महिमा जानी॥
भूधरविलास, कलकत्ता, ४३वाँ पद, पृ० २४।

४. आगम अभ्यास होहु सेवा सर्वज्ञ तेरी, संगति सदैव मिलै साधरमीजन की।
जैनशतक, कलकत्ता, ६१वाँ पद, पृ० ३०।

५. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय, कुशललाभ।

पुनीत चित्र है। इसके अतिरिक्त 'ज्ञानकल्याणक' मे केवलज्ञानके प्राप्त हो जानेपर भगवान्के समवशरणकी रचना स्वयं कुबेरने की थी, जो उसके सेवा-भावकी ही प्रतीक है।[1] उस समवशरणमे विराजमान भगवान्की जो नर-नारी सेवा करते थे, उनको अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता था। मारुत नामके देवता तो समवशरणके आस-पासकी योजन-प्रमाण पृथ्वीको सदैव झाड़-बुहारकर पवित्र और निर्मल रखते थे। उसपर मेघकुमार नामके देवता गन्धोदककी सुवृष्टि करते थे। भक्त देवगण, भगवान्के चलते समय उनके नीचे कमलोंकी सृष्टि करते थे।[2]

भैया भगवतीदासने भगवान् पार्श्व जिनेन्द्रकी सेवाकी बात करते हुए लिखा है, "हे जीव! तू देश-देशान्तरोंमे क्यों दौड़ता फिरता है, इन्द्र और नरेन्द्रोंको क्यो रिझाता है? देवी-देवताओंको क्यो मनाता है, और क्यो चन्द्रको सिर झुकाता है। सूर्यको अंजलीबद्ध होकर नमस्कार क्यो करता है, और क्यो पाखण्डी तपस्वियोंके पैर छूता फिरता है। न जाने तू पार्श्व जिनेन्द्रकी सेवा क्यों नहीं करता, जिससे तेरा दिन और रातका सोच ही समाप्त हो जाये।"

"काहे को देश दिशांतर धावत, काहे रिझावत इंद नरिंद।
काहे को देवि औ देव मनावत, काहे को शीस नवावत चंद॥
काहे को सूरज सों कर जोरत, काहे निहोरत मूढ मुनिंद।
काहे को शोच करै दिन रैन तूं, सेवत क्यो नहिं पार्श्व जिनंद॥[3]"

'भैया'का पूर्ण विश्वास है कि भगवान्के चरणोंकी सेवा करनेसे तुरन्त ही अनन्त गुण प्रकट हो जाते हैं, और इतनी 'रिद्धि-सिद्धियाँ' मिलती है कि उनसे चिरकालतक परमानन्दका अनुभव किया जा सकता है। उन्होंने 'अहिक्षिति पार्श्वजिन स्तुति' मे लिखा है, "अश्वसेनके नन्द आनन्दके कन्द है, अथवा पूनमके चन्द अथवा दिनन्द है। वे कर्मोंके फन्देको हरते, भ्रमका निकन्दन करते,

---

१. पाण्डे रूपचन्द, पंचमगल ज्ञानकल्याणक, १६वॉ पद्य, ज्ञानपीठ पूजांजलि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ई०, पृ० १००।

२. अनसुरै मरमानन्द सबको, नारि नर जे सेवता।
जोजन प्रमान धरा सुमार्जहि, जहाँ मारुत देवता॥
पुनि करहिं मेघकुमार गंधोदक सुवृष्टि सुहावनी।
पद कमल तर सुर खिपहिं कमल सु, धरणि ससि सोभा बनी।
वही, पद्य १६वाँ, पृ० १०१।

३. ब्रह्मविलास, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९२६ ई०, द्वितीयावृत्ति, पृ० ६१।

दुःख-द्वन्द्वको चूरते और महाचैनके सुखको पूरते है। सुरेन्द्र उनकी सेवा करते हैं, नरेन्द्र गुण गाते हैं, और मुनीन्द्र ध्यान लगाते है, और इस भांति सभीको अत्यधिक सुख मिलता है। वे भगवान् जिनचन्द्र क्षण-भरमें ही आनन्दकी सुगन्धि बिखेर देते हैं।"

> "आनंद को कंद किधों पूनम को चंद किधों,
> देखिए दिनंद ऐसो नन्द अश्वसेन को।
> करम को हरै फंद भ्रम को करै निकंद,
> चूरै दुख द्वन्द्व सुख पूरै महा चन को॥
> सेवत सुरिंद गुन गावत नरिंद भैया,
> ध्यावत मुनिंद तेहू पावैं सुख ऐन को।
> ऐसो जिनचंद करै, छिन में सुछंद सुतौ,
> ऐक्षित को इंद पार्श्व पूजों प्रभु जैन को॥"[1]

अठारहवीं शताब्दीके कवि बिहारीदासने अपनी पिछली करनीपर पश्चात्ताप करते हुए भगवान्से प्रार्थना की है, "मैं सदैव तृष्णाकी दाहमें पजरता रहा हूँ, और समता-सुधाको चखा तक नहीं। अपूर्व भगवत् स्वादके बिना मैं विषयरसका ही भक्षण करता रहा। हे प्रभु! अब सदा मेरे हृदयमें बसो, और मैं सदैव आपके चरणोंका सेवक रहूँ।"[2] जगतरामने भी 'जैन-पदावली'में 'साहिब सेवगताई'-के पुष्ट होनेकी ही याचना की है।[3] शिरोमणि जैनने अपने 'धर्मसार'में भगवान् महावीरके उन चरणोंमें श्रद्धापूर्वक नमस्कार किया है, जिनकी इन्द्र और नरेन्द्र निरन्तर सेवा किया करते हैं, और जिनका स्मरण करने मात्रसे ही पाप विलीन हो जाते है।[4] कवि जिनहर्षने अपनी 'चौबीसी' के प्रथम छन्दमें ही लिखा है,

---

१. वही, अहिछित पार्श्वजिन स्तुति, २०वाँ पद्य, पृ० १६२।

२. परचाह दाह दह्यो सदा कबहूं न साम्य सुधा चख्यो।
अनुभव अपूरब स्वादु विन नित विषय रस चारो भख्यो॥
अब बसो मो उर में सदा प्रभु, तुम चरण सेवक रहों।
वर भक्ति अति दृढ़ होहु मेरे, अन्य विभव नहीं चहों॥
बिहारीदास, जिनेन्द्रस्तुति, बृहज्जिनवाणी-संग्रह, सम्राट् संस्करण, मदनगंज, किशनगढ, ५वाँ पद्य, पृ० १२७-१२८।

३. जगतराम, जैन पदावली, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय, जगतराम।

४. शिरोमणिदास, धर्मसार, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय, शिरोमणि दास।

"भगवान् ऋषभ जिनेन्द्रके दर्शन मात्रसे पाप दूर हो जाते हैं और आनन्द बढ़ता है। उन भगवान्‌की सुर, नर और इन्द्र सदैव सेवा किया करते हैं।"[1]

दीनता

दीनताका अर्थ 'घिघियाना' नहीं है, अपितु आराध्यके गुणोसे प्रभावित होकर अपनी विनम्रता अभिव्यक्त करना है। चापलूसी स्वार्थजन्य होती हैं, जब कि दीनतामे भक्ति-भाव ही प्रधान है। चापलूसीमे विवशता है और दीनतामे स्वत.प्रेरकता। दीनका हृदय पावन होता है, जब कि चापलूसका अपावन। श्री वियोगीहरिका कथन है, "दीनबन्धुका निवास-स्थान दीन हृदय हैं। दीन हृदय ही मन्दिर है, दीन हृदय ही मस्जिद है और दीन हृदय ही गिरजा है।"[2] दीन अपने दीनबन्धुसे याचना भी करता है किन्तु स्वाभिमानके साथ। महात्मा तुलसीदासने उसको मानो मँगना लिखा है। यह हो उसकी शान है।

भूधरदासके पदोमे 'दीनदयालु' शब्दका बहुत प्रयोग हुआ है। एक स्थानपर उन्होंने भगवान् जिनेन्द्रको सम्बोधन करते हुए लिखा है, "हे जगतगुरु! हमारी एक अरज सुनिए। तुम दीनदयालु हो और मै संसारी दुखिया हूँ। इस संसारकी चारो गतियोमे घूमते-घूमते मुझे अनादिकाल बीत गया और किंचिन्मात्र भी सुख नही पा सका। दुःख-ही-दुःख मिलते रहे। हे जिन! तुम्हारे सुयशको सुनकर अब तुम्हारे पास आया हूँ। तुम संसारके नीति-निपुण राजा हो। हमारा न्याय कर दीजिए।"[3]

श्री द्यानतरायने विनय-भरा उपालम्भ, अपने दीनदयालु भगवान्‌को दिया है। उन्होने कहा, "हे प्रभु! तुम दीनदयालु कहलाते हो, किन्तु स्वयं तो मुक्तिमे जा बैठे हो और हम इस संसारमे मर-खप रहे है। हम तो मन और वचनसे तीनो काल तुम्हारा नाम जपते हैं, और तुम हमे कुछ नही देते। बताओ फिर हमारा क्या हाल होगा। हम भले बुरे जो कुछ भी है, तुम्हारे

---

१. देख्यो ऋषभ जिनंद तब तेरे पातिक दूरि गयो।
प्रथम जिनंद चन्द कवि सुर-नर कंद।
सेवै सुर नर इंद आनन्द भयो ॥ १ ॥ देख ॥

२. श्री वियोगी हरि, दीनोंपर प्रेम, 'जीवन और साहित्य', डॉ० उदयभानुसिंह सम्पादित, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा, जुलाई १९५६, पृ० १०९।

३. भूधरदास, बीनती, बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ० ५३०।

भक्त हैं और तुम हमारी चालको जानते हो। हम कोई भौतिक वैभव नहीं चाहते, केवल आप हमारे राग-द्वेषोंको हटा दीजिए। हे प्रभु! हमसे कितनी ही भूलें हो गयी हों, और हमने कितने ही पाप किये हों, किन्तु आप तो करुणाके समुद्र हो। हमको एक बार और केवल एक बार इस संसारसे निकाल लो, बस इतना ही निवेदन है।"[1]

लघुता

आराध्यके समक्ष लघुताकी अनुभूति सात्त्विकताकी द्योतक है। बिना उसके भक्तका सिर भगवान्‌के चरणोंपर झुक ही नहीं सकता। लघुतासे अहंकार हटता है और विनय उत्पन्न होती है। तुलसीदासकी विनयपत्रिका—लघुताके भावसे ही ओतप्रोत है। जैन भक्त कवियोंकी रचनाओंमें भी लघुताका भाव है।

कवि बनारसीदासने भगवान् जिनेन्द्रसे प्रार्थना करते हुए कहा, "जो कमठ-के मानका भंजन करनेवाले, गरिमा और गम्भीर गुणोंके समुद्र हैं, तथा जिनके यशका वर्णन करके सुरगुरु भी पार प्राप्त नहीं कर सकते, मैं अज्ञानी उन्हींके यशको कहनेका प्रयास कर रहा हूँ। अर्थात् भगवान्‌का यश महत् है और मेरी बुद्धि अल्प। प्रभुका स्वरूप अत्यधिक अगम्य है और अथाह, मैं उसको वैसे ही नहीं कह सकता, जैसे दिन-अन्ध उलूक रवि-किरनके उद्योतको नहीं कह सकता।"[2]

भक्तके पास ऐसी बुद्धि नहीं जो वह भगवान् जिनेन्द्रकी स्तुति कर सके, किन्तु फिर भी वह करता है, क्योंकि करे बिना रह नहीं सकता। पाण्डे हेमराज-ने इसी भावको लेकर अपनी लघुता अभिव्यक्त की है, "मैं बुद्धिहीन होते हुए भी आपके चरणोंकी स्तुति करनेका प्रयास कर रहा हूँ, यह वैसा ही है जैसे कि कोई मूर्ख बालक जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रको पकड़नेकी इच्छा करता है। आपके अगण्य गुणोंको कहना, प्रलयकालकी पवनसे उद्धत समुद्रको भुजाओंसे तैर जाना है।"[3] अपनी लघुता दिखाते हुए पाण्डे रूपचन्दने 'निर्वाण कल्याण'के अन्तमें

१. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय, द्यानतराय।

२. बनारसीदास, कल्याणमन्दिर स्तोत्र भाषा, चौपाई ३-४, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४, पृ० १२४।

३. पाण्डे हेमराज, भक्तामर स्तोत्र भाषा, चौपाई ३-४, बृहज्जिनवाणी संग्रह, १९५६ ई०, पृ० १६४।

लिखा है, "बुद्धि-हीन होते हुए भी मैं, भक्तिसे विवश होकर ही भगवान्‌की स्तुति कर सका हूँ। मेरा मंगलगीत प्रबन्ध, बुद्धिके न होते हुए भी भक्तिसे ही अनुप्राणित है।[1]"

भक्त भगवान्‌की स्तुति करना चाहता है, किन्तु कैसे करे उसमें सामर्थ्य तो है ही नहीं। इसी भावको आकर्षक ढंगसे अभिव्यक्त करते हुए द्यानतरायजीने कहा, "हे प्रभु, मैं तेरी स्तुति किस ढंगसे करूँ। जब गणधर भी करते हुए पार प्राप्त नहीं कर पाते, तो फिर मेरी बुद्धि क्या है। इन्द्र जन्म-भर सहस्र जिह्वाओंको धारण कर तुम्हारे यशको कहता है, फिर भी पूरा नहीं कह पाता। फिर भला मैं एक जिह्वासे उसे कहनेमें कैसे समर्थ हो सकता हूँ। मेरा यह प्रयास वैसा ही होगा, जैसे उल्लू सूर्यके गुणोंको कहनेका उपक्रम करे। हे भगवन्! तुम्हारे गुणोंको कहनेका वचनोंमें वैसे ही बल नहीं है, जैसे नेत्रोंमें आकाशके तारे गिनने-की शक्ति नहीं होती।"

"प्रभु मैं किहि विधि थुति करौं तेरी।
गणधर कहत पार नहिं पावै, कहा बुद्धि है मेरी॥ प्रभु०॥१॥
शक्र जनम भरि सहस जीभ धरि तुम जस होत न पूरा।
एक जीभ कैसें गुण गावै उल्लू कहै किमि सूरा॥ प्रभु०॥२॥
चमर छत्र सिंहासन बरनों, ये गुण तुमतैं न्यारे।
तुम गुण कहत वचन बल नाहीं नैन गिनै किमि तारे॥ प्रभु०॥३॥"[2]

आराध्यकी महिमा

आराध्यकी महिमाकी स्वीकृतिके बिना विनयका भाव निभ ही नहीं सकता। जबतक भक्त आराध्यके गुणोंपर विमुग्ध न होगा, उसकी उपासनामें न तो एक-तानता आयेगी और न सचाई। आराध्यकी महिमाकी अनुभूति जितनी गहरी होती जायेगी भक्तका हृदय उतना ही पुनीत और आराध्यमय हो जायेगा। उपास्यके गुणोंकी चरम अनुभूति पूज्य और पूजकके भेदको मिटा देती है।

सोलहवीं शताब्दीके कवि पद्मतिलकने 'गर्भ विचार स्तोत्र'का निर्माण किया था, जिसमें भगवान् जिनेन्द्रकी महिमाका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है,

---

१. मैं मतिहीन भगतिवस भावन भाइया।
मंगल गीत प्रबन्ध सु निजगुंण गाइया॥
पाण्डे रूपचन्द्र, मंगलगीत प्रबन्ध, निर्वाणकल्याणक, २५वाँ पद्य, ज्ञानपीठ पूजांजलि, पृ० १०३।

२. द्यानतराय, द्यानतपद संग्रह, कलकत्ता, ४५वाँ पद, पृ० १९-२०।

"हे भगवन् ! तुम्हारा दर्शन करने मात्रसे ही मुझे ऐसा विदित होता है जैसे कि उत्तम चिन्तामणि ही मिल गयी हो, जैसे हमारे आंगनमें कल्पवृक्ष विविध फलोंसे फर गया हो और जैसे हमारे घरमें सुरधेनुका ही अवतार हो गया हो। जिस किसीने भगवान् ऋषभनाथको अपनी भक्तिसे प्रसन्न कर लिया, उसकी सभी मनोवांछित अभिलाषाएँ सहजमें ही पूरी हो जाती हैं।"[1] इसी शताब्दीके एक दूसरे कवि मेरुनन्दन उपाध्यायने अपने 'सीमन्धर जिनस्तवनम्'में स्वामी सीमन्धरकी महिमापर विमोहित होकर लिखा है, "उन जिनेन्द्र भगवान्‌की जय हो, जिनके वचनोंमें इतना अमृत भरा है कि उसके समक्ष चन्द्रका अमृत-कुण्ड भी तुच्छ-सा प्रतिभासित होता है। भगवान्‌के नेत्र कोमल और विशाल कमलकी भाँति हैं। देव दुन्दुभियाँ सदा भगवान्‌की महिमाको उद्घोषित करती रहती हैं। भगवान् अनन्त गुणोंके प्रतीक हैं, और उनका कृपा-कटाक्ष पल-भरमें ही भक्तको संसार-समुद्रसे पार कर देता है। भक्तको पूरा विश्वास है कि ऐसे भगवान्‌को प्रणाम करनेसे, मन निरालम्ब रहकर, चकृत होकर दौड नहीं पायेगा। उसे अवलम्ब मिलेगा और वह भव-समुद्रको पार कर लेगा।"[2]

सत्तरहवीं शताब्दीके कवि त्रिभुवनचन्द्रने, 'अनित्यपंचाशत' में परमातमकी जय-जयकार करते हुए कहा है, "जिसका स्वरूप पावन है, मूर्त्ति अनुपम है और जिसकी वाणी करुणासे भरी हुई है, उन संयमवन्त भगवान्‌ने एक वीर योद्धाकी भाँति अपने हृदयमें धैर्यरूपी धनुषको धारण किया है। उससे तीक्ष्ण बाणोंको छोड़-छोड़कर वे अपने शत्रु मोहका वध करते है। संसारमें ऐसे परमातम रूप भगवान्‌को सदा जय-जयकार होवे।"[3] अठारहवीं शताब्दीके कवि विनोदीलालने अपने 'चतुर्विंशति जिन स्तवन सवैय्या'में भगवान् आदिनाथकी महिमाका उल्लेख करते हुए लिखा है, "जिसके चरणारविन्दकी पूजा करनेके लिए बड़े-बड़े सुरेन्द्र, इन्द्र और देवोंके समूह आया करते हैं, और जिसके चारों ओर चन्द्र-जैसी आभा छिटकी रहती है, जिसके नखोंपर करोड़ों सूर्योकी किरणे न्यौछावर की जा सकती हैं, और जिसके मुखको देखकर कामदेवकी शोभा भी पराजित हो जाती है, जिसकी

---

१. दंसण तुम्ह विहाण अच्छ चिंतामणि चडियउ।
सुरतरु अंगणि अम्ह अच्छ विविहप्परि फलियउ॥
सुरहंधेणु अंगणिहि णाह अम्हहं अवयरियउ।
जइ भेद्यउ सिरि रिसहणाह मणवंछिय सरियउ॥
पद्मतिलक, गर्भविचारस्तोत्र, १वाँ पद्य।

२. मेरुनन्दन उपाध्याय, सीमन्धर जिनस्तवनम्, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

३. त्रिभुवनचन्द्र, अनित्यपंचाशत, प्रथम पद्य, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, पृष्ठ २०१।

उत्तम देह दर्पणकी भाँति चमकती है, और उसमें सात भव साक्षात् दिखाई देते हैं, ऐसे भगवान् नाभिनन्दनको हमारा त्रिकाल नमस्कार हो।[1] इसी शताब्दीके कवि जिनहर्षने लिखा है, "भगवान् आदिनाथकी सुर, नर और इन्द्र सभी सेवा करते हैं। उनके दर्शन करने-मात्रसे ही पाप दूर भाग जाते हैं। कलियुगके लिए तो वे कल्पवृक्षकी भाँति हैं। सारा संसार उनके चरणोंपर झुकता है। उनकी महिमा और कीर्ति इतनी अधिक है कि कोई उसका पार नहीं पा सकता। सब स्थानोंपर जिनराजकी ज्योति जगमगा रही है। वे भव-समुद्रको पार करनेके लिए जहाजकी भाँति हैं। प्रभुजीकी छवि मोहनी और अनूप है, उनका रूप अद्भुत है और वे धर्मके सच्चे राजा हैं। हमारे नेत्र ज्यों ही भगवान्को देखते हैं कि सुख-के बादल बरस पड़ते हैं।"

"देख्यौ ऋषभ जिनंद तब तेरे पातिक दूरि गयौ,
प्रथम जिनंद चन्द कलि सुर-तरु कंद।
सेवै सुर नर इंद आनन्द भयौ ॥
जाके महिमा कीरति सार प्रसिद्ध बढ़ी संसार,
कोऊ न लहत पार जगत्र नयो।
पंचम आरै में आज जागै ज्योति जिनराज,
भवसिंधु को जिहाज आणि कै ठयो ॥
बण्या अद्भुत रूप, मोहनी छबि अनूप,
धरम को साचौ भूप, प्रभुजी जयौ।
कहै जिन हरषित नयण भारे निरखित,
सुख घन बरसत, इति उदयौ ॥"[2]

अन्यसे महत्ता

भक्ति-कालके सभी कवियोंने अपने-अपने आराध्यको अन्योंसे कहीं अधिक महिमावान् बतलाया है, और जैन कवि भी उसके अपवाद रूप नहीं है। भक्त कवियोंका यह भाव उनकी अनुदारताका नहीं, अपितु अनन्यताका सूचक है।

सत्तरहवीं शताब्दीके पाण्डे हेमराजने 'भक्तामर स्तोत्र भाषा' में आदि प्रभुकी स्तुति करते हुए लिखा है, "हे भगवन्! जो ज्ञान आपमें सुशोभित होता है, वह

१. विनोदीलाल, चतुर्विंशति जिनस्तवन सवैया, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थोंकी खोज, चतुर्थ भाग, साहित्य संस्थान, उदयपुर, १९५४ पृ० ११८।
२. जिनहर्ष, चौबीसी, पहला पद, राजस्थानमें हिन्दीके हस्त लिखित ग्रन्थोंकी खोज, चौथा भाग, पृ० १२३-१२४।

विष्णु और महादेवमें नहीं हो सकता। भला जो चमक महारतनमें होती है, वह काँचके टुकडेमें कहाँसे पायी जा सकती है[1]।" कवि बिहारीदासने भी 'आतमा' रूपी देवकी आरती करते हुए कहा है, "ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर सदैव जिसका ध्यान लगाते है और सम्पूर्ण साधु जिसका गुण गाते हैं, मैं उस 'आतमदेवा'की आरती करता हूँ।"[2] कवि द्यानतरायने एक पदमें भगवान् नेमिनाथको महान् ज्ञानी और वीतरागी बताते हुए यह स्वीकार किया है कि उनके समान अन्य कोई देव नहीं है। उनका कथन है, "हे भगवन् नेमिनाथ! इस विश्वमें तुम्ही सबसे अधिक ज्ञानी हो। तुम्हीं हमारे देव और गुरु हो। तुम्हारी कृपासे ही हमने सकल द्रव्योंको जान लिया है। हमने तीनों भुवनोंको छान डाला है, किन्तु तुम्हारे समान अन्य कोई देव दिखाई नहीं दिया। संसारमें अन्य जितने भी देवता हैं सब रागी, द्वेषी, कामी अथवा मानी है, किन्तु आप वीतरागी और अकषायी हो। नव-यौवनसम्पन्ना राजुल रानीको छोड़कर तुमने जिस इन्द्रिय-जयका परिचय दिया था, अन्य कोई देव नहीं दे सका। हे भगवन्, मुझे इस संसारसे निकाल लो, हम ग़रीब प्राणी है।[3]" भगवान् जिनेन्द्रकी वाणीको अन्य देवोंकी मिथ्यावाणीसे उत्तम बताते हुए भूधरदासने लिखा है, "आक और गायके दूधमें घनेरा अन्तर है। भला कहाँ कौवेकी वाणी और कहाँ कोयलकी टेर। कहाँ भारी भानु और कहाँ बिचारा अगिया, कहाँ पूनोका उजेला और कहाँ मावसका अँधेरा। यदि

---

१. जो सुबोध सोहै तुम माहिं। हरि हर आदिक में सो नाहिं॥
जो दुति महारतन में होय। काच खंड पावै नहिं सोय॥
पाण्डे हेमराज, भक्तामर स्तोत्र भाषा, २०वाँ पद्य, बृहज्जिनवाणी संग्रह, १९५६ ई०, पृ० १९६।

२. ब्रह्मा विष्णु महेश्वर ध्यावैं। साधु सकल जिहैं को गुण गावैं॥
करौं आरती आतम देवा। गुण परजाय अनन्त अभेवा॥
बिहारीदास, आत्माकी आरती, बृहज्जिनवाणी संग्रह, १९५६ ई०, पृ० ५२०।

३. ज्ञानी ज्ञानी ज्ञानी, नेमि जी! तुम ही हो ज्ञानी॥
तुम्ही देव गुरु तुम्ही हमारे, सकल दरब जानी॥ज्ञानी०॥१॥
तुम समान कोउ देव न देख्या, तीन भवन छानी।
आप तरे भव जीवनि तारे, ममता नहिं आनी॥ज्ञानी०॥२॥
और देव सब रागी द्वेषी, कामी कै मानी।
तुम हो वीतराग अकषायी, तजि राजुल रानी॥ज्ञानी०॥३॥
द्यानतराय निकास जगत तैं, हम गरीब प्रानी॥ज्ञानी०॥४॥
द्यानतरायपदसंग्रह, कलकत्ता, २८वाँ पद, पृ० १२।

कोई पारखी निहारकर देखे तो उसे जेन बैन और अन्य बैनोमे स्पष्ट अन्तर दिखाई देगा।"

"कैसे करि केतकी कनेर एक कही जाय,
आक दूध गाय दूध अन्तर घनेर है।
पीरो होत री री पै न रीस करै कंचन की,
कहां काग वांणी कहां कोयल की टेर है।
कहां भान भारौ कहां अगिया बिचारौ कहाँ,
पूनौ को उजारो कहां मावस अन्धेर है।
पच्छ छोरि पारखी निहार नेक नीके करि,
जैन बैन और बैन इतनौं ही फेर है॥"[1]

नाम-जप

भगवान्‌के नाम-जपकी महिमाको सभी भक्त कवियोने एक स्वरसे स्वीकार किया है। तुलसीकी 'विनय-पत्रिका'का एक बहुत बड़ा अंश भगवान्‌के नामकी महत्तासे भरा हुआ है। जैन कवियोंने भी जिनेन्द्रके नाम-गत चमत्कारको स्वीकार किया है। उनकी दृष्टिमे भगवान्‌के नामसे मोक्ष प्राप्त होना है। भगवान्‌के नामसे चक्रवर्त्तीका पद मिलना तो बहुत ही आसान है। अर्थात् नाम-जपसे इहलोक और परलोक दोनो ही सधते है।

सत्तरहवी शताब्दीके कवि कुमुदचन्द्रने 'भरत बाहुबली छन्द'के आरम्भमे ही मंगलाचरण करते हुए लिखा है, "मै उस आदीश्वर प्रभुके चरणोमे प्रणाम करता हूँ, जिसके नाम लेने मात्रसे ही संसारका फेरा छूट जाता है। अर्थात् यह जीव भव-भ्रमणसे मुक्त हो जाता है[2]।" श्री कुशललाभने अपने 'नवकार छन्द'मे पंचपरमेष्ठीके नामकी महत्ताका बखान करते हुए लिखा है, "जो नित्य प्रति 'नवकार'को जपता है, उसको संसारकी संपत्तियाँ तो मिल ही जाती है, और शाश्वत सिद्धि भी उपलब्ध होती है[3]।" इसी शताब्दीके कवि मनरामने 'मनराम-विलास'मे लिखा है। "अरहन्तके नामसे आठ कर्मरूपी

---

१. जैनशतक, १६वॉ पद, कलकत्ता, पृ० ५–६।

२. पणविवि पद आदीश्वर केरा, जेह नामे छूटे भव फेरा।
कुमुदचन्द, भरतबाहुबलि छन्द, पहला पद्य, प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, १९५०, पृ० २४३।

३. कुशललाभ, नवकार छन्द, अन्तिमकलश, जैन गुर्जरकविओ, पहला भाग, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० २१६।

शत्रु नष्ट हो जाते है, और 'सिद्ध'के भजनसे सब काम सिद्ध हो जाते हैं। आचार्यकी भक्तिमे सद्गुणोका समावेश होता है। उपाध्यायके ध्यानसे 'उपाध्याय'-जैसे बन जाते है, और साधुओंके स्मरणसे सब मनोकामनाएँ पूरी हो जाती है। इस भाँति पंचपरमेष्ठीके नाममन्त्रका जाप इस जीवको निजधाम अर्थात् मोक्ष प्राप्त करा देता है।"[1] श्री यशोविजयजीने 'आनन्दघन अष्टपदी'के एक पद्यमे लिखा है, "अरे ओ चेतन! तू इन संसारके भ्रममे क्यो फँसा हुआ है। भगवान् जिनेन्द्रके नामका भजन कर। सद्गुरुने भी भगवान्के नाम जपनेका ही उपदेश दिया है।"[2]

द्यानतरायने अपने मनको समझाते हुए लिखा है, "हे मन! तू दीनदयालु भगवान् जिनेन्द्रको भज, जिसका नाम लेनेसे क्षणमात्रमे करोडो पापोके जाल कट जाते हैं। जिसके नामको इन्द्र, फणीन्द्र और चक्रधर भी गाते हैं, तथा जिसके नामरूपी ज्ञानके प्रकाशसे मिथ्या जाल स्वत. हो नष्ट हो जाता है। जिसके नामके समान ऊर्ध्व, मध्य और पाताल लोकमे भी कोई नही है, उसीके नामको नित्य प्रति जपो और विकराल विषयोको छोड दो।"

रे मन! भज भज दीनदयाल ॥
जाके नाम लेत इक छिन मै, कटैं कोट अघ जाल ॥ रे मन० ॥
इन्द्र फनिन्द्र चक्रधर गावैं, जाको नाम रसाल।
जाको नाम ज्ञान परकासै, नाशै मिथ्या जाल ॥ रे मन० ॥
जाके नाम समान नही कछु, ऊरध मध्य पताल।
सोई नाम जपों नित द्यानत, छोड़ि विषय विकराल ॥ रे मन० ॥[3]

---

१. करमादिक अरिन को हरै अरहंत नाम,
सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है।
उत्तम सुगुन गुन आचरत जाकी संग,
आचारज भगति बसत जाकै मन है ॥
उपाध्याय ध्यान तै उपाधि सब होत,
साध परिपूरण को सुमरन है।
पंच परमेष्ठी को नमस्कार मंत्रराज,
धावै मनराम जोई पावै निजधन है ॥
मनराम, मनराम विलास, पद्य १, मन्दिर ठोलियान जयपुरकी हस्तलिखित प्रति।

२. जिनवर नामसार भज आतम, कहा भरम संसारे।
सुगुरु वचन प्रतीत भये तब, आनन्दघन उपगारे ॥ काया० ॥
यशोविजय, आनन्दघन अष्टपदी, आनन्दघन बहत्तरी, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई।

३. द्यानत पदसंग्रह, कलकत्ता, ६६वाँ पद, पृ० २८।

शान्तभाव

पहलेके आचार्योंने 'शान्ति'को साहित्यमे अनिर्वचनीय आनन्दका विधायक नही माना था, किन्तु 'पण्डितराज'के अकाटय तर्कोंने उसे भी रसके पदपर प्रतिष्ठित किया। तबसे अभीतक उसकी गणना रसोंमें होती चली आ रही है। उसे मिलाकर नौ रस माने जाते है। जैनाचार्योंने भी इन्ही नौ रसोंको स्वीकार किया है, किन्तु उन्होने शृंगारके स्थानपर शान्तको 'रस-राज' माना है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्दकी सच्ची अनुभूति, राग-द्वेष नामक मनोविकारके उपशम हो जानेपर ही होती है। राग-द्वेषसे सम्बन्धित अन्य आठ रसोंके स्थायी भावोंसे उत्पन्न हुए आनन्दमे वह गहरापन नही होता, जो 'शान्त'मे पाया जाता है। स्थायी आनन्दकी दृष्टिसे तो 'शान्त' ही, एक मात्र रस है। कवि बनारसीदासने 'नवमों सान्त रसनि को नायक' माना है।[1] उन्होने तो आठ रसोंका अन्तर्भाव भी शान्त रसमे ही किया है। डॉक्टर भगवानदासने भी अपने 'रस मीमासा' नामके निबन्धमे, अनेकानेक संस्कृत उदाहरणोंके साथ, 'शान्त'को रसराज सिद्ध किया है।

जहाँतक भक्तिका सम्बन्ध है, जैन और अजैन सभीने 'शान्त'को ही प्रधानता दी है। यदि शाण्डिल्यके मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वरमे 'परानुरक्ति' तभी हो सकती है, जब अपरको अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीवकी मन.प्रवृत्ति ससारके अन्य पदार्थोंसे अनुराग-हीन होकर, ईश्वरमे अनुराग करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नही। और संसारको असार, अनित्य तथा दुखमय मानकर मनका आत्मा अथवा परमात्मामे केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भाँति ईश्वरमे 'परानुरक्ति'का अर्थ भी शान्ति ही हुआ। स्वामी सनातनदेवजीने 'अपने भाव भक्तिकी भूमिकाएँ' नामक निबन्धमे लिखा है, "भगवदनुराग बढनेसे अन्य वस्तु और व्यक्तियोंके प्रति मनमे वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्ति-शास्त्रमे भगवत्प्रेमकी इस प्रारम्भिक अवस्थाका नाम ही शान्तभाव है[2]।" नारदने भी

---

१. प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस, तीजौ रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम, छट्ठम रस बीभच्छ विभायक॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत, नवमों शान्त रसनि को नायक।
ए नव रस एई नव नाटक, जो जहँ मगन सोइ तिहि लायक॥

बनारसीदास, नाटक समयसार, पं० बुद्धिलाल श्रावककी टीकासहित, जैन ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ० ३६१।

२. स्वामी सनातनदेवजी, भावभक्तिकी भूमिकाएँ, कल्याण, भक्ति विशेषांक, वर्ष ३२, अक १, पृ० ३६६।

अपने 'भक्तिसूत्र'मे 'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च'को भक्ति माना है।[1] इसमे पडे हुए 'परम प्रेम'से यह ही ध्वनि निकलती है कि संसारसे वैराग्यो-न्मुख होकर एकमात्र ईश्वरसे प्रेम किया जाये। शान्तिमे भी वैराग्यकी ही प्रधानता है। 'भक्ति रसामृतसिन्धु'मे 'अन्याभिलाषिताशून्यं कृष्णानुशीलनं उत्तमा भक्तिः।'[2] उपर्युक्त कथनका ही समर्थन करती है। यह कहना उपयुक्त नही है कि अनुरक्तिमे सदैव जलन होती है, चाहे वह ईश्वरके प्रति हो अथवा संसारके, क्योंकि दोनोंमे महदन्तर है। सासारिक अनुरक्ति दुःखकी प्रतीक है और ईश्वरानुरक्ति दिव्य सुखको जन्म देती है। पहलीमे जलन है, तो दूसरीमें शीतलता, पहलीमे अपावनता है, तो दूसरीमे पवित्रता। और पहलीमे पुन.-पुनः भ्रमणकी बात है, तो दूसरीमे मुक्त हो जानेकी भूमिका।

जैनाचार्य शान्तिके परम समर्थक थे। उन्होने एक मनसे, राग-द्वेषोसे विमुख होकर वीतरागी पथपर बढनेको ही शान्ति कहा है। उसे प्राप्त करनेके दो उपाय है – तत्त्व-चिन्तन और वीतरागियोकी भक्ति। वीतरागमे किया गया अनुराग साधारण रागकी कोटिमे नही आता, उसका विवेचन पहले अध्यायमे हो चुका है। उन्होने शान्तभावकी चार अवस्थाएँ स्वीकार की है – प्रथम अवस्था वह है जब मनकी प्रवृत्ति, दु.खरूपात्मक संसारसे हटकर आत्म-शोधनको ओर मुडती है। यह व्यापक और महत्त्वपूर्ण दशा है। दूसरी अवस्थामे उस प्रमादका परिष्कार किया जाता है, जिसके कारण संसारके सुख-दु.ख सताते है। तीसरी अवस्था वह है जब कि कषाय-वासनाओंका पूर्ण अभाव होनेपर निर्मल आत्माकी अनुभूति होती है। चौथी अवस्था केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर पूर्ण आत्मानुभूतिको कहते है। ये चारो अवस्थाएँ आचार्य विश्वनाथके द्वारा कही गयी युक्त, वियुक्त और युक्त-वियुक्त दशाओंके समान मानी जा सकती है।[3] इनमे स्थित 'शम' भाव ही रसताको प्राप्त होता है।

---

१. देखिए 'नारदप्रोक्त भक्तिसूत्रम्', खेलाडीलाल ऐण्ड सन्ज, वाराणसी, पहला सूत्र।

२. भक्तिरसामृत सिन्धु, गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० स० १९८८, प्रथम संस्करण।

३. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन्संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥
आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, शालिग्राम शास्त्रीकी हिन्दी व्याख्या सहित, लखनऊ, द्वितीयावृत्ति, वि० सं० १९९१, ३।२५०, पृष्ठ १६८।

जैनाचार्योंने 'मुक्ति दशा'मे 'रसता'को स्वीकार नही किया है, यद्यपि वहाँ विराजित पूर्ण शान्तिको माना है। अर्थात् सर्वज्ञ या अर्हन्त जबतक इस संसारमें है, तभीतक उनकी 'शान्ति' शान्तरस कहलाती है, सिद्ध या मुक्त होनेपर नही। 'अभिधानराजेन्द्रकोश'मे 'रस'की परिभाषा बताते हुए लिखा है, "रस्यन्ते अन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसाः"[1] अर्थात् अन्तरात्माकी अनुभूतिको रस कहते हैं। सिद्धावस्थामे अन्तरात्मा अनुभूतिसे ऊपर उठकर आनन्दका पुंज ही हो जाती है, अतः अनुभूतिको आवश्यकता हो नही रहती। जैनाचार्य वाग्भटने अपने 'वाग्भटालंकार'मे रसका निरूपण करते हुए लिखा है, "विभावैरनुभावैश्च, सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः। आरोप्यमाण उत्कर्षं स्थायीभावः स्मृतो रसः।"[2] अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारियोके द्वारा उत्कर्षको प्राप्त हुआ स्थायी भाव ही रस कहलाता है। सिद्धावस्थामे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावोंके अभावमे रस नहीं बन पाता।

जैन आचार्योंने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियोकी भाँति ही 'शम' को शान्तरसका स्थायीभाव माना है। भगवज्जिनसेनने 'अलंकारचिन्तामणि' मे 'शम'को विशद करते हुए लिखा है, "विरागत्वादिना निर्विकारमनस्त्वं शमः", अर्थात् बिरक्ति आदिके द्वारा मनका निर्विकारी होना शम है।[3] यद्यपि आचार्य मम्मटने 'निर्वेद'को 'शान्त-रस' का स्थायी भाव माना है, किन्तु उन्होने, 'तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्' लिखकर निर्वेदको शम रूप ही स्वीकार किया है।[4] आचार्य विश्वनाथने शम और निर्वेदमे भिन्नता मानी है और उन्होने पहलेकी स्थायी भावमें और दूसरेको संचारी भावमे गणना की है।[5] जैनाचार्योंने वैराग्योत्पत्तिके दो कारण माने है – तत्त्वज्ञान, इष्टवियोग-अनिष्टसयोग। इसमें पहलेसे उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थायी भाव है और दूसरा संचारी। इस भाँति उनका अभिमत भी आचार्य मम्मटसे ही मिलता-जुलता है। इसके साथ-साथ उन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथकी भाँति ही अनित्य जगत्को आलम्बन, जैनमन्दिर, जैनतीर्थक्षेत्र, जैनमूर्त्ति और जैनसाधुको उद्दीपन, धृत्यादिकोको संचारी तथा काम, क्रोध, लोभ,

---

१. देखिए, अभिधानराजेन्द्रकोश, 'रस' शब्द।

२. आचार्य वाग्भट, वाग्भटालंकार।

३. भगवज्जिनसेनाचार्य, अलकारचिन्तामणि।

४. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चौखम्बा सस्कृत ग्रन्थमाला, संख्या ५६, १६२७ ई०, चतुर्थ उल्लास, पृ० १६४।

५. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, शालिग्राम शास्त्रीकी व्याख्यासहित, लखनऊ, ३।२४५-२४६, पृ० १६६।

मोहके अभाव अर्थात् सर्वसमत्वको अनुभाव माना है।

जैन आचार्योंने शान्तरसको जिस रूपमें निरूपित किया, जैन कवियोंने उसका सच्चे अर्थोंमें निर्वाह भी किया। उन्होंने शान्तिकी ओटमें विलासिताकी ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं, उसको प्रश्रय देनेकी बात तो जहाँ-तहाँ रही। शृंगार रस-राज भले हो, किन्तु भक्तिके क्षेत्रमें तो उसे गौणपद ही मिलना चाहिए, किन्तु न जाने कैसे जयदेवके समयसे एक ऐसा विकृत प्रवाह बह पड़ा, जो कि अपने प्रखर वेगके कारण कभी रुका ही नहीं। विद्यापतिकी राधाकी स्पष्ट और मुखरित विलासिताको तो रवीन्द्रनाथ ठाकुरने भी स्वीकार किया है। 'सूरसागर'में कहीं-कहीं ऐसे अश्लील स्थल हैं कि शालीन मनको रुचते नहीं।

जैनोंके भक्ति-काव्योंमें यदि एक ओर सांसारिक राग-द्वेषोंसे विरक्ति है, तो दूसरी ओर भगवान्से चरम-शान्तिकी याचना। उनको शान्ति तो चाहिए किन्तु अस्थायी नहीं। वे उस शान्तिके उपासक हैं जो कभी पृथक् न हो। जब तक मनसे दुविधा न मिटेगी, वह कभी भी शान्तिका अनुभव नहीं कर सकता। और यह दुविधा निजनाथ निरंजनके सुमिरन करनेसे ही दूर हो सकती है। कवि बनारसीदास अपनी चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते है, 'न जाने कब हमारे नेत्र-चातक अक्षय-पदरूपी घनकी बूँदे चख सकेंगे, तभी उनको निराकुल शान्ति मिलेगी। और न जाने वह घड़ी कब आयेगी जब हृदयमें समता-भाव जगेगा। हृदयके अन्दर जबतक सुगुरुके वचनोंके प्रति दृढ श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, परमार्थ सुख नहीं मिल सकता। उसके लिए एक ऐसी लालसाका उत्पन्न होना भी अनिवार्य है, जिसमें घर छोड़कर बनमें जानेका भाव उदित हुआ हो।[1]"

---

१ कब निजनाथ निरंजन सुमिरों,
तज सेवा जन-जन की,
दुविधा कब जै है या मन की ॥१॥
कब रुचि सौं पीवै दृग चातक,
बूंद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि,
करूँ न ममता तन की, दुविधा० ॥२॥
कब घट अन्तर रहै निरन्तर,
दिढता सुगुरु वचन की,
कब सुख लहौं भेद परमारथ,
मिटै धारना धन की, दुविधा० ॥३॥

कवि बनारसीदासने शान्तरसको आत्मिक रस कहा है, उसका आस्वादन करनेसे परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत भोजनके समान समझना चाहिए।[1] इस आनन्दको साक्षात् करनेवाला चेतन जिसके घटमें विराजता है, उस जिनराजकी बनारसीदासने वन्दना की है।[2]

यह जीव संसारके बीचमें भटकता फिरता है, किन्तु उसे शान्ति नहीं मिलती। वह अपने अष्टादश दोषोंसे प्रपीड़ित है और आकुलता उसे सताती ही रहती है। भैया भगवतीदासका कथन है, "हे जीव ! इस संसारके असंख्य कोटि सागरको पीकर भी तू प्यासा ही है और इस संसारके दोषोंमें जितना अन्न भरा है, उसको खाकर भी तू भूखा ही है। यह सब कुछ अठारह दोषोंके कारण है। वे तभी जीते जा सकते हैं जब तू भगवान् जिनेन्द्रका ध्यान करे और उसी पथका अनुसरण करे, जिसपर वे स्वयं चले थे।"[3] 'भैया' की दृष्टिसे अष्टादश दोष ही

कब घर छांड होहुं एकाकी,
लिये लालसा बन की,
ऐसो दशा होय कब मेरी,
हौं बलि बलि वा छन की, दुबिया० ॥४॥
बनारसी विलास, जयपुर, १९५४, अध्यात्मपदपंक्ति, १३वाँ पद, पृ० २३१-२३२।

१. अनुभौ को केलि यहै कामधेनु चित्रा बेलि,
अनुभौ को स्वादु पंच अमृत को कौर है ॥
बनारसीदास, नाटक समयसार, बम्बई, उत्थानिका, १९वाँ पद्य, पृ० १७-१८।

२. सत्य-सरूप सदा जिन्ह कै, प्रगटयौ अवदात मिथ्यात निकंदन।
सात दसा तिन्ह की पहिचानि, करे कर जोरि बनारसि बंदन ॥
वही, मंगलाचरण, छठा पद्य, पृष्ठ ७।

३. जे तो जल लोक मध्य सागर असंख्य कोटि
ते तो जल पियो पै न प्यास याकी गयी है।
जेते नाज दोप मध्य भरे हैं अबार ढेर,
तेते नाज खायो तोऊ भूख याकी नई है।
तातैं ध्यान ताको कर जातैं यह जाँय हर,
अष्टादश दोष आदि ये ही जीत लई है।
वहे पंथ तू ही साजि अष्टादश जाहिं भाजि,
होय बैठि महाराज तोहि सीख दई है ॥
'भैया' भगवतीदास, ब्रह्म विलास, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९२६ ई०, शत अष्टोत्तरी, १०६ वाँ कवित्त, पृ० ३२।

अशान्तिके कारण हैं और वे भगवान् जिनके ध्यानसे जीते जा सकते हैं। तभी यह जीव उस शान्तिका अनुभव करेगा, जो भगवान् जिनेन्द्रमें साक्षात् ही हो उठी थी। भैयाका स्पष्ट अभिमत है कि राग-द्वेषमें प्रेम करनेके ही कारण यह जीव अपने परमात्म-स्वरूपके दर्शनोंका आनन्द नहीं ले पाता। अर्थात् वह चिदानन्दके सुखसे दूर ही रहता है। राग-द्वेषका मुख्य कारण है मोह, इसलिए मोहके निवारणसे राग-द्वेष स्वयं नष्ट हो जायेंगे, और राग-द्वेषोंके टलनेसे मोह तो यत्किंचित् भी न रह पायेगा। कर्मकी उपाधिको समाप्त करनेका भी यह ही एक उपाय है। जड़के उखाड़ डालनेसे भला वृक्ष कैसे ठहर सकता है। और फिर तो उसके डाल, पात, फल और फूल भी कुम्हला जायेंगे। तभी चिदानन्दका प्रकाश होगा और यह जीव सिद्धावस्थामें अनन्त सुख विलस सकेगा।"

मोह के निवारें राग द्वेषहू निवारें जाहिं,
राग द्वेष टारें मोह नेक हू न पाइए।
कर्म की उपाधि के निवारिबे को पेंच यहै,
जड़ के उखारें वृक्ष कैसे ठहराइए॥
डार पात फल-फूल सबै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइए।
तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,
बिलसै अनन्त सुख सिद्ध में कहाइए॥[1]

अनन्त सुख ही परम शान्ति है। भैयाने एक सुन्दरसे पदमें जैन मतको शान्ति रसका मत कहा है। शान्तिकी बात करनेवाले ही ज्ञानी हैं, अन्य तो सब अज्ञानी ही कहे जायेंगे।[2]

भूधरदासजीके स्वामीकी शरण तो इसीलिए सच्ची है कि वे समर्थ और सम्पूर्ण शान्ति प्रदायक गुणोंसे युक्त है। भूधरदासको उनका बहुत बड़ा भरोसा है। उन्होंने जन्म-जरा आदि बैरियोंको जीत लिया है और मरनकी टेवसे छुटकारा पा गये हैं। उनसे भूधरदास अजर और अमर बननेकी प्रार्थना करते हैं। क्योंकि जबतक यह मनुष्य संसारके जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं पायेगा, शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जैन-परम्परामें देवोंको अमर नहीं कहते। यहाँ अमरताका

१. वही, मिथ्यात्व विध्वंसनचतुर्दशी, ८वाँ कवित्त, पृ० १२१।

२. शान्ति रस वारे कहैं मत को निवारे रहैं।
वेई प्रानप्यारे रहैं और सब वारे हैं॥
वही, ईश्वर निर्णय पच्चीसी, छठा कवित्त, पृष्ठ २५३।

अर्थ है मोक्ष, जहाँ किसी प्रकारकी आकुलता नहीं होती। ऐसी शान्ति वह ही दे सकता है, जिसने स्वयं प्राप्त कर ली है। वे संसारी 'साहिब', जो बारम्बार जनमते हैं, मरते हैं, और जो स्वयं भिखारी है, दूसरोंका दारिद्रय कैसे हर सकते है।[1] भगवान् 'शान्ति जिनन्द' जो स्वयं शान्तिके प्रतीक है, सहजमे ही अपने सेवकोंके भव-द्वन्द्वोको हर सकते है। भूधरदास उन्हींसे ऐसा करनेकी याचना भी करते हैं।[2] यह जीव सांसारिक कृत्योंके करनेमे तो बहुत ही उतावला रहता है, किन्तु भगवान्के सुमरनमे सीरा हो जाता है। जैसे कर्म करता है, वैसे फल मिलते है। कर्म करता है अशान्ति और आकुलताके, किन्तु फलमें शान्ति और निराकुलता चाहता है, जो कि पूर्णरीत्या असम्भव है। आक बोयेगा, आम कैसे मिलेंगे, नग हीरा नही हो सकता। जैसे यह जीव विषयोके बिना एक क्षण भी नही रह सकता, वैसे ही यदि प्रभुको निरन्तर जपे तो सासारिक अशान्तिको पार कर निश्चय शान्ति पा सकता है।[3]

शान्तभावको स्पष्ट करनेके लिए भूधरदासने एक पृथक् ही ढग अपनाया है। वे सासारिक वैभवोंकी क्षणिकताको दिखाकर और तज्जन्य बेचैनीको उद्घोषित कर चुप हो जाते है और उसमे-से शान्तिकी ध्वनि, संगीतकी झंकारकी तरहसे फूटती ही रहती है। धन और यौवनके मदमे उन्मत्त जीवोंको सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा, "ए निपट गँवार नर! तुझे घमण्ड नही करना चाहिए। मनुष्यकी यह काया और माया झूठी है अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समयका है, और कितने दिन इस संसारमे जीवित रहना है। हे नर! तू शीघ्र ही चेत जा और विलम्ब छोड दे। क्षण क्षणपर तेरे बध बढ़ते जायेगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायेगा, जैसे भीगनेपर काली कमरी[4]।" भूधरदासने एक दूसरे पदमे परिवर्तनशीलताका सुन्दर दृश्य अंकित किया है। उन्होंने कहा, "इस संसारमे एक अजब तमाशा हो रहा है, जिसका स्थायित्व-काल स्वप्नकी भाँति है, अर्थात् यह तमाशा स्वप्नकी तरह शीघ्र ही समाप्त भी हो जायेगा। एकके घरमे मनकी आशाके पूर्ण हो जानेसे मंगल-गीत होते है, और दूसरे घरमे किसीके वियोगके कारण नैन निराशासे भर-भरकर रोते हैं। जो तेज तुरंगोंपर चढकर चलते थे, और खासा तथा मलमल पहनते थे, वे ही दूसरे क्षण नगे होकर फिरते हैं, और उनको दिलासा देनेवाला भी

१. भूधरदास, भूधर विलास, कलकत्ता, ५३वाँ पद, पृ० ३०।
२. वही, ३४वाँ पद, पृष्ठ १६।
३. वही, २२वाँ पद, पृष्ठ १३।
४. वही, ११वाँ पद, पृष्ठ ७।

कोई दिखाई नही देता। प्रातः ही जो राज-तख्तपर बैठा हुआ प्रसन्न-वदन था, ठीक दोपहरके समय उसे ही उदास होकर वनमे जाकर निवास करना पड़ा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर है, जैसे पानीका बताशा। भूधरदासजी कहते है कि इनका जो गर्व करता है उसके जन्मको धिक्कार है[1]।" यह मनुष्य मूर्ख है, देखते हुए भी अन्धा बनता है। इसने भरे यौवनमे पुत्रका वियोग देखा, वैसे ही अपनी नारीको कालके मार्गमे जाते हुए निरखा, और इसने उन पुण्य-वानोंको, जो सदैव यानपर चढे हो दिखाई देते थे, रंक होकर बिना पनहीके मार्गमे पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवनसे राग नही घटा। भूधरदासका कथन है कि ऐसी सूसेकी अंधेरीके राजरोगका कोई इलाज नही है[2]।

> "देखौ भर जोवन में पुत्र को वियोग आयो,
> तैसें ही निहारी निज नारी काल मग में।
> जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान हीं पै,
> रंक भये फिरैं तेऊ पनही न पग मे॥
> एते पै, अभागे धन जीतब सौं धरैं राग,
> होय न विराग जानै रहूंगो अलग मे।
> आँखिन बिलोकि अंध सूसे की अधेरी,
> करै ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग में॥"

एक वृद्धपुरुषकी दृष्टि घट गयी है, तनको छवि पलट चुकी है, गति बंक हो गयी है और कमर झुक गयी है। उसकी घरवाली भी रूठ चुकी है, और वह अत्यधिक रंक होकर पलँगसे लग गया है। उसकी नार (गर्दन) काँप रही है और मुँहसे लार चू रही है। उसके सब अंग-उपाग पुराने हो गये हैं, किन्तु हृदयमें तृष्णाने और भी नवीन रूप धारण किया है[3]। जब मनुष्यकी मौत आती है, तो उसने संसारमे रच-पचके जो कुछ किया है, सब कुछ यहीं ही पड़ा

---

१. वही, ६वाँ पद, पृष्ठ ६।

२. जैन शतक, कलकत्ता ३५वाँ पद, पृष्ठ ११।

३. दृष्टि घटी पलटी तन की छवि बंक भई गति लंक नई है।
रूस रही परनी घरनी अति रंक भयौ परियंक लई है॥
कापत नार बहै मुख लार महामति संगति छांरि गई है।
अंग-उपग पुराने परे तिसना उर और नवीन भई है।
जैनशतक, कलकत्ता, ३८वाँ सवैया, पृष्ठ १२।

रह जाता है। भूधरदासजीने कहा है, "तीव्रगामी तुरंग, सुन्दर रंगोंसे रचे हुए रथ, ऊँचे-ऊँचे मत्त मतंग, दास और खवास, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ और करोड़ोंकी सम्पत्तिसे भरे हुए कोश, इन सबको यह नर अन्तमें छोड़कर चला जाता है। प्रासाद खडेके खड़े ही रह जाते हैं, काम यहीं ही पडे रहते है, धन-सम्पत्ति भी यहीं ही डली रहती है और घर भी यहीं ही धरे रह जाते हैं।"

"तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतङ्ग-उतङ्ग खरे ही।
दास खवास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही॥
ऐसे बढ़े तौ कहा भयौ है नर, छोरि चले उठि अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही॥[1]"

श्रीद्यानतरायने भी भगवान् जिनेन्द्रको शान्ति प्रदायक ही माना है। वे उनकी शरणमे इसलिए गये है कि शान्ति उपलब्ध हो सकेगी। उन्होंने कहा, "हम तो नेमिजीकी शरणमें जाते है, क्योंकि उन्हे छोड़कर और कहीं हमारा मन भी तो नही लगता। वे संसारके पापोंकी जलनको उपशम करनेके लिए बादलके समान है। उनका विरद भी तारन-तरन है। इन्द्र, फणीन्द्र और चन्द्र भी उनका ध्यान करते है। उनको सुख मिलता है और दुःख दूर हो जाता है[2]।" यहाँ बादलसे झरनेवाली शीतलता परम शान्ति ही है। शान्तिको ही सुख कहते है और वह भगवान् नेमिनाथके सेवकोंको प्राप्त होती ही है। द्यानतरायकी दृष्टिमें भी राग-द्वेष ही अशान्ति है और उनके मिट जानेसे ही 'जियरा सुख पावैगा', अर्थात् उसको शान्ति मिलेगी। अरहन्तका स्मरण करनेसे राग-द्वेष विलीन हो जाते है, अतः उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। द्यानतराय भी अपने बावरे मनको सम्बोधन करते हुए कहते है, "हे बावरे मन! अरहन्तका स्मरण कर। ख्याति, लाभ और पूजाको छोड़कर अपने अन्तरमे प्रभुकी लौ लगा। तू नर-भव प्राप्त करके भी उसे व्यर्थमें ही खो रहा है और विषय-भोगोंको प्रेरणा दे-देकर बढ़ा रहा है। प्राणोंके जानेपर हे मनवा! तू पछतायेगा। तेरी आयु क्षण-क्षण कम हो रही है। युवतीके शरीर, धन, सुत, मित्र, परिजन, गज,

१. वही, ३१वाँ पद्य, पृष्ठ ११।

२. अब हम नेमिजी की शरन॥
और ठौर न मन लगत है, छाडि प्रभु के शरन। अब० ॥१॥
सकल भवि-अघ-दहन बारिद, बिरद तारन तरन।
इन्द चन्द फनिन्द ध्यावैं, पाय सुख दुख हरन। अब० ॥२॥
द्यानत पदसंग्रह, कलकत्ता, पहला पद, पृष्ठ १।

तुरंग और रथमे तेरा जो चाव है, वह ठीक नही है। ये सांसारिक पदार्थ स्वप्न-की मायाकी भाँति हैं, और आँख मीचते-मीचते समाप्त हो जाते है। अभी समय है, तू भगवान्का ध्यान कर ले और मंगल गीत गा ले। और अधिक कहाँतक कहा जाये फिर उपाय करनेपर भी सध नहीं सकेगा[1]।"

शुक्लध्यानमे निरत तीर्थंकर शान्तिके प्रतीक होते हैं। उनमे-से सभी प्रकारकी बेचैनियाँ निकल चुकी होती है। उन्हे जन्मसे ही पूर्वसंस्कारके रूपमे वीतरागता मिलती है। उसी स्वरमे वे पलते, बढते, भोग भोगते और दीक्षा लेते है। कभी विलासोमे तैरते-उतराते, कभी राज्योका सचालन करते और कभी शत्रुओको पराजित करते; किन्तु वह 'स्वर' सदैव पवनकी भाँति प्राणोमे भिदा रहता। अवसर पाते ही वह उन्हे वन-पथपर ले छोड़ता। चिन्ताएँ स्वतः पीछे रह जाती। वीतरागता शुक्लध्यानके रूपमे फूल उठती। नासिकाके अग्र भागपर टिकी दृष्टि 'चिन्तानिरोध'को स्पष्ट कहता। वह एकाग्रताकी बात कहती ही रहती। और फिर मुखपर आनन्दका अनवरत प्रकाश छिटक उठता। अनुभव रस अपनी परमावस्थामे प्रकट हो जाता। उसकी झलकसे तीर्थंकरका सौन्दर्य अलौकिक रूपको जन्म देता। जिसे देख इन्द्र, सूर्य और चन्द्र–जैसे रूपवन्तोंका गर्व विगलित हो बह जाता। यह सच है कि उन परमशान्तिका अनुभव करते तीर्थंकर-के दर्शनसे 'अशुभ' नामधारी कोई कर्म टिक नहीं सकता था। फिर यदि उनके स्मरणसे अनहद बाजा बज उठता हो तो ग़लत क्या है। जगरामने लिखा है[2]।

> "निरखि मन मूरति कैसी राजे।
> तीर्थंकर यह ध्यान करत हैं, परमातम पद काजै॥

---

१. अरहन्त सुमर मन बावरे॥
ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लाव रे। अरहन्त० ॥१॥
नर भव पाय अकारथ खोवै, विषय भोग जु बढाव रे।
प्राण गये पछितैहै मनवा, छिन-छिन छीजै आव रे॥ अरहन्त० ॥२॥
युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चाव रे।
यह संसार सुपन की माया, आख मीच दिखराव रे॥ अरहन्त० ॥३॥
ध्याय ध्याय रे अब है दाव रे, नाही मंगल गाव रे।
द्यानत बहुत कहा लौं कहिये, फेर न कछू उपाय रे॥ अरहन्त० ॥४॥
वही, ७०वाँ पद, पृष्ठ २६–३०।

२. पदसंग्रह नं० ४६२, पत्र ७९, बधीचन्दजीका मन्दिर, जयपुर।

नासा अग्र दृष्टि कौं धारें, मुख मुलकित मानौं गाजै।
अनुभौ रस झलकत मानौं, ऐसा आसन शुद्ध विराजै॥
अद्‌भुत रूप अनूपम महिमा, तीन लोक में छाजै।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजै॥
धरि अनुराग विलोकत जाकौं, अशुभ करम तजि भाजै।
जो जगराम बनै सुमरन तौ, अनहद बाजा बाजै॥"

: ४ :

जैन भक्ति-काव्यका कला-पक्ष

भाषा

भाषाकी दृष्टिसे जैन हिन्दीके भक्ति-काव्यको दो कालोंमें बाँटा जा सकता है – एक तो वि० सं० १४००-१६००, दूसरा वि० स० १६००-१८००। पहला काल अपभ्रंशके अधिक निकट है। इसका अर्थ है कि इस युगकी हिन्दीमे अपभ्रंशकी विशेषताएँ पायी जाती है। वह अपभ्रंशका ही विकसित रूप है। अपभ्रंशको उकारबहुला प्रवृत्ति यहाँ भी प्रतिष्ठित है। कृदन्त तद्भव क्रियाओके रूप उकारान्त है, और कर्ता तथा कर्मकारकको विभक्तिके रूपमे भी 'उ' का प्रयोग हुआ है। उनके दृष्टान्त निम्न प्रकार है[1],

क्रिया

"तउ रूपिणि मन विमउ भयउ,
पते ब्रह्मचारि तहां गयउ ॥"

—साधारु, प्रद्युम्न चरित्र

कर्त्ता

"ताण पुत्तु सिरि इंदभूइ भूवलयपसिद्धउ।
चउदह विज्जा विविहरूप नारीरस विद्धउ॥"

—विनयप्रभ, गौतमरासा

कर्म

"गुरु गौतम मो देउं पसीउ,"

—चतरुमल, नेमीश्वर गीत

इस युगकी हिन्दीमे अपभ्रंशकी भाँति ही व्यंजनोंके स्थानपर स्वरके स्थापन-की प्रवृत्ति थी। राजशेखरसूरिने 'भ्रमाडइ' के स्थानपर 'भमाउइ'का और 'चंपकगोरी'के स्थानपर 'चंपइगोरी'का प्रयोग किया है।[2] विद्धणूने 'दुस्तर' को

१ इन उद्धरणोंके लिए इस ग्रन्थका दूसरा अध्याय देखिए।

२. बंकुडिया लीय भुंहंडियहं भरि भुवणु भमाउइ।
चंपइगोरी अइधोई आंगि चंदनु लेवउ।
राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम-संस्करण, १९४५ ई०, पृ० ४८०।

'दुहिउ', और ईश्वरसूरिने 'ललितांग' को 'ललिअंग' लिखा है।[1]

'हि' और 'हिं' विभक्ति, जो पहले अपभ्रंशमें केवल करण और अधिकरण कारकके बहुवचनमे ही प्रयुक्त होती थी, आगे चलकर प्रायः सभी कारकोंकी विभक्ति बन गयी, मेरुनन्दन उपाध्यायने उसका प्रयोग कर्ता कारकमे किया है[2]—

"इम भगतिहिं भोलिम तणीए।
सिरि अजिय संति त्रिण थुइ भणिए॥"

—अजितशान्तिस्तवनम्

ब्रह्म जिनदासने 'हिं' का प्रयोग कर्मकारकमें किया है। वह इस प्रकार है,

"जिनवर स्वामी सुगतिहिं, गामी सिद्धि नयर मंडणो।"

—मिथ्या दुकड़ा

कवि हरिचन्दने भी 'हिं' को कर्मकारककी विभक्तिके रूपमे ही स्वीकार किया है,

"गुरु भत्तिए सरसइहिं पसाएं।"

—अनस्तमितव्रत सन्धि

मुनि विनयचन्दने इस विभक्तिका प्रयोग, परम्पराके अनुसार अधिकरण कारकमें ही किया है,

"पढम परिक दुइ जहिं आसाढहिं, रिसह गब्भुतहि उत्तरसाढहिं।
अंधारी छट्ठहिं तहिमि, वंदमि वासुपूज गब्भुच्छउ॥"

—पंचकल्याणकरासा

मुनि विनयप्रभ उपाध्यायने भी, 'हिं' को अधिकरणका चिह्न माना है,

"सात हाथ सुप्रमाण देह रूविहिं रंभावरु।"

—गौतमरासा

हिन्दीमें कहीं-कहींपर 'हि' के 'ह्' का लोप कर केवल 'इ' का प्रयोग देखा जाता है। राजशेखरसूरिने लिखा है कि राजीमतीके सीमन्तमें मोतीचूर्णसे युक्त सिन्दूरकी रेखा सुशोभित थी,

---

१. जो नर करइ सो दुहिउ न होइ
विद्धणू, ज्ञानपंचमी चउपई।
ललियंग कुमरचरियं ललणा ललियव्व निमुणेह
ईश्वरसूरि, ललितांगचरित्र।
इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

२. सभी उदाहरणोंके लिए, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय देखिए।

"सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारी।"

—नेमिनाथफागु

किसी-किसीने 'इ' के स्थानपर, 'ए' का प्रयोग किया है। 'ए' विभक्ति अधिकांशतया कर्ताकारकमें प्रयुक्त हुई है। मेरुनन्दन उपाध्यायके 'अजित शान्ति-स्तव'का एक पद्य इस कथनको पुष्ट करता है,

"मंगल कमला कंदुए, सुख सागर पूनिम चंदुए।
जग गुरु अजिय जिणंदुए, संतीसुर नयनाणंदुए

—अजितशान्तिस्तवनम्

हिन्दी कवियोंने स्वार्थक प्रत्ययोमे 'अ', 'रे' और 'डी' का अच्छा प्रयोग किया है। इनमें भी 'अ' का प्रयोग बहुत अधिक हुआ है। राजशेखरने 'कंचुक' को 'कंचुयउ', साधारुने 'चउत्थ' को 'चउत्थउ', पद्मतिलकने 'अवतरित' को 'अवयरियउ', ईश्वरसूरिने 'अभिनव' को 'अहिनवउ' और 'समर्थ' को 'समरत्थ' लिखा है[१]। ये रूप स्वार्थक 'अ' प्रत्ययके कारण बने है।

'रे' और 'डी' का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु बहुत कम। 'रे' का उत्तम प्रयोग वि० सं० १६००–१८००के कवियोमें देखा जाता है। विनयप्रभ उपाध्याय-के एक पद्यमे 'रे' का प्रयोग हुआ है,

"भरह-खित्तंमि सिरि-कुंथ-अर-अंतरे
जम्म पुंडरिगणी विजय पुक्खलवरे॥"

—सीमन्धर स्वामी स्तवन

भट्टारक शुभचन्द्रने 'रे' और 'डी' का एक ही पद्यमे प्रयोग किया है,

"रोग रहित संगीत सुखी रे, संपदा पूरण ठाण।
धर्म बुद्धि मन शुद्धिडी, दुलहा अनुक्रमि जाण॥"

—तत्त्वसारदूहा

---

१. मरगद जादर कंचुयउ फुड फुल्लह माला,
राजशेखर, नेमिनाथफागु।
अभिनंदनु चउत्थउ वर्ण्णयउ,
साधारु, प्रद्युम्नचरित्र।
सुरहधेणु अंगणिहिं णाह अम्हहं अवयरियउ,
पद्मतिलक, गर्भविचारस्तोत्र।
अहिनवउ जाण कि मग : समरत्थ साहस धीर,
ईश्वरसूरि, ललितांगचरित्र।
इन सबके लिए, देखिए इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

जैन हिन्दीके किसी कविने स्वार्थक प्रत्यय 'अल', 'इल्ल' और 'उल्ल' का कहीपर भी प्रयोग नहीं किया है।

अपभ्रंशमें ह्रस्व और दीर्घके व्यत्ययका नियम था। इसका अर्थ है कि ह्रस्वके स्थानपर दीर्घ, और दीर्घके स्थानपर ह्रस्व हो सकता है। अपभ्रंशकी प्रवृत्ति ह्रस्वान्त है। जहाँ ह्रस्वको दीर्घ हुआ है, वह स्वार्थक प्रत्ययके ही कारण। आचार्य हेमचन्द्रने मध्य और अन्तमें ह्रस्वको दीर्घ किया है, जैसा कि 'भल्ला हुआ जो मारिआ'–जैसे प्रयोगोसे स्पष्ट ही है। यह प्रवृत्ति जैन हिन्दी-काव्यमें भी उपलब्ध होती है, एक उदाहरण देखिए,

'मणु तणु चरणु एकंतु करवि निसुणउ भो भविया।
जिमि निवसइ तुम्ह देहि गेहि गुण गण गहगहिया॥''[1]

पादमध्यमे भी ह्रस्वको दीर्घ करनेके दृष्टान्त मिलते है। ब्रह्मजिनदासने लिखा है,

''षटकर्म स्वामी थापी पाये धर्माधर्म बीचार तो।''

—आदिपुराण

कवि ठकुरसीने लिखा है,

''रयणि पडीतो संकुड्यौ नीसरि सक्यौ न मूढु।''

—पंचेन्द्रिय बेल

लावण्यसमयने भी पादमध्यमें ही ह्रस्व को दीर्घ किया है,

''सुणि मवीअण जब वीरजिण, पामिउ शिवपुर ठाउ॥''

—सिद्धान्त चौपई

जैन हिन्दीमे प्रारम्भिक ह्रस्वको दीर्घ करनेका दृष्टान्त नही मिलता है। सदेशरासकमे भले ही 'प्रसाधन' को 'पासाहण' किया गया हो किन्तु जैन-हिन्दीमें तो 'प्रणाशित' को 'पणासिय' और 'प्रसीद' को 'पसीउ' और 'प्रसादित' को 'पयासिय' देखा जाता है।[2]

१. विनयप्रभ उपाध्याय, गौतमरासा, पहला पद्य, हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, बम्बई, १९१७ ई०, पृ० ३२।

२. निम्मल ए गंगतरंगचंगु पणासिय सयलतमु,
मेरुनन्दन उपाध्याय, सीमन्धरजिनस्तवनम्।
गुरु गौतम मो दिउं पसीउ,
चतरुमल, नेमीश्वर गीत।
जेण पयासिय वेदह चारि,
विद्धणु, ज्ञानपंचमी चउपई, देखिए इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

'कर्म'से 'कम्म' कर देनेकी परम्परा अपभ्रंशको प्राकृतसे मिली थी। जैन हिन्दीके इस युगमें भी 'कम्म' - जैसे प्रयोगोंकी अधिकता है। 'कम्म' तो सैकड़ों स्थानोंपर प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त राजशेखरसूरिने 'कर्ण' को 'कन्नि', विनयप्रभने 'क्षेत्र' को 'खित्ति', 'विद्या' को 'विज्जा', 'निद्रा' को 'निद्दा', 'विप्र' को 'विप्प', मेरुनन्दनने 'समर्थ' को 'समत्थु,' 'हस्त' को 'हत्थु', ईश्वरसूरिने 'पुत्र' को 'पुत्त', 'दुर्ग' को 'दुग्ग' और 'स्वर्ग को 'सग्ग' लिखा है।

अपभ्रंशमें अनुस्वारकी प्रवृत्ति भी बहुत प्रचलित थी। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने इसके तीन कारणोंकी उद्भावना की है – (१) संस्कृतकी गमकके लिए, (२) छन्दकी पादपूर्तिके लिए, (३) एकाध मात्राकी कमीको पूरा करनेके लिए।[1] जैन हिन्दी साहित्यमें अनुस्वारोंका अधिकांश प्रयोग लयके सौन्दर्यका निर्वाह करनेके लिए किया गया है। मेरुनन्दनका एक पद्य देखिए –

"अह सयल लक्खणं जाणि
सुवियक्खणं, सूरि दट्ठूण समरं कुमारं
भविय तुह नंदणो नयण आणंदणो,
परिणओ अम्ह दिक्खाकुमारिं॥"

—जिनोदयसूरिविवाहलउ

अपभ्रंशमें पदान्तके 'ओकार' को ह्रस्वके रूपमें पढ़नेकी प्रवृत्ति थी। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जैन हिन्दीका भक्ति-युग इस प्रवृत्तिको अपनानेमें सबसे आगे रहा है। राजशेखरसूरिका निम्नांकित पद्य इसका दृष्टान्त है,

"नरतिय कज्जलरेह नयणि मुहँकमलि तंबोलो।
नागोदर कंठलउ कंठि-अनुहार विरोलो॥"

—नेमिनाथ फागु

इसके अतिरिक्त विनयप्रभके 'वीरजिणेसर चरण कमल कमलायकवासो' में, श्री गुणसागरके 'उपसमै संक विकट कष्टक दुरित पाप निवारणो' में और ब्रह्मजिनदासके 'आदि जिणेसर भुवि परमेसर सयल दुख विणासणो' में भी यह प्रवृत्ति ही परिलक्षित होती है।[2]

जैन हिन्दीके इस युगमें, 'गुरु स्वर' को लघु बनानेके भी अनेक दृष्टान्त हैं। विनयप्रभने 'श्री इन्द्रभूति', को 'सिरि इंदभूइ' और मेरुनन्दनने भी 'श्री' को

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्यका आदिकाल, द्वितीय व्याख्यान, पृ० ४५।

२. देखिए, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

'सिरि' लिखा है। ईश्वरसूरिने 'श्रीमाल' को 'सिरिमाल', 'ललितांग' को 'ललिअंग', राजशेखरने 'फूलहँ' को 'फुल्लहँ', 'नयने' को 'नयणि' और 'कर्णे' को 'कन्नि' लिखा है। मेरुनन्दनने 'दीक्षाकुमारी' को दिक्खाकुमारि' कहा है।[1]

अपभ्रंशमें दीर्घ स्वरको लघु बनानेकी दो प्रक्रियाएँ प्रचलित थी: पहली संयुक्त वर्णोंमे-से एकको रखकर, पूर्ववर्त्ती स्वरको लघु बनानेसे सम्बन्धित थी। यह प्रवृत्ति जैन हिन्दीके इस युगमे पायी जाती है। 'विद्धणू' और 'साधारु' दोनो ही ने 'अष्टदल' के स्थानपर 'अठदल' लिखा है।[2] 'अष्ट' मे अ दीर्घ स्वर था, किन्तु 'अठ' मे ह्रस्व हो गया। इसी भाँति मेरुनन्दन उपाध्यायने भी अमृत-के स्थानपर 'अमिय' का प्रयोग कर अ को ह्रस्व किया है।[3] 'चक्रेसरी' को 'चकेसरी' और 'सरस्वती' को 'सरसई' करनेसे 'च' और 'र' ह्रस्व बने है।[4]

दूसरी प्रक्रिया संयुक्तवर्णोंको पृथक्-पृथक् करके पूर्व स्वरको लघु बनाने-के रूपमे प्रचलित थी। राजशेखरने 'शुक्ल' को 'सुकिल' और 'कस्तूरी' को 'कसतूरी' करके 'सु' और 'क' को ह्रस्व किया है।[5] साधारुने 'पद्मावती' को 'पदमावती' तथा 'दर्शन' को 'दरसन' करके 'प' और 'द' को ह्रस्व बनाया है।[6]

परवर्त्ती वर्णको द्वित्व करके पूर्ववर्त्ती लघुस्वरको गुरु कर देनेकी प्रथा

---

१. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

२. अठदल कमल ऊपनी नारि,
विद्धणू, ज्ञानपंचमी चउपई।
अठदल कमल सरोवर वासु,
साधारु, प्रद्युम्न चरित्र।

३. जय सरस अमिय रस सरिसवयण!
मेरुनन्दन उपाध्याय, सीमन्धर जिन स्तवनम्।

४. पदमावती दंड कर लेइ, जाला मुखी चकेसरी देइ।
× × ×
हंसी चढ़ीकर लेखणि देइ, कवि सधार सरसई पभणेई।
साधारु, प्रद्युम्न चरित्र।

५. सावण सुकिल छट्ठि दिणि बावीसमउ जिणंदो।
× × ×
खुंपु भराविउ जाइ कुसुमि कसतूरी सारी।
राजशेखर, नेमिनाथ फागु, हिन्दी काव्यधारा, पृ० ४८०।

६. देखिए, इसी ग्रन्थ का दूसरा अध्याय।

भी बहुत थी। यह कार्य छन्द-सौकर्यके लिए ही किया जाता था। रत्नावलीमें 'परवश.' को 'परव्वश:' और 'सन्देश रासक'में 'चिरगत:' को 'चिरग्गय.' किया गया है। जैन हिन्दीमें समर्थके स्थानपर 'समरथ' हो जाना तो स्वाभाविक है, किन्तु उसका 'समरत्थ' हो जाना उपर्युक्त प्रवृत्तिको ही स्पष्ट करता है[1] कवि ठकरसीने भी 'भखे' 'रखे'के स्थानपर 'भक्खे' और 'रक्खै' का प्रयोग किया है।[2]

अपभ्रंशमें वर्णोंके संकोचनका कौशल अपनाया जाता था। 'सन्देशरासक'में 'सह आर' का 'सहार', 'ढोला मारू रा दूहा'में 'मयूर'का 'मोर', और हेमचन्द्रके व्याकरणमे 'अरण्य' का 'रण्ण' पाया जाता है। जैन हिन्दीके इस युगमे भी यह प्रवृत्ति दिखाई देती है। श्री विद्धणूने 'श्रुत'के स्थानपर 'सिय', राजशेखरने 'वात्रोसमउ'के स्थानपर 'सवउ', साधारुने 'प्रणाम करूं'के स्थानपर 'पणउं', मेरुनन्दनने 'मयूर'के स्थानपर 'मोर', और भट्टारक शुभचन्द्रने 'स्थान'के स्थानपर 'ठाण' का प्रयोग किया है।[3]

नवी शताब्दीसे अपभ्रंशमें, संस्कृतके तत्सम शब्दोंका प्रवेश बढने लगा। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरीकी दृष्टिमे यह कार्य सातवीं शताब्दीसे ही प्रारम्भ हो गया था। श्री राहुल साकृत्यायन चौदहवी शताब्दीसे मानते है। उनका कथन है कि क्रिया और विभक्तियाँ तो वह ही रहीं, किन्तु तद्भव शब्दोंके स्थानपर तत्समका प्रवेश होने लगा।[4] जैन हिन्दीके १४००–१६०० वि० सं० वाले युगमे, तत्सम शब्दोंका प्रयोग अत्यल्प दिखाई देता है। फिर भी क्रिया और विभक्तियोंके विकसित रूपके कारण वह हिन्दी ही है, अपभ्रंश नही। केवल तत्सम शब्दोके प्रयोगसे अपभ्रंश हिन्दी नही हो जाती, अपितु क्रिया, शब्द और विभक्ति सभीके सम्मिलित विकासने अपभ्रंश को हिन्दी बनाया है। जैन कवियोंके कतिपय उदाहरण यह सिद्ध करनेमें समर्थ है,

---

१. समरत्थ साहस धीर, श्री पातसाह निसीर।
ईश्वरसूरि, ललितागचरित्र।

२. कदे न खाइ तंबोलु सरसु भोजनु नहिं भक्खै।
कदे न कापड नवा पहिरि काया सुखि रक्खै।
ठकरसी, कृपण चरित्र, छटा पद्य, अनेकान्त, वर्ष १४, किरण १, पृ० ११।

३. देखिए, इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

४. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, प्रथम संस्करण, १९४५, अवतरणिका, पृ १००।

राजशेखर सूरि (वि० सं० १४०५)
"नवरंगी कुंकुमि तिलय किय रयणतिलउ तसु भाले।
मोती कुण्डल कन्नि थिय बिंबालिय कर जाले॥"
—नेमिनाथ फागु

विनयप्रभ उपाध्याय (वि० सं० १४०५)
"मणु तणु चरणु एकंतु करवि निसुणउ भो भविया।
जिम निवसइ तुम्ह देहि गेहि गुण गण गहगहिया॥"
—गौतमरासा

विद्धणू (वि० सं० १४२३)
"पढहु गुणहु पूजहु निसुनेहु।
मियपंचमिफलु कहियउ एहु॥"
—ज्ञानपंचमी चउपई

ईश्वरसूरि (वि० सं० १५६१)
"इय पुण्य चरिय प्रबंध, ललिअंग नृप संबंध।
पहु पास चरियह चित्त, उद्धरिय एह चरित्त॥"
—ललितांगचरित्र

मुनि विनयचन्द्र (वि० सं० १५७६)
"पणविवि पंच महागुरु, सारद धरिवि मणे।
उदयचंदु मुणि वंदिवि, सुमरिवि बाल मुणे॥"
—निर्झरपंचमी विधानकथा

जैन हिन्दीके इस युगमें तद्भव रूपोंके अधिक होते हुए भी तत्समकी झलक दिखाई देने लगी थी। विनयप्रभके गौतमरासामें 'मयण'के स्थानपर 'मदन' का प्रयोग भले ही न हुआ हो, किन्तु 'रूविहिं' को 'रूपिहिं' कर दिया गया है। विद्धणूने 'अमृत'के स्थानपर 'अभिय' का प्रयोग भले ही, किया हो, किन्तु 'नमस्कार' जैसे तत्सम शब्दका भी उपयोग किया है। ईश्वरसूरिने 'चरिय' और 'चरित्र' दोनों ही को लिखा है। मेरुनन्दन उपाध्यायने 'कमल' और 'विलसंत' जैसे शब्दोंका भी प्रयोग किया है। यद्यपि कवि ठकरसीकी कविताओं-में तद्भवजन्य सौन्दर्य ही अधिक है, किन्तु कहीं-कहींपर 'अतिघ्राण', 'कमल', 'रवि' और 'ाज' का भी प्रयोग हुआ है।

इस युगके भट्टारकोंकी भाषा तत्समप्रधान है। इसका कारण है कि वे संस्कृतके बहुत बड़े विद्वान् होते थे। उन्होंने अधिकांशतया संस्कृतमें ही लिखा है। भट्टारक सकलकीर्तिकी कवितामें तत्सम शब्दोंकी अधिकता है,

"श्री जिनवर वाणी नमेवि, गुरु निर्ग्रन्थ पाय प्रणमेवि ।
कहुं आराधना सुविचार, संक्षेपि सारोद्वार ॥"

—आराधना प्रतिबोध सार

भट्टारक ज्ञानभूषण,

"आहे प्रणमीय भगवति सरसति जगति विबोधन माय ।"

—आदीश्वर फाग

भट्टारक शुभचन्द्र,

"कर्म कलंक विकारनो रे, निःशेष होय विनाश ।"

—तत्त्वसार दूहा

कवि राजमल्लके पिंगल शास्त्रमे तत्सम रूपोकी ही प्रधानता है। इसका एक उदाहरण है,

"स्वांति बुंद सुर वर्ष निरंतर, संपुट सीपि धमो उदरंतर ।
जम्मो मुक्ताहल मारहमल, कंठाभरण सिरी अवलोवल ॥"[1]

इन उपर्युक्त दृष्टान्तोसे श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरीके इस कथनका समर्थन होता है कि—जैन लोग संस्कृत शब्दोका बहिष्कार अवश्य करते रहे, किन्तु वे आते ही गये।

जैन हिन्दीके इस युगपर गुजराती और राजस्थानीका भी प्रभाव है। उस समय हिन्दी, गुजराती और राजस्थानीमें विशेष अन्तर नही था। राहुलजीका मत है कि वे अपभ्रंशसे विकसित ही हुई थीं, उनके मूल रूपोंमें भेद नहीं था। उनकी दृष्टिमे गुजरात तेरहवी शतीतक हिन्दी क्षेत्रका अभिन्न अंग रहा है।[2] ढोलामारू रा दूहाके सम्पादक भी उस समयकी हिन्दी, गुजराती और राजस्थानीमे इतना रूपभेद नही मानते जितना कि आज कल है।[3] फिर भी यह सिद्ध है कि उनमे कुछ-न-कुछ रूपभेद था अवश्य, जिससे उनका पृथक् अस्तित्व प्रमाणित होता है।

वि० सं० १४००–१५०० के हिन्दी कवियोंमे राजशेखरसूरि, साधारु, विद्धणू और मेरुनन्दनपर राजस्थानीका प्रभाव है, तो विनयप्रभ उपाध्याय, सोमसुन्दर सूरि, उपाध्याय जयसागर, दयासागर सूरि, हीरानन्दसूरि और भट्टारक सकलकीर्त्तिपर गुजरातीका।

१. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४७ ई०, पृ० ३६।

२. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका, पृ० १२।

३. हिन्दी साहित्यका आदिकाल, प्रथम व्याख्यान, पृ० ९ से उद्धृत।

वि० सं० १५००-१६०० के कवियोंमे पद्मतिलक, मुनि चरित्रसेन, चेतरु-मल, मुनि विनयचन्द्र, ठकरसी और कवि हरिचन्द, राजस्थानीसे प्रभावित हैं, तो ब्रह्म जिनदास, लावण्यसमय, संवेगसुन्दर, सिंहकुशल, ईश्वरसूरि, भट्टारक शुभचन्द्र, और देवकलशकी रचनाओंमें गुजरातीकी झलक है।

वि० सं० १६००-१८०० के जैन हिन्दी कवियोंकी भाषा

यह युग हिन्दीके पूर्ण विकासका युग है। इसमें अधिकांशतया तत्सम शब्दोंका प्रयोग होने लगा। क्रियाओंका भी विकास हुआ। उकार बहुला प्रवृत्ति हट गयी। विभक्तियोंने घिसकर स्वतन्त्र शब्दोंका रूप धारण कर लिया। कर्ता-की 'ने' और कर्मकी 'को' विभक्तियाँ स्पष्ट दिखाई देने लगीं।

भाषाकी दृष्टिसे इस युगकी रचनाओंको दो भागोंमे बाँटा जा सकता है — एक तो वे, जो संस्कृतका अनुवाद मात्र हैं, और दूसरी वे जो नितान्त मौलिक हैं। अनूदित कृतियोंमे संस्कृतनिष्ठा अधिक है, जब कि मौलिकमें सरलता। कवि बनारसीदासने सोमप्रभाचार्यकी 'सूक्ति मुक्तावली'के ५८वें पदका अनुवाद किया है,

"पूरन प्रताप रवि, रोकिबे को धाराधर
सुकृति समुद्र सोखिबे को कुम्भनद है।
कोप दव पावक जनन को अरणि दारु,
मोह विष भूरुह को, महाद्द कंद है॥"[1]

इन्हीं कविकी 'अध्यात्म पदपंक्ति, (मौलिक) के सातवें पदकी कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार है,

"ऐसैं यों प्रभु पाइये, सुन पंडित प्रानी।
ज्यों मथि माखन काढिये, दधि मेलि मथानी॥
ज्यों रस लीन रसायनी, रसरीति अराधै।
त्यों घट में परमारथो, परमारथ साधै॥"[2]

कवि भूधरदासने वादिराजसूरिके 'एकीभाव स्तोत्र'के छठे श्लोकका अनुवाद निम्न प्रकारसे किया है,

"भव वन में चिरकाल भ्रम्यो कछु कहिय न जाई।
तुम थुति कथा पियूष वापिका भागन पाई॥

१. बनारसी विलास, जयपुर, पृ० ४६।
२. वही, पृ० २२६।

शशि तुषार घनसार हार शीतल नहिं जा सम ।
करत न्हौंन तामहिं क्यों न भवताप बुझै मम ॥"[1]

इन्हीं कविके 'भूधर विलास' का एक मौलिक पद देखिए,

"गरव नहिं कीजै रे, ऐ नर निपट गंवार ।
झूठी काया झूठी माया, छाया ज्यौं लखि लीजै रे ॥"[2]

इसी भाँति पाण्डे हेमराजके 'भाषा भक्तामर' और 'उपदेशदोहा शतक', तथा भैया भगवतीदासके 'द्रव्य संग्रह' और फुटकर रचनाओंकी भाषामें अन्तर है ।

इस युगके कवियोंने वि० सं० १४००–१६०० की 'रे' और अनुस्वारवाली प्रवृत्ति विरासतके रूपमें पायी है । 'रे' के प्रयोगसे संगीतात्मकतामें वृद्धि हुई है, और ध्वनि सौन्दर्य भी बढ़ा है । श्री कुशललाभका एक पद्य देखिए,

"आव्यो मास असाढ़ झबूके दामिनी रे ।
जोवइ जोवइ प्रीयडा वाट सकोमल कामिनी रे ॥
चातक मधुरइ सादिकि प्रीऊ प्रीऊ उचरइ रे ।
वरसइ घण वरसात सजल सरवर भरइ रे ॥"[3]

भैया भगवतीदासने 'री' का प्रयोग उत्तम ढंगसे किया है,

"अचेतन की देहरी न कीजे तासों नेहरी,
ओगुन की गेहरी परम दुख भरी है ।
याही के सनेहरी न आवें कर्म छेह री सु,
पावें दुख तेहरी जे याकी प्रीति करी है ॥"[4]

द्यानतरायके 'पार्श्व-स्तोत्र'में अनुस्वारका सफलतापूर्वक प्रयोग हुआ है । यहाँ यह स्पष्ट है कि अनुस्वारका प्रयोग छंदसौकर्य अथवा संस्कृतकी छौंकके लिए नहीं, अपितु ध्वनि-सौन्दर्यके लिए हुआ है । 'पार्श्वस्तोत्र'का एक पद्य देखिए,

"नरेन्द्रं फणीन्द्रं सुरेन्द्रं अधीसं ।
शतेन्द्रं सु पूजें भजें नाय शीशं ॥
मुनीन्द्रं गणेन्द्रं नमों जोड़ि हाथं ।
नमों देवदेवं सदा पार्श्वनाथं ॥"[5]

---

१. बृहज्जिनवाणी संग्रह, सम्राट् संस्करण, १९५६ ई०, पृ० २४७ ।
२. भूधरविलास, कलकत्ता, ११वाँ पद, पृ० ७ ।
३. ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृ० ११६ ।
४. भैया भगवतीदास, ब्रह्मविलास ।
५. भूधरदास, पार्श्वनाथ स्तोत्र, पहला पद्य, बृहज्जिनवाणी संग्रह, १९५६ ई०, पृ० २८६ ।

कवि बनारसीदासके पहले ही आगरा हिन्दी-कवियोंका केन्द्र था। आगरा यदि एक ओर राजस्थानसे सम्बन्धित है, तो दूसरी ओर ब्रजभूमिसे, अतः वहाँके कवियोंपर दोनों ही का प्रभाव है। इसके अतिरिक्त उनपर अरबी-फ़ारसीका प्रभाव भी अनिवार्य था, क्योंकि आगरा बादशाहोंकी राजधानी थी। पाण्डे रूपचन्दके 'परमार्थी दोहाशतक'में ब्रजभाषाका पुट है, तो 'नेमिनाथरासा'में राजस्थानीकी झलक, और 'मंगलगीत प्रबन्ध' शुद्ध खड़ी बोलीका निदर्शन है। उनकी रचनाओंमें अरबी-फ़ारसीके शब्द नहीं हैं, क्योंकि वे आगरेमें बहुत कम रहे, इसके अतिरिक्त वे संस्कृत-प्राकृतके प्रकाण्ड पण्डित थे।

कवि बनारसीदासकी भाषा शुद्ध खड़ी बोलीपर आधारित है। उसपर राजस्थानीका प्रभाव नहीं है, किन्तु कारक रचनामें ब्रजकी विशेषता पायी जाती है। उनकी भाषापर उर्दू-फ़ारसीका प्रभाव है। डॉ० हीरालाल जैनका कथन है कि बनारसीदासजीने ब्रजभाषाकी भूमिका लेकर उसपर मुग़लकालमें बढ़ते हुए प्रभाववाली खड़ी बोलीका प्रयोग किया है।[1] बनारसीदासके समकालीन और उनके एकचित्त मित्र कुँअरपालकी भाषापर राजस्थानीका स्पष्ट प्रभाव है। उनके 'चौबीस ठाणा' का एक पद्य देखिए,

> "बंदौ जिनप्रतिमा दुखहरणी।
> आरंभ उदौ देख मति भूलौ, ए निज सुध की धरणी॥
> बीतरागपद कूं दरसावइ, मुक्ति पंथ की करणी।
> सम्यगदिष्टी नितप्रति ध्यावइ, मिथ्यामत की टरणी॥"[2]

इस युगमें 'श' और 'स' दोनों ही प्रयोग देखे जाते है, किन्तु 'स' की अधिकता है। पाण्डे रूपचन्दने 'सोभा', 'दरसिनु', 'सुद्ध' और 'जिनसासन' का प्रयोग किया है। कवि बनारसीदासकी रचनाओंमें 'अविनासी', 'सुद्ध', 'सिवरूप', 'दरसन' और 'सरन'-जैसे अनेक शब्द है, जिनमें 'श'के स्थानपर 'स' का प्रयोग हुआ है। कुँअरपालने भी 'सुद्ध', 'सुजस' और 'दरसन'में 'स' को ही अपनाया है। द्यानतरायने भी 'दरसन', 'सिरीपाल' और 'परमेसुर' का ही प्रयोग किया है। किन्तु इन सबकी रचनाओंमें यत्र-तत्र श का प्रयोग भी देखनेको मिलता है। कवि बनारसीदासके 'नाटक समयसार'की 'उदै बल जोर यहै

---

१. डॉ० हीरालाल जैन, अर्धकथानककी भाषा, अर्धकथानक, पं० नाथूराम प्रेमी सम्पादित, संशोधित संस्करण, १९५७ ई०, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर लिमिटेड, बम्बई, पृ० १९।

२. अर्धकथानक, संशोधित संस्करण, बम्बई, पृ० १०२।

इवास को शबद घोर', 'जैसे निशिवासर कमल रहे पंक ही में' और 'शोभित निज अनुभूति जुत चिदानंदभगवान' पंक्तियोमे श का ही प्रयोग हुआ है।

इस युगके जैन कवियोंमे संयुक्त वर्णोंको स्वर विभक्तिके द्वारा पृथक्-पृथक् करनेकी प्रवृत्ति अधिकाधिक परिलक्षित होती है। बनारसीदासने 'ज्ञानबावनी'मे–लबधि (लब्धि), अध्यातम (अध्यात्म), सबद (शब्द), 'पंचपदविधान'मे—परसिद्ध (प्रसिद्ध), 'अध्यात्मपदपंक्ति'में—परतछ (प्रत्यक्ष), 'अर्धकथानक'मे—जनम (जन्म), पारस (पार्श्व) और 'नाटक समयसार'मे—निरजरा (निर्जरा), दरसन (दर्शन), पदारथ (पदार्थ)-जैसे प्रयोग अधिक किये है। महात्मा आनन्दघनके पदोमें भी संयुक्त वर्णोंका पृथक्करण हुआ है। उन्होंने 'आत्मा' को 'आतम', 'भ्रम' को 'भरम', 'सर्वंगी' को 'सरवंगी', 'परमार्थ' को 'परमारथ' और 'वृत्तान्त' को 'विरतंत' लिखा है। द्यानतरायके पदोमे यद्यपि संयुक्त वर्णोंका प्रयोग अधिक है, किन्तु उनका पृथक्करण भी पर्याप्त रूपमे दिखाई देता है। उन्होंने परमातम (परमात्मा), परमान (प्रमाण), दरसन (दर्शन), विकलप (विकल्प), सुमरन (स्मरण), परमेसुर (परमेश्वर), सरधा (श्रद्धा), मरमी (मर्मी), मूरति (मूर्ति) का प्रयोग किया है।

संयुक्त वर्णोंको सरल बनानेका दूसरा उपाय है, उनमे-से एकको हटा देना। भूधरदासने 'पार्श्वपुराण'मे इस विधिको अपनाया है। उन्होंने 'स्तुति' को 'थुति' 'चैत्य' को 'चैत', 'स्थान' को 'थान', 'द्युति' को 'दुति', 'स्थिति' को 'थिति' और 'स्वरूप' को 'सरूप' लिखकर इसी नियमका पालन किया है। श्री यशोविजयने 'अक्षय' को 'अखय', 'ऋद्धि' को 'रिधि', श्री कुँअरपालने 'बुद्धि' को 'बुधी', 'आदित्य' को 'आदित', और भैया भगवतीदासने 'मोक्ष' को 'मोख', 'संयुक्त' को 'संजुत', 'अमृत' को 'अमी', 'स्पर्श' को 'परसे', 'शिवतीय' को 'शिवती', 'स्थिरता' को 'थिरता' तथा 'जिनेन्द्र' को 'जिनंद' लिखा है।

इस युगके जैन कवियोमे दो विशेषताएँ सर्वत्र देखी जाती है—एक तो शब्दों का उचित स्थानपर प्रयोग और दूसरा प्रसाद गुण। हेमविजयसूरिके "मुनि हेम के साहब देखन कूं, उग्रसेनलली मु अकेली चली" मे उग्रसेनलली, और "मुनि हेम के साहिब नेमजी हो, अब तोरन तें तुम्ह क्यू बहुरे" मे 'बहुरे' ऐसे स्थानपर प्रतिष्ठित है कि उससे कविताका सौन्दर्य शतगुणित हो गया है। इसी भाँति महात्मा आनन्दघनके "झडी सदा आनन्दघनबरावत, बिन मोरे एक तारी" मे 'बिन मोरे', भैया भगवतीदासके "भूलि गयो गति को फिरबो, अब तो दिन च्यारि भये ठकुरारे" मे 'ठकुरारे', भूधरदासके "मिलिकै मिलापी जन

पूछत कुशल मेरी, ऐसी दशा माहीं मित्र ! काहे की कुशल है" मे 'मित्र' और बनारसीदासके "छिन न सुहाय और रस फीके", "रुचि साहिबके लौन सौं" में 'साहिब' इतने उपयुक्त स्थानपर बैठा है कि उसको वहाँसे हटा देनेपर समूचा सौन्दर्य ही विनष्ट हो जायेगा।

मुहावरोंके प्रयोगमे भूधरदास अधिक कुशल है। उन्होने अपने पदोंमें मुहावरोंको नगीनेकी भाँति जड दिया है। बुढापेका वर्णन करते हुए उन्होने लिखा है, "ऐसे ही गई विहाय अलप-सी रही आय, नर परजाय यह आंधे की बटेर है।" एक दूसरे स्थानपर उन्होने मनुष्यको अपने जीवनके प्रति सावधान किया है, "अहो आग आयै जब झोपरी जरन लागी, कुआंके खुदायै तब कौन काज सरिहै।" भूधरदासका कथन है कि मनुष्यके दिन सोच-विचारमे ही व्यतीत हो जाते है, और एक दिन अचानक यमराज आ जाता है, तब, "खेलत खेल खिलारि गये, रहि जाय रुपी शतरंज की बाजी।" यह जानते हुए भी कि विश्वमे दु:ख-ही-दु:ख है, मनुष्य उसमे अधिकाधिक ग्रस्त होता जाता है, इसपर भूधरने लिखा, "आँखिन विलोकि अन्ध सूसे की अँधेरी करै ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग मे।" बनारसी विलासमे ज्ञानबावनीके विषयमे लिखा है, "वही अधिकार आयो ऊँघते विछोना पायो, हुकुम प्रसाद ते भयी है ज्ञानबावनी।" 'वेदनिर्णय पंचासिका' मे इस जीवको मूर्ख कहते हुए बनारसीदासका कथन है, "मतवारो मूरख न मानै उपदेश जैसे, उलुवा न जाने किस ओर भानु उवा है।" भैयाके पदों और कवित्तोमे भी यत्र-तत्र मुहावरे दृष्टिगोचर होते है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है, "चेत रे अचेत पुनि चेतबे को नाहि ठौर, आज कालि पीजरे सों पंछी उड़ जातु है।" एक कवित्तमे उन्होंने कहा, "ऐसो है सरूप मेरो तिहूं काल सुद्ध रूप, ज्ञान दृष्टि देखतै न दूजी परछाही है।"

जहाँतक प्रसाद गुणका सम्बन्ध है, अनेक जैन कवियोमे पाया जाता है। उनमे भी विनोदीलाल और भूधरदास अधिक प्रसिद्ध है। विनोदीलालके 'नेमि-राजुल बारहमासा'मे सरलता है और सरसता भी। कार्तिकके लगनेपर राजुल नेमीश्वरसे कहती है,

"पिय कातिक में मन कैसें रहै,
जब भामिनि भौन सजावेंगी।
रचि चित्र विचित्र सुरंग सबै,
घर ही घर मंगल गावैंगी॥
पिय नूतन नारि सिंगार किये,
अपनो पिय टेर बुलावैंगी।

पिय बारहि बार बरै दियरा,
जियरा तुमरा तरसावैंगो[1] ॥"

भूधरदासका प्रत्येक पद प्रसादगुणका साक्षात् प्रतीक है। 'पार्श्वपुराण', 'जैन शतक', और 'भूधरविलास'के अतिरिक्त, उनके अनेक स्तुति-स्तोत्रोंमें भी उपर्युक्त गुण ही सार्थकताको प्राप्त हुआ है।

इस युगके जैन हिन्दी कवियोंने खड़ी बोलीका प्रयोग किया है। उसपर फ़ारसीका स्पष्ट प्रभाव है। अर्थात् उनकी कविताओंमें फारसीके शब्दोंका प्रयोग हुआ है। किन्तु ये शब्द अपनी बोलीमें ढालकर अपनाये गये हैं, उनका तत्सम रूप कहीं-कहीं ही देखनेको मिलता है। बनारसीदासके 'अर्धकथानक'में हुकुम, मुसकिल, सौदा, मुलक, खबरि, तहकीक, हुसियार, खुसहाल, नफर, नजरि, स्याबास, उमराउ, साहिजादे, सुखुन, पैजार, और खोसरा-जैसे अनेक उर्दू-फ़ारसीके शब्द हैं। डॉ० हीरालाल जैनका कथन है कि इन शब्दोका प्रयोग वहीं-पर ही हुआ है, जहाँ मुगल राज-काजसे सम्बन्धित प्रसंग आया है। किन्तु 'नाटक समयसार' में ऐसे शब्द आध्यात्मिक प्रसंगमें भी आये है। वहाँ खलक, दुफारा, वदफैल, खेद, गहल, खबरदार,, निसानी, रुख, गुमानी और मसूरति-जैसे शब्द सर्वत्र बिखरे हुए है। 'ज्ञानबावनी'में ही करामात, जोर, जहर, कहर, ख्याल, तलक, खलक, दरम्यान, कुमक, खजाना, ख्वारी, सरहद, जहान-जैसे अनेक शब्द मौजूद हैं।

भैया भगवतीदास फारसीके अच्छे जानकार थे, किन्तु उन्होंने भी फ़ारसीके शब्दोंको तद्भव बनाकर ही अपनाया है। उनकी रचनाओंमें ख्याल, अमल, मुकाम, सहल, फोजदार, परवाह, नजदीक, गनीम, खिलाफ, दोजक, फिरस्ता और उमर आदि शब्द देखे जाते है। उनके किसी-किसी कवित्तमें तो फ़ारसीके शब्दोकी बहुलता है, अतः उसका 'टोन' फ़ारसीमय हो गया है। एक कवित्त देखिए,

"मान यार मेरा कहा दिलकी चशम खोल,
साहिब नजदीक है तिसको पहचानिये।
नाहक फिरहु नाहि गाफिल जहान बीच
शुकन गोश जिनका भली भांति जानिये ॥
पावक ज्यों बसता है अरनी पखान माहिं,
तोस रोस चिदानंद इस ही में मानिये।

१. बारहमासा नेमिराजुलका, १०वाँ पद्य, बारहमासा संग्रह, कलकत्ता।

पंज से गनीम तेरी डमर साथ लगे हैं,
खिलाफ तिसैं आनि तूं आप लख्या आनिये[1] ॥"

'भैया' की भाषा नाटकीय रसके अनुरूप है। यह रस उनके द्वारा रचित संवादोंके मध्य विकसित हुआ है। 'पंचेन्द्रिय संवाद' में लालित्य है। सरल, छोटे-छोटे वाक्य हैं। उनमें स्वाभाविकता है, रसकी पिचकारियों-से मालूम होते हैं। केशवदासके संवाद प्रसिद्ध है, किन्तु उनका प्रयोग केवल 'रामचन्द्रिका' में हुआ है, 'रसिकप्रिया' या 'कविप्रिया' मे नही। 'रामचन्द्रिका' प्रबन्ध काव्य है। मुक्तक काव्यमे संवादोंका प्रयोग 'भैया' की देन है। जीभ आँखसे कहती है।

"जीभ कहै रे आँखि तुम, काहे गर्व कराहिं।
काजल करि जो रंगिये, तोहू नाहिं लजांहि ॥
कायर क्यों डरती रहै, धीरज नहीं लगार।
बात बात में रोय दे, बोलै गर्व अपार ॥
जहाँ तहाँ लागत फिरै, देख सलौनो रूप।
तेरे ही परसाद तैं, दुःख पावै चिद्रूप।"[2]

छन्द-विधान

वि० स० १४००–१८०० के जैन कवियोंने वर्णिक और मात्रिक दोनों ही प्रकारके छन्दोका प्रयोग किया है। वर्णिक छन्दोका प्रयोग अधिकांशतया संस्कृत-की अनूदित कृतियोंमे किया गया है और मात्रिकका मौलिकमे। मात्रिक छन्दोंकी प्रधानता है। उनमें भी दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, और विविध पद्य मुख्य हैं।

दोहा

जैसे संस्कृतका 'श्लोक' और प्राकृतका 'गाथा' मुख्य छन्द माना जाता है, वैसे ही अपभ्रंशका दोहा। अपभ्रंशको दूहा-विद्या कहते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने दोहाका उत्पत्ति-स्थल आभीर जातिके 'विरहागानों' में खोजा है।[3] किन्तु

१. भैया भगवतीदास, शतअष्टोत्तरी, ५६वाँ कवित्त, ब्रह्मविलास, द्वितीयावृत्ति, सन् १६२६ ई०, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पृ० २१।

२. भैया भगवतीदास, पंचेन्द्रिय संवाद, ब्रह्मविलास, दोहा ६६–६८, पृ० २४४।

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पंचम व्याख्यान, पृ० ६२।

लिखित रूपमे दोहाका सर्वाधिक प्राचीन रूप 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंकमे देखा जा सकता है। योगीन्दु (सातवीं शताब्दी विक्रम) के 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार'में भी अपभ्रंशके दोहोंका ही प्रयोग हुआ है।

जैन कवियोने दोहेका प्रयोग अध्यात्म, उपदेश और भक्तिके अर्थमें ही अधिक किया। उसीकी परम्परा हिन्दीके भक्ति-काव्यको मिली। भट्टारक शुभचन्द्र (१६वी शताब्दी) ने 'तत्त्वसार दूहा' मे, पाण्डे रूपचन्द (१७वी शताब्दी) ने 'परमार्थी दोहाशतक' मे, मनराम (१७वी शताब्दी) ने 'मनराम विलास' मे और पाण्डे हेमराज (१८वी शताब्दी) ने 'उपदेश दोहाशतक' में दोहोका ही एक मात्र प्रयोग किया है। अनेक कृतियाँ ऐसी हैं, जिनके बीच-बीचमे दोहे बिखरे हुए है। 'बनारसी विलास'का एक दोहा देखिए,

> "समुझ सकै तौ समुझ अब, है दुर्लभ नर देह।
> फिर यह संगति कब मिलै, तू चातक हौं मेह॥"[1]

चौपाई

चौपाईका आदि रूप है अपभ्रंशका पद्धड़िया छन्द। उस समय दुवई और ध्रुवकके साथ पद्धड़ियाका कड़वकके रूपमे प्रयोग किया जाता था। कवि पुष्पदन्तके 'हरिवंसु पुराणु'मे लिखा है कि इसके आदि आविष्कर्त्ता चतुर्मुख थे।[2] हिन्दीमे आकर 'दुवई' का प्रयोग तो समाप्त ही हो गया, और घत्तेका स्थान 'दोहे'ने ले लिया। पद्धडिया चौपाई हो गया। अपभ्रंशकी कडवकवाली शैली ही हिन्दीकी 'चौपाई-दोहा' शैलीकी उत्पादिका है।[3]

डॉ० हीरालाल जैनका कथन है कि कडवकवाली शैली महाकाव्योंमें ही प्रयुक्त होती थी।[4] हिन्दीके कवियोने भी इसी परम्पराको अपनाया। 'पद्मावत' और 'रामचरित मानस', चौपाई-दोहोमें ही लिखे गये है। जैन हिन्दीमे भी साधारु-का 'प्रद्युम्न चरित्र', लालचन्द लब्धोदयका 'पद्मिनीचरित्र', रायचन्दका 'सीताचरित्र' और भूधरदासका 'पार्श्वपुराण' चौपाई-दोहोंका ही निदर्शन है।

---

१ बनारसीदास, अध्यात्मपद पंक्ति, आलाप दोहा, छठा, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २३४।

२. डॉ० हीरालाल जैन, अपभ्रंशके महाकाव्य, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक ३-४, पृ० ११२।

३. डॉ० रामसिंह तोमर, जैन साहित्यकी हिन्दी साहित्यको देन, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४६८।

४. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, अंक ३-४, पृ० ११२।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका कथन है कि चौपाईका जन्म कथानकको जोड़नेके लिए ही हुआ था[1], किन्तु जैन-हिन्दीके अनेक कवियोंने अपने मुक्तक-काव्योंके लिए भी चौपाईको ही चुना है। बनारसीदासको 'वेदनिर्णयपंचासिका', 'मार्गणाविधान', 'कर्मप्रकृतिविधान', 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र', 'साधुवन्दना', 'ध्यानवत्तीसी', और 'शिवपच्चीसी'में प्रायः चौपाई और दोहोंका ही प्रयोग हुआ है। भैया भगवतीदासने 'चेतनकर्मचरित्र', 'जिनगुणमाला', 'पंचपरमेष्ठि नमस्कार', 'गुणमंजरी', 'मधुविन्दक' चौपाई, 'उपदेश पचीसिका', 'नन्दीश्वर दीपकी जयमाला', 'बारह भावना', 'कर्मबन्धके दश भेद' और 'अकृत्रिम चैत्यालयकी जयमाला'में अधिकांशतया चौपाइयोंका ही उपयोग हुआ है। प्रारम्भ, अन्त अथवा मध्यमें कहीं-कहीं दोहे भी हैं।

इन मुक्तक कृतियोंमें, चौपाई-दोहोंका प्रयोग प्रबन्ध काव्यकी भाँति नहीं हुआ है। प्रबन्ध काव्यमें एक चौपाईके उपरान्त एक दोहा आता है, किन्तु इन मुक्तक रचनाओंमें, कभी एक दोहा और अनेक चौपाइयाँ और कभी अनेक चौपाइयाँ और फिर अनेक दोहोंका क्रम मिलता है। कवि बनारसीदासकी 'साधुवन्दना'की एक चौपाई देखिए,

"अर्हंत सिद्ध सूरि उवझाय। साधु पंच पद परम सहाय॥
इनके चरणन में मन लाय। तिन्ह मुनिवर के बन्दौं पाय॥"[2]

भैया भगवतीदासकी 'नन्दीश्वर दीप जयमाला'की एक चौपाई इस प्रकार है,

"जिन प्रतिमा जिनवरणे कही। जिन सादृश में अंतर नहीं॥
सब सुरवृन्द नन्दीश्वर जाय। पूजहि तहाँ विविध घर भाय।"[3]

भूधरदासके विविध स्तुति-स्तोत्रोंमें भी चौपाईका प्रयोग हुआ है। उनका 'पार्श्वनाथ स्तोत्र', प्रारम्भिक दोहेके उपरान्त चौपाइयोंमें ही लिखा गया है। एक चौपाई इस भाँति है,

"प्रभु इस जग समरथ ना कोय। जासों तुम यश वर्णन होय॥
चार ज्ञानधारी मुनि थकैं। हम से मंद कहा कर सकैं।"[4]

---

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पंचम व्याख्यान, पृ० ९४।

२. बनारसीदास, साधुवन्दना, चौपाई २०, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० १३०।

३. भैया भगवतीदास, नन्दीश्वर दीपकी जयमाला, १४वीं चौपाई, ब्रह्मविलास, पृ० १५३।

४. भूधरदास, पार्श्वनाथ स्तोत्र, पहली चौपाई, बृहज्जिनवाणीसंग्रह, १९५६ ई०, पृ० २९१।

कवित्त

कवित्त ब्रजभाषाका प्रिय छन्द है। मूलतः बन्दीजन इसका प्रयोग करते थे। आध्यात्मिक और भक्तिके क्षेत्रमें, जैन कवियोने इस छन्दका सफल प्रयोग किया है। भैया भगवतीदास 'कवित्तों' के राजा थे। उनका एक कवित्त देखिए,

"धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै,
ये तो छिनमाहिं जाहिं पौन परसत ही।
संध्या के समान रंग देखत ही होय भंग,
दीपक पतंग जैसें काल गरसत ही॥
सुपने में भूप जैसें इंद्रधनु रूप जैसें,
ओसबूंद धूप जैसें दुरै दरसत ही।
ऐसोई भरम सब कर्म जाल वर्गणा को,
तामें मूढ मग्न होय मरै तरसत ही॥"[१]

'भैया' ने मात्रिक कवित्तोंका भी प्रयोग किया है। किन्तु जैसी ताल और लय उपर्युक्त कवित्तमें है, मात्रिकमें नही आ पायी है। एक मात्रिक कवित्त इस प्रकार है,

"चेतन जीव विचारहु तौ तुम, निहचै ठोर रहन को कौन।
देवलोक सुरइन्द्र कहावत, तेहू करहिं अंत पुनि गौन॥
तीन लोकपति नाथ जिनेश्वर, चक्रीधर पुनि नर है जौन।
यह संसार सदा सुपने सम, निहचै वास इहां नहीं हौन॥"[२]

भूधरदासने 'जैनशतक' में 'मनहर कवित्तो'का अधिक प्रयोग किया है। उनमे भी 'रूपको न खोज रह्यौ तरु ज्यों तुषार दह्यौ', "जाकों इन्द्र चाहैं अह-मिन्द्र से उमाहै जासौं" और "साचौ देव सोई जा मे दोष को न लेश कोई" उत्तम है।[३] कवि बनारसीदासने 'नवदुर्गा विधान' कवित्तोमे ही लिखा है। उसका एक कवित्त इस प्रकार है,

"यहै सरस्वती हंसवाहिनी प्रगट रूप,
यहै भवभेदिनी भवानी शंभुघरनी।
यहै ज्ञानलच्छन सों लच्छमी विलोकियत,
यहै गुणरतन भंडार भार भरनी।

---

१. भैया भगवतीदास, पुण्यपचीसिका, १७वाँ कवित्त, ब्रह्मविलास, पृ० ५।
२. भैया भगवतीदास, शत अष्टोत्तरी, ७७वाँ कवित्त, ब्रह्मविलास, १९२६ ई०, बम्बई, पृ० २५।
३. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, मनहर कवित्त, ३९, ४१, ४५, पृ० १३, १५।

यहै गंगा त्रिविधि विचार में त्रिपथ गौनी,
यहै मोख साधन को तीरथ की धरनी।
यहै गोपी यहै राधा राधे भगवान भावै,
यहै देवी सुमति अनेक भांति बरनी॥"[1]

सवैया

यह भी ब्रजभाषाका छन्द है। इसका मूल संस्कृतके वर्णिक-वृत्तोंमे सन्निहित है। जैन हिन्दीके कवियोने 'सवैया'के विविध भेदोंका सफल प्रयोग किया है। उन्होंने कवित्ताकी अपेक्षा सवैयाको अधिक अपनाया। सवैयाकी जैसी छटा, इन कवियोंकी रचनाओंमे देखनेको मिलती है अन्यत्र नही देखी जा सकती। पाण्डे रूपचन्द्रने सवैयोका अधिकाधिक प्रयोग किया है। उनमे-से एक इस प्रकार है,

"जीवत की आस करै, काल देखै हाल डरै,
डोलै च्यारू गति पै न आवै मोछ मग मैं॥
माया सौं मेरी कहै मोहनी सौं सीठा रहै,
तापै जीव लागै जैसा डांक दिया नग मैं॥
घर की न जानै रीति पर सेती मांडै प्रीति,
वाट के बटोई जैसे आइ मिलै वग मै॥
पुग्गल सौं कहै मेरा जीव जानै यहै डेरा,
कर्म की कुलफ दीयै फिरै जीव जग मैं॥"[2]

भूधरदासने मत्तगयन्द और दुर्मिल सवैयोंका प्रयोग किया है। उन्होंने बुरे कवियोकी निन्दा सवैयोमें ही की है। एक मत्तगयन्द सवैया देखिए,

"कञ्चन कुम्भन की उपमा, कह देत उरोजन को कवि बारे।
ऊपर श्याम विलोकत कै, मनि नीलम की ढकनी ढकी छारे॥
यौं सतबैन कहैं न कुपंडित, ये जुग आमिषपिंड उघारे।
साधन झार दई मुँह छार भये इहि हेत किधौं कुच कारे॥"[3]

उन्होने तीर्थंकरोंकी स्तुतियाँ भी अधिकांशतया मत्तगयन्द सवैयोंमें ही लिखी है। भगवान् चन्द्रप्रभकी स्तुति करते हुए उन्होंने लिखा है,

---

१. बनारसीदास, नवदुर्गा विधान, ८वाँ कवित्त, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० १७०।

२. पाण्डे रूपचन्द, अध्यात्म सवैया, आमेर शास्त्र भण्डारकी प्रति, पद्य ३०।

३. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ६५वाँ सवैया, पृ० २१।

"चितवत बदन अमल चन्द्रोपम, तजि चिंता चित होय अकामी।
त्रिभुवनचंद पापतपचंदन, नमतचरण चन्द्रादिक नामी॥
तिहुं जग छई चन्द्रिका कीरति, चिह्न चन्द्र चिंतत शिवगामी।
बन्दो चतुर चकोर चन्द्रमा, चन्द्रवरण चन्द्रप्रभ स्वामी॥"[1]

कवि बनारसीदासने 'नाटक समयसार'में २४५ सवैया-इकतीसा और ३७ तेई-सासवैयोंका निर्माण किया है। उनमे-से एक सवैया-तेईसा इस प्रकार है,

"या घट में भ्रमरूप अनादि, विलास महा अविवेक अखारो।
तामँहि और सरूप न दीसत, पुद्गल नृत्य करै अतिभारो॥
फेरत भेष दिखावत कौतुक, सो जलिये वरनादि पसारो।
मोहसुं भिन्न जुदो जड़ सों, चिनमूरति नाटक देखन हारो॥"[2]

भैया भगवतीदास भी सवैयोंके निर्माणमें अधिक कुशल हैं। उनके द्वारा रचा हुआ एक 'समान सवैया' निम्न प्रकारसे है,

"काल अनादितैं फिरत फिरत जिय, अब यह नरभव उत्तम पायो।
समुझि समुझि पंडित नर प्रानी, तेरे कर चिंतामणि आयो॥
घट की आँखैं खोलि जोंहरी, रतन जीव जिनदेव बतायो।
तिल में तेल बास फूलनि में, यों घट में घटनायक गायो॥"[3]

छप्पय

चन्दबरदाईके 'पृथ्वीराज रासो' और उसके पूर्व अपभ्रंशमें छप्पयका प्रयोग प्रायः वीर-रसमें ही हुआ है। जैन हिन्दीके कवियोंने उसको अध्यात्म और भक्तिके क्षेत्रमें भी प्रयुक्त किया। कवि बनारसीदासने 'नाटक समयसार'में २० छप्पयोंका निर्माण किया है। भूधरदासके 'जैनशतक'में मत्तगयन्द और मनहर सवैयों तथा दोहोंके साथ-साथ छप्पयोंका भी प्रयोग हुआ है। भगवान् पार्श्वनाथकी भक्तिमें एक छप्पयकी प्रथम दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

"जनम-जलधि-जलजान जान जनहंस-मान सर।
सरब इन्द्र मिलि आन, आन जिस धरहिं शीस पर।"[4]

१. वही, ५वाँ सवैया पृ०।

२. बनारसीदास, नाटक समयसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९२६, पृ० ८१।

३. भैया भगवतीदास, शत अष्टोत्तरी, ८५वाँ सवैया, ब्रह्मविलास, १९२६ ई०, बम्बई, पृ० २७।

४. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ८वाँ छप्पय, पृ० ३।

भैया भगवतीदासने भी छप्पयोंका प्रयोग भक्तिके क्षेत्रमें ही किया। उनके द्वारा रची गयी 'चतुर्विंशति जिनस्तुति' का एक छप्पय है,

"जिनवर ताराचंद, चंदतारा नित वंदै।
वंदै सुरनर कोटिकोटि, सुरवृंद अनंदै॥
आनँद मगन जु आप, आप हस्तिनपुर आये।
आये शांतिजिनदेव, देव सब ही सुख पाये॥
पाये सुमात ऐरारतन, तन कंचन विश्वसेन गिन।
गिन सु कोष गुन को वन्यो, वन्यो सुतारन तरन जिन॥"[1]

कुण्डलिया

बनारसीदासने 'नाटक समयसार'में चार कुण्डलिया भी लिखी है। 'बनारसीविलास'में भी यत्र-तत्र अनेक कुण्डलियोंका प्रयोग हुआ है। 'वेद निर्णय पंचासिका' की एक कुण्डलिया निम्न प्रकार है,

"ऊपर सब सुरलोक के, 'ब्रह्मलोक' अभिराम।
सो 'सरवारथसिद्धि' तसु, पंचानुत्तर नाम॥
पंचानुत्तरनाम, धाम एका अवतारी।
तहां पूर्वभव बसे, ऋषभजिन समकितधारी॥
ब्रह्मलोक सों चये, भये ब्रह्मा इहि भूपर।
तातें लोक कहान, देव 'ब्रह्मा' सब ऊपर॥"[2]

भैया भगवतीदासने भी कुण्डलिया छन्दका प्रयोग किया है। उनकी रचना 'शत अष्टोत्तरी' की एक कुण्डलिया इस भाँति है,

"सूवा सयानप सब गई, सेवो सेमर वृच्छ।
आये धोखे आम के, यापै पूरण इच्छ॥
यापै पूरण इच्छ वृच्छ को भेद न जान्यो।
रहे विषय लपटाय, मुग्धमति मरम भुलान्यो॥
फलमहिं निकसे तूल स्वाद पुन कछू न हूवा।
यहै जगत की रीति देखि सेमरसम सूवा॥"[3]

---

१. भैया भगवतीदास, चतुर्विंशतिजिनस्तुति, १६वाँ छप्पय, ब्रह्मविलास, पृ० ८६।

२. कवि बनारसीदास, वेदनिर्णयपंचासिका, ४८वाँ पद्य, बनारसीविलास, जयपुर १९५४ ई०, पृ० ९६।

३. भैया भगवतीदास, शत अष्टोत्तरी, ७४वाँ पद्य, ब्रह्मविलास, पृ० २५।

घनाक्षरी

घनाक्षरी भी जैन हिन्दी कवियोंका प्रिय छन्द है। 'बनारसी विलास'में संकलित 'ज्ञान बावनी' का निर्माण घनाक्षरीमें ही हुआ है। उसका एक छन्द देखिए,

"फटिक पाषाण ताहि मोतीसर मानै कोऊ,
घुंघची रकत कहा रतन समान है।
हंस बक सेत इहां सेत को न हेत कछु,
री री पीरी भई कहा कंचन के बान है॥
भेष भगवान के समान कोऊ आन भयो,
मुद्रा को भडान कहा मोक्ष को सुथान है।
बनारसीदास ज्ञाता ज्ञान में विचार देखो,
काय जोग कैसो होइ गुण परधान है॥"[1]

फागु

फागु एक प्रकारका लोक-गीत है। यह प्रायः वसन्तमें गाया जाता था। आगे चलकर उसका प्रयोग किसीके भी आनन्दवर्णन और सौन्दर्यनिरूपणमें होने लगा। जिनपद्मसूरिका 'थूलिभद्द फागु' ऐसा ही एक काव्य है। जैन हिन्दीके कवियोंने भगवान् जिनेन्द्रकी महिमाके अर्थमें 'फागु' का प्रयोग किया है। राजशेखरसूरिका 'नेमिनाथफागु', श्री सोमसुन्दरसूरिका 'नेमिनाथनवरसफाग', भट्टारक ज्ञानभूषणका 'आदीश्वरफाग', और बनारसीदासका 'अध्यात्मफागु' प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। राजशेखरसूरिके 'नेमिनाथफागु' में लिखी हुई राजीमतीके सौन्दर्यकी कतिपय पंक्तियाँ देखिए,

पद

"किरि ससिबिंब कपोल कन्नहिं डोल फुरंता।
नासावसा गरुड़-चंचु दाडिमफल दंता॥
अहर पवाल तिरेह कंठु राजल सर रूडउ।
जाणुवीणु रणरणइ जाणु कोइल टहकडलउ॥"[2]

हिन्दीके भक्ति-काव्यमें पदोंका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूरदासके विकसित पदोंको देखकर पं० रामचन्द्र शुक्लने अनुमान किया था कि सूरसागर दीर्घकालसे

१. ज्ञानबावनी, ४१ वीं घनाक्षरी, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० ८६-८७।
२. राजशेखरसूरि, नेमिनाथ फागु, राहुल सांकृत्यायन, हिन्दीकाव्यधारा, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, १९४५ ई०, पृ० ४८०।

चली आती हुई किसी पुरानी परम्पराका विकास है।[1] डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने उनका मूल स्थान बौद्ध सिद्धोंके गानोंको माना है।[2] उसका मूल रूप कुछ भी हो, किन्तु भक्ति और अध्यात्मके क्षेत्रमे पदोंका जितना अधिक प्रयोग जैन कवियोंने किया, अन्य न कर सके। राजस्थानके जैन भण्डारोंके नवीन अनुसन्धानमें ६० से अधिक जैन कवियोंके रचे हुए २५०० के लगभग हिन्दी पदोंका पता चला है। इस ग्रन्थमे भी अनेक पदरचयिताओंका उल्लेख हुआ है। उनमे बनारसीदास, कुँअरपाल, यशोविजय, महात्मा आनन्दघन, भैया भगवतीदास, द्यानतराय, विनय-विजय, जगराम, देवाब्रह्म, और भूधरदास अत्यधिक प्रसिद्ध है।

जैन पदोंमे भावाभिव्यक्तिके साथ-साथ संगीतात्मकता भी विविध राग-रागनियोंके साथ-साथ पायी जाती है। अकेले 'भूधरदास'ने ही भूधर विलासमे राग सोरठ, राग काफी, राग ख्याल, राग पंचम, राग नट, राग सारंग, राग मलार, राग विहागरो, राग बिलावल, राग गौरी, राग धमाल, राग प्रभाती, रागधनासरी, राग सारंग, राग कल्याण, राग बरवा, राग विहाग, और राग धनासारीका प्रयोग किया है। बनारसीदासने राग भैरव, राग रामकली, राग बिलावल, राग आसावरी, राग बरवा, राग धनाश्री, राग सारंग, राग गौरी और काफीमें अधिक लिखा है। महात्मा आनन्दघन तो राग-रागिनियोंके पण्डित ही थे। उनके पद रस प्रवाहित करनेमे अद्वितीय माने जाते है। 'द्यानतविलास'के पदोंमें भी अनेक नये-नये रागोका प्रयोग हुआ है, उनमे राग केदारो, राग परज और राग बसन्त तो बिलकुल नये हैं। भूधरदासके राग धनासारीका एक पद देखिए[3],

"शेष सुरेश नरेश रटैं तोहि, पार न कोई पावै जू ॥
काटै नपत व्योम विलसत सौं, को तारे गिन लावै जू ॥शेष०॥
कौन सुजान मेघ बूंदन की, संख्या समुझि सुनावै जू ॥शेष०॥
भूधर सुजस गीत संपूरन, गनपति भी नहि गावै जू ॥शेष०॥"

---

१. "अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य परम्पराका—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।"
पं० रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्यका इतिहास, सशोधित और परिवर्धित संस्करण, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, प्रयाग, १९९७ वि० सं०, पृ० २००।

२. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पंचम व्याख्यान, पृ० १०८।

३. भूधरदास, भूधरविलास, ५२ वॉ पद, पृष्ठ २९।

अडिल्ल

जैन-हिन्दीके कवियोंने अडिल्लोंका भी प्रयोग किया है। कवि बनारसीदासने 'नाटक समयसार'में मात अडिल्ल लिखे हैं। भैया भगवतीदासने भी अडिल्ल लिखे हैं, किन्तु बहुत कम। उनकी रचना 'मन-बत्तीसी'का एक अडिल्ल इस प्रकार है,

"कहा मुंडाये मूड बसे कहा मट्टका।
कहा नहाये गंग नदी के तट्टका॥
कहा कथा के सुने बचन के पट्ठका।
जो बस नाहीं तोहि पसेरी अट्ठका॥"[1]

श्री भूधरदासके 'पार्श्व पुराण'मे यत्र-तत्र अडिल्ल भी बिखरे हुए है। उसका एक अडिल्ल है,

"अष्ट गुणातम] रूप कर्ममल मुक्त हैं।
थिति उतपति विनाश, धर्म संयुक्त हैं॥
चरम देह तैं कछुक, हीन परदेश हैं।
लोक अग्रपुर बसैं परम परमेश हैं॥"[2]

हरिगीतिका

लयात्मक छन्दोंमे हरिगीतिकाका प्रमुख स्थान है। इसमें सोलह और बारह मात्राओंपर विराम होता है। लयके संचरणके लिए प्रत्येक चरणमें ५वी, १२वी, १९वी और २६वी मात्राएँ लघु होती है। अन्तिम दो मात्राओंमे उपान्त्य लघु और अन्त्य दीर्घ होता है। कवि बनारसीदासका एक हरिगीतिका निम्नलिखित है,

"जे जगत जन को कुपथ डारहिं, वक्र शिक्षित तुरग से।
जे हरहिं परम विवेक जीवन, काल दारुण उरग से॥
जे पुण्यवृक्षकुठार तीखन, गुपति व्रत मुद्रा करैं।
ते करन सुभट प्रहार भविजन, तब सुमारग पग धरैं॥"[3]

सोरठा

सभी जैन कवियोने सोरठाका अधिकाधिक प्रयोग किया है। चौपाईके साथ दोहोंके स्थानपर सोरठे भी बहुत लिखे गये हैं। पृथक् रूपसे भी सोरठोंमे कविता

१. भैया भगवतीदास, मनबत्तीसी, २९वाँ पद्य, ब्रह्मविलास, पृ० २६४।
२. भूधरदास, पार्श्वपुराण, कलकत्ता, नवमोऽधिकारः, ८६वाँ पद्य, पृष्ठ ७८।
३. सूक्ति मुक्तावली, ६९वाँ पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० ५२।

हुई है। कवि भूधरदासके 'पार्श्वपुराण'का एक सोरठा है,

"श्यामबरन यह जानि, धूप धुवां नभ को चल्यो।
किधौं पुन्यडर मानि, धूवां मिस पातग भज्यो॥"[1]

नये छन्द

कवि बनारसीदासने अनेक नवीन छन्दोंका प्रयोग किया है। वस्तु, आभानक, रोडक, करिखा, बेसरि, और पद्मावती तो बिलकुल नवीन हैं। पद्मावती छन्दमें, कविने बलाघातके द्वारा लयात्मकता उत्पन्न की है। उनका लिखा हुआ एक पद्मावती छन्द इस प्रकार है,

"ज्यों नीराग पुरुष के सनमुख, पुरकामिनि कटाक्ष कर ऊठी।
ज्यों धन त्यागरहित प्रभुसेवन, ऊसर में बरषा जिम छूठी॥
ज्यों शिलमाहिं कमल को बोवन, पवन पकर जिम बांधिये मूठी।
ये करतूति होय जिम निष्फल, त्यौं बिन भाव क्रिया सब झूठी॥"[2]

कवि भूधरदास नये-नये छन्दोंको विषयके अनुकूल ढालनेमें निपुण हैं। उन्होंने नरेन्द्र और व्योमवती छन्दका प्रयोग संगीतकी लयके साथ किया है। व्योमवती छन्दका एक उदाहरण देखिए,

"जे प्रधान केहरि को पकरैं, पन्नग पकर पाँव सों चापै।
जिनकी तनक देख भौं बाँकी, कोटक सूरदीनता जापै॥
ऐसे पुरुष पहार उड़ावन, प्रलय पवन तिय वेद पयापै।
धन्य धन्य ते साधु साहसी, मन सुमेरु जिनको नहिं कांपै।"[3]

अलंकार योजना

जैन-हिन्दी कवियोंकी रचनाओंमें अलंकार स्वभावतः आये हैं। अर्थात् अलंकारोंको बलात् लानेका प्रयास नहीं किया गया। जैन कवियोंने भावको ही प्रधानता दी है। भाव-गत सौन्दर्यको अक्षुण्ण रखते हुए यदि अलंकार आते भी हैं, तो उनसे कविता बोझिल नहीं हो पाती। जैन कवियोंकी कविताओंसे प्रमाणित है कि उनमें अलकारोंका प्रयोग तो हुआ है, किन्तु उनको प्रमुखता कभी नहीं दी गयी। वे सदैव मूल भावकी अभिव्यक्तिमें सहायक-भर प्रमाणित हुए हैं। जैन

---

१. भूधरदास, पार्श्वपुराण, अष्टमोऽधिकारः, ८१वाँ सोरठा, पृष्ठ ६८।
२. सूक्तिमुक्तावली, ८५ वाँ पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० ६१।
३. पार्श्वपुराण, कलकत्ता, चतुर्थ अधिकार, बावीसपरीषह, पृष्ठ ३१।

कवियोंका अनुप्रासोंपर एकाधिकार था। कवि बनारसीदासकी अनेक रचनाओंमें अनुप्रासोंका सुन्दर प्रयोग हुआ है। 'नाटक समयसार'का एक पद्य देखिए,

"रेत की-सी गढ़ी किधौं मढ़ी है मसान की-सी,
अन्दर अंधेरी जैसी कन्दरा है सैल की।
ऊपर की चमक दमक पटभूखन की,
धोखे लागे भली जैसी कली है कनैल की।
औगुन की ओंड़ी महा भौंड़ी मोह की कनौंड़ी,
माया की मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याहि के सनेह याकी संगति सौं,
ह्वै रही हमारी मति कोलू कैसे बैल की॥"[1]

भैया भगवतीदासने अपना पूरा 'परमात्म शतक' यमक अलंकारमें लिखा है। उसके दो पद्य देखिए,

"पीरे होहु सुजान पीरे कारे ह्वै रहे।
पीरे तुम बिन ज्ञान पीरे सुधा सुबुद्धि कहँ॥"[2]
× × ×
"मै न काम जीत्यो बली, मै न काम रसलीन।
मै न काम अपनो कियो, मै न काम आधीन॥"[3]

हिन्दीके जैन-काव्योंमें अनेक अर्थालंकारोंका प्रयोग हुआ है। उनमें भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और श्लेषमें सौन्दर्य अधिक है। जैन कवियोंने सादृश्यमूलक अलंकारोंकी योजना केवल स्वरूप मात्रका बोध करानेके लिए नहीं की, अपितु उपमेयके भावको सुन्दरताके साथ अभिव्यक्त करनेके लिए की है। कवि बनारसीदासने एक पदमें आँखोंको चातक और निरंजननाथको घनकी बूँद बनाया है,

"कब रुचि सौं पीवैं दृग चातक, बूंद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरौं समता गहि करूं न ममता तन की[4]॥"

१. नाटक समयसार, बुद्धिलाल श्रावककी टीकासहित, हिन्दी जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ८।४०, पृ० २५२-२५३।

२. इसमें प्रथम 'पीरे' का अर्थ प्यारे, द्वितीयका 'पीले', तृतीयका 'पीडित' और चतुर्थका 'पियो' है।

३. पहले 'नकाम' का अर्थ है 'कामदेवको नहीं', दूसरे 'नकाम' का अर्थ है व्यर्थ, तीसरेका 'कार्य नहीं किया', और चौथेका 'कामदेवके अधीन नहीं हूँ'। वही, ८वाँ दोहा, पृष्ठ २८०।

४. बनारसीदास, अध्यात्मपदपंक्ति, १३वाँ पद, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० २३१।

कवि द्यानतरायने चित्तको चकोर और जिनेन्द्रको चन्द्र, तथा अपने पापोंको उरग और प्रभुके नामको मोर माना है,

"भवि ! पूजौ मन वच श्री जिनेन्द्र, चित चकोर सुख करन इन्द ।
कुमति कुमुदिनी हरन सूर, विघन सघन वन दहन भूर ॥ भवि० ॥
पाप उरग प्रभु नाम मोर, मोह महातम दलन भोर ॥ भवि०[1] ॥

भूधरदासकी रचनाओंमें उत्प्रेक्षाओंकी अधिकता है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है कि भगवान् आदिनाथके चरणोंपर देवगण भाल झुका रहे हैं, तो वह मानो अपने कुकर्मोंकी रेखा मेटना चाहते हैं,

"अमर समूह आनि अवनी सौं घसि घसि सीस प्रनाम करै हैं।
किधौं भाल कुकरम की रेखा, दूर करन की बुद्धि धरै हैं ॥[2]"

सुरासुर राजा भगवान् शान्तिनाथके चरणोंपर अपना भाल झुकाकर प्रणाम कर रहे हैं। उनके भालपर नील मणिसे जड़े हुए मुकुट लगे हैं। भालके साथ-साथ वे मुकुट भी झुकते हैं, और उनके साथ नील मणियाँ भी, तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो भगवान्के चरण-कमलोंकी सुगन्धिको सूँघनेके लिए भौरोंकी पंक्ति ही चली आयी है,

"सेवत पाय सुरासुर राय, नमैं शिर नाय महीतल ताईं ॥
मौलि लगे मनि नील दिपैं, प्रभु के चरणौं झलके वह झाईं ।
सूंघन पाय-सरोज-सुगन्धि, किधौं चलि ये अलि पङ्कति आई ॥[3]"

पाण्डुक शिलापर भगवान् पार्श्वप्रभुका क्षीरोदधिके जलसे स्नान किया जा रहा है। स्नपनका जल आकाशमें उछल उठा, तो ऐसा प्रतीत हुआ जैसे कि वह पापरहित होकर ऊर्ध्व दिशामें जा रहा है।[4] स्नानके उपरान्त भगवान्के शरीर-पर शचीने कुंकुमादिका लेप किया। वह मानो नीलगिरिपर साँझ फूली हो।[5]

१. द्यानतराय, द्यानतविलास, कलकत्ता, ४६वाँ पद, पृ० २१।
२. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, आदिनाथ स्तुति सवैया, पहला पद्य, पृ० १।
३. वही, छठाँ पद्य, पृ० २।
४. चलो न्हैन के नीर की छटा नभ माहिं।
स्वामी संग अघ बिन भई क्यों नहिं ऊरध जाहिं ॥
भूधरदास, पार्श्वपुराण, कलकत्ता, षष्ठोऽधिकारः, पृ० ५२।
५. अब इन्द्रानी जिनवर अंग, निर्जल कियो वसन शुचि संग।
कुंकुमादिलेपन बहु लिये, प्रभु के देह विलेपन किये ॥
इहि शोभा इस औसर मांझ, किधौं नीलगिरि फूली सांझ।
वही, षष्ठोऽधिकारः, पृ० ५३।

कवि बनारसीदासके 'नाटक समयसार'में भी उत्तम उत्प्रेक्षाओंका प्रयोग हुआ है। विनश्वर शरीरपर कल्पना करते हुए कविने लिखा है,

"ठौर ठौर रकति के कुण्ड केसनि के झुण्ड,
हाड़नि सौं भरी जैसे थरी है चुरैल की।
थोरे से धक्का लगे ऐसे फट जाय मानों
कागद की पूरी कीधो चादर है चैल की॥[1]"

जैन कवियोंकी रचनाओंमें 'रूपक' अलंकारोंका भी प्रयोग हुआ है। उन्होंने उपमेयमें उपमानका आरोप कुशलतासे किया है। कवि बनारसीदासने प्रस्तुत और अप्रस्तुतका केवल रूपसादृश्य ही नहीं दिखाया, किन्तु प्रस्तुतके भावको भी तीव्र किया है। कायाकी चित्रशालामें कर्मका पलंग बिछा है। उसपर अचेतनताकी नींदमें चेतन सो रहा है,

"काया की चित्रचारी में करम परजंक भारी,
माया की संवारी सेज चादर कलपना।
शैन करै चेतन अचेतन नींद लिये,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर,
विषै सुखकारी जाकी दौर यही सपना।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहे तिहुँ काल
धावे भ्रम-जाल में न पावे रूप अपना॥[2]"

भैया भगवतीदासके रूपकोंमें ओज है। कायाकी नगरीमें चिदानन्दरूपी राजा राज्य करता है। वह माया-सी रानीमें मग्न रहता है। उसके पास मोहका फ़ौजदार, क्रोधका कोतवाल और लोभका वज़ीर है।

"काया सी जु नगरी में चिदानंद राज करै,
माया सी जु रानी पै मगन बहु भयो है।
मोह सो है फौजदार क्रोध सो है कोतवार,
लोभ सो वजीर जहां लूटिबे को रह्यो है॥
उदै को जु काजी मानै, मान को अदल जानै,
काम सेवा कान वीस आइ वाको कह्यो है।

१. नाटक समयसार, प्राचीन हिन्दी जैन कवि, जैन साहित्य सम्मेलन, दमोह, पृ० ६७।
२. बनारसीदास, नाटकसमयसार, बुद्धिलाल श्रावककी टीकासहित, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ७।१४, पृ० १७५-१७६।

ऐसो राजधानी में अपने गुण भूलि गयो,
सुधि जब आई तबै ज्ञान आइ गह्यो है ॥[1]"

भूधरदासने भी अनेक रूपकोंका निर्माण किया है। मन सूआ है, और भगवान् जिनेन्द्रके पद पिंजड़ा। इस मनरूपी सूएने संसारके अनेक वृक्षोंके कड़वे फलोंको तोड़-तोड़कर चखा है, किन्तु उनसे कुछ हुआ नहीं। फिर भी वह निश्चिन्त है। भगवान्के चरणरूपी पिंजड़ेमें नहीं बसता। कालरूपी वन-बिलाव उसको ताक रहा है, वह अवसर पाते ही दाब लेगा फिर कोई न बचा सकेगा।[2] भूधरदासका एक अन्य पद, "सुनि ठगनी माया, तैं सब जग ठग खाया" में प्रसिद्ध रूपक है।[3]

जैन कवियोंने प्रतिपाद्य विषयको प्रभावशाली बनानेके लिए नवीन उपमानोंके उदाहरण दिये हैं। उन्होंने परम्परागत उपमानोंको भी स्वीकार किया है, किन्तु बहुत कम। उनकी निजी अनुभूतियोंने नयी कल्पनाओंको जन्म देकर वर्ण्य विषयके सौन्दर्यको बढ़ाया है। जैन कवियोंके 'उदाहरण' अलंकारकी एक पृथक् ही शोभा है। कवि बनारसीदासका एक उदाहरणालंकार इस प्रकार है।

"जैसे निशिवासर रहैं पंक ही में,
पंकज कहावै पै न वाके ढिंग पंक है।
जैसे मन्त्रवादी विषधर सों गहावै गात,
मंत्र की शकति वाके बिना विष डंक है।
जैसे जीभ गहे चिकनाई रहे रूखे अंग,
पानी में कनक जैसे काई से अटंक है।
तैसे ज्ञानवान नाना भांति करतूति ठानै,
किरिया तें भिन्न मानै मोते निकलंक है ॥[4]"

---

१. भैया भगवतीदास, शतअष्टोत्तरी सवैया, २८वाँ, ब्रह्मविलास, सन् १९२६ ई०, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, पृ० १४।

२. मेरे मन सूवा, जिनपद पीजरे वसि यार लाव न बार रे ॥
संसार में बलवृच्छ सेवत, गयो काल अपार रे।
विषय फल तिस तोड़ि चाखे, कहा देख्यौ सार रे ॥
तू क्यों निचिन्तो सदा तोकों, तकत काल मंजार रे।
दावै अचानक आन तब तुझे, कौन लेय उबार रे ॥
भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, ५वाँ पद, पृ० ३-४।

३. वही, ८वाँ पद, पृ० ५।

४. बनारसीदास, नाटकसमयसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, ७।५, पृ० १६७-१६८।

मुनि जयलालके 'विमलनाथ स्तवन'में भी उदाहरणालंकारका प्रयोग हुआ है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है कि भगवान्‌के दर्शनसे मन ऐसा प्रसन्न हुआ, जैसे कि चन्द्रके देखनेसे चकोर हर्षित होता है,

"तुम दरसन मन हरखा, चंदा जेम चकोरा जी।
राजरिधि मांगउ नहीं, भवि भवि दरसन तोरा जी ॥[१]"

द्यानतरायने अनेक उदाहरणोंके द्वारा वर्ण्य विषयको सुन्दर बनाया है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है कि सम्यक्त्वके बिना इस जीवनको धिक्कार है। सम्यक्त्वके बिना जीवन कैसा है, यह बतानेके लिए, उन्होंने अनेक उदाहरण दिये हैं,

"ज्यों बिनु कंत कामिनी शोभा,
अंबुज बिनु सरवर ज्यों सूना।
जैसे बिना एकड़े बिन्दी,
त्यों समकित बिन सरव गुना ॥
जैसे भूप बिना सब सेना
नींव बिना मंदिर चुनना।
जैसे चन्द बिहूनी रजनी,
इन्हें आदि जानो निपुना ॥[२]"

पाण्डे रूपचन्दकी रचनाओंमें भी उपमेयको उदाहरणोंके द्वारा पुष्ट बनाया गया है। उनमें सौन्दर्य है। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है कि विषयोंके सेवनसे तृष्णा बुझती नहीं, जैसे खारी जलसे प्यास उपशम नहीं होती,

"विषयन सेवते भये, तृष्णा तें न बुझाय।
ज्यों जल खारा पीवते, बाढ़े तृषाधिकाय ॥"

विनोक्ति अलंकारमें एकके बिना दूसरेके शोभित अथवा अशोभित होनेका वर्णन किया जाता है। कवि भूधरदासने रागके बिना संसारके भोगोंकी सारहीनताका वर्णन किया है,

"राग उदै भोग भाव लागत सुहावने से,
बिना राग ऐसे लागे जैसे नाग कारे हैं।
राग हीन सौं पाग रहे तन में सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं ॥

१. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।
२. द्यानतराय, द्यानतविलास, कलकत्ता, ३५वाँ पद, पृ० १५।
३. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

राग सों जगत रीति झूठी सब सांच जाने,
राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी बिन रागी के बिचार में बड़ो ही भेद,
जैसे भटा पथ्य काहु काहु को बयारे हैं ॥[1]"

कवि बनारसीदासके 'अर्ध-कथानक'में आक्षेपालंकारका स्थान-स्थानपर समावेश हुआ है। एक आक्षेपालंकार निम्न प्रकारसे है,

"शंख रूप शिव देव, महाशंख बनारसी।
दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एक से ॥[2]"

आत्मा और परमात्माके निरूपणमें कवि बनारसीदासने विरोधाभास अलंकारका भी अच्छा परिचय दिया है। निम्नलिखित पद्यमें विरोधाभास अलंकार है,

"एक में अनेक है अनेक ही में एक है सो,
एक न अनेक कछु कह्यो न परत है।[3]"

प्रकृति-चित्रण

जैन कवियोंका मुख्य सम्बन्ध मानवप्रकृतिसे ही रहा है, किन्तु उन्होंने बाह्य प्रकृतिका भी निरूपण किया है। जैन मुनि प्रायः नदी, सरोवरके किनारे, पर्वतोंके ऊपर या भयावह कान्तारोंमें तप करते थे। प्रकृति अपना रोष दिखाती थी, किन्तु मुनि विचलित नहीं होते थे। सावनका माह है, और नेमीश्वर गिरिनारपर तप करने चले गये हैं। इसपर राजीमती कहती है,

"पिया सावन में व्रत लीजे नहीं,
घनघोर घटा जुर आवैगी।
चहुं ओर तें मोर जु शोर करैं,
बन कोकिल कुहक सुनावैगी ॥
पिय रैन अँधेरी में सूझै नहीं,
कछु दामिन दमक डरावैगी।

---

१. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता १८वाँ पद, पृ० ६।
२. बनारसीदास, अर्धकथानक, नाथूराम प्रेमी सम्पादित, संशोधित संस्करण, अक्टूबर १९५७, बम्बई, २३७ वाँ सोरठा, पृ० २७।
३. बनारसीदास, नाटकसमयसार, जैन ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई, ९।१३, पृ० २८९।

पुरवाई की झोंक सहोगे नहीं,
छिन में तप तेज छुड़ावैगी ॥[1]"

भूधरदासने ग्रीष्मकी भयंकरताका उल्लेख किया है। जेठका सूर्य तप रहा है, सरोवर सूख गये हैं, पत्थर तचकर लाल हो गये हैं, नग्न जैन साधु उनपर बैठकर तप करते हैं,

"जेठ तपै रवि आकरो, सूखै सरवर नीर।
शैल शिखर मुनि तप तपैं, दाझैं नगन शरीर॥
ते गुरु मेरे मन बसो॥[2]"

भूधरदासने इसी दृश्यको एक दूसरे स्थानपर अधिक सशक्त वाणीमें व्यक्त किया है। जब जेठ झकोरता है, चील अण्डा छोड़ती है, पशु-पक्षी छाँह ढूँढते हैं, पर्वत दाह-पुंजसे हो जाते हैं, तब जैन साधु उनपर तप करते हैं,

"जेठ की झकोरैं जहां अंडा चील छोरै पशु,
पंछी छांह लोरैं गिरि कोरैं तप वे धरे॥[3]"

मानवकी अन्तःप्रकृतिको अंकित करनेमें जैन कवियोंने बाह्यप्रकृतिसे सहायता ली है। तोरणद्वारसे लौटकर नेमीश्वर गिरिनारपर तप करने चले गये। राजीमतीकी आँखोंसे आँसुओंकी धार बह निकली। वह इसी दशामें नेमीश्वरको देखनेके लिए गिरिनारकी ओर चल पड़ी। उस समय कवि हेमविजयसूरिने प्रकृति-का वातावरण ऐसा अंकित किया है, जिससे राजीमतीके हृदयका हाहाकार साक्षात् हो उठा है। वह पद्य देखिए,

"घनघोर घटा उनयी जु नई, इततैं उततैं चमकी बिजली।
पियुरे पियुरे पपिहा बिललाति जु, मोर किंगार करंति मिली॥
बिच बिन्दु परे दृग आंसु झरें, दुनि धार अपार इसी निकली।
मुनि हेम के साहब देखन कूं, उग्रसेन लली सु अकेली चली॥[4]"

बहुत प्राचीन कालसे जैन साधुके आगमनपर प्रकृति हर्ष प्रकट करती रही है। श्री कुशललाभने अपने गुरु श्री पूज्यवाहणके स्वागतमें पुलकित प्रकृतिको अंकित किया है,

---

१. विनोदीलाल, नेमि-राजुलका बारहमासा, ४था पद्य, बारहमासा-संग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, पृ० २४।
२. भूधरदास, गुरु-स्तुति, ७वाँ पद्य, बृहज्जिनवाणी संग्रह, १९५६ ई०, पृ० १५०।
३. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, १३वाँ पद, पृ० ४।
४. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

"प्रवचन वचन विस्तार अरथ तरवर घणा रे ।
कोकिल कामिनी गीत गायइ श्री गुरु तणा रे ॥
गाजइ गाजइ गगन गंभीर श्री पूज्यनी देशना रे ।
भविषण मोर चकोर थायइ शुभ वासना रे ॥
सदा गुरु ध्यान स्नान लहरि शीतल वहइ रे ।
कीर्ति सुजस विसाल सकल जग महमहइ रे ॥[1]"

विनयप्रभ उपाध्यायने 'सीमन्धर स्वामी स्तवन'में लिखा है कि मेरुगिरिके उत्तुंग शिखर, गगनके टिमटिमाते तारागण और समुद्रकी तरंगमालिका, सीमन्धर स्वामीके गुणोंका स्तवन करते हैं। वह पद्य इस प्रकार है,

"मेरुगिरि-सिहरि घय-बंधणं जो कुणइ,
गयणि तारा गणइ, वेलुआ-कण मिणइ ।
चरम-सायर-जले लहरि-माला मुणइ
सोवि नहु, सामि, तुह सव्वहा गुण थुणइ ॥[2]"

जब भगवान् महावीर संघसहित विपुलाचलपर पधारे, तो वहाँकी प्रकृति छह ऋतुओंके फल-फूलोंसे युक्त हो गयी। बनपालने उन सब फल-फूलोंको, महाराजा श्रेणिकके सम्मुख लाकर रखा, जिससे उन्हें भगवान् महावीरके आगमनका विश्वास हो सके,

"रोमांचित बन पालक ताम । आय राय प्रति कियो प्रनाम ।
छह ऋतु के फल फूल अनूप । आगें धरे अनूपम रूप ॥[3]"

जैन कवियोंने उपमेयको पुष्ट बनानेके लिए, उपमानोंको प्रायः प्रकृतिके विस्तृत क्षेत्रसे चुना है। हेतूत्प्रेक्षाओंमें इन उपमानोंकी छटा और भी अधिक विकसित हुई है। विनयप्रभ उपाध्यायने 'गौतमरासा'मे गौतमके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए लिखा है कि गौतमके नेत्र, कर और चरणसे पराजित होकर ही कमल जलमें प्रवेश कर गये हैं, उनके तेजसे हारकर तारा, चन्द्र और सूर्य आकाशमें भ्रमण कर उठे हैं। उनके रूपने मदनको अनंग बनाकर निकाल दिया है। उनके धैर्यसे मेरु और गम्भीरतासे सिन्धु लज्जित होकर पृथ्वीमें धँस गये हैं,

"नयण वयण करचरणि जिण वि पंकज जल पाडिय,
तेजिहि तारा चंद सूर आकासि भमाडिय ।

१. कुशललाभ, श्री पूज्यवाहणगीतम्, पद्य ६३–६४, ऐतिहासिक जैनकाव्यसंग्रह, कलकत्ता, वि० सं० १९९४, पृ० ११६।

२. इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

३. भूधरदास, पार्श्वपुराण, कलकत्ता, पार्श्वनाथजीकी स्तुति, २९वाँ पद्य, पृ० ३।

कविहि मयणु अनंग करवि मेल्हिउ निद्दाविय,
धीरिम मेरु गंभीरि सिंधु चंगिम चय चाविय ॥[१]"

भूधरदासने उत्प्रेक्षाओंके द्वारा वर्ण्य विषयको सुन्दर बनाया है। उनमे अधिकांश प्रकृतिसे ली गयी है। भगवान् पार्श्वनाथके शरीरपर एक सहस्र और आठ लक्षण इस भाँति सुशोभित हो रहे हैं, जैसे मानो कल्पतरुराजके कुसुम ही विराजे हों।[२] तीर्थंकर पार्श्वप्रभुके समवशरणके चारों ओर बलयाकृति खाई बनी है, उसमें निर्मल जल लहरें ले रहा है, वह मानो गंगा प्रदक्षिणा दे रही है,

"वलयाकृति खाई बनी, निर्मल जल लहरेय।
किधौं विमल गंगा नदी, प्रभु परदछना देय ॥[३]"

भगवान् जिनेन्द्रदेव समवशरणमें स्वर्ण सिंहासनपर विराजमान है। दोनों ओरसे यक्षनायक चमर ढुला रहे है। उसपर कल्पना करते हुए कविने लिखा है,

"चंद्रार्चि चय छवि चारु चंचल, चमर वृन्द सुहावने।
ढोलैं निरन्तर जच्छनायक, कहत क्यों उपमा बने।
यह नीलगिरि के शिखर मानो, मेघ झर लागी घनी।
सो जयो पास जिनेन्द्र पातक हरन जग चूडामनी ॥[४]"

जैन कवियोंका 'उदाहरणालंकार' भी प्रकृति चित्रणसे युक्त है। कवि बनारसीदासके 'नाटक समयसार'में अधिकांश उदाहरण प्रकृतिके क्षेत्रसे ही चुने गये हैं। एक इस प्रकार है,

"जैसे महीमंडल में नदी को प्रवाह एक,
ताही में अनेक भांति नीर की ढरनि है।
पाथर के जोर तहां धार की मरोर होत,
कांकर की खानि तहां झाग की झरनि है ॥
पौन की झकोर तहां चंचल तरंग उठै,
भूमि की निचानि तहां भौंर की परनि है।

१. देखिए इसी ग्रन्थका दूसरा अध्याय।

२. सहस अठोतर लछन ये, शोभित जिनवर देह।
किधौं कल्पतरुराज के, कुसुम विराजत येह ॥
भूधरदास, पार्श्वपुराण, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, सप्तमोऽधिकारः, पृ० ५७।

३. वही, अष्टमोऽधिकारः, पृ० ६८।

४. भूधरदास, पार्श्वपुराण, कलकत्ता, अष्टमोऽध्यायः, अष्टप्रातिहार्यवर्णन, पृ० ७१।

तैसो एक आत्मा अनंत रस पुद्गल,
दोहू के संयोग में विभाव की भरनि है ॥[1]"

भैया भगवतीदासके उदाहरणोंमें भी प्रकृतिकी ही झलक है। प्रत्येक व्यक्ति अपने पुण्य-पापके अनुसार फल पाता है। इसमें प्रकृतिका कोई दोष नहीं है। ग्रीष्मकी धूपमें पृथ्वी जल उठती है, किन्तु 'आक' उमंगित होकर फूलता है। वर्षाऋतुमें अनेक वृक्ष फल जाते हैं, किन्तु जवासा जल जाता है,

"ग्रीषम में धूप परै तामें भूमि भारी जरै,
फूलत है आक पुनि अति ही उमहि कैं।
वर्षा ऋतु मेघ झरै तामैं वृक्ष केई फरै,
जरत जमासा अघ आपुही तैं डहिकैं ॥
ऋतु को न दोष कोऊ पुण्य पाप फलै दोऊ,
जैसें जैसें किये पूर्व तैसें रहै सहिकैं।
केई जीव सुखी होंहिं केई जीव दुखी होंहिं,
देखहु तमासो 'भैया' न्यारे नेकु रहिकै ॥[2]"

जैन कवियोंका रूपक अलंकार भी प्रकृतिसे ही लिया गया है। कवि आनन्दघन-ने ज्ञानोदय और प्रभातके 'साग रूपक'का चित्र एक पदमें उपस्थित किया है,

"मेरे घट ज्ञान भाव भयो भोर।
चेतन चकवा चेतन चकवी, भागौ विरह कौ सोर ॥
फैली चहुँदिशि चतुर भाव रुचि, मिट्यौ भरम तम जोर।
आपनी चोरी आपहि जानत, औरै कहत न चोर।
अमल कमल विकसित भये भूतल, मंद विषद शशि कोर।
आनंदघन एक बल्लभ लागत, और न लाख किरोर ॥[3]"

कवि द्यानतरायने एक पदमें 'ज्ञान-विभव' और 'बसन्त'में 'रूपक' उपस्थित किया है। यह पद प्रकृति-मूलक रहस्यवादका दृष्टान्त है।

"तुम ज्ञानविभव फूली बसंत, यह मन मधुकर सुख सों रमन्त।
दिन बड़े भये बैराग भाव, मिथ्यामत रजनी को घटाव ॥

---

१. बनारसीदास, नाटकसमयसार, बम्बई, पृ० २४६।

२. भैया भगवतीदास, पुण्यपचीसिका, २४वाँ कवित्त, ब्रह्मविलास, १९२६ ई०, बम्बई, पृ० ७।

३. महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसंग्रह, अध्यात्मज्ञानप्रसारक मण्डल, बम्बई, १५वाँ पद।

बहु फूली फैली सुरुचि बेलि, ज्ञाता जन समता संग केलि ।
द्यानत वानी पिक मधुर रूप, सुर नर पशु आनंदघन सुरूप ॥[1]"

भूधरदासने शारदाको गंगा नदी बनाकर एक उत्तम रूपककी रचना की है,

"वीर हिमाचल तैं निकरी, गुरु गौतम के मुख-कुंड दरी है ।
मोह-महाचल भेद चली, जग को जड़तातप दूर करी है ॥
ज्ञान पयोनिधि मांहि रली, बहु भंग तरंगनि सों उछरी है ।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति, मैं अंजुलीकर शीश धरी है ॥[2]"

भैया भगवतीदासने आत्माको शुक कहा है । शुककी भाँति ही यह आत्मा कर्मरूपी नलिनपर जा बैठी है । विषयस्वादमें मग्न होनेके कारण उसके पैर ऊपरको हो गये हैं । वह मोहके चंगुलमें फँस गया है । यह सब कुछ कर्मोंसे छुटकारा न मिलनेके कारण ही हुआ है,

"आतम-सुवा मरममहिं भूल्यो कर्म-नलिन पैं बैठो आय ।
विषय स्वाद विरम्यो इह थानक, लटक्यो तरैं ऊर्ध्व भये पाँय ॥
पकरैं मोह मगन चुंगल सों, कहै कर्म सों नाहिं बसाय ।
देखहु कि नहिं सुविचार भविक जन, जगत जीव यह धरै स्वभाय ॥[3]"

जैन कवियोंने प्रकृतिको आलम्बन रूपमें भी उपस्थित किया है, किन्तु ऐसे दृश्य अल्प ही हैं । ब्रह्मरायमल्लने 'हनुवत कथा'में सन्ध्या समयका चित्र खींचा है । श्री पवनंजैराय अपने मित्रोसहित प्रासादके ऊपर बैठे हुए सन्ध्याकी शोभा देख रहे है । वह पद्य इस प्रकार है,

"दिन गत भयो अथयो भाण, पंषी शब्द करै असमान ।
मित्त सहित पवनंजै राय, मंदिर ऊपर बैठो जाय ॥
देखै पंषी सरोवर तीर, करै शब्द अति गहर गहीर ।
दसै दिसा मुष कालो भयो, चकहा चकिही अंतर कयो ॥[4]"

जैनकाव्योंमें प्रकृति शान्तरसके उद्दीपनके रूपमें भी अंकित की गयी है । भूधरदासने 'पार्श्वपुराण'में काशीदेशके खेटपुर पट्टनका वर्णन किया है । उसके आस-पासके प्राकृतिक दृश्योंमें शान्त-भावको उद्दीप्त करनेकी पर्याप्त सामर्थ्य थी । एक पद्य देखिए,

---

१. द्यानतराय, द्यानतविलास, कलकत्ता, ५८वाँ पद, पृ० २४ ।
२. भूधरदास, शारदास्तवन, पद्य १-२, ज्ञानपीठपूजांजलि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५७ ई०, पृ० ५२३ ।
३. भैया भगवतीदास, पुण्यपचीसिका, २०वाँ कवित्त, ब्रह्मविलास, बम्बई, पृ० ६ ।
४. देखिए, इसी ग्रन्थका छठा अध्याय ।

"नीर अगाध नदी नित बहैं। जलचर जीव जहाँ नित रहैं॥
मुनि जन भूषित जिनके तीर। का उसग्ग धरि ठाढ़े धीर॥
ऊँचे परवत झरना झरैं। मारग जात पथिक मन हरैं॥
जिनमें सदा कन्दरा थान। निहचल देह धरैं मुनि ध्यान॥[1]"

श्री द्यानतरायने नन्दीश्वर द्वीपकी प्राकृतिक शोभाका भी ऐसा ही चित्रण किया है, जिससे शान्तभाव और अधिक पुष्ट होता है। वह पद्य इस प्रकार है,

"एक इक चार दिशि चार शुभ बावरी।
एक इक लाख जोजन अमल जलभरी॥
चहुं दिशि चार वन लाख जोजन वरं।
मौन बावन प्रतिमा नमों सुखकरं॥[2]"

---

१. भूधरदास, पार्श्वपुराण, कलकत्ता, पंचमोऽधिकारः, पृ० ४१।
२. द्यानतराय, नन्दीश्वरदीप-पूजा, जयमाला, पद्य ३–५, बृहज्जिनवाणी संग्रह, १९५६ ई०, पृ० ४१७।

: ५ :

तुलनात्मक विवेचन

१. निर्गुणोपासना और जैन-भक्ति

ब्रह्म

आचार्य योगीन्दुने शुद्ध आत्माको ब्रह्म कहा है[1]। आत्मा और सिद्धका स्वरूप एक ही है, अतः उन्होंने सिद्ध और ब्रह्ममें अभेद स्वीकार किया है।[2] जैन हिन्दी कवि भट्टारक शुभचन्द्र[3], बनारसीदास[4] और भगवतीदास 'भैया'[5] ने भी सिद्ध

---

१. मूढ वियक्खणु बंभु परु अप्पा ति-विहु हवेइ ।
परमात्मप्रकाश, १।१३, पृ० २२ ।

२. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ ।
तेहउ णिवसइ बभु परु देहहँ मं करि भेउ ।।
वही, १।२६, पृ० ३३ ।

३. चिद्रूपचिता चेतन रे साक्षी परम ब्रह्म ।
परमात्मा परमगुरु तिहां नवि दोसियम्म ।।
शांत दात विज्ञान गुण रे सिद्ध सरूप समान ।
ज्ञानमात्र व्यापी विपुल देहमात्र असमान ।।७।।
तत्त्वसारदूहा, हस्तलिखित प्रति, मन्दिर ठोलियान, जयपुर, पृ० ५ ।

४. परमपुरुष परमेश्वर परम ज्योति
परब्रह्म पूरन परम परधान है ।
× ×
सरव दरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी शिव
धनी नाथ ईश जगदीश भगवान है ॥
नाटकसमयसार, सस्ती ग्रन्थमाला, दरियागंज, दिल्ली, ३६वाँ पद्य, पृ० ८ ।

५. जेई गुण सिद्ध माँहि तेई गुण ब्रह्म पांहि
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहिं निश्चय निरधार कै ।
सिद्ध के समान है विराजमान चिदानंद
ताही को निहार निज रूप मान लीजिये ॥
ब्रह्मविलास, सिद्ध चतुर्दशी, पद्य २-३, पृ० १४१ ।

और ब्रह्मको एक माना है। आठ कर्मोंके क्षयसे शुद्ध आत्माकी उपलब्धिको सिद्धि कहते हैं, और ऐसी सिद्धि करनेवाले सिद्ध कहलाते हैं[1]। वे अमूर्तिक, अव्यक्त, ज्ञानयुक्त और शाश्वत सुखके धारणकर्ता होते हैं। उनमें सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध नामके आठ गुण माने गये हैं[2]। कबीरका 'निर्गुण ब्रह्म' अमूर्तिक और अव्यक्तकी दृष्टिसे तो 'सिद्ध' के समान ही है, किन्तु उसमें गुणोंका ऐसा सयुक्तिक विभाजन नहीं किया गया है। उसमें ऐसा भावोन्मेष भी उपलब्ध नहीं होता।

कबीरने जिस आत्माका निरूपण किया है, वह विश्वव्यापी ब्रह्मका एक अंश-भर है, जब कि जैन कवियों की 'आत्मा' कर्ममलको धोकर स्वयं ब्रह्म बन जाती है, वह किसी अन्यका अंश नहीं है। इस भाँति कबीरका ब्रह्म एक है, जब कि जैनोके अनेक, किन्तु स्वरूपगत समानता होनेके कारण उनमें भी एकत्वकी कल्पना की जा सकती है[3]। कबीरने जिस ब्रह्मकी उपासना की है, उसपर उपनिषदों, सिद्धों, योगियों, सहजवादियों और इस्लामिक एकेश्वरवादियोंका प्रभाव पड़ा है। आचार्य क्षितिमोहन सेनकी दृष्टिमें कबीरदासने अपनी आध्यात्मिक क्षुधा और विश्वग्रासी आकांक्षाको तृप्त करनेके लिए ही ऐसा किया है[4]। जैनोंका ब्रह्म तो आध्यात्मिकताका साक्षात् प्रतीक ही है। उसपर किसी अन्यका प्रभाव नहीं है। वह अपनी ही पूर्व परम्पराका पोषण करता है।

भावुकताके क्षेत्रमे भी यह ही बात है। कबीरका ज्ञानी ब्रह्म सूफ़ियोंके प्रभावसे प्रेम और भक्तिका विषय बन सका, जब कि जैनोके सिद्ध सदियों पूर्वसे भक्तिके आलम्बन और प्रेमके आकर्षण-केन्द्र बने चले आ रहे थे। आचार्य कुन्दकुन्द (वि० सं० पहली शती) ने सबसे पहले प्राकृत भाषामें 'सिद्धभक्ति' लिखी, आचार्य पूज्यपाद और सोमदेवने उसीको संस्कृतमें प्रशस्त किया। 'सिद्धभक्ति'से

---

१. आचार्य पूज्यपाद, सिद्धभक्ति, पहला श्लोक, दशभक्तिः, शोलापुर, १९२१ ई०, पृ० २७।

२. संमत्त णाण दंसण वीरिय सुहुमं तहेव अवगहणं।
अगुरुलहुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं॥
आचार्य कुन्दकुन्द, सिद्धभक्तिः, दशभक्तिः, शोलापुर, पृ० ६१।

३. परमात्मप्रकाश, Introduction, डॉ० ए० एन० उपाध्ये लिखित, पृ० ३४–३५।

४. "कबीरकी आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है, इसीलिए उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओंको जोरसे पकड़ रखा है।"
आचार्य क्षितिमोहन सेन, कबीरका योग, कल्याण, योगांक, पृ० २९९।

सम्बन्धित अनेक प्राचीन स्तुति-स्तोत्र भी उपलब्ध हुए हैं, जिनका विवेचन इसी ग्रन्थके दूसरे अध्यायमें किया गया है। आचार्य पूज्यपादने तो प्रेमको ही भक्ति कहा है। इसी कारण 'सिद्ध'में जो रसविभोरता है, वह बौद्धोंकी निराकारोपासनामें उपलब्ध नहीं होती। बुद्ध 'प्रतिपद' पर जोर देते हैं, जब कि भक्ति 'प्रपत्ति' से अधिक आश्वासन ग्रहण करती है[1]। बुद्ध केवल ज्ञानरूप हैं, जब कि सिद्ध ज्ञानके साथ-साथ प्रेरणाजन्य कर्तृत्वके कारण भक्तके आराध्य भी। जैनोंने केवल सिद्धमें ही नहीं, किन्तु पंचपरमेष्ठीमें भी आसक्तिको शुभ माना है, और परम्परया उसे मोक्षका कारण कहा है। बौद्ध भगवान् बुद्धकी आसक्तिको भी उचित नहीं मानते। कबीरकी निर्गुण राममें आसक्ति प्रसिद्ध ही है। अतः विद्वानोंका यह कथन कि कबीरकी निर्गुणोपासना बौद्ध साधनासे प्रभावित थी, अशुद्ध है। उसका आसक्तिवाला रूप जैन साधनाके अधिक निकट है। यहाँ पं० रामचन्द्र शुक्लका यह कथन कि भारतीय ब्रह्म केवल ज्ञानक्षेत्रका विषय था, ठीक नहीं प्रतीत होता।

कुछ भी हो, निर्गुण ब्रह्म और सिद्ध दोनों ही में दार्शनिकोंकी शुष्कता नहीं थी। यदि ऐसा होता तो कबीरके लालकी लालीको देखनेवाली लाल कैसे हो जाती। उनके लालमें 'पीउ' का सौन्दर्य है और रमणीयता भी, तभी तो आत्माने स्वयं 'बहुरिया' बननेमें चरम आनन्दका अनुभव किया है[2]। वह 'पीउ' जब उसके घर आया, तो घरका आकाश मंगलगीतोंसे भर गया[3] और चारों ओर प्रकाश छिटक उठा[4]। जायसीने ब्रह्मको 'पिउ' के नहीं, अपितु प्रियतमके रूपमें देखा है। इसीलिए उसमें कबीरके ब्रह्मसे अधिक मादकता है और आकर्षण। कबीरके लालको देखनेवाली ही लाल हो पायी है, किन्तु जायसीके प्रियतमको देखनेवाली स्वयं लाल होती है और उसे समूचा विश्व भी लाल दिखाई देता

---

१. डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, बंगाल हिन्दी मण्डल, वि० सं० २०११, पृ० १०६३।

२. "हरि मेरा पीउ मैं हरि की बहुरिया"
सन्तसुधासार, कबीरदास, सबद, २१वाँ पद्य, पृ० ६६।

३. दुलहिनी गावहु मंगलचार,
हम घर आये हो राजा राम भरतार ॥
कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, पद-पहला पद्य, पृ० ८७।

४. मंदिर माहिं भया उजियारा, ले सूती अपना पिव प्यारा ॥
वही, दूसरा पद, पृ० ८७।

है। "नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर"[1] में ऐसी ही बात है। जैन कवि द्यानतरायने भी ब्रह्मके दर्शनसे चारों ओर छाये हुए वसन्तको देखा है। "तुम ज्ञान विभव फूली बसन्त, यह मन मधुकर सुख सों रमंत"[2] उसीका निदर्शक है। कवि बनारसीदासके ब्रह्मके सौन्दर्यसे तो समूची प्रकृति ही विकसित हो उठी है,

"विषम विरष पूरो भयो हो, आयो सहज बसंत।
प्रगटी सुरुचि सुगंधिता हो, मन मधुकर मयमंत॥"[3]

कबीरमे व्यष्टिमूलकता अधिक है, तो जायसीमें समष्टिगतता और जैन कवियोमें दोनों ही समान रूपसे प्रतिष्ठित हैं। उनका आत्मब्रह्म घटमें रहता है, किन्तु उसका सौन्दर्य समूचे लोकालोकमें व्याप्त है।

सतगुरु

जैन सन्त और कबीरदास आदि 'निर्गुनिए' साधुओंने गुरुकी महत्ता समान रूपसे स्वीकार की है। दोनोंने ही गुरुके प्रसादको पानेकी आकांक्षा की, किन्तु जहाँ कबीरदासने गुरुको ईश्वरसे भी बड़ा माना,[4] वहाँ जैन सन्तोंने ईश्वरको ही सबसे बड़ा गुरु कहा है। जैन आचार्योंने पंच परमेष्ठीको 'पंचगुरु'की संज्ञासे अभिहित किया है। सोलहवीं शताब्दीके कवि चतरुमलने 'नेमीश्वर गीत'में लिखा है, "पंचगुरुओंको प्रणाम करनेसे मुक्ति मिलती है।"[5]

वैसे गुरुके प्रसादसे भगवान् मिलनेकी बात दोनों ही को स्वीकार है। कबीरदास तो गुरुके ऊपर इसीलिए बलिहार होते हैं कि उन्होंने गोविन्दको बता दिया है। सुन्दरदासके गुरु भी दयालु हैं, क्योंकि उन्होंने आत्माको परमात्मासे मिला

---

१. जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, द्वितीय संस्करण, मानसरोदक खण्ड, ८वीं चौपाईका दोहा, पृ० २५।

२. द्यानतपदसंग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ५८वाँ पद, पृ० २४।

३. बनारसी विलास, जयपुर, अध्यात्मफाग, पद्य दूसरा, पृ० १५४।

४. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दयो बताय॥
कबीरदास, गुरुदेवकौ अंग, सन्तसुधासार, वियोगी हरि सम्पादित, सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, १४वीं साखी, पृ० १२०।

५. लहहि मुकति दुति दुति तिरैं, पंच परम गुरु त्रिभुवन सारु॥
चतरुमल, नेमीश्वरगीत, आमेरशास्त्रभण्डार, मंगलाचरण।

दिया है।[1] दादूके 'मस्तक'पर तो ज्यों ही गुरुदेवने प्रसादका हाथ रखा कि 'आगम अगाध' के दर्शन हो गये।[2] जैन कवि ब्रह्मजिनदासने अपने आदिपुराणमें 'मुगति-रमणी'को प्रकट करनेवाले भगवान् ऋषभदेवको सद्गुरुकी कृपासे ही जाननेकी बात स्वीकार की है।[3] भट्टारक शुभचन्द्रने तो यहाँतक कहा है कि सतगुरुको मनमें धारण किये बिना शुद्ध चिद्रूपका ध्यान करनेसे भी कुछ न होगा।[4] श्री कुशल-लाभने 'स्थूलभद्रछत्तीसी' में गुरु स्थूलभद्रके प्रसादसे 'परमसुख'का प्राप्त होना लिखा है।[5] उन्होने ही 'श्रीपूज्यबाहणगीतम्' मे भी लिखा है कि शुद्ध मन-पूर्वक गुरुकी सेवा करनेसे शिवसुख उपलब्ध होता है।[6]

पाण्डे रूपचन्दजीने अपने 'खटोलना गीत'के द्वारा सिद्ध किया है कि सतगुरुकी कृपासे ही भ्रान्तिरूपी अलंकार नष्ट हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस भाँति जीव अविचल ज्ञानको प्राप्त करता है।[7] कबीरदास भी गुरुके इस ज्ञानप्रदाता स्वभावसे

---

१. परमातम सों आतमा जुदे रहे बहुकाल।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरु मिले दयाल ॥
डॉ० दीक्षित, सुन्दरदर्शन, इलाहाबाद, पृ० १७७।

२. दादू गैब माहिं गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धरया देख्या अगम अगाध ॥
दादू, गुरुदेव कौ अंग, सन्त सुधासार, पहली साखी, पृ० ४४६।

३. तेह गुण में जांणी या ए, सदगुरु तणो पसावतो।
भवि भवि स्वामी सेवसुं, ए लागु सहगुरु पाय तो ॥
ब्रह्मजिनदास, आदिपुराण, प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, पृ० २०४।

४. भट्टारक शुभचन्द्र, तत्त्वसारदूहा, मन्दिर ठोलियान, जयपुरकी प्रति।

५. कुशललाभ, स्थूलभद्र छत्तीसी, पहला पद्य, राजस्थानमें हिन्दीके हस्तलिखित ग्रन्थों-की खोज, अगरचन्द नाहटा सम्पादित, साहित्य संस्थान, उदयपुर, १९५४ ई०, पृ० १०५।

६. दिन दिन महोत्सव अतिघणा, श्री संघ भगति सुहाय।
मन शुद्धि श्री गुरु सेवी यह, जिणि सेव्यइ शिव सुख पाई ॥
कुशललाभ, श्री पूज्यवाहणगीतम्, जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह, अगरचन्द नाहटा सम्पादित, कलकत्ता, वि० सं० १९९४।

७. सोते सोते जागिया, ते नर चतुर सुजानि।
गुरु चरणायुध बोलियो, समकित भयउ विहान ॥
कालरयन तब बीतई, ऊगो ज्ञान सुभानु।
भ्रान्ति तिमिर जब नाशियो, प्रगटत अविचल थान ॥
पाण्डे रूपचन्द, खटोलना गीत, अनेकान्त वर्ष १०, किरण २, पृ० ७९।

प्रसन्न हुए हैं और अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए उन्होंने कहा, "सतगुरुकी महिमा अनन्त है, उन्होंने अनन्त उपकार किया है, क्योंकि उन्होने मेरे अगणित ज्ञानचक्षुओंको खोलकर असीम ब्रह्मका दर्शन कराया है[1]।" एक दूसरे स्थानपर उन्होंने लिखा, "मैं तो अज्ञानसे भरो लौकिक मान्यताओं और पाखण्डसे ओत-प्रोत वेदके पीछे चला जा रहा था कि सामने सतगुरु मिल गये और उन्होंने ज्ञानका दोपक मेरे हाथमें दे दिया[2]।" हृदयमें ज्ञानका प्रकाश करनेवाला गुरु भगवान्‌की कृपासे मिलता है। जैन सन्त चतरुमलने जादौराय भगवान् नेमीश्वरके गुण गानेसे ही गुरु गौतमके प्रसादको पाना स्वीकार किया है।[3]

सतगुरुका मिलना तभी सार्थक होगा, जबकि शिष्यका हृदय भ्रम, संशय और मिथ्यात्वसे ओत-प्रोत न हो। यदि ऐसा होगा तो सतगुरुका उपदेश उसके हृदयमें पैठेगा नही। यद्यपि आत्माका स्वभाव ज्ञान है किन्तु सांसारिक मिथ्यात्व-से युक्त होनेके कारण उसे सतगुरुका अमृतमय उपदेश भी रुचता नहीं। इसीको पाण्डे रूपचन्दने बड़े ही सरस ढंगसे उपस्थित किया है,

> "चेतन अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै
> अमृत वचन हितकारी, सद्‌गुरु तुमहिं पढ़ावै
> सद्‌गुरु तुमहिं पढ़ावै चित दै, अरु तुमहूं हो ज्ञानी
> तबहूं तुमहिं न क्यों हूं आवै, चेतन तत्त्व कहानी ॥"[4]

सन्त कबीरदासके भी ऐसे ही विचार हैं, "सतगुरु बपुरा क्या कर सकता है, यदि 'सिख' ही में चूक हो। उसे चाहे जैसे समझाओ, सब व्यर्थ जायेगा, ठीक वैसे ही जैसे फूँक बंसीमें ठहरती नहीं, अपितु बाहर निकल जाती है।[5] कवि

---

१. सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥
कबीरदास, गुरुदेव कौ अंग, तीसरी साखी, कबीर ग्रन्थावली, चौथा संस्करण, पृ० १।

२. पीछैं लागे जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥
देखिए वही, ११वीं साखी, पृ० २।

३. गुरु गौतम मो देउं पसीउ, जो गुन गाउं जादुराय।
चतरुमल, नेमीश्वर गीत, मंगलाचरण, प्रशस्ति संग्रह, जयपुर, पृ० २३१।

४. परमार्थ जकड़ी संग्रह, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९११, पहला पद्य, पृ० १।

५. कबीरदास, गुरुदेव कौ अंग, २१वीं साखी, कबीर ग्रन्थावली, पृ० ३।

बनारसी दासने 'अध्यात्म बत्तीसी'में लिखा है, "सहजमोह जब उपशमै, रुचै सुगुरु उपदेश। तब विभाव भवथिति घटै, जगै ज्ञान गुण लेश।[1]" सतगुरुकी देशना आस्रवोंके लिए दीवार, कर्म कपाटोंको उघाड़नेवाली और मोक्षके लिए पैड़ीका काम करती है, किन्तु केवल उन्होंके लिए जिनकी भवथिति घट गयी है, मूढ तो उसका लेशमात्र भी नहीं समझता।[2]

इस भव-समुद्रसे पार करानेके लिए गुरुको जहाज बनानेकी बात भी बहुत पुरानी है। सत्तरहवीं शताब्दीके जैन कवि हेमराजने 'गुरु-पूजा' के प्रारम्भमें ही गुरु महाराजको महामुनिराजकी उपाधिसे विभूषित करते हुए कहा, "चहुँगति दुख सागर विषै, तारन तरन जिहाज। रतनत्रय निधि नगन तन, धन्य महामुनि-राज।"[3] अर्थात् इस दुःख-सागरसे पार करनेके लिए महामुनिराज ही जहाजरूप हैं। अठारहवीं शताब्दीके कवि भूधरदासने उस गुरुको मनमें बसानेकी अभिलाषा प्रकट की है, जो 'भव-जलधि-जिहाज' हैं। ऐसे ऋषिराज गुरु स्वयं भी तिरते हैं और दूसरोंको भी तारते हैं।[4] इसी शताब्दीके श्री द्यानतरायने भी अपने 'द्यानत विलास' में गुरुको जहाज बनाते हुए लिखा है, "तारन तरन जिहाज सुगुरु है, सब कुटुम्ब डोवै जगतोई। द्यानत निशि दिन निरमल मन में, राखो गुरु-पद पंकज दोई।"[5] सन्त दरिया साहबने सतगुरुरूपी जहाजपर ही अधिक विश्वास किया है, उन्होंने लिखा है, "संसाररूपी दरिया अगम्य है, सतगुरुरूपी जहाजपर अपने हंसको चढ़ाकर उसे पार कर जाओ, तभी

---

१. बनारसीदास, अध्यात्म बत्तीसी, बनारसीविलास, जयपुर, २७वाँ पद्य, पृ० १४६।

२. यह सतगुरु दी देशना, कर आस्रव दीवाडि।
   लह्यो पैडि मोखकी, करम कपाट उघाड़ि॥
   भवथिति जिनकी घट गई, तिनको यह उपदेश।
   कहत 'बनारसिदास' यों, मूढ न समुझै लेश॥
   बनारसीदास, मोखपैड़ी, बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, दोहा २३-२४, पृ० १३६।

३. पाण्डे हेमराज, गुरुपूजा, पहला दोहा, बृहज्जिनवाणी संग्रह, १९५६ ई०, पृ० ३०३।

४. ते गुरु मेरे मन बसो, जे भव जलधि जिहाज।
   आप तिरैं पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज॥
   भूधरदास, 'ते गुरु मेरे मन बसो' पद, अध्यात्म पदावली, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, पृ० ८४।

५. द्यानतराय, द्यानतविलास, कलकत्ता, पद २३वाँ, पृ० १५।

सुख-राज करनेमें समर्थ हो सकोगे।[1] सन्त पलटू साहबने भी गुरुके परोपकारी स्वभावको समझकर ही यह कहा है कि भवसागरसे तरनेके लिए गुरुरूपी जहाज ही सर्वोत्तम उपाय है।[2] कबीरदासने कहा कि जिसने गुरुरूपी जहाजको छोड़कर अन्य किसी बेड़ेसे इस भव-समुद्रको पार करनेका प्रयास किया, वह सदैव असफल रहा, और यह निश्चित है कि उसका बेड़ा किसी-न-किसी औघट घाटपर अवश्य डूबेगा।[3]

गुरुने केवल ज्ञान ही नहीं, अपितु भक्ति भी दी है, अर्थात् गुरुकी कृपासे ही शिष्य भगवान्की भक्तिमे प्रवृत्त हो सकता है। पाण्डे हेमराजने गुरुके इस भक्तिप्रदाता गुणपर विश्वास करके ही उनसे भरपूर भक्तिकी याचना की है। उन्होंने गुरुका वर्णन करनेमे अपनी असमर्थता दिखाते हुए कहा, "मै गुरुका भेद कहाँतक कहूँ। मुझमे बुद्धि थोड़ी है और उनमें गुण बहुत अधिक है। हेमराज-की तो इतनी हो प्रार्थना है कि इस सेवकके हृदयको भक्तिसे भर दो।"[4] कबीर-दासने तो स्पष्ट ही गुरुको भक्तिका देनेवाला माना है। उन्होंने कहा, "ज्ञान भगति गुरु दीनी।"[5] ज्ञान और योगके साथ-साथ भाव-भक्ति भी कबीरदासके अन्तर्जगत्-की अन्यतम विभूति थी। और उसको उन्होंने अपने गुरुकी देनके रूपमे स्वीकार किया है। उनके गुरु रामानन्द थे और उन्होंने कहा, "भक्ति द्राविण ऊपजी लाए रामानन्द। परगट किया कबीरने सप्तदीप नव खण्ड।"[6] दादू साहबने ललचाते हुए घोषित किया, "यदि सद्गुरु मिल जाये, तो भक्ति और मुक्ति दोनों ही के

---

१. त्रिलोकीनारायण दीक्षित, सन्तदर्शन, साहित्यनिकेतन, कानपुर, १९५३ ई०, पृ० २६, पादटिप्पण १।

२. भवसागर के तरन को पलटू संत जहाज।
पलटू साहब, गुरुका अंग, १९वीं साखी, सन्तसुधासार, दिल्ली, दूसरा खण्ड, पृ० २६७।

३. ता का पूरा क्यों, गुरु न लखाई बाट।
ताको बेड़ा बूड़िहै, फिर फिर औघट घाट॥
कबीरदास, गुरुदेव कौ अंग, संत सुधासार, पहला खण्ड, २०वीं साखी, पृ० १२०।

४. कहाँ कहाँ लौं भेद मैं, बुध थोरी गुन भूर।
हेमराज सेवक हृदय, भक्ति करो भरपूर॥
पाण्डे हेमराज, गुरु-पूजा, जयमाला, ७वाँ पद्य, १९५६ ई०, पृ० ३१३।

५. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्यामसुन्दरदास सम्पादित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण, परिशिष्ट, पदावली तीसरा पद, पृ० २६४।

६. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, कबीरकी विचारधारा, कानपुर, वि० सं० २००९, पृ० ३२४।

भण्डार उपलब्ध हो सकते हैं। दादूका कथन है कि सतगुरुके मिलनेसे साहबका दीदार तो सहजमें ही मिल सकता है।"[1]

जैन साहित्यमें गुरु-भक्तिके अनेकानेक सरस उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सत्तरहवीं शताब्दीके महाकवि समयसुन्दर गुरु राजसिंहसूरिकी भक्तिमें भाव-विभोर होते हुए कह उठे, "मेरा आजका दिन धन्य है। हे गुरु! तेरे मुखको देखते ही जैसे मेरी तो समूची पुण्यदशा ही प्रकट हो गयी है। हे श्री जिनसिंहसूरि! मेरे हृदयमें सदैव तू ही रहता है और स्वप्नमें भी तुझे छोड़कर अन्य दिखाई नहीं देता। मेरे लिए तो तुम ऐसे ही हो जैसे कुमुदिनीके लिए चन्द्र, जिसको दूर होते हुए भी कुमुदिनी समीप ही समझती है। तुम्हारे दर्शनोंसे आनन्द उत्पन्न होता है, और मेरे नेत्र प्रेमसे भर जाते हैं। जीव तो सभीको प्यारा होता है, किन्तु मुझे तुम उससे भी अधिक प्रिय हो।[2]" श्री कुशललाभने आचार्य पूज्यबाहणकी भक्तिमें जिस सरसताका परिचय दिया है वह कम ही स्थानोंपर मिलती है। आषाढ़के आते ही चौमासेका प्रारम्भ हुआ और पूज्यबाहण त्रम्बावतीमें पधारे। उस समयका भक्तिसे भरा एक चित्र देखिए, "आषाढ़के आते ही दामिनी झबूके लेने लगी, कोमल कामिनियाँ अपने प्रीयडाकी बाट जोहने लगीं, चातक मधुर ध्वनिमें 'पीउ पीउ' का उच्चारण करने लगा और सरोवर बरसातके विपुल जलसे भर गये। इस अवसरपर महान् श्री पूज्यबाहणजी श्रावकोंको सुख देनेके लिए त्रम्बावतीमें आये। वे दीक्षारमणीके साथ रमण करते हैं और उनमें हर किसीका मन बँधकर रह जाता है। उनके प्रवचनमें कुछ ऐसा आकर्षण है कि उसे सुनकर वृक्ष भी झूम उठे हैं, कामिनी कोकिल गुरुके ही गीत गाने लगी है, गगन गूँज उठा है,

---

१. सदगुरु मिलै तो पाइये भक्ति मुक्ति भंडार।
दादू सहजै देखिए साहिब का दीदार॥
दादू गुरुदेव कौ अंग, त्रिलोकीनारायण दीक्षित, सन्तदर्शन, कानपुर, पृ० २२, पादटिप्पण ३।

२. आज कुं धन दिन मेरउ।
पुन्य दशा प्रगटो अब मेरी, पेखतु गुरु मुख तेरउ॥
श्री जिनसिंह सूरि तुहि मेरे जीउ में, सुपनइ भइं नहींय अनेरो।
कुमुदिनी चन्द जिसउ तुम लीनउ, दूर तुही तुम्ह नेरउ॥
तुम्हारइ दरसण, आणंद उपजतो, नयनको प्रेम नवेरउ।
'समय सुन्दर' कहइ सब कुं बलभ, जीउ तुं तिनथइ अधिकेरउ॥
समयसुन्दर, जिनसिंह सूरिगीतम्, ७वाँ पद्य, ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह, अगरचन्द नाहटा सम्पादित, कलकत्ता, पृ० १२६।

और मयूर तथा चकोर भी प्रसन्न होकर नाच उठे हैं। गुरुके ध्यानमें स्नान करके ही शीतल लहर बहने लगी है। गुरुकी कीर्ति और सुयशसे ही सम्पूर्ण संसार महक रहा है। विश्वके सातों क्षेत्रोंमें धर्म उत्पन्न हो गया है। श्री गुरुके प्रसादसे सदा सुख उत्पन्न होता है।"

"आव्यो मास असाढ़ झबूके दामिनी रे।
जोवइ जोवइ प्रीयडा वाट सकोमल कामिनी रे॥
चातक मधुरइ सादिकि प्रीऊ प्रीऊ उच्चरइ रे।
बरसइ घण बरसात सजल सरवर भरइ रे॥
इण अवसरि श्रीपूज्य महामोटा जती रे।
श्रावकना सुख हेत आया अम्बावती रे॥
जोवउ अम गुरु रीति प्रतीति वधइ वली रे।
दिक्षा रमणी साथ रमइ मननी रली रे॥
प्रवचन वचन विस्तार अरथ तणवर घणा रे।
कोकिल कामिनी गीत गायइ श्री गुरु तणा रे॥
गाजइ गगन गंभीर श्री पूज्यनी देशना रे।
भवियण मोर चकोर थायइ शुभ वासना रे॥
सद्‌गुरु ध्यान स्नान लहरि शीतल वहइ रे।
कीर्त्ति सुजस विसाल सकल जग महमहइ रे॥
साते खेत्र सुठाम सुधर्मइ नीपजइ रे।
श्री गुरु पाय प्रसाद सदा सुख संपजइ रे॥"[1]

श्री साधुकीर्तिने गुरुजिनचन्द्रसूरिकी भक्तिमें एक राग-मल्हारका निर्माणकिया था। उसमें एक शिष्य आनेवाले गुरुको देखनेके लिए ठीक वैसे ही बेचैन है जैसे कोई प्रोषित्पतिका आनेवाले पतिको देखनेके लिए बेचैन हो उठती है। उन्होंने कहा, "हे सखि! मेरे लिए तो वह ही अत्यधिक सुन्दर है, जो यह बता दे कि हमारे गुरु किस मार्गसे होकर पधारेंगे। श्रीगुरु सभीको सुहावने लगते हैं और वे जिस पुरमें आ जाते हैं, वह तो जैसे 'शोभा' ही हो जाता है। उनको देखकर हर कोई जय-जयकार किये बिना नहीं रहता। जो गुरुकी आवाजको भी जानता है, वह मेरा साजन है। गुरुको देखकर ऐसी प्रसन्नता होती है जैसे चन्द्रको देखकर चकोरको और सूर्यको देखकर कोकको। गुरुके दर्शनोंसे हृदय सन्तुष्ट, पुण्य पुष्ट और मन

---

१. देखिए कुशललाभ, श्रीपूज्यवाहणगीतम्, पद्य ६१-६४, ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, अगरचन्द नाहटा सम्पादित, कलकत्ता, पृ० ११६-११७।

प्रसन्न होता है। अन्तमें व्याकुल होकर वह पुकार उठता है कि हे निर्द्वन्द्वी श्री जिनचन्द्र! प्रमोदी होकर शीघ्र ही आ जाओ, तुम्हें देखकर मेरा हृदय जैसे अनिर्वचनीय रसका ही आनन्द ले उठेगा।"[1]

इस भाँति गुरुके विरहमे शिष्यको बेचैनी और मिलनमें अपार प्रसन्नता, जैसी जैन कवि अंकित कर सके, निर्गुनिए सन्त नहीं। उन्होंने इस ओर ध्यान भी नहीं दिया। कबीर आदि सन्तोमे भावपरकताका अभाव है और जैन कवियों-की भावुकता सतगुरुके लिए भी, भगवान्की भाँति ही मुखर हो उठी है। शिष्य-का विरह पवित्र प्रेमका द्योतक है। जैनोका सतगुरु प्रेमास्पद भी है।

सन्त साहित्यमें 'सबद कौ अंग'का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। शब्द ब्रह्मको कहते हैं। शब्द-ब्रह्मकी धारणा बहुत प्राचीन है। ऋग्वेद (१।१६४।१०) पर इसकी चर्चा हुई है। समाधिपाद (२५वाँ सूत्र) में ईश्वरका वाचक ओंकार शब्द ही है। 'माण्डूक्योपनिषद्' और 'कठोपनिषद्' (१।२।१६) में भी 'ओंकार' की महिमाका निरूपण है। जैन आचार्य सहस्रो वर्ष पहलेसे ही ओंकारके ध्यानकी बात कहते चले आये है। आचार्य कुन्दकुन्दके 'समयसार'के प्रारम्भमें ही, "ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्य ध्यायन्ति योगिनः। कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः॥" दिया हुआ है। जैन हिन्दी कवियोने 'ॐकार'को एक परम गूढ़ पद कहा है। मूढ़ व्यक्ति उसके भेदको नही जानते। सतगुरुकी कृपा ही उसका रहस्य समझानेमे समर्थ है। पं० दौलतरामने ॐकारकी महिमाका वर्णन करते हुए लिखा है,

ॐकार परम रस रूप, ॐकार सकल जग भूप।
ॐकार अखिल मत सार, ॐकार निखिल तत धार॥
ॐकार सबै जग मूल, ॐकार भवोदधि कूल।
ॐकार मयो जगदीस, ॐकार सु अक्षर सीस॥[2]

कबीरदासकी दृष्टिमे सतगुरु वह ही है, जो शब्दबाणको सफलतापूर्वक चला सके, और जिसके लगते ही शिष्यका मोह-जाल विदीर्ण हो जाये।[3] जैन सतगुरु बाण नही चलाता, अपितु उसके कोमल वचनोंसे ही शिष्य वीणा-नादको सुनकर

---

१. साधुकीर्त्ति, श्री जिनचन्दसूरि गीतानि, नं० ३, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, अगरचन्द नाहटा सम्पादित, कलकत्ता, पृ० ६१।

२. पं० दौलतराम, अध्यात्म बारहखड़ी, हस्तलिखित प्रति, बड़ा मन्दिर, जयपुर, प्रारम्भ, छन्द चौपाई, ४-५।

३. सतगुरु लई कमाँण करि, बाँहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर॥
कबीर ग्रन्थावली, गुरुदेव कौ अंग, ६ठी साखी, पृ० १।

मृगकी भाँति रीझ जाता है। वे कोमल-वचन शिष्यके हृदयसे मोहरूपी विष दूर कर देते हैं, और वहाँ अनुभवरूपी अमृतका स्रोत बह उठता है। अनादिका तमस नष्ट हो जाता है और सुप्रकाशकी लहर चल पड़ती है।[1] अर्थात् जैन शिष्य-का भी मोह-जाल विदीर्ण होता है, किन्तु ऐसा करनेके लिए जैन गुरु हिंसाका नहीं, अहिंसाका प्रयोग करता है।

बाह्य आडम्बरोंका विरोध

मध्य युगके जैनोंमें भी बाह्य कर्म-कलाप इतने अधिक बढ़ गये थे कि उन्हीं-को जैनधर्मकी संज्ञा दे दी गयी। महावीरकी दिव्यवाणी दब गयी। सम्यक्त्व निरस्त हो गया। अचेतनको चेतन समझनेमें जैन भी पीछे नहीं रहे। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दीके जैन सन्तोंने अपभ्रंश भाषाके माध्यमसे इन बाह्य आडम्बरोंका निर्भीकतासे विरोध किया। उनमें मुनि रामसिंहका नाम सर्वोपरि है। उनके विषयमें श्री वियोगी हरिका कथन है, "धर्मके नामपर जो अनेक बाह्य आडम्बर और पाखण्ड प्रचलित हुए, उन सबका इस जैन सन्तने प्रबल खण्डन किया।"[2] मुनि रामसिंहने एक स्थानपर लिखा है, "हे मुण्डितोंमें श्रेष्ठ! सिर तो तूने अपना मुँड़ा लिया, पर चित्तको नहीं मुँडाया। संसारका खण्डन चित्तको मुँड़ाने-वाला ही कर सकता है।"[3] तीर्थक्षेत्रोंके विषयमें उनका कथन है, "हे मूर्ख, तूने एक तीर्थसे दूसरे तीर्थमें भ्रमण किया और चमड़ेको जलसे धोता रहा, पर इस पापसे मलिन मनको कैसे धोयेगा।"[4] योगीन्दु, देवसेन आदिने भी ऐसी ही

---

१. कोमल वचन गुरु बोलें मुख सेती सुध,
   सुन सम रीझे रीझे म्रिग सुनि नादि का।
   अनुभव अम्रत सो मोह विष दूर करै,
   करै सुप्रकास तम मेटि कै अनादि का॥

   अध्यात्म सवैया, हस्तलिखित प्रति, आमेर शास्त्रभण्डार, जयपुर, २६वाँ पद्य।

२. सन्त सुधासार, श्री वियोगी हरि सम्पादित, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली, १९५३ ई०, पृ० १८।

३. मुंडिय मुंडिय मुंडिया। सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया।
   चित्तहं मुंडणु जि कियउ। संसारहं खंडणु ति कियउ॥
   पाहुडदोहा, १३५वाँ दोहा।

४. तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण।
   एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण॥
   वही, दोहा, १६३वाँ।

बातें लिखी हैं, किन्तु उनका स्वर वैसा पैना नहीं है।

जैन हिन्दीके भक्ति-काव्यमें भी ऐसी ही प्रवृत्तियोंके दर्शन होते हैं। उनपर जैन अपभ्रंशका प्रभाव स्पष्ट ही है। चौदहवीं शताब्दीकी प्रसिद्ध कृति 'आणंदा' में लिखा है, "संसारके मूर्ख जीव अनेकानेक तीर्थ-क्षेत्रोंमें घूम-घूमकर मरते हैं, किन्तु उन्हें यह विदित नहीं कि आनन्द शरीरको स्वच्छ करनेसे नहीं, अपितु आत्माको शुद्ध करनेसे मिलता है।" वह पद्य इस प्रकार है,

> अठ सठि तीरथ परिभमइ　मूढा मरहिं भमंतु।
> अप्पा बिन्दु न जाणहीं, आनंदा घट महि देउ अणंतु॥[1]

निर्गुण काव्यधाराके कवि सुन्दरदासने भी ऐसी ही बात कही है। अठसठि शब्द दोनोंमें ही समान रूपसे प्रयुक्त हुआ है,

> सुन्दर मैली देह यह निर्मल करी न जाइ।
> बहुत भांति करि धोइ तू अठ सठि तीरथ न्हाइ॥[2]

चतुर्वर्णी व्यवस्थाके विरुद्ध जैन कवियोका स्वर निर्गुनिए सन्तोंकी भाँति ही तीखा है, किन्तु उनमें कड़वाहट नहीं है। उन्होंने ब्राह्मणोंका विरोध करनेके लिए जातिप्रथाका खण्डन नहीं किया, अपितु उनका विरोध आत्मसिद्धान्तपर आधारित था। भट्टारक शुभचन्द्र (१६वीं शती) ने 'तत्त्वसारदूहा'में लिखा है,

> उच्च नीच नवि अप्पा हुवि
> 　　　कर्म कलंक तणो की तु सोइ।
> बंभण क्षत्रिय वैश्य न शुद्र
> 　　　अप्पा राजा नवि होइ क्षुद्र॥
> अप्पा धनि नवि नवि निर्धन,
> 　　　नवि दुर्बल नवि अप्पा घन।
> मूर्ख हर्ष द्वेष नवि ते जीव,
> 　　　नवि सुखी नवि दुखी अतीव॥[3]

इसकी तुलनामें कबीरदासका यह कथन देखिए, जिसमें उन्होंने ब्राह्मणको सम्बोधन करते हुए कहा है, "जब हम दोनों एक ही ढंगसे उत्पन्न हुए हैं, तो

---

१. आणन्दाकी हस्तलिखित प्रति, मस्जिदखजूर, जैन पंचायती मन्दिर, दिल्ली, तीसरा पद्य।

२. सुन्दरदर्शन, किताबमहल, इलाहाबाद, १९५३ ई०, पृ० २४०।

३. भट्टारक शुभचन्द्र, तत्त्वसारदूहा, मन्दिर ठोलियान, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति, पत्र ७०-७१।

तुम ब्राह्मण कैसे हो गये और हम शूद्र कैसे बन गये। हम कैसे खून रह गये और तुम कैसे दूध हो गये।"[1] सुन्दरदासने ब्राह्मण और शूद्रके अन्तरको गाल मारना लिखा है।[2]

जैनोंके महात्मा आनन्दघनके अनुसार राम, रहीम, महादेव, पार्श्वनाथ और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है, वे सब एक अखण्ड आत्माकी खण्ड कल्पनाएँ हैं। जैसे एक ही मृत्तिका भाजन-भेदसे नानारूप धारण करती है, वैसे ही एक आत्मामें अनेक कल्पनाओंका आरोपण किया जाता है। यह जीव जब निज पदमें रमे तब राम, दूसरोंपर रहम करे तब रहीम, करमोंको करशे तब कृष्ण और जब निर्वाण प्राप्त करे तब महादेवकी संज्ञासे अभिहित होता है। अपने शुद्ध आत्मरूपको स्पर्श करनेसे पारस और ब्रह्माण्डकी रचना करनेसे इसको ब्रह्म कहते हैं। इस भाँति यह आत्मा स्वयं चेतनमय और निष्कर्म है।[3]

कबीरदासने भी एक ही मनको गोरख, गोविन्द और औघड़ आदि नामोंसे अभिहित किया है।[4] सन्त सुन्दरदासका कथन तो महात्मा आनन्दघनसे बिलकुल मिलता जुलता है। उनके अनुसार एक ही अखण्ड ब्रह्मकी भेदबुद्धिसे नाना

---

१. तुम कत बाह्मन हम कत सूद।
   हम कत लोहू तुम कत दूध॥

२. काहू सौं बाभन कहै, काहू सों चंडाल।
   सुन्दर ऐसौ भ्रम भयो, यों ही मारै गाल॥
   सन्त सुन्दरदास, स्वरूपविस्मरण कौ अंग, सन्तसुधासार, ५वाँ दोहा, पृ० ६५०।

३. राम कहो रहेमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
   पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥राम०॥१॥
   भाजन भेद कहावत नाना, एक मृत्तिका रूप री।
   तैसें खंड कल्पना रोपित, आप अखंड स्वरूप री॥राम०॥२॥
   निज पद रमे राम सो कहिए, रहिम करे रहेमान री।
   करशे कर्म कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री॥राम०॥३॥
   परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
   इस विध साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निःकर्म री॥राम०॥४॥
   महात्मा आनन्दघन, आनन्दघन पद संग्रह, अध्यात्मज्ञानप्रसारक मण्डल, बम्बई, पद ६७वाँ।

४. कबीर ग्रन्थावली, डॉ० श्यामसुन्दरदास सम्पादित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, मन कौ अंग, १०वीं साखी, पृ० २६।

संज्ञाएँ होती हैं, जैसे एक ही जल वापी तड़ाग और कूपके नामसे, तथा एक ही पावक दीप, चिराग और मसाल आदि नामोंसे पुकारा जाता है।[1] सन्त दादूदयालने एक ही मूलतत्त्वकी 'अलह' और 'राम' दो संज्ञाएँ की है। उन्होंने यहाँतक लिखा है कि जो इनके मूलमें भी भेदकी कल्पना करता है, वह झूठा है।[2]

जैन सन्तोंने निर्मल आत्मामें केन्द्रित हुए मनको ही सर्वोत्तम कहा है। उनकी दृष्टिमें यदि इस जीवको शुद्ध आत्माके दर्शन नहीं होते, तो उपवास, जप, तप, व्रत और दिगम्बर दशा भी व्यर्थ ही है। उन्होंने उस ज्ञानको भी नि.सार कहा है, जिसके द्वारा आत्मदर्शन नहीं हो पाता। आत्मज्ञान ही सच्चा ज्ञान है, यदि वह नहीं तो अन्य सब ज्ञान निरर्थक है। इसी भावको लेकर बनारसीदासने लिखा है,

"भेष में न ज्ञान नहिं ज्ञान गुरु-वर्त्तन में
जंत्र मंत्र तंत्र में न ज्ञान की कहानी है।
ग्रन्थ में न ज्ञान नहीं ज्ञान कवि चातुरी में,
बातनि में ज्ञान नहीं, ज्ञान कहाँ बानी है॥
तातें भेष गुरुता कवित्त ग्रन्थ मंत्र बात,
इन तैं अतीत ज्ञान चेतना निशानी है।
ज्ञान ही में ज्ञान नहीं, ज्ञान और ठौर कहीं
जाके घट ज्ञान सो ही ज्ञान की निदानी है॥[3]"

यशोविजयजी उपाध्यायने भी लिखा है कि संयम, तप, क्रिया आदि सब कुछ शुद्ध चेतनके दर्शनोंके ही लिए किया जाता है, यदि उनसे दर्शन नहीं होता, तो वे सब मिथ्या है। दर्शन तो अन्तरचित्तके भीगे बिना नहीं होता। जबतक अन्तःकी 'लौ' शुद्ध चेतनमें न होगी, ये ऊपरी क्रिया-काण्ड व्यर्थ ही हैं,

---

१. वापी तड़ाग कूप नदी सब है जल एक सौ देषौ निहारी॥
पावक एक प्रकाश बहु विधि दीप चिराक मसालहु बारी।
सुन्दर ब्रह्म विलास अखंडित भेद की बुद्धि सु टारी॥
सुन्दर ग्रन्थावली, स्व० पं० हरनारायण शर्मा सम्पादित, भाग २, ६४६।४।

२. अलह कहो भावै राम कहो, डाल तजौ सब मूल गहो।
अलहू राम कहि कर्म दहौ, झूठे मारग कहा बहो॥
सन्त दादूदयाल, शबद, ४३वाँ पद्य, सन्तसुधासार, पृ० ४४५.

३. कवि बनारसीदास, नाटकसमयसार, स्व० पं० जयचन्द्रजी-द्वारा भाषा-टीका कृत, सरती ग्रन्थमाला, दरियागंज देहली, सर्वविशुद्धि द्वार, ११२वाँ पद्य, पृ० ११३।

"तुम कारन संयम तप किरिया, कहो कहाँ लौं कीजे।
तुम दर्शन बिनु सब या झूठी, अन्तर चित्त न भीजे॥
चेतन अब मोहि दर्शन दीजे॥"[1]

कवि भूधरदासने अन्तरकी उज्ज्वलताको प्रमुख माना है। यदि 'अन्तः' विषय कषायरूपी कीचड़से लिप्त है, तो तीर्थादिक कोई लाभ नहीं दे सकते। बाह्य वेषकी सफलता पवित्र हृदयपर निर्भर है। यदि मन कामादिक वासनाओंसे मलिन है, तो अधिकसे अधिक भजन करनेपर भी लक्ष्य प्राप्त न होगा।[2] कवि द्यानतरायने भी अन्तःकी शुद्धिके बिना प्रत्येक मासमें किये जानेवाले उपवास और कायाको सुखानेवाले तपको व्यर्थ माना है।[3]

यहाँ कबीरदास आदि सन्त भी एकमत है। सन्त रज्जबदासने लिखा है कि यदि हृदय शुद्ध नहीं है, तो भगवान्का पूजा-पाठ भी व्यर्थ है।[4] सन्त सुन्दरदासने 'ज्ञानझूलनाष्टक' में हृदयकी पवित्रताके बिना योग, याग, त्याग, वैराग्य, नाम, ध्यान और ज्ञान आदिको निःसार कहा है।[5] कबीरदासका अभिमत है कि जिसने अपने मनको भगवान्में रँग लिया है, वह ही सच्चा योगी है, कपड़ा रँगवानेसे कोई लाभ नहीं। मनकी शुद्धिके बिना वह कान फड़वाकर और जटा दाढ़ी बढ़ा-

---

१. कवि यशोविजयजी, 'चेतन अब मोहि दर्शन दीजे', अध्यात्मपदावली पृ०, २२४, प० राजकुमार सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

२. जप तप तीरथ जज्ञ व्रतादिक, आगम अर्थ उचरना रे।
विषय कषाय कीच नहिं धोयौ, यों ही पचि पचि मरना रे॥
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई॥
कामादिक मल सौं मन मैला, भजन किये क्या तिरना रे?
भूधर नील बसन पर कैसें, केसर रंग उछरना रे?
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई॥
भूधरविलास, कलकत्ता, ३१वाँ पद, पृ० १७।

३. मास मास उपवास किये तैं, काया बहुत सुखाई।
क्रोध मान छल लोभ न जीत्या, कारज कौन सराई?
तू तो समझ समझ रे भाई॥
द्यानतविलास, कलकत्ता, ३२वाँ पद, पृ० १४।

४. संतो ऐसा यहु आचार
पाप अनेक करैं पूजा में, हिरदै नहीं विचार॥
सन्तसुधासार, सन्त रज्जबजी, ४था पद, पृष्ठ ५१४।

५. सन्तसुधासार, सुन्दरदास, झूलनाष्टक, दूसरा पद्य, पृष्ठ ५६६।

कर बकरा तो हो सकता है, योगी नहीं। जंगलमें जाकर धूनी रमानेसे उसका कामदेव भले ही जल जाये, किन्तु वह योगी न कहलाकर हिजडा ही कहा जायेगा। मनकी शुद्धिके बिना यदि कोई सिर मुँड़ाकर और रंगे हुए कपड़े पहनकर गीता बाँचता है, तो वह लबार ही कहलायेगा,

> "मन न रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
> कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौले।
> दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गइले बकरा॥
> जंगल में जाय जोगी धुनिया रमौले।
> काम जराय जोगी बनि गइले हिजरा॥
> मथवा मुड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले।
> गीता बांचि के होइ गइले लबरा॥[1]"

शुद्ध मनकी भूमिकाके बिना माला फिरानेकी व्यर्थता जैन और अजैन दोनो ही सन्तोंने समझी थी। कवि द्यानतरायका कथन है कि आसन मारकर मनका ले बैठ जानेसे बाहरी दुनियावाले रीझ सकते हैं, किन्तु इस बक-ध्यानसे आत्माका भला नही होगा।

> "कर मनका लै आसन मारयो बाहिज लोक रिझाई।
> कहा भयो बक ध्यान धरे तैं, जो मन थिर न रहाई॥
> तू तो समझ समझ रे भाई॥[2]"

कबीरदासने कोरी माला फिरानेकी निष्प्राणतापर बहुत कुछ लिखा है। 'भेष कौ अंग' का आधेसे अधिक भाग मालाकी निःसारतासे ही युक्त है। काठकी माला फिरानेसे कुछ नही होता, मनकी माला फेरनी चाहिए,

> "माला पहिरे मनमुषी, तार्थें कछू न होइ।
> मन माला कौं फेरता, जुग उजियारा सोइ॥
> कबीर माला काठ की, कहि समझावै तोहि।
> मन फिरावै आपणां, का फिरावै मोहि॥[3]"

मध्ययुगके साधुकी पहचानमें दो बातें मुख्य हैं : जटा बढ़ाना अथवा सिर मुँड़ाना। मोक्ष तक पहुँचनेके सोपानमे यह भी एक सीढ़ी मानी जाती थी। जैन सन्त उदयराज जती (१७वी शती वि० सं०) ने उसका खण्डन करते हुए

---

१. कबीर, सबद, ९५वाँ पद, सन्तसुधासार, पृ० ९८।
२. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ३२वाँ पद, पृ० १४।
३. कबीरग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, काशी, 'भेष कौ अंग', साखी ३, ५, पृ० ४५।

लिखा है, "अन्तःको निर्मल बनानेसे लक्ष्य मिलता है, बाह्य आडम्बरोंसे नहीं। शिव-शिवका उच्चारण करनेसे क्या होता है, यदि काम, क्रोध और छलको नहीं जीता। जटाओंके बढ़ानेसे क्या होता है, यदि पाखण्ड न छोड़ा। सिर मुँड़ानेसे क्या होता है, यदि मन न मुँड़ा। इसी प्रकार घर-बारके छोड़नेसे क्या होता है, यदि वैराग्यकी वास्तविकताको नहीं समझा[1]।" भगवतीदास 'भैया'ने भी अपने अनेक पदोंमें इस सिर मुँड़ानेकी निन्दा की है। उन्होंने एक स्थानपर लिखा है, "निर्मल आत्मामें शुद्ध श्रद्धानके बिना केवल मूँड़ मुँड़ानेसे कुछ नहीं होता। उससे सिद्धि नहीं हो सकती[2]।" उन्होंने यह भी कहा कि यदि सिद्धिके लिए मूँड़ मुँड़ाना ही पर्याप्त है, तो भेड़ोंको तो सबसे पहले तिर जाना चाहिए, क्योंकि उनका सारा शरीर प्रतिवर्ष मूँड़ा जाता है[3]।

भेड़का दृष्टान्त कबीरदासने भी दिया है। उनका कथन है, "यदि मूँड़ मुँडानेसे सिद्धि हो जाती, तो भेड़ तो कभीकी मुक्त हो गयी होती, किन्तु उसे मोक्ष नहीं मिला इसे सभी जानते है[4]।" कबीरका विचार है कि केशोंने क्या बिगाड़ा है, जो उसे सौ-सौ बार मूँड़ा जाता है। मनको क्यों नहीं मूँड़ते, जिसमें विषय-विकार भरा हुआ है[5]। दादूका भी कथन है कि मनको ही मूँड़ना चाहिए, सिरको नहीं, काम-क्रोधको समाप्त करना चाहिए, केशोंको नहीं काटना चाहिए[6]।

---

१. उदयराज जती, गुणबावनी, पहला पद्य, जैन गुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृ० ९७५-७६।

२. नाम मात्र जैनी पै न सरधान शुद्ध कहूं,
मूँड़ के मुँडाये कहा सिद्धि भई बावरे।
भगवतीदास 'भैया', ब्रह्मविलास, बम्बई, फुटकर विषय, ८वाँ पद्य, पृ० २७४।

३. शुद्धि तै मीन पिये पय बालक,
रासभ अंग विभूति लगाये।
राम कहे शुक, ध्यान गहे बक
भेड तिरै पुनि मून्ड मुड़ाये॥
वही, शत अष्टोत्तरी, ११वाँ पद्य, पृष्ठ १०।

४. मूँड़ मुंडायें जो सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुंती कोई॥
कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, काशी, १३२वाँ पद, पृष्ठ १३०।

५. केसौ कहा बिगाड़िया, जे मूंडै सौ बार।
मन कौं काहे न मूँड़िए, जामैं विषय विकार॥
वही, भेष कौ अंग, १२वीं साखी, पृष्ठ ४६।

६. दादू, 'मन कौ अंग', ११वी साखी, सन्त सुधासार, पृष्ठ ४७४।

इस भाँति जैन कवि और कबीर आदि सन्तोंने समानरूपसे तीर्थभ्रमण, चतुर्वर्णी व्यवस्था, माला फिराना और सिर मूँडना आदिका खण्डन किया, किन्तु जैसी अक्खड़ता और मस्ती कबीर आदि सन्तोंमें थी, जैन कवियोंमें नहीं। जैनोंने विधायक दृष्टिको मुख्य माना और कबीरने निषेधात्मकको। इसी कारण उनकी बानियोंमें कड़वाहट अधिक है। इसके अतिरिक्त निर्गुनिए साधु बाह्य पक्षकी दृष्टिसे कोरे थे, किन्तु जैन सन्त कवियोंकी न तो बानी अटपटी थी और न भाषा विशृंखल। उनका भावपक्ष सबल था, तो बाह्य पक्ष भी पुष्ट था।

रहस्यवाद

यदि आत्मा और परमात्माके मिलनकी भावात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है, तो वह उपनिषदोंसे भी पूर्व जैन-परम्परामें उपलब्ध होती है। यजुर्वेदमें ऋषभ-देव और अजितनाथको गूढ़वादी कहा गया है। प्रो० आर० डी० रानाडेने अपनी पुस्तक 'मिस्टीसिज्म इन महाराष्ट्र' में लिखा है कि जैनोंके आदि तीर्थंकर ऋषभ-देवने अपनी शुद्ध आत्माका साक्षात्कार कर लिया था और वे एक भिन्न ही प्रकारके गूढ़वादी पुरुष थे।[1] डॉ० ए० एन० उपाध्येने भी 'परमात्मप्रकाश' की भूमिकामें ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरोंको गूढ़वादी कहा है।[2]

अपभ्रंश साहित्यकी 'परमात्मप्रकाश', 'पाहुड़दोहा' और 'सावयधम्म दोहा' नामकी प्रसिद्ध कृतियाँ रहस्यवादी कही जाती हैं। डॉ० हीरालाल जैनने उनपर आचार्य कुन्दकुन्दके 'भावपाहुड़' का प्रभाव स्वीकार किया है।[3] अर्थात् उन्होंने लिखित रूपमें जैन रहस्यवादका प्रारम्भ वि० सं० की पहली शतीसे माना है। 'भावपाहुड'से प्रभावित होनेपर भी अपभ्रंशकी कृतियोंमें योगात्मक रहस्यवाद-का स्वर प्रबल है, जब कि 'भावपाहुड़' में भावात्मक अभिव्यक्तिकी प्रमुखता है। मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य दोनों ही से प्रभावित है, किन्तु उसमें भावात्मकता अधिक है और तन्त्रात्मकता कम। यद्यपि उसमें तन्त्रवादियोंके शब्द और प्रयोग मिलते है, किन्तु अपभ्रंशकी अपेक्षा बहुत कम। चाहे अपभ्रंश हो या हिन्दी, जैन

---

1. R. D. Ranade, Myrticirm in Maharashtra, Aryabhushan Pressoffice, shanwar Peth, Poona 2, Page—9,
2. Parmatma Prakasa and yogasara, dr. A. N. upobhye edited, Parama-sruta-Prabhavaka-Mandala, Bombay, 1937, introduction, P. 39.
३. पाहुड़दोहा, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा, १९३३ ई०, भूमिका, डॉ० हीरालाल लिखित, पृ० १९।

कृतियोंके तन्त्रात्मक रहस्यवादमें गुह्य समाजकी विकृति नही आ पायी है।

जैन हिन्दी कवि और कबीर आदि सन्तोंके रहस्यवादमें अन्तर यह है कि जैन रहस्यवादियोंकी आत्मा अनुभूतिके द्वारा ब्रह्ममें लीन नहीं होती, क्योंकि वह ब्रह्मका एक खण्ड अंश नही है।[1] वह स्वयं ब्रह्म हो जाती है, जब कि कबीरकी आत्माको एक अंश होनेके कारण, ब्रह्मरूप अंशीमें मिल जाना होता है। यद्यपि दोनोंका ब्रह्म घटमे विराजमान है, किन्तु एकका ब्रह्म जीवात्माका ही शुद्ध रूप है, जब कि दूसरेका जीवात्मासे भिन्न तत्त्व।

यहाँ प्रश्न यह है कि आत्मा ही 'अनुभूत तत्त्व' और 'अनुभूति कर्त्ता' दोनों कैसे हो सकती है। इसका उत्तर जैन आचार्योंके द्वारा निरूपित आत्माके तीन भेदोमे उपलब्ध होता है।[2] 'बहिरातमा' वह है, जो ब्रह्मके स्वरूपको नही देख सकता, पर द्रव्यमे लीन रहता है और मिथ्यावन्त है। 'अन्तरातमा'में ब्रह्मको देखनेकी शक्ति तो उत्पन्न हो जाती है, किन्तु वह स्वयं पूर्ण शुद्ध नही होता। 'परमातमा' आत्माका वह रूप है, जिसमे शुद्ध स्वभाव प्रकट हो गया है, और जिसमे सब लोकालोक झलक उठे है।[3] रहस्यवादमे आत्माके दो ही रूप काम करते हैं : एक तो वह, जो अभी परमात्मपदको प्राप्त नही कर सका है और दूसरा वह, जो परमात्मा कहलाता है। पहलेमे 'बहिरातमा' और 'अन्तरातमा' शामिल है और दूसरेमे केवल 'परमातमा'। पहला 'अनुभूतिकर्त्ता' है और दूसरा 'अनुभूति तत्त्व'।

कबीरने ब्रह्मके सौन्दर्यको केवल घटके भीतर तक ही सीमित रखा है, जब कि जैन कवियोंके ब्रह्मके सौन्दर्यसे प्रकृतिका कण-कण प्रकाशित हो रहा है। जायसी-

---

१. मिलाइए, "जैनधर्ममें आध्यात्मिक-अनुभवसे मतलब एक विभक्त आत्माका एकत्वमे मिल जाना नहीं है, किन्तु उसका सीमित व्यक्तित्व उसके सम्भावित परमात्मका अनुभवन करता है।"
परमात्मप्रकाश, Introduction, हिन्दी अनुवाद, पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री कृत, पृ० १०५।

२. बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥
आचार्य पूज्यपाद, समाधितन्त्र, वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, ४था श्लोक।

३. बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥
वही, पाँचवाँ श्लोक।

का ब्रह्म भी ऐसा ही है। जायसी और जैन कवियोके ब्रह्मके आराधकोंने 'प्रेमके प्याले' खूब पिये है। कवि भूधरदासने सच्चा 'अमली' उसीको माना है, जिसने प्रेमका प्याला पिया है,

"गांजारु भांग अफीम है, दारू शराबा पोशना।
प्याला न पीया प्रेम का, अमली हुआ तो क्या हुआ॥[१]"

महात्मा आनन्दघनने लिखा है कि प्रेमके प्यालेको पीकर मतवाला हुआ चेतन ही परमात्माकी सुगन्धि ले पाता है, और फिर ऐसा खेल खेलता है कि सारा संसार तमाशा देखता है। यह प्याला ब्रह्मरूपी अग्निपर तैयार किया जाता है, जो तनकी भट्टीमें प्रज्वलित हुई है, और जिसमें-से अनुभवकी लालिमा सदैव फूटती रहती है,

"मनसा प्याला प्रेम मसाला, ब्रह्म अग्नि पर जाली।
तन माटी अवटाई पिये कस, जागे अनुभव लाली॥
अगम प्याला पीयो मतवाला चिन्ही अध्यातम वासा।
आनन्दघन चेतन ह्वै खेले, देखे लोक तमासा॥[२]"

जायसीके प्यालेमे बेहोशी अधिक है। एक प्याला पीकर ही इतना नशा आता है कि होश नही रहता। जैनके प्यालेमें मस्ती अधिक है, बेहोशी कम, इसी कारण वे सामने खड़े प्रेमास्पदको देख सकनेमे भी समर्थ ही पाते है। रत्नसैन तो प्रेमकी बेहोशीमें पद्मावतीको पहचानना तो दूर रहा, देख भी न सका, किन्तु उसने शून्य दृष्टिके मार्गसे ही प्राणोंको समर्पित कर दिया।

"जोगी दृष्टि दृष्टि सों लीना,
नैन रोपि नैनहिं जिउ दीन्हा।
जाहि मद चढ़ा परातेहि पाले,
सुधि न रही ओहि एक प्याले॥[३]"

'प्रेमका तीर' तो ऐसा पैना है कि वह जिसके लगा—चाहे वह जैन हो या अन्य सन्त, जहाँका तहाँ रह गया। महात्मा आनन्दघनकी दृष्टिमे, "कहा दिखावूं और कूं, कहा समझाऊँ भोर। तीर अचूक है प्रेम का लागे सो रहे ठौर[४]।" कबीरने भी लिखा है, "सारा बहुत पुकारिया, पीड़ पुकारै और। लागी चोट

१. भूधरदास, भूधरविलास, कलकत्ता, ५०वी गजल, पृ० २८।
२. आनन्दघनपदसंग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, २८वाँ पद।
३. जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, तृतीय सस्करण, वि० स० २००३, वसन्त खण्ड, १२वी चौपाई, पृ० ८४।
४. आनन्दघनपदसंग्रह, ४था पद, पृ० ७।

सबद की, रह्या कबीरा ठौर ॥''[1] जायसीने प्रेम-बाणके घावको अत्यधिक दुःखदायी माना है। जिसके लगता है, वह न तो मर ही पाता है और न जीवित ही रहता है। बडी बेचैनी सहता है।[2]

परमात्माके विरहमे 'खिलवाड़' नही आ सकती, किन्तु फिर भी निर्गुनिए सन्तोकी अपेक्षा जैन कवियोमे संवेदनात्मक अनुभूति अधिक है। कबीरके 'विरह भुजंगम पैसि कर किया कलेजे घाव, साधु अंग न मोड़ही, ज्यो भावै त्यो खाय।[3]' से आनन्दघनका 'पीया बीन सुध बुध खूंदी हो, विरह भुअंग निशासमे, मेरी सेजडी खूदो हो।'[4] अधिक हृदयके समीप है। इसी भाँति कबीरके 'जैसे जल बिन मीन तलफै, ऐसे हरि बिनु मेरा जिया कलपै।'[5] से बनारसीदासके 'मै विरहिन पिय के आधीन, यो तलफो ज्यो जल बिन मीन।[6]' मे अधिक सबलता है।

जैन और अजैन सन्त

अधिकाशतया अजैन सन्त निम्नवर्गमे उत्पन्न हुए थे, जब कि जैन सन्तोका जन्म और पालन-पोषण उच्च कुलमे हुआ था। अतः जैन सन्तोके द्वारा जाति-पाँतिके खण्डनमे अधिक स्वाभाविकता थी। उन्होने जन्मतः उच्चगोत्र पाकर भी समताका उपदेश दिया, यह उस समयके उच्चकुलीन 'अहं'के प्रति एक प्रबल चुनौती थी। जैन सन्त पढ़े-लिखे थे, उन्होने जैन साहित्यका विधिवत् अध्ययन किया था, किन्तु निर्भीकता दोनोंमे समान थी।

अजैन सन्त आजीविकाके लिए कुछ-न-कुछ उद्योग अवश्य करते थे, किन्तु अपभ्रंशके जैन सन्त मुनि या साधु थे। जैन हिन्दीका सन्त-साहित्य रचनेवालोंमे बनारसीदास, द्यानतराय, भूधरदास, भगवतीदास प्रभृति व्यापारादिका कार्य करते थे, किन्तु कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने मुनिपद धारण किया था। उनमे 'सूरि', 'उपाध्याय' और 'भट्टारक' अधिक थे। मुनि विनयचन्द, भट्टारक शुभचन्द, यशोविजय उपाध्याय, महात्मा आनन्दघन और मुनि ब्रह्मगुलाल प्रमुख थे।

---

१. कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, सबद कौ अंग, ८वाँ दोहा, पृ० ६४।

२. प्रेमघाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै तै सोई ॥
कठिन मरन तें प्रेम बेवस्था। ना जिउ जियै, न दसवँ अवस्था ॥
जायसी ग्रन्थावली, प्रेमखण्ड, पहली चौपाई, पृ० ४६।

३. कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, विरह कौ अग, १६वी साखी, पृ० ६।

४. आनन्दघनपदसंग्रह, ६२वाँ पद, प्रथम दो पंक्तियाँ।

५. सन्तसुधासार, कबीरदास, 'सबद' ३८वाँ पद, पृ० ७६।

६. बनारसीविलास, अध्यात्मगीत, तीसरा पद्य, पृ० १५६।

अजैन सन्त उनमें एक लम्बा-सा झगूला और सिरपर पल्लेदार टोपी पहनते थे, जब कि जैन सन्तोंको वेष-भूषा अपनी ही पूर्व परम्पराके अनुकूल थी। सन्त आनन्दघनके विषयमें यह निश्चय हो गया है कि वे झंगूला नहीं पहनते थे[1], अपितु उनकी वेष-भूषा जैन साधुकी थी।[2]

२. जैन आराधना और सगुण भक्ति

सूर और तुलसी सगुण ब्रह्मके भक्त थे। सगुण ब्रह्म वह है, जिसने पृथ्वी-पर अवतार लिया है, जिसमें रूप-रेखा है, जो व्यक्त और स्पष्ट है। जैन कवियोंने अपनी उपासनाके पुष्प अर्हन्तके चरणोंमें अर्पित किये हैं। अर्हन्त वे हैं, जिन्होंने पहले तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया हो, किन्तु फिर भी उनको अवतार नहीं कहा जा सकता। वे तप और ध्यानके द्वारा भयंकर परीषहोंको सहते हुए चार घातिया कर्मोंको जला पाते हैं, तब कहीं अर्हन्त कहलानेके अधिकारी होते हैं। अर्थात् ब्रह्म पहले ही से भगवान् है, किन्तु अर्हन्त स्वपौरुषसे भगवान् बनते हैं। इसके अतिरिक्त सगुण ब्रह्म विश्वके कर्ता है, जब कि अर्हन्तमें केवल प्रेरणाजन्य कर्तृत्व ही पाया जाता है[3]। किन्तु साकारता, व्यक्तता और स्पष्टता-की दृष्टिसे दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। अतः जैन भक्तिक्षेत्रमें अर्हन्त सगुण ब्रह्मके रूपमें ही पूजे जाते हैं।

अर्हन्तमें साकारता इसलिए है कि आयुकर्म क्षीण होने तक उनका शरीर अवशिष्ट है। सिद्ध, आयुकर्मके नष्ट हो जानेसे, शरीरको त्याग कर, शुद्ध आत्म-रूपमें सिद्धशिलापर विराजते हैं, अत. वे निराकार हैं[4]। सिद्धने आठों कर्मोंका क्षय कर लिया है, जब कि अर्हन्तको चार अघातिया कर्म नष्ट करने हैं। सिद्ध अर्हन्तसे बड़े हैं, किन्तु जैनोंके प्रसिद्ध मन्त्र 'णमो अरिहन्ताण' में पहले अर्हन्तोंको

१. आचार्य क्षितिमोहनसेनने 'जैनमरमी आनन्दघनका काव्य' नामके निबन्धमें लिखा था, "यह भी जान पड़ता है कि वे साधुवेश त्याग करके मरमी भक्तोंके समान दीर्घ अंगावरण पहना करते थे।"
देखिए, वीणा, १९३८ ई०, नवम्बर, अंक १, पृ० ८।

२. एक यति ज्ञानसागर हुए हैं, जिन्होंने आनन्दघन बहत्तरीकी टीका लिखी थी। उनके अनुसार महात्मा आनन्दघन जैन साधुकी वेश-भूषामें ही रहते थे।

३. जैन भक्ति-काव्यकी पृष्ठभूमि, प्रथम अध्याय,

४. "निष्कलः पञ्चविधशरीररहितः।"
परमात्मप्रकाश, १।२५, ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीका, पृष्ठ ३२।

ही नमस्कार किया गया है, क्योंकि वे समवशरणमें विराजकर अपनी दिव्य वाणीसे जनताका उपकार करते है[1]। इस भाँति स्पष्ट है कि लोकके मध्य उन्हीं-की प्रतिष्ठा अधिक है।

जैन हिन्दी कवियोंने अर्हन्तके प्रति अनुरागमूलक भक्तिका पद-पदपर परिचय दिया है। यहाँतक कि उन्होंने भव-भवमे भक्तिकी ही याचना की। भक्तके लिए भक्ति ही उत्कृष्ट फल है। उपाध्याय जयसागर (१५वी शती) ने 'चतुर्विशति जिनस्तुति' मे भगवान् महावीरसे प्रार्थना की है, "करि पसाउ मुझ तिम किमई, महावीर जिणराय। इणि भवि अहवा अन्न भवि, जिम सेवउं तु पाय[2]।" कवि जयलाल (१६वी शती) ने तीर्थंकर विमलनाथकी स्तुतिमे लिखा है, "तुम दरसन मन हरषा, चंदा जेम चकोरा जी। राजरिधि मागउ नहीं, भवि भवि दरसन तोरा जी[3]।" भूधरदास भगवान्को देखकर ऐसे विमुग्ध हुए कि भव-भवमें भक्तिकी ही याच्ञा की :

> "मरि नयन निरखे नाथ तुम को और वांछा ना रही।
> मन ठठ मनोरथ भये पूरन रंक मानो निधि लही॥
> अब होउ भव-भव भक्ति तुम्हरी, कृपा ऐसी कीजिये।
> कर जोरि भूधरदास विनवै, यही वर मोहि दीजिये॥[4]"

जैन कवियोकी 'और वांछा ना रही' वाली बात सूरदास और तुलसीदासमे भी पायी जाती है। तुलसीदासने 'विनयपत्रिका' मे लिखा है, "चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि, सिधि विपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग राम-पद बढ़ै, अनुदिन अधिकाई[5]॥" सूरदासने अपनी स्वाभाविक गरिमाके साथ ही कहा,

---

१. "असत्यर्हत्याप्तागमपदार्थावगमो न भवेदस्मदादीनां, संजातश्चैतत् प्रसादा-दित्युपकारापेक्षया वादौ अर्हन्नमस्कार. क्रियते।"
भगवत् पुष्पदन्त भूतबलि, षट्खण्डागम, वीरसेनाचार्यकी टीकासहित, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, अमरावती, वि० सं० १९९६, पृष्ठ ५३-५४।

२. जैन गुर्जरकविओ, तीजो भाग, पृष्ठ १४७६।

३. मुनि जयलाल, विमलनाथ स्तवन, १३वाँ पद्य, श्री कामताप्रसाद जैनके संग्रहकी हस्तलिखित प्रति।

४. भूधरदास, दर्शन स्तुति, चौथा पद्य, बृहज्जिनवाणी संग्रह, पं० पन्नालाल वाकलीवाल सम्पादित, सम्राट् संस्करण, मदनगंज, किशनगढ़, सन् १९५६ ई०, पृ० ४०।

५. गोस्वामी तुलसीदास, विनयपत्रिका, वियोगीहरि सम्पादित, वि० सं० २००७, पूर्वार्ध, पद १०३, पृष्ठ १९५।

"अपनी भक्ति देहु भगवान् ।
कोटि लालच जो दिखावहु, नाहि नैं रुचि आन ॥"[1]

भक्तिसे मुक्ति

जैनधर्मका मूलाधार है मुक्ति । जैनोंके आराध्य वे परमात्मा हैं, जिन्होंने 'कर्ममलीमस' को दूर कर मुक्ति प्राप्त कर ली है । कर्मोंसे पूर्णतया छुटकारा पा लेना ही मुक्ति है[2] । जैन सिद्धान्तमें यह मुक्ति ज्ञानके द्वारा प्राप्तव्य मानी गयी है । हिन्दीके जैन भक्त-कवियोंने अपने भगवान्से मुक्तिकी भी याचना की है । अर्थात् उन्हें भक्तिसे मुक्ति मिलनेका पूर्ण विश्वास है । इसे लेन-देनका भाव नहीं कह सकते[3], क्योंकि जिनेन्द्र मुक्तिरूप ही है । कर्मोंसे मुक्त हुई आत्मा जिनेन्द्र है और वह ही मुक्ति है । अतः मुक्तिकी याचनामें भक्तके जिनेन्द्रमय होनेका भाव है । भक्त सदैव अपने आराध्यकी इस महिमासे अनुप्राणित होता रहा है । जब द्यानतरायने यह कहा कि, "जो तुम मोख देत नहिं हमको, कहा जायं किहिं डेरा[4]", तो उसमें भी अपने भगवान्की महिमाकी ही बात है । तुलसीने भी, "रघुपति-भक्ति सत-संगति बिनु, को भव त्रास नसावै[5] ।" में रामकी महिमाका ही वर्णन किया है ।

कवि बनारसीदासने तो यहाँतक लिखा कि भगवान् जिनेन्द्रसे मुक्तिकी याचनाकी आवश्यकता नहीं है, उनके चरणोंका स्पर्श करनेसे वह तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है, "जगत मे सो देवन को देव । जासु चरन परसे इन्द्रादिक, होय मुकति स्वयमेव[6] ॥" इसीसे मिलता-जुलता सूरदासका कथन है, जिसमें उन्होंने कृष्णके भजनसे ही भव-जलनिधिको पार उतरना लिखा है, "सूरदास व्रत यहै कृष्ण भजि भवजलनिधि उतरत[7] ।"

---

१. सूरदास, सूरसागर, प्रथम खण्ड, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी सम्पादित, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस, द्वितीय संस्करण, वि० सं० २००६, प्रथम स्कन्ध, १०६वाँ पद, पृ० ३४ ।

२. "बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्न-कर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" तत्त्वार्थसूत्र, १०।२ ।

३. प० रामचन्द्र शुक्लने इसको लेन-देनका भाव कहा है । देखिए चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० २०५ ।

४. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ५वाँ पद, पृष्ठ ३ ।

५. विनयपत्रिका, वियोगी हरि सम्पादित, षष्ठ संस्करण, बनारस, पूर्वार्ध १२१वाँ पद, पृ० २२५ ।

६. बनारसीदास, अध्यात्मपद पंक्ति, १५वाँ पद, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २३२ ।

७. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ५५वाँ पद, पृ० १६ ।

भक्तिसे ज्ञान

जैन और वैष्णव दोनों हो भक्त कवियोंने ज्ञानकी अनिवार्यता स्वीकार की है। तुलसीने लिखा है कि ज्ञानके बिना इस संसाररूपी समुद्रको कोई पार नहीं कर सकता,

> बिनु विवेक संसार घोर निधि,
> पार न पावै कोई।[1]

कवि बनारसीदासने भी ज्ञानके बलपर ही संसारसे तरनेकी बात कही है,

> बनारसीदास जिन उकति अमृत रस,
> सोई ज्ञान सुनै तू अनंत भव तरिहै।[2]

तुलसीदासने "रघुपति भक्ति-वारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै"[3] के द्वारा, रघुपतिके भक्तिरूपी जलसे पवित्र हुए चित्तमे, बिना प्रयासके ही, ज्ञानके उत्पन्न होनेकी बात लिखी है। सूरदासने भी, "सूर स्याम-पद-नख प्रकास बिनु, क्यों करि तिमिर नसावै"[4] में भगवत्कृपासे ही अज्ञानान्धकारका दूर होना स्वीकार किया है। जैन कवियोंका भक्तिसे ज्ञानकी उत्पत्तिमे सतत विश्वास रहा है। कवि बनारसीदासने 'नाटक समयसार' मे लिखा है कि भगवान् जिनेन्द्रके यशका वर्णन करनेसे ज्ञानका प्रकाश छिटक जाता है और मलिन बुद्धि निर्मल हो जाती है,

> "जाकौ जस जपत प्रकास जगै हिरदै मैं,
> सोइ सुद्धमति होइ हुती जु मलिन सो।[5]"

द्यानतरायने भी, "सर्व चिन्ता गई बुद्धि निर्मल भई, जबहि चित्त जुगल चरननि लगायो।"[6] के द्वारा भगवान्के चरणोमे चित्त लगानेसे बुद्धिका निर्मल होना लिखा है।

इस विषयको लेकर जैन और वैष्णव कवियोमें एक अन्तर भी है। जहाँ तुलसी और सूरने केवल भक्तिसे ही ज्ञानका प्राप्त होना लिखा है, वहाँ जैन

---

१. विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, बनारस, ११५वाँ पद, पृ० २१४।

२. ज्ञानबावनी, २०वाँ पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० ७६।

३. विनयपत्रिका, पूर्वार्द्ध, १२४वाँ पद, पृ० २३०।

४. सूरसागर, प्रथम खण्ड, प्रथम स्कन्ध, ४८वाँ पद, पृ० १७।

५. नाटक समयसार, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९८६, १।१२, पृ० ४६८।

६. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ११वाँ पद, पृ० ५।

कवियोंने भक्तिके साथ-साथ स्वानुप्रयासको भी महत्ता प्रदान की है। कवि बनारसी-दासका कथन है कि यह जीव अपने निजी प्रयाससे ही ज्ञानको प्राप्त करता है और खोता है,

"आपु समारि लखै अपनो पद,
आपु विसारि कै आपुहि मोहै।
व्यापक रूप यहै घट अंतर,
ग्यान में कौन अज्ञान में को है ॥[1]"

माया अज्ञानकी प्रतीक है। उसके विषयमे भी यही बात है। तुलसीदासने, "माधव असि तुम्हारि यह माया, करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।"[2] मे रघुपतिकी दयाके बिना मायाका दूर होना असम्भव माना है। जैन कवि भूधरदासने भी भगवन्त-भजनसे ही मोह-पिशाचका नाश होना स्वीकार किया है,

"मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निज कर कंध वसूला रे।
भज श्री राजमतीवर भूधर, दो दुरमति सिर धूला रे॥
भगवंत भजन क्यों भूला रे॥[3]"

किन्तु अनेक स्थानोंपर जैन कवियोंने यह भी स्वीकार किया है कि माया न तो भगवान्‌की भेजी हुई है और न भगवान्‌की कृपासे दूर ही हो सकती है। इसे तो मनुष्य मोहनीयकर्मका नाश करके ही जीत पाता है। बनारसीदासकी दृष्टिमे मायारूपी बेलिको उखाडनेमे केवल ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। उन्होंने आत्माको योद्धा कहते हुए लिखा है,

"माया बेली जेती तेती रेतें में धारेती सेती,
फंदा ही को कंदा खोदे खेती को सो जोधा है।[4]"

जैन कवि भगवतीदास 'भैया' का कथन है कि कायारूपी नगरीमे चिदानन्द-रूपी राजा राज्य करता है। वह मायारूपी रानीमे मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थकी ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और मायाकी विभोरता दूर हो गयी,

---

१. नाटक समयसार, ६।१३, पृ० २८१।
२. विनयपत्रिका, पूर्वार्द्ध, ११६वाँ पद, २१६।
३. भूधरविलास, कलकत्ता, १९वाँ पद, पृ० ११।
४. नाटकसमयसार, दिल्ली, मोक्षद्वार, तीसरा पद्य, पृ० ८१।

"काया सी जु नगरी में चिदानन्द राज करै
माया सी जु रानी पै मगन बहु भयो है।
ऐसी राजधानी में अपने गुण भूलि रह्यो,
सुधि जब आई तबै ज्ञान आप गह्यो है ॥[1]"

आराध्यकी अन्य देवोंसे महत्ता

अन्य देवोंसे अपने आराध्यको बड़ा बतानेका भाव एकेश्वरवादकी भावनासे अनुप्राणित है। कबीरकी दृष्टिमें बहुदेववादी उस व्यभिचारिणी स्त्रीके समान है, जो अपने पतिको छोड़कर जारोंपर आसक्त रहती है।[2] चरनदासका कथन है कि चाहे सिर टूटकर पृथ्वीपर लोटने लगे, किन्तु रामके सिवा किसी अन्य देवताके समक्ष न झुके।[3]

वैष्णव और जैन दोनों ही कवियोंने अपने आलम्बनके अतिरिक्त किसी और-की भक्ति नहीं की। उनकी दृष्टिमें अन्य देव स्वयं भिखारी है, फिर वे दूसरोंकी याचना कैसे पूरी कर सकते है। सूरदासने अन्य देवोंसे भिक्षा माँगनेको रसनाका व्यर्थ प्रयास कहा है।[4] जैन कवि भूधरदासने भी, "भूधर पद दालिद क्यों दलिहैं, जो है आप भिखारी"[5] कहकर उसीका समर्थन किया है। तुलसीदासने लिखा है कि अन्यदेव मायासे विवश है, उनकी शरणमें जाना व्यर्थ है।[6] भगवतीदास 'भैया' का भी कथन है कि और सब देव रागी द्वेषी है, उनकी सेवा करनेसे पाप

---

१. भगवतीदास 'भैया' ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९२६ ई० शत अष्टोत्तरी, २८वाँ सवैया, पृ० १४।

२. नारि कहावे पीव की, रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै, खसम खुशी क्या होय ॥
सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृ० १८।

३. यह सिर नवे त राम कूं, नाही गिरयो टूट।
आन देव नाहि परसिए, यह तन जायो छूट ॥
वही, पृ० १४७।

४. 'जाँचक पै जाँचक कह जाँचै ? जौ जाँचै तौ रसना हारी ॥"
सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३४वाँ पद, पृ० १२।

५. भूधर विलास, कलकत्ता, ५३वाँ पद, पृ० ३०।

६ देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुनपौ हारे ॥
बिनयपत्रिका, पूर्वार्द्ध, १०१वाँ पद, पृ० १९२।

कैसे कट सकते हैं ?[1] तुलसीदासने अन्य देवोंको स्वार्थी कहा है, वे शरणागतकी रक्षा करनेमे भी असमर्थ हैं ।[2] द्यानतरायने तीनों भवनोंमें जिनेन्द्रके समान अन्य कोई सामर्थ्यवान् देव नहीं देखा । केवल जिनेन्द्र ही 'भव-जीवनि' को तारनेमें समर्थ हैं ।[3]

इस भाँति जैन और वैष्णव दोनों ही ने अपने-अपने आराध्यको अन्य देवोंसे बड़ा माना है । यद्यपि इससे भक्तकी एक निष्ठा प्रकट होती है, किन्तु अन्य देवोंके प्रति कड़वाहटका भाव किसी भाँति सराहनीय नहीं कहा जा सकता । इस विषयमें वैष्णव और जैन दोनों ही कवियोंने शालीनताका उल्लघन किया है । सूरदासने अपने आराध्यको कामधेनु और दूसरोंको अजा कहा, वहाँतक तो ठीक है, किन्तु जब उन्होंने 'हय गयंद उतरि कहा गर्दभ चढि धाऊँ' कहा, तो स्पष्ट ही मर्यादाका उल्लंघन था ।[4] इसी भाँति भूधरदासने जबतक जिनेन्द्रकी वाणीको केतकीका फूल और दूसरोंकी वाणीको कनेरका पुष्प तथा एकको गाय-दूध और दूसरोंको आक-दूध कहा, वहाँतकके ठीक था, किन्तु जब उन्होंने एकको कोयलकी टेर और दूसरीको काग-वांणी कहा,[5] तो स्पष्ट रूपेण शालीनताकी सीमाका अतिक्रमण किया ।

---

१. रागी द्वेषी देख देव ताकी नित करै सेव,
ऐसो है अबेव ताको कैसें पाप खपनो ॥
भगवतीदास 'भैया', जिनधर्म पचीसिका, १९वाँ कवित्त, ब्रह्मविलास, पृ० २१५ ।

२. और देवन की कहा कहौं, स्वारथहि के मीत ।
कबहुँ काहु न राखि लियो, कोउ सरन गयउ सभीत ॥
विनयपत्रिका, उत्तरार्द्ध, २१६वाँ पद, पृ० ४२४ ।

३. तुम समान कोउ देव न देख्या, तीन भवन छानी ।
आप तरे भव जीवनि तारे ममता नहिं आनी ॥
द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, २८वाँ पद, पृ० १२ ।

४. कामधेनु छांडि कहा अजा लै दुहाऊँ,
हय गयंद उतरि कहा गर्दभ चढि धाऊँ ॥
सूरसागर, प्रथम खण्ड, काशी, १६६वाँ पद, पृ० ५४ ।

५. कैसे करि केतकी कनेर एक कही जाय,
आक दूध गाय दूध अन्तर घनेर है ।
पीरी होत री री पै न रीस करै कंचन की,
कहाँ काग वांणी कहाँ कोयल की टेर है ॥
भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, १६वाँ कवित्त, पृ० ५ ।

अनन्य भक्ति तो वह ही है, जब भक्तको अपने आराध्यके सिवा अन्य किसी ओर देखनेका एक क्षण भी न मिले। किसी अन्यदेवको बुरा कहनेसे इतना तो प्रकट ही है कि ध्यान उधर गया। अनन्य भक्तिमे तो मनको आलम्बनपर केन्द्रित करनेका भाव है। तुलसीने प्रतिज्ञा की कि–कान रामके अतिरिक्त और किसीकी कथा नही सुनेंगे, रसना और किसीके गीत नही गायेगी, नेत्र और किसीको नही देखेंगे तथा सिर किसी अन्यके समक्ष नही झुकेगा।[1] कवि द्यानतरायका कथन है कि—चरन वे ही हैं, जो जिन-भवन पहुँचते है, जिह्वा वह ही है, जो जिन नाम गाती है। आँख वह ही है, जो जिनराजको देखती है और श्रवण वे ही हैं, जो जिन वचन सुनते है।[2] कहनेका तात्पर्य है कि ये कवि जब युगसे ऊपर उठ गये है, तो उन्हे अपने देवके अतिरिक्त अन्यके अस्तित्वका भी आभास नहीं हुआ। उनकी सात्त्विकताका यह पृष्ठ ही वास्तविक है।

दीनता और स्वदोषोंका उल्लेख

भक्तिमें आलम्बनके महत्त्व और अपने दैन्यका अनुभव परम आवश्यक अंग है। आराध्यकी महत्ताके अनुभवके साथ ही अपनी दीनताका आभास हुए बिना नहीं रहता। किन्तु भक्तकी दीनता किसी चाटुकारी भावसे संचालित नही होती, क्योंकि उसमे आराध्यमय हो जानेकी आकांक्षाके अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा अवशिष्ट नही रह जाती है। अतः दरबारी कवियोंकी दीनता और भक्त कवियोंकी दीनतामे अन्तर है। तुलसीकी दीनता जगप्रसिद्ध है। कहीं तो उन्होंने लिखा

---

१. जानकी-जीवन को बलि जैहौं!
चित कहै, रामसीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौ ॥
स्रवननि और कथा नहि सुनिहौ, रसना और न गैहौ।
रोकिहौं नैन बिलोकत औरहि सीस ईस ही नैहौ ॥
विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, १०४वाँ पद, पृ०१६६।

२. रे जिय! जनम लाहो लेह ॥
चरन ते जिन भवन पहुँचें, दान दे कर जेह।
उर सोई जामै दया है, अरु रुधिर को गेह।
जीभ सो जिन नाम गावै साँच सो करै नेह।
आँख ते जिनराज देखैं, और आँखें खेह।
श्रवन ते जिन बचन सुनि, शुभ तप तपै सो देह। रे जिय० ॥
द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ९वाँ पद, पृ० ४।

है, "तुम सम दीनबन्धु न दीन कोउ मों सम सुनहु नृपति रघुराई।[1]" कहीं लिखा है, "दीनबन्धु दूसरो कहँ पावौं",[2] और कही उन्हे "बिनु कारन पर उपगारी, अति कोमल करुना निधान, दीन हितकारी" रामके अतिरिक्त अन्य कोई उपलब्ध नही हुआ।[3] सूरदासके विनयके पदोमे दीनता बिखरी पडी है। उन्होने भी लिखा है,

"अब धौं कहौ, कौन दर जाऊं ?
तुम जगपाल, चतुर चिंतामनि, दीनबंधु सुनि नाउं ॥[4]"

जैन कवियोके भाव भी इनसे मिलते-जुलते हैं। कवि द्यानतरायने अपने मनको दीनदयालु भगवान् जिनेन्द्रका भजन करनेके लिए निरन्तर प्रेरित किया है। भूधरदासको भी भगवान्के दीनदयालु रूपमे परम विश्वास है। उन्होने संसारी दशासे दुःखित होकर दीनदयालु भगवान्को पुकारा है,

"अहो जगत गुरु एक, सुनियो अरज हमारी।
तुम हो दीनदयालु, मैं दुखिया संसारी ॥[5]"

दीनताके साथ ही भक्तने अपने दोषोंका भी खुलकर उल्लेख किया है। उसे भगवान्की उदारतासे पूर्ण विश्वास है। भगवान् दयालु है, वह अपने भक्तको, दोषोंके होते हुए भी भवसमुद्रसे पार लगा देता है। तुलसीने 'विनयपत्रिका'मे लिखा है,

"माधव मो समान जग नाहीं।
सब बिधि हीन, मलीन, दीन अति, लीन विषय कोउ नाहीं ॥
तुम सम हेतु-रहित कृपालु आरत-हित ईस न त्यागी।
मैं दुख-सोक-बिकल, कृपालु केहि कारन दया न लागी ॥[6]"

जैन कवि भगवतीदास 'भैया' ने 'चेतन' के दोषो को प्रकट करते हुए, उसे भगवान्का भजन करनेकी बात कही है। उन्हे विश्वास है कि भगवान्की कृपासे दोष पलायन कर जायेगे,

---

१. विनयपत्रिका, उत्तरार्ध, २४२वाँ पद, पृ० ४७५।
२. २३२वाँ पद, पृ० ४५५।
३. वही, १६६वाँ पद, पृ० ३२१।
४. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १६५वाँ पद, पृ० ५४।
५. भूधरदास, जिनस्तुति, ज्ञानपीठ पूजाञ्जलि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, छठा खण्ड, पहला पद्य, पृ० ५२२।
६. विनयपत्रिका, पूर्वार्द्ध, १४४वाँ पद, पृ० २१३।

"भगवंत भजो सु तजो परमाद,
समाधि के संग में रंग रहो।
अहो चेतन त्याग पराइ सुबुद्धि,
गहो निज शुद्धि ज्यों सुक्ख लहो॥
विषया रस के हित बूड़त हो,
भव सागर में कछु शुद्धि गहो।
तुम ज्ञायक हो षट द्रव्यन के,
तिन सों हित जानि के आप कहो॥[1]"

श्री विनयप्रभ उपाध्याय (१५वी शती विक्रम) ने 'सीमन्धरस्वामी-स्तवनम्'मे लिखा है कि दोषोके कारण यह जीव भव-समुद्रमे डूब रहा है, उसे तारनेमे स्वामी सीमन्धर ही समर्थ है,

"मोह मर बहुल-जल पूर संपूरिए,
विषय-घण-कम्म-वणराजि संराजिए।
भव जलहि मज्झि निवडंत जंतू-कए,
सामि सीमंधरो पोअ जिम सोहए॥[2]"

जैन और वैष्णव दोनों ही कवियोने भगवानको उनके 'विरद' का स्मरण दिलाया है। भगवान्का 'विरद' भक्तोको संसारसे तारनेका है, चाहे वे दोषोसे युक्त हो अथवा उन्मुक्त। सूरदासने एक पदमे लिखा है कि–हे भगवन् ! मैं तो दोषोसे भरा हुआ हूँ, यदि आप अपने 'विरद' का स्मरण करेंगे, तभी मेरा काम बनेगा, अन्यथा नही।

"सूरदास विनती कह विनवै, दोषनि देह भरी।
अपनो बिरद सम्हारहुगे तौ यामें सब निवरी॥[3]"

द्यानतरायने भी भगवान् नेमीश्वरके तारन-तरनके 'बिरद' को स्वीकार किया है। वे संसारके पाप जलानेमे विख्यात है,

"सकल भवि-अघ-दहन वारिद, बिरद तारन-तरन।
इन्द्र चन्द्र फनिन्द ध्यावैं, पाय सुख दुख हरन॥[4]"

१. भगवतीदास, 'भैया', शत अष्टोत्तरी, १०२वाँ सवैया, ब्रह्मविलास, पृ० ३१।
२. विनयप्रभ उपाध्याय, सीमन्धरस्वामीस्तवनम्, तीसरा पद्य,
Ancient Jain Hymns, Charlotte Krause edited, Scindia Oriental Institute Ujjain, 1952, P. 121.
३ सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १३०वाँ पद, पृ० ४३।
४. द्यानतपदसंग्रह, पहला पद, पृ० १।

विष्णु और जिनेन्द्र दोनों ही ने 'चरन गहे की लाज' का निर्वाह किया है। सूरदासने लिखा है, "जौ हम भले बुरे तौ तेरे ? तुम्हें हमारी लाज बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे ॥[1]" कवि द्यानतरायका भी कथन है कि हम तुम्हारे भक्त हैं, हमारी चरन गहे की लाज निबाहो,

> "जाके केवलज्ञान विराजत, लोकालोक प्रकाशन हारा।
> चरन गहे की लाज निबाहो, प्रभु जी द्यानत भगत तुम्हारा ॥[2]"

उपालम्भ

अनेक भक्त कवियोंने भगवानको उपालम्भ भी दिये हैं। दिन और रात स्वामीके पास रहते-रहते जिस प्रकार सेवककी धड़क खुल जाती है, उसी भाँति प्रभुके सतत ध्यानसे जो सान्निध्यकी अनुभूति भक्तके हृदयमें उत्पन्न होती है, उसके कारण वह कभी-कभी मीठा उपालम्भ भी देता है। तुलसीने एक पदमें लिखा है कि—हे भगवन् ! मुझे क्यों विस्मरण कर दिया है। आप अपनी महिमा और मेरे पापोंको जानते हैं, फिर भी मेरी सम्हाल क्यों नही करते। पहले तो मुझे खग, गनिका और व्याधकी पंक्तिमें बैठा दिया, फिर परसी हुई कृपाकी पत्तल फाड़ क्यों डाली ? मुझे नरकमें जानेका भय नही है, दुःख तो इसका है कि आपका नाम भी पाप न जला सका,

> "काहे ते हरि ! मोहि बिसारो।
> जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ संभारो ॥
> खग-गनिका-गज-व्याध-पाँति जहँ, तहँ हौं हूं बैठारो।
> अब केहि लाज कृपा निधान, परसत पनवारो फारो ॥
> नाहिन नरक परत मोकहं डर, जद्यपि हौं अति हारो।
> यह बड़ त्रास दास तुलसी प्रभु, नामहु पाप न जारो ॥[3]"

जैन कवि द्यानतरायका स्वर भी तुलसीसे मिलता-जुलता ही है। उन्होने लिखा है कि – हे भगवन् ! मेरे समय ढील क्यों कर रखी है। तुमने सेठ सुदर्शनकी विपत्तिका अपहरण किया, सती सीताके लिए अग्निके स्थानपर जल कर दिया। इसी भाँति तुमने वारिषेण, श्रीपाल और सोमापर भी दया की। फिर मुझे तारते समय ही देर क्यों कर रहे है,

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १३०वाँ पद, पृ० ४३।
२. द्यानतपदसंग्रह, २९वाँ पद, पृ० १३।
३. विनयपत्रिका, पूर्वार्द्ध, ९४वाँ पद, पृ० १८०।

"मेरी बेर कहा ढील करी जी !
सूली सों सिंहासन कीनो, सेठ सुदर्शन विपति हरी जी ॥
सीता सती अगिनि मैं पैठी, पावक नीर करी सगरी जी ।
वारिषेण पै खड्ग चलायो, फूल माल कीनी सुथरी जी ॥
धन्या वापी परयो निकाल्यो, ता घर रिद्ध अनेक भरी जी ।
सिरीपाल सागर तैं तारयो, राज भोग कैं मुकत वरी जी ॥
सांप हुयो फूलन की माला, सोमा पर तुम दया धरी जी ।
द्यानत मैं कछु जांचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी ॥[1]"

भगवान्‌के समक्ष धडक खुल जानेका अर्थ यह नही है कि उनसे जो चाहे सो कह दिया जाये। वहाँ भी शालीनताका ध्यान तो रखना ही पड़ेगा। कहीं-कहीं सूरदासकी फटकार शालीन मनको रुचती नहीं। एक स्थानपर उन्होंने लिखा है,

"पतित पावन हरि, बिरद तुम्हारो कौनैं नाम धरयो ।
हौं तो दीन, दुखित, अति दुरबल, द्वारैं रटत परयौ ॥[2]"

इसके समक्ष द्यानतरायका एक उपालम्भ देखिए। उसमे गरिमा तो है, किन्तु मर्यादाका उल्लंघन नहीं। उनका यह पद उपालम्भ साहित्यका एक अनूठा रत्न है। भक्तने कहा,

"तुम प्रभु कहियत दीन दयाल ।
आपन जाय मुकत मैं बैठे, हम जु रुलत, जग जाल ॥
तुमरो नाम जपैं हम नीके, मन वच तीनौं काल ।
तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल ॥[3]"

नाम-जप

सभी भक्त कवियोंने भगवान्‌के नाम-जपकी महिमा स्वीकार की है। तुलसीने लिखा है कि भगवान्‌का नाम-जप इहलौकिक विभूति तो देता ही है, पारलौकि शाश्वत सुख भी प्रदान करता है,

---

१. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, १७वाँ पद, पृ० ७-८।
२. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, १३३वाँ पद, पृ० ४४।
३. द्यानतपदसंग्रह, ६७वाँ पद, पृ० २८।

"नाम को भरोसो बल, चारिहू फल को फल,
सुमिरिये छांड़ि छल, भलो कृतु है।
स्वारथ साधक, परमारथ दायक नाम,
राम नाम सारिखो न और दूजो हितु है ॥[१]"

जैन कवि श्री कुशललाभने भी पंच परमेष्ठीके नामकी महिमा बतलाते हुए कहा है कि — जो नित्य प्रति नवकारको जपता है, उसको सासारिक सुख तो मिल ही जाता है, शाश्वत सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है,

"नित्य जपो ई नवकार संसार संपत्ति सुखदायक,
सिद्ध मंत्र, शाश्वतो इम जपे श्री गजनायक[२]।"

भगवतीदास 'भैया' का विश्वास है कि वीतरागी भगवान्‌का नाम लेनेवालेके धाम धनसे तो भर ही जाते है, वह भवसिन्धुसे भी पार हो जाता है,

"वीतराग नाम सेती काम सब होंहिं नीके
वीतराग नाम सेती धाम धन भरिये।
वीतराग नाम सेती विघन विलाय जायं,
वीतराग नाम सेती भव-सिन्धु तरियं ॥[३]"

सुख चाहे इहलौकिक हो चाहे पारलौकिक, पाप नष्ट हुए बिना प्राप्त नही होता। भगवान्‌का नाम लेने मात्रसे ही पाप दूर हो जाते हैं। तुलसीने लिखा है,

"राम नाम सों रहनि, राम नाम की कहनि,
कुटिल - कलि - मल - सोक - संकट - हरनि ॥[४]"

'भैया' भगवतीदासने तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथके नामसे पापोंको कम्पायमान होते हुए दिखाया है,

"मुनिसुव्रत जिन नांव, नांव त्रिभुवन जस जंपै।
जंपै सुर नर जाप, जाप जपि पाप सु कंपै ॥[५]"

द्यानतरायने लिखा है कि भगवान्‌का नाम लेनेसे एक क्षणमें ही करोड़ों अघ-जाल कट जाते है,

---

१. विनयपत्रिका, उत्तरार्द्ध, २५४वाँ पद, पृ० ५०३।

२. कुशललाभ, नवकार छन्द, अन्तिमकलश, जैनगुर्जर कविओ, पहला भाग, बम्बई, १९२६ ई०, पृ० २१६।

३. भगवतीदास 'भैया', अहिछिति पार्श्वनाथ स्तुति, २२वाँ कवित्त, ब्रह्मविलास, पृ० १६२-१६३।

४. विनयपत्रिका, उत्तरार्द्ध, २४७वाँ पद, पृ० ४८५।

५. भगवतीदास, 'भैया', चतुर्विंशति जिनस्तुति, २०वाँ छप्पय, ब्रह्मविलास, पृ० ९७।

"रे मन भज भज दीनदयाल।
जाके नाम लेत इक छिन मैं, कटैं कोट अघ जाल॥[1]"

भूधरदासका कथन है कि सीमन्धरस्वामीके नामका उच्चारण करनेसे पाप उसी भाँति नष्ट हो जाते है, जैसे सूर्योदयसे अँधेरा,

"सीमंधर स्वामी मैं चरनन का चेरा।
नाम लिये अघ ना रहैं ज्यौं ऊगे भान अंधेरा॥[2]"

भगवान्‌के नाममें श्रद्धा करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य है। वेद, पुराण और पुरारि आदि सभीने भगवान्‌के नामकी महिमा स्वीकार की है। कुछ ऐसे भी हैं, जो इस महिमाको स्वीकार नहीं करते, किन्तु भगवान्‌के भक्त उनके प्रति भी उदार रहें, यह ही उचित है। तुलसीने उनको गधा कहा है,

"वेद हू, पुरान हू, पुरारि हू पुकारि कह्यो,
नाम प्रेम चारि फल हू को फरु है।
ऐसे राम-नाम सों न प्रीति न प्रतीति मन,
मेरे जान जानिबो सोई नर खरु है॥[3]"

द्यानतरायने भी एक ऐसे ही पदका निर्माण किया है, जिसमें उन्होंने भगवान्‌का नाम न लेनेवालेको धिक्कारा तो है, किन्तु 'गधा'-जैसे शब्दका प्रयोग नहीं किया। उनका कथन इस प्रकार है,

"इन्द्र फनिन्द चक्रधर गावैं, जाको नाम रसाल।
जाको नाम ज्ञान परकासै, नाशै मिथ्या - जाल॥
पशु ते धन्य धन्य ते पंखी, सफल करै अवतार।
नाम बिना धिक मानव को भव, जल बल ह्वै हैं छार॥[4]"

भगवान्‌की उदारता उसके नाममे भी सन्निहित है। भगवान्‌का नाम लेनेसे केवल पुण्यात्मा ही नही, अपितु पापी भी तर जाता है। सूरदासने लिखा है,

"को को न तर्यौ हरि नाम लियें।
सुवा पढ़ावत गनिका तारी, ब्याध तर्यो सर-घात कियें॥
अंतरदाह जु मिट्यौ ब्यास कौ इक चित ह्वै भागवत कियें॥[5]"

---

१. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ६६वाँ पद, पृ० २८।
२. भूधरविलास, कलकत्ता, दूसरा पद, पृ० १-२।
३. विनयपत्रिका, उत्तरार्द्ध, २५५वाँ पद, पृ० ५०५।
४. द्यानतपदसंग्रह, ६६वाँ पद, पृ० २८।
५. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ८९वाँ पद, पृ० २९।

भगवान्‌के नाममें पापियोंको तारनेकी शक्तिका उल्लेख भूधरदासने भी किया है। उनका कथन है कि भगवान्‌का नाम लेनेसे अंजन-से चोर और कीचक-से अभिमानी भी तर गये हैं,

"म्हें तो थाकी आज महिमा जानी, अब लौं नहिं उर आनी।।
काहे को भव वन में भ्रमते, क्यों होते दुख दानी।
नाम प्रताप तिरे अंजन से, कीचक से अभिमानी।।[१]"

तुलसीदासने रामके नामको भव-बेगारसे छूटनेका उत्तम साधन माना है,

"राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहिं तौ भव-बेगारि महं परिहौ छूटत अति कठिनाई रे।।[२]"

एक दूसरे स्थानपर उन्होंने कहा कि भगवान्‌के नामसे कोई चिन्ता नहीं रहती, और मोक्षलोक प्राप्त हो जाता है,

"तुलसी जग जानियत नाम ते,
सोच न कूच मुकाम को।[३]"

जैन कवि मनरामने 'मनरामविलास' में लिखा है कि 'अरिहंत' का नाम आठ कर्म रूपी दुश्मनोंको नष्ट कर देता है और मोक्ष प्रदान करता है,

"करमादिक अरिन कौ हरै अरिहंत नाम,
सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है।।[४]"

भूधरदासका कथन है कि यदि मनुष्य-जीवनसे छुटकारा पाना है, तो भगवान् नेमीश्वरका नाम रटो,

"है अजौं एक उपाय भूधर,
छूटै जो नर धार रे।
रटि नाम राजुल मन को,
पशु बंध छोड़न हार रे।।[५]"

भगवान्‌का नाम केवल भक्ति ही नहीं, अपितु ज्ञान भी प्रदान करता है। सूरदासने लिखा है,

---

१. भूधरविलास, कलकत्ता, ४३वाँ पद, पृ० २४।
२. विनयपत्रिका, उत्तरार्द्ध, १८९वाँ पद, पृ० ३६६।
३. वही, १५६वाँ पद, पृ० ३०५।
४. मनराम, मनराम विलास, मन्दिर ठोलियान, जयपुरकी हस्तलिखित प्रति।
५. भूधरविलास, कलकत्ता, ५वाँ पद, पृ० ४।

"अद्भुत राम नाम के अंक ।
भक्ति ज्ञान के पंथ सूर ये, प्रेम निरन्तर भाखि ॥[1]"

द्यानतरायका भी कथन है कि भगवान्का नाम मिथ्या-जालको काटकर ज्ञानका प्रकाश करता है,

"जाको नाम ज्ञान परकासै,
नाशै मिथ्या जाल ।[2]"

भगवतीदास 'भैया' ने भी पंच परमेष्ठीके नामकी महिमा बताते हुए लिखा है,

"तिहुं लोक तारन को, आत्मा सुधारन को।
ज्ञान विस्तारन को, यहै नमस्कार है ॥[3]"

जैन और वैष्णव कवियोंमें अन्तर भी है। जैनोंके मध्य भगवान्का नाम कीर्त्तनके रूपमें कभी प्रतिष्ठित नहीं रहा। वैष्णवोंमें 'कीर्त्तन' भक्तिका प्रमुख अंग माना जाता है। इसके अतिरिक्त सूर और तुलसीने रामके नामको साधन और साध्य दोनों ही रूपोंमें स्वीकार किया है। तुलसीको रामसे भी पूर्व रामका नाम प्रिय है,[4] अतः वह साध्य तो है ही। जैन भक्त कवियोंने भगवान्के नामको केवल साधन माना है।

भगवान्का लोकरंजनकारी रूप

भगवान्का रूप लोकरंजनकारी तभी हो सकता है, जब उसमें सौन्दर्यके साथ-साथ शक्ति और शीलका भी समन्वय हो। भगवान्के इसी समन्वित रूपसे जन-मन आकर्षित होता है। तुलसीने 'रामचरितमानस' में ऐसे ही रामको अंकित किया है। जिनेन्द्रमें रामके समान ही सौन्दर्य और शीलकी स्थापना हुई है, किन्तु शक्ति-सम्पन्नतामें अन्तर है। रामका शक्ति-सौन्दर्य असुर तथा राक्षसोंके संहारमें परिलक्षित हुआ है, जब कि जिनेन्द्रका अष्टकर्मोंके विदलनमें। दुष्टोंको जीता दोनोंने है, एकने बाहुबलसे और दूसरेने अध्यात्मशक्तिसे। एकने असत्के प्रतीक मानवको समाप्त किया है, और दूसरेने उसे सत्में बदला है। तुलसीके राम रावणको

---

१. सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ९०वाँ पद, पृ० २९।
२. द्यानतपदसंग्रह, ६६वाँ पद, पृ० २८।
३ भगवतीदास भैया, सुबुद्धि चौबीसी, ५वाँ पद्य, ब्रह्मविलास, पृ० १५८।
४. 'प्रिय राम नाम तें जाहि न रामो'
विनयपत्रिका, उत्तरार्द्ध, २२८वाँ पद, पृ० ४४७।

मारकर बैठे हैं। देव दुन्दुभी बजाते हुए पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं। रामके शरीरसे सौन्दर्य फूट रहा है,

"सिर जटा मुकुट प्रसून बिच बिच अति मनोहर राजहीं।
जनु नीलगिरि पर तड़ित पटल समेत उडुगन भ्राजहीं॥
भुजदंड सर कोदंड फेरत रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनीं तमाल पर बैठीं बिपुल सुख आपने॥[1]"

भगवान् पार्श्व प्रभुने कमठ नामके असुरके घोर उपसर्गोंको सहन कर, उसके हृदयको जीत लिया। और शुक्लध्यानसे अष्टकर्मोंको जलाकर केवलज्ञान प्राप्त किया। समवशरणकी रचना हुई। सिंहासनपर विराजे भगवान्का सौन्दर्य देखिए,

"अति धवल रूप अनूप उन्नत, सोम बिम्ब प्रभा हनी।
सो जयो पास जिनेन्द्र पातक हरन जग चूड़ामनी॥
दुति देखि जाकी चांद शर में, तेज सों रवि लागये।
अब प्रभा मंडप जोग जग में कौन उपमा छाजये॥
इत्यादि अतुल विभूति मंडित, सोहिये त्रिभुवन धनी।
सो जयो पास जिनेन्द्र पातक हरन जग चूड़ामनी॥[2]"

समवशरणमें सिंहासनपर विराजे तीर्थंकरके सौन्दर्यकी चरम अभिव्यक्ति, बनारसीदासके मुक्तक पद्यमें हुई है। उनके तेजके आगे सब तेजवंत, रूपके समक्ष महारूपवंत, और उनकी शरीर सुगन्धिके सामने सब सुगन्धियाँ पराजित हो गयी है। उनकी दिव्य ध्वनि कानोंको सुख प्रदान करती है,

"जाके देह-द्युति सौं दसौं दिसा पवित्र भई,
जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं।
जाकौ रूप निरखि थकित महा रूपवंत,
जाकी बपु-वास सौं सुवास और लुके हैं।

---

१. गोस्वामी तुलसीदास, श्री रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, लंकाकाण्ड, १०२वाँ पद्य, पृ० ८४३।

२. भूधरदास, पार्श्वपुराण, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, प्राचीन संस्करण, अष्टमोऽधिकारः, अष्टप्रातिहार्य वर्णन, १३१वाँ पद्य, पृ० ७१।

जाकी दिव्य धुनि सुनि श्रवण कौं सुख होत,
जाके तन लच्छन अनेक आइ ढुके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध चेतन सौं चुके हैं॥[१]"

विनयप्रभ उपाध्यायने 'श्री सीमन्धर-स्वामि-स्तवनम्'में श्री सीमन्धर स्वामीका लोकरंजनकारी चित्र खींचा है,

"सुजण - मण - नयण - आणंद - संपूरकं
दुरित - हरतार, तारक, मुणी - नायकं।
सयल - जग - जंतु - भव-पाप - तापापहं,
नमउं सीमन्धर, चंद सोहावहं॥[२]"

१. नाटक समयसार, जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, वि० सं० १९८६, १।२५, पृ० ५५-५६।

२. विनयप्रभ उपाध्याय, सीमन्धर-स्वामि-स्तवनम्, छठा पद्य, Ancient Jain Hymns, P, 121.

परिशिष्ट १

हिन्दीके आदिकालमें जैन भक्तिपरक कृतियाँ

पं० रामचन्द्र शुक्लने जिस युगको 'वीर गाथाकाल' कहा, उसीको महा पण्डित राहुल सांकृत्यायनने 'सिद्धकाल' और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने 'आदि-काल' नामसे अभिहित किया है। मुझे 'आदिकाल' प्रिय है, क्योंकि उसमे 'वीर', 'धर्म', 'भक्ति' और 'सिद्ध' आदि सभी कुछ खप सकता है। वह एक निष्पक्ष शब्द है। यह तो अभी खोजका ही विषय बना हुआ है कि इस कालमें वीर गाथाएँ अधिक लिखी गयी अथवा धार्मिक कृतियाँ। साम्प्रतिक खोजोंसे जो कुछ सिद्ध हुआ है, उसके आधारपर धार्मिक कृतियोंकी संख्या अधिक है। उनमें जैन भक्ति-सम्बन्धी रचनाएँ भी हैं। भक्ति और धर्मका भावगत सम्बन्ध है, अतः वे कृतियाँ धार्मिक हैं और साहित्यिक भी। मूल प्रवृत्तियोंका भावोन्मेष ही साहित्य है, फिर भले ही उसका मुख्य स्वर धर्म या अन्य किसी विषयसे सम्बन्धित हो।

पं० रामचन्द्र शुक्लके मतसे वि० सं० १०५० (सन् ९८३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८) के कालको हिन्दीका आदिकाल कहना चाहिए। किन्तु इसके पूर्व ही देशभाषाका जन्म हो चुका था। देश-भाषाका अर्थ है पुरानी हिन्दी। धर्मशास्त्री नारदने लिखा है कि 'संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषा-द्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः[1]॥" डॉ० काशीप्रसाद जायसवालका कथन है कि देशभाषा आचार्य देवसेन (वि० सं० ९९०) के पहले ही प्रचलित हो चुकी थी।[2] आचार्य देवसेनने अपने 'श्रावकाचार' मे जिन दोहोंका उपयोग किया है, उनकी रचना देशभाषामें हुई है। इस श्रावकाचारकी एक हस्तलिखित प्रति कारंजाके सेनगण मन्दिरके पुस्तक भण्डारमें प्रस्तुत है। इसमें प्रयुक्त शब्दरूप, विभक्ति और धातुरूप प्रायः सभी हिन्दीके हैं। कहीं-कहीं छन्द सिद्धिके लिए प्राकृत रूप रह गये हैं। हिन्दी काव्योंमें उनका प्रयोग आगे चलकर भी होता रहा। श्रावकाचारमें जिनेन्द्र और पंचगुरु-भक्तिके अनेक उद्धरण हैं। एक स्थानपर लिखा है,

---

१. वीर मित्रोदयसे उद्धृत।

२. डॉ० काशीप्रसाद जायसवालका लेख 'पुरानी हिन्दीका जन्मकाल', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृ० २२०।

"जो जिण सासण भासियउ सो मइ कहियउ सार।
जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥"

कुछ विद्वानोंने अपभ्रंश और देशभाषाको एक मान लिया, परिणामतः उन्होंने अपभ्रंश कृतियोंको भी हिन्दीमें ही परिगणित किया है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायनकी हिन्दी काव्यधारा इसका निदर्शन है। यह सच है कि 'कथासरित्सागरके' आधारपर 'अपभ्रंश' और 'देशी' समानार्थक शब्द थे,[1] किन्तु यह वैसा ही था जैसा कि पतञ्जलिके महाभाष्यमें प्राकृत और अपभ्रंशको समानार्थक माना गया है।[2] भाषाविज्ञानके अध्येता जानते हैं कि भाषाओंका स्वभाव विकसनशील है। मुखसौकर्यके लिए भाषाएँ निरन्तर समासप्रधानतासे व्यास-प्रकताकी ओर जाती रही हैं। प्राकृतसे अपभ्रंश और अपभ्रंशसे देशीभाषा अधिकाधिक व्यासप्रधान होती गयी है। यह ही दोनोंमें अन्तर है। अतः दोनोंको एक नहीं माना जा सकता। स्वयम्भू (९वीं शताब्दी वि० सं०)का 'पउमचरिउ' नितान्त अपभ्रंशका ग्रन्थ है। उसमें कहीं देशी भाषाका एक भी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। कवि पुष्पदन्त (वि० सं० १०२९) ने 'णायकुमारचरिउ'में अपनी सरस्वतीको निःशेष देश भाषाओंका बोलनेवाला भले ही कहा हो,[3] किन्तु वह केवल विविध अपभ्रंश भाषाओंके बोलनेमें ही निपुण है। पुष्पदन्त अपभ्रंशको ही देशभाषा कहते थे।

पुष्पदन्तके चालीस वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्दका 'कथाकोष' देशभाषामें लिखा गया है। इस ग्रन्थमें ५३ सन्धियाँ हैं। प्रत्येक सन्धिमें एक कथा कही गयी है। कथाएँ भक्तिसे सम्बन्धित हैं। ग्रन्थकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि श्रीचन्दके गुरु वीरचन्द थे, जो कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्परामें हुए हैं। एक उदाहरण इस प्रकार है,

"लहेवि सिद्धि च समाहिकारणं
समत्थ संसार दुहोह वारणं।
पढुं जए जं सरसं निरंतरं ॥
सुहं सयालप्फलजं अणुत्तरं
तेणाण भाउ वड्ढिउ पयाउ।
सम्मत्त णाण तव चरण थाण ॥"

---

१. कथासरित्सागर, १।६, पृ० १४८।

२. पातञ्जल महाभाष्य, १।१, पृ० १।

३. णायकुमारचरिउ, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा, १९३३ ई०, पहली सन्धि, पृ० ३।

धनपाल धक्कड़ (१०वीं शती ईसवी) की 'भविसयत्तकहा'[1] में यत्र-तत्र अनेक स्थानोंपर देशभाषाका प्रयोग हुआ है। डॉ० विण्टरनित्स और प्रो० जैकोबी प्रभृति विद्वानोंने इस काव्यकथाके रचना कौशलकी प्रशंसा की है। कथाका मूलस्वर व्रतरूप होते हुए भी जिनेन्द्रकी भक्तिसे सम्बन्धित है। यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र (सन्-१०८८-११७९) ने देशी नाममाला[2] (कोश) का ही निर्माण किया था, किन्तु जहाँतक भक्तिका सम्बन्ध है, उनका कोई स्तोत्र या काव्य देशभाषामें लिखा हुआ उपलब्ध नहीं है। विनयचन्दसूरि (१३वीं शती ईसवी) ने 'नेमिनाथ चउपई'[3] का निर्माण किया था। यह देशभाषामें लिखी गयी है। इसमें राजीमतीके वियोगका वर्णन है। नेमिनाथ तीर्थंकर थे, अतः उनसे किया गया प्रेम 'भगद्विषयक' ही कहलायेगा। जब नेमिनाथने पशुओंके करुणाक्रन्दनसे प्रभावित होकर तोरणा-द्वारपर ही वैराग्य ले लिया, तो राजीमती विलाप कर उठी। इस काव्यमें उसके वियोगका चित्र खींचा गया है। कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार है,

> "भणइ सखी राजल मन रोइ,
> नीठुरु नेमि न अप्पणु होइ ।
> साँचउ सखि वरि गिरि भिज्जंति,
> किमइ न भिज्जइ सामलकंति ॥"

शालिभद्रसूरि (सन् ११८४) का 'बाहुबलिरास'[4] एक उत्तम कोटिका काव्य है। उसका सम्बन्ध महाराज बाहुबलिकी वीरता और महत्तासे है। बाहुबलि प्रथम चक्रवर्ती थे। दोनों भाइयोंमें साम्राज्यको लेकर युद्ध हुआ था। भरतको पराजित करनेके उपरान्त बाहुबलिने वैराग्य ले लिया। उन्हींकी भक्तिमें इस काव्यकी रचना हुई है। भाषा दुरूह अपभ्रंश है, कहीं देशभाषाके दर्शन नहीं होते।

---

१. इसका प्रकाशन सन् १९१८ में प्रो० जैकोबीके सम्पादनमें म्यूनिकसे हुआ था। बादमें डॉ० पी० डी० गुणेने इसका सम्पादन किया और सन् १९२३ में G. O. S. XX. में इसे प्रकाशित किया। दोनोंकी भूमिकाएँ विद्वत्तापूर्ण हैं।

२. देशी नाममाला जर्मन विद्वान् पिशेल-द्वारा सम्पादित होकर B.S.S. XVII में दो बार प्रकाशित हो चुकी है।

३. प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रहमें इसका प्रकाशन सन् १९२० में हुआ है।

४. श्री मुनि जिनविजयने 'बाहुबलिरासे' पर भारतीय विद्या, वर्ष २, अंक १में प्रकाश डाला है।

विक्रमकी तेरहवी शताब्दीके अन्तमें श्री जिनदत्तसूरि (वि० सं० १२७४) के रूपमें एक सामर्थ्यवान् व्यक्तित्वका जन्म हुआ। वे विद्वान् थे और कवि भी। उन्होंने 'चर्चरी' 'कालस्वरूपकुलकम्' और 'उपदेशरसायनरास'का निर्माण किया। 'उपदेश रसायनरास'मे सतगुरुके स्वरूपका विशद वर्णन हुआ है। ये तीनो ही काव्य अपभ्रंश भाषामें लिखे गये हैं। गुरुके सम्बन्धमे एक पद्य इस प्रकार है,

"सुगुरु सुवुच्चइ सच्चउ भासइ
पर परवायि-नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख-मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ॥"

जिनपद्मसूरि (वि० सं० १२५७) ने 'थूलिभद्दफाग'की रचना की थी। आचार्य स्थूलभद्र भद्रबाहु स्वामीके समकालीन थे। उनका निर्वाण वा० नि० सं० २१९ में हुआ। उनका समाधिस्थल गुलजार बाग, पटना स्टेशनके सामने कमल-हृद्मे बना हुआ है। इस फागको गणना उत्तमकोटिके काव्यमें की जाती है। इसमे आचार्य स्थूलभद्रको भक्तिसे सम्बन्धित अनेक सरस पद्योंकी रचना हुई है। पावस वर्णनकी कतिपय पंक्तियाँ देखिए,

"सीयल कोमल सुरहि वाय जिस जिम वायंते।
माण - मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंते॥
जिम जिम जलधर भरिय मेह गयणंगणि मलिया।
तिम तिम कामीतरणा नयण नीरहि झल हलिया॥"

नेमिचन्द्र भण्डारी, खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरिके पिता थे। उन्होंने वि० सं० १२५६ के लगभग 'जिनबल्लभसूरि गुणवर्णन' के नामसे एक स्तुति लिखी थी, जो 'जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह'मे प्रकाशित हो चुकी है। यह स्तुति आचार्य भक्तिका निदर्शन है। इसमे ३५ पद्य है। एक पद्य इस भाँति है,

"पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि।
सुधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि॥"

महेन्द्रसूरिके शिष्य श्री धर्मसूरि (वि०सं० १२६६) ने 'जम्बूस्वामी चरित्र', 'स्थूलभद्ररास' और 'सुभद्रासती चतुष्पदिका'का निर्माण किया था[२]। तीनोमे क्रमशः ५२, ४७ और ४२ पद्य है। भगवान् महावीरके निर्वाणके उपरान्त केवल तीन

१. लालचन्द भगवानदास गान्धीने इनका सम्पादन कर, शोधपूर्ण संस्कृत प्रस्तावना सहित G. O. S. XXXVII में प्रकाशित किया है।

२. तीनोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेरके बृहद् ज्ञान भण्डारमें मौजूद हैं।

केवली हुए, जिनमें जम्बूस्वामी अन्तिम थे। सुभद्रासती जिनेन्द्रकी भक्त थी। तीनों ही रचनाएँ पुरानी हिन्दीमें लिखी गयी हैं। यद्यपि कुछ लेखक इन कृतियों-की भाषाको गुजराती कहते हैं,[1] किन्तु वह हिन्दीके अधिक निकट है। तीनोंका एक-एक पद्य निम्न प्रकारसे है,

"जिण चउ वीसइ पय नमेवि गुरु चरण नमेवि।
जंबु सामिहिं तणउ चरिय भविउ निसुणेवि॥"
—जम्बूस्वामी चरित्र

"पणमवि सासणदेवी अनइं वाएसरी।
थूलिभद्द गुण गहण, सुणि सुणिव रहज्जु केसरी॥"
—स्थूलभद्र रास

"जं फलु होइ गया गिरणारे, जं फलु दीन्हइ सोना मारे।
जं फलु लक्खि नवकारिहि, गुणिहिं तं फल सुभद्रा-
चरितिहिं सुणिहिं॥"
—सुभद्रासती चतुष्पदिका

शाह्रयण, खरतरगच्छीय जिनपतिसूरिके शिष्य थे। उन्होंने वि० सं० १२७८ मे 'जिनपतिसूरि धवलगीत'[2] का निर्माण किया था। यह कृति गुरु-भक्तिका दृष्टान्त है। इसमे बीस पद्य है। रचना सरस है। पहला पद्य देखिए,

"वीर जिणेसर नमइ सुरेसर तसपह पणमिय पय कमले।
युगवर जिनपति सूरि गुण गाइ सो भत्ति भर हरसि हिम निरमले॥"

विजयसेनसूरि, नागेन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरिके शिष्य और मन्त्रिप्रवर वस्तु-पालके धर्माचार्य थे। उन्होंने वि० सं० १२८८ के लगभग 'रेवन्तगिरि रासो'[3] की रचना की थी। इसमे ७२ पद्य हैं। इसमे गिरिनारके जैन मन्दिरोंका वर्णन है। इसकी भाषा प्राचीन गुजरातीकी अपेक्षा हिन्दीके अधिक निकट है। प्रारम्भके दो पद्य इस भाँति हैं,

---

१. लायब्रेरी मिसेलेनी, त्रैमासिक पत्रिका, बड़ौदा महाराजकी सेण्ट्रल लायब्रेरीका प्रकाशन, अप्रैल १९१५के अंकमें, श्री सी० डी० दलालका, पाटणके सुप्रसिद्ध जैन पुस्तकालयोंकी खोजमें प्राप्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन गुजरातीके ग्रन्थोंका विवरण।

२. 'ऐतिहासिक जैनकाव्य संग्रह'में प्रकाशित हो चुका है।

३. 'प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह' में प्रकाशित हुआ है।

"परमेसर तित्थेसरह पय पंकज पणमेवि,
भणिसु रासु रेवंत गिरे, अंबिक देवी सुमरेवी।
गामागर-पुर-वण-गहण सरि-सरवरि-सुपएसु,
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु॥"

विक्रम संवत्की १४वी शताब्दीमे अनेक जैन कवि हुए। उनकी भाषा हिन्दी थी। उनकी कविताओंका मूलस्वर भक्तिपूर्ण था। खरतरगच्छीय जिनपतिसूरिके शिष्य जिनेश्वरसूरिने वि० सं० १३३१ के लगभग अनेक भक्तिपूर्ण स्तुतियोकी रचना की, जिनमे-से एकका नाम है 'बाबरो'।[1] उसमे तीस पद्य है। आदिका एक पद्य देखिए,

"भगति करवि बहु रिसह जिण, वीरह चलण नमेवि।
हउं चालिउ मणि भाव धरि, दुइणि जिणमणि समरेवि॥"

इन्ही जिनेश्वरसूरिके शिष्य अभयतिलकने वि० सं० १३०७ वैसाख शुक्ला १० को 'महावीररास' लिखा था। उसमे २१ पद्य है। इसे भगवान् महावीरकी स्तुति ही कहना चाहिए। लक्ष्मीतिलकका 'शान्तिनाथदेवरास'[2] और सोममूर्त्तिका 'जिनेश्वरसूरि संयमश्री विवाहवर्णनरास'[3], भक्तिसे सम्बन्धित प्रसिद्ध काव्य है।

अम्बदेवसूरि, नागेन्द्रगच्छके आचार्य पासडसूरिके शिष्य थे। उन्होने वि० सं० १३७१ के लगभग संघपति 'समरा रास'[4] का निर्माण किया था। ओसवाल शाह समरा संघपतिने वि० सं० १३७१ मे शत्रुंजय तीर्थक्षेत्रका उद्धार करवाया था। इस रचनामे उसीका वर्णन है। इसकी भाषामे राजस्थानीके शब्द अधिक है। इससे अम्बदेवका जन्म राजस्थानमे कही हुआ था, ऐसा अनुमान होता है। इस रासकी भाषाका सादृश्य गुजरातीकी अपेक्षा हिन्दीसे अधिक है। जब समरा शाहने पट्टनसे संघ निकालकर शत्रुंजयकी ओर प्रयाण किया, उस समयका एक पद्य देखिए,

---

१. श्री अगरचन्द नाहटाके निजी संग्रहमें मौजूद है।
२. महावीररास और शान्तिनाथ देवरास, श्री अगरचन्द नाहटाके निजी संग्रहमें मौजूद है।
३. जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रहमें छप चुका है।
४. प्राचीन जैन गुर्जरकाव्य संग्रहमें संकलित है।

"वाजिय संख असंख नादि काहल दुदु दुडिया,
घोडे चडइ सल्लारसार राउत सींगडिया ।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि धाधरि रवु झमकइ,
सम विसम नवि गणइ कोई नवि वारिउ थक्कइ ॥"

जिनप्रभसूरि (१४वीं शताब्दी वि० सं०) खरतरगच्छीय जिनसिंहसूरिके शिष्य थे। उन्होंने 'पद्मावतीदेवी चौपई'की रचना की थी। यह कृति अहमदाबादसे प्रकाशित 'भैरव पद्मावती कल्प'में छप चुकी है। यह देवी पद्मावतीकी भक्तिसे सम्बन्धित है। एक पद्य इस प्रकार है,

"श्रीजिन शासणु अवधारि, झायहु सिरि पउमावइ देवि ।
भविय लोय आणंद परि, दुलहउ सावयजम्म लहेवि ॥"

चौदहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध कवि रल्हने 'जिणदत्त चौपई'की रचना वि० सं० १३५४ में की थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुरके पाटौदीके मन्दिरमे मौजूद है। इसमें पाँच-सौ पचपन पद्य है। इसमें जिनदत्तसे सम्बन्धित भक्तिपरक भाव प्रकट किये गये है। काव्यत्वकी दृष्टिसे भी कृति महत्त्वपूर्ण है। इसी शताब्दीके कवि धेल्हने 'चउवीसी गीत'की रचना वि० स० १३७१ मे की। यह एक सरस रचना है। इसमे चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है।

इसी शताब्दीमे आनन्दतिलकने 'महाणंदिदेउ' नामकी रचनाका निर्माण किया। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर-शास्त्र भण्डार जयपुरमे मौजूद है। अब तो उसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिकामे हो चुका है। इसमे लगभग ४४ पद्य है। यह काव्य आध्यात्मिक भक्तिका निदर्शन है। गुरु महिमाके दो पद्य देखिए,

"गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारु ।
सो दरिसावइ अप्प परु आणंदा भवजल पावइ पारु ॥३६॥
सिक्ख सुणइ सदगुरु भणइ परमाणंद सहाउ ।
परम जोति तसु उल्हसई आणंदा कीजइ णिम्मलु भाउ ॥२९॥"

परिशिष्ट २

दूसरे अध्यायके कवि : अनुक्रमणिका